पाण्डुलिपि विज्ञान

लेखक
डॉ० सत्येन्द्र

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

श्रीमती विद्याधरी को

कृतज्ञता-ज्ञापन

मैं उन सबके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने मुझे इस पुस्तक के लेखन में और प्रस्तुतीकरण में किसी-न-किसी रूप में सहायता दी है, या जिनकी कृतियों का उपयोग इस पुस्तक में किया गया है।

मैं राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय और शब्दावली आयोग के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ का लेखन मुझे सौंपा और प्रकाशन की व्यवस्था की। जिनका सर्वाधिक आभार मुझे इस ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन के सम्बन्ध में मानना चाहिये वे हैं श्री यशदेव शल्य। उनके स्नेह और तत्पर सहयोग के साथ उनके उचित परामर्शों से ही इसका यह रूप बन सका है। वे मेरे इतने अपने है कि उनके प्रति शब्दों मे कृतज्ञता ज्ञापित नहीं की जा सकती।

मैं इस पुस्तक के मुद्रक के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, उन्होंने तत्परतापूर्वक इसकी छपाई की, इससे मुझे प्रसन्नता हुई।

सत्येन्द्र

भूमिका

लीजिये यह है पाडुलिपि विज्ञान की पुस्तक। आपने "पांडुलिपि" तो देखी होगी, उसका भी विज्ञान हो सकता है या होता है यह बात भी जानने योग्य है।

इस पुस्तक में कुछ यही बताने का प्रयत्न किया गया है कि पाडुलिपि विज्ञान क्या है और उसमें किन बातों और विषयों पर विचार किया जाता है? वस्तुत. पाडुलिपि के जितने भी अवयव हैं प्राय. सभी का अलग-अलग एक विज्ञान है और उनमे से कइयो पर अलग-अलग विद्वानो द्वारा लिखा भी गया है, किन्तु पाडुलिपि-विज्ञान उन सबसे जुड़ा होकर भी अपने आप मे एक पूर्ण विज्ञान है, मैने इसी दृष्टि को आधार बनाकर यह पुस्तक लिखी है। कही-कही पाडुलिपि के अवयवों मे आलकारिकता और चित्र-सज्जा का उल्लेख पाडुलिपि निर्माण के उपयोगी कला-तत्त्वो के रूप मे भी हुआ है।

पर, यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि पाडुलिपि मूलत: कलात्मक भावना मे व्याप्त रहती है। पहले तो उपयोगी कलात्मकता का स्पर्श उसमे रहता है। लिप्यासन सुन्दर हो, जिस पर साफ-साफ लिखा जा सके। लेखनी अच्छी हो, स्याही भी मन को भाने वाली हो, और लिखावट ऐसी हो कि आसानी से पढ़ी जा सके। यह भी दृष्टि रहती है कि लिखावट को देखकर उसे पढने का मन करने लगे। कई रगो की स्याहियों का उपयोग पहले तो अभिप्राय या प्रयोजन भेद के आधार पर किया जाता है, जैसे, पुष्पिका, छद नाम, अतरग शीर्षक, आदि मूल पाठ से भिन्न बताने के लिए लाल स्याही से लिखे जाते है। किन्तु यह उपयोगी सहज सुन्दरता तो पुस्तक या पाडुलिपि की सामान्यत उसकी ग्राहकता बढाने के लिए ही होती है।

पर, पाडुलिपि पूरी उत्कृष्ट कला की कृति हो सकती है, और यह भी हो सकता है कि उसमें विविध अवयवों मे ही कलात्मकता हो।

सम्पूर्ण कृति की कलात्मकता मे उत्कृष्टता के लिए लिप्यासन भी उत्कृष्ट होना चाहिये, यथा बहुत सुन्दर बना हुआ सांचीपात हो सकता है। हाथीदात हो सकता है।[1] उस पर कितने ही रगो से बना हुआ आकर्षक हाशिया हो सकता है, उस पर बढ़िया पक्की स्याही या स्याहियो मे, कई पार्टों मे मोहक लिखावट की गयी हो, प्रत्येक अक्षर सुडौल हो। पुष्पिकाएँ भिन्न रग की स्याही मे लिखी गयी हो। मागलिक चिह्न या शब्द भी मोहक हो। ऐसी कृति सर्वांग सुन्दर होती है, ऐसी पुस्तक तैयार करने मे बहुत समय और परिश्रम करना पड़ता है।

कृतिकार या लिपिकार की कला का प्रथम उत्कृष्ट प्रयोग हमे लिखावट मे मिलता है।

1 अलवर के सग्रहालय मे 'हफ्त बन्दे काशी' श्री ए० एम० उस्मानी साहब ने बताया है कि "यह किताब भी नादेरात का अजीब नमूना है। हाथीदात मे वरक तैयार करके उन पर नहायत रोशन काली सियाही से उम्दा नसतालिक मे लिखा गया है। हुरूफ की नोक पलक बहुत उमदा है।—— इस पर सोने का काम सोने में सोहागा है। बहुत बारीक और काबिले दीद गुलकारी है।" ('द रिसर्चर' पृ० 37)।

लिखावट को तरह-तरह से सुन्दर बनाने से लिपि के विकास मे अन्य कारणों के साथ एक कारण उसे सुन्दर बनाने के प्रयत्न से भी सम्बन्धित है। किन्तु लिपि-लेखन अपने आप मे एक कला का रूप ले लेता है। फारस में इस कला का विशेष विकास हुआ है। वहाँ से भारत मे भी इसका प्रभाव आया और फारसी लिपि मे तो इस कला का चरमोत्कर्ष हुआ। भारत मे अक्षरो के आलकारिक रूप मे लिखने का चलन कम नही रहा। हमने कितने ही अक्षरो के आलकारिक रूप, आगे पुस्तक मे दिये है।

लेखन/लिखावट मे सुन्दरता या कलात्मकता के समावेश से ग्रन्थ का मूल्य बढ़ जाता है। लिपि के कलात्मक हो जाने पर समस्त ग्रन्थ ही कलाकृति का रूप ले लेता है। 'एनसाइक्लापीडिया आव रिलीजन एण्ड ऐथिक्स' का यह उद्धरण हमारे कथन की पुष्टि करता है : "Not only so, but Skilled Scribes have devoted infinite time to Copying in luxurious Style the Compositions of famous persian poets and their manuscripts are in themselves works of art."

अनन्त समय लगाकर धैर्य और लेखन कौशल से लिपि मे सौन्दर्य निरूपित करके समस्त कृति/ग्रन्थ को ही एक कलाकृति बना देते हैं।

लिपि में विविध प्रकार की कलात्मकता और आलकारिकता लाकर ग्रन्थ की सुन्दरता के साथ मूल्य मे भी वृद्धि की जाती है। सोने-चाँदी की स्याही से भी ग्रन्थ की सुन्दरता मे चार-चाँद लग जाते है।

इन कलात्मकता लाने वाले लिप्यासन, लिपि और स्याही–आदि जैसे उपकरणों के बाद ग्रन्थ के मूल्यवर्द्धन मे सर्वाधिक महत्त्व चित्रकला के योगदान का होता है।

ग्रन्थो मे चित्राकन का एक प्रकार तो केवल सजावट का होता है। विविध ज्यामितिक आकृतियाँ, विविध प्रकार की लता-पताएँ, विविध प्रकार के फल फूल और पशु-पक्षी, आदि से पुस्तक को लिपिकार और चित्रकार सजाते है।

ग्रन्थ चित्राकन का दूसरा प्रकार होता है। वस्तु को, विशेषत कथा-वस्तु को हृदयगम कराने के लिए रेखाओ मे बनाये हुए चित्र या रेखा-चित्र।

यह रेखा-चित्र आगे अधिकाधिक कलात्मक होते जाते है। इसकी अति हम वहाँ मिलती है जहाँ ग्रन्थ चित्राधार बन जाता है और उसका काव्य मात्र आधार बन कर रह जाता है। उत्कृष्ट कलाकार की उत्कृष्ट कलाकृति बन जाता है, यह ग्रन्थ और कवि पीछे छूट जाता है। ऐसी कृतियो का मूल्य क्या हो सकता है। जयपुर के महाराजा के निजी पोथी-खाने मे एक 'गीतगोबिन्द' की सचित्र प्रति थी बताया जाता है कि इसके पृष्ठ 10 इच लम्बे और 8 इच चौड़े थे। कुल 210 चित्र युक्त पृष्ठ थे यह भी बताया जाता है कि एक अमरीकी महिला इसे 6 करोड़ रुपये मे खरीदने को तैयार थी। इसके प्रत्यक पृष्ठ पर चित्र थे। ये चित्र विविध रगो मे अत्यन्त कलात्मक थे। इन्ही के कारण 'गीतगोविन्द' की इस प्रति का मूल्य इतना बढ गया था।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पाडुलिपि प्रथमत कलाकृति होती है। कलात्मक काव्य के साथ सुन्दर लिप्यासन, कलात्मक लिपि-लेखन, कलात्मक पृष्ठ सज्जा और कलात्मक चित्र-विधान से इनके अपने मूल्य के साथ पाडुलिपि का भी मूल्य घटता-बढ़ता है।

इस कलात्मकता के साथ भी पांडुलिपि का विज्ञान हमने इस पुस्तक में निरूपित किया है।

पर मुझे लगता है कि यह पुस्तक पांडुलिपि-विज्ञान की भूमिका ही हो सकती है, इसके द्वारा पांडुलिपि-विज्ञान की नींव रखी जा रही है।

पांडुलिपि का रूप बदलता रहा है और बदलता रहेगा। पांडुलिपि-विज्ञान को समस्त सम्भावनाओं को दृष्टि में रख कर अपनी भूमि प्रस्तुत करनी होगी। पांडुलिपि सावयव इकाई है और प्रत्येक अवयव घनिष्ठ रूप से परस्पर सम्बद्ध है किन्तु विकास-क्रम में इनमें से प्रत्येक में परिवर्तन की सम्भावनाएँ हैं। विकास-यात्रा में इकाई के किसी भी अवयव में परिवर्तन आने पर पांडुलिपि के रूप में भी परिवर्तन आयेगा तदनुकूल ही उसकी वैज्ञानिक समीक्षा में भी और विज्ञान के द्वारा उन्हें ग्रहण करने में भी।

पांडुलिपि के प्रत्येक अवयव से सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञान और अनुसंधान का अपना-अपना इतिहास है। प्रत्येक के विकास के अपने सिद्धान्त हैं। इन अवयवों की अलग सत्ता भी है पर ये पांडुलिपि-निर्माण में जब संयुक्त होते हैं तो बाहर से भी प्रभावित होते हैं और संयुक्त समुच्चय की स्थिति में पांडुलिपि से भी प्रभावित होते हैं, उनसे पांडुलिपि भी प्रभावित होती है। यह सब-कुछ प्रकृत नियमों से ही होता है। हाँ, उसमें मानव-प्रतिभा का योगदान भी कम नहीं होता। पांडुलिपि-विज्ञान में इन सभी क्रिया-प्रतिक्रियाओं को भी देखना होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि पांडुलिपि-विज्ञान का क्षेत्र बहुत विशद है, बहुत विविधतापूर्ण है और विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों पर आश्रित है। भला मुझ जैसा अल्प-ज्ञान वाला व्यक्ति ऐसे विषय के प्रति क्या न्याय कर सकता है!

पर पांडुलिपियों की खोज में मुझे कुछ रुचि रही है जो इस बात से विदित होती है कि मेरा प्रथम लेख जो कृष्णकवि के "विदुरप्रजागर" पर था और "माधुरी" में सम्भवतः 1924 ई० के किसी अंक में प्रकाशित हुआ था, एक पांडुलिपि के आधार पर लिखा गया था। फिर श्री महेन्द्र जी (अब स्वर्गीय) ने मुझे सन् 1926 के लगभग से नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का अधिकारी नियुक्त कर दिया। इससे पांडुलिपियों और अनुसंधान में रुचि बढ़नी ही चाहिए थी। इसी सभा के पांडुलिपि-विभाग के प्रबन्धक भी मुझे रहना पड़ा। मथुरा के पं० गोपाल प्रसाद व्यास (आज के लब्धप्रतिष्ठित हास्यरस के महाकवि, दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री तथा पद्मश्री से विभूषित एवं हिन्दी हिन्दुस्तान के सम्पादकीय विभाग के यशस्वी सदस्य) हस्तलेखों की खोज के खोजकर्त्ता नियुक्त किये गये। वहीं मथुरा में श्री त्रिवेदी (अब स्वर्गीय) काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज करने आये। मुझसे उन्हें स्नेह था, वे मेरे पास ही ठहरे। इस प्रकार कुछ समय तक प्रायः प्रतिदिन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज पर बातें होतीं। इन सभी बातों से यह स्वाभाविक ही था कि हस्तलिखित ग्रन्थों और उनकी खोज में मेरी रुचि बढ़ती। उधर ब्रज-साहित्य-मण्डल की मथुरा में स्थापना हुई। उसके लिए भी हस्तलेखों में रुचि लेनी पड़ी। जब मैं क० मु० हिन्दी विद्यापीठ में था तो वहाँ भी हस्तलेखों का संग्रहालय स्थापित किया गया। यहाँ अनुसंधान पर होने वाली संगोष्ठी में हस्तलेखों के अनुसंधान पर वैज्ञानिक चर्चाएँ करनी और करानी पड़ीं। पं० उदयशंकर शास्त्री ने विद्यापीठ का हस्त-

लेखागार सम्भाला। वे भी इस विषय में निष्णात् थे। उनसे भी सहायता मैंने ली है। सूरसागर के संपादन और पाठालोचन के लिए एक बृहद् सेमीनार का आयोजन भी मुझे ब्रज-साहित्य-मण्डल के लिए करना पड़ा था। इन सभी के परिणामस्वरूप मेरी रुचि पाडुलिपियो में बढ़ी और पाडुलिपियो की खोज की दिशा में भी कुछ कार्य किया।

पर इनसे मेरी पाडुलिपि-विज्ञान की पुस्तक लिखने की योग्यता सिद्ध नहीं होती। अतः यह मेरी अनधिकार चेष्टा ही मानी जायगी। हाँ, मुझे इस कार्य में प्रवृत्त होने का साहस इसी भावना से हुआ कि इससे एक अभाव की पूर्ति तो हो ही सकती है। इससे इस बात की सम्भावना भी बढ़ सकेगी कि आगे कोई यथार्थ अधिकारी इस पर और अधिक परिपक्व और प्रामाणिक ग्रन्थ प्रस्तुत कर सकेगा।

जो भी हो, आज तो यह पुस्तक आपको समर्पित है और इस मान्यता के साथ समर्पित है कि यह पाडुलिपि-विज्ञान की पुस्तक है। डॉ० हीरालाल माहेश्वरी एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० ने मेरे आग्रह पर अपने अनुभव और अध्ययन के आधार पर कुछ उपयोगी टिप्पणियाँ हस्तलेखो पर तैयार करके दी। इन्होंने शतश हस्तलेखो का उपयोग अपने अनुसधान मे किया है। कठिन यात्राएँ करके कठिन व्यक्तियों से पाडुलिपियो को प्राप्त किया है और उनका अध्ययन किया है। इसी प्रकार श्री गोपाल नारायण बहुरा जी ने भी कुछ टिप्पणियाँ हमे दी। ये बहुत वर्षों तक राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान से सम्बन्धित रहे, वहाँ से सेवा-निवृत्त होने पर जयपुर के सिटी-पैलेस के 'पोथीखाने' और संग्रहालय मे हस्तलिखित ग्रन्थो के विभाग मे सम्बन्धित हो गये, इस समय भी वही हैं। इनको हस्तलेखो का दीर्घकालीन अनुभव है। और सोने मे सुगध की बात यह है कि प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान मे इन्हे विद्वद्वर मुनि जिन विजय जी (अब स्वर्गीय) के साथ भी काम करने का अच्छा अवसर मिला। हमारे आग्रह पर इन्होंने भी हम उस विषय पर कुछ टिप्पणियाँ लिखकर दी। इनकी इस सामग्री का यथासम्भव हमने पूरा उपयोग किया है और उसे इन विद्वानो के नाम से यथास्थान इस पुस्तक मे समायोजित किया है। इनके इस सहयोग के लिए मै अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। जहाँ तक मुझे ज्ञात है वहाँ तक मैं समझता हूँ कि "पाडुलिपि-विज्ञान" पर यह पहली ही पुस्तक है। गुजराती की मुनि पुण्यविजय की लिखी पुस्तक "भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला" मे पाडुलिपि-विषयक कुछ विषयो पर अच्छी ज्ञातव्य सामग्री बहुत ही श्रम, अध्यवसाय और सूझ-बूझ के साथ सजोयी गयी है पर इसमे दृष्टि सास्कृतिक चित्र उपस्थित करने की रही है। उनकी इस पुस्तक को जैन लेखन-कला और सस्कृति विषय का लघु विश्वकोष माना जा सकता है। इससे भी हमे बहुत-सी उपयोगी ज्ञान-सामग्री मिली है। मुनि पुण्यविजय जी भी प्रसिद्ध पाडुलिपि शोध कर्ता हैं और इस विषय के प्रामाणिक विद्वान है। उनके चरणो में मैं अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ।

किन्तु इस क्षेत्र मे सबसे पहले जिस महामनीषी का नाम लिया जाना चाहिये वह हैं "भारतीय प्राचीन लिपि माला" के यशस्वी लेखक महा-महोपाध्याय गौरीशकर हीराचंद ओझा जी हिन्दी के अनन्य सेवक और हिन्दी व्रती थे। "भारतीय प्राचीन लिपि माला" जैसी अद्वितीय कृति उन्होंने दबावों और आग्रहों की चिन्ता न करके अपने व्रत के अनुसार हिन्दी मे ही लिखी, और भारतीय विद्वानो के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया। उनका यह ग्रन्थ तो पांडुलिपि-विज्ञान का मूलतः आधार ग्रन्थ ही है। मैंने ब्राह्मी लिपि का पहला

पाठ उनकी इसी पुस्तक से सीखा था । मैं तो उनके दिव्य चरणों में श्रद्धा से पूर्णत समर्पित हूँ । वे और उनके ग्रन्थ तो अब भी प्रेरणा के अखड स्रोत है । उनमे भी बहुत-कुछ इस ग्रन्थ में लिया है । यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे ही अन्य अनेक हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओ के विद्वानो के ग्रन्थो से लाभ उठाया गया है और यथा-स्थान उनका नामोल्लेख भी किया गया है । इन सबके समक्ष मे श्रद्धापूर्वक विनत हूँ । इन सभी विद्वानों के चरणों मे मैं एक विद्यार्थी की भाँति नमन करता हूँ और उनके आशीर्वाद की याचना करता हूँ । उनके ग्रन्थों की सहायता के बिना यह पुस्तक नही लिखी जा सकती थी और पाडुलिपि-विज्ञान का बीज वपन नहीं हो सकता था ।

इस पुस्तक की तैयारी मे सबसे अधिक सहायता मुझे राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अनुसंधान अधिकारी प्रवक्ता, डॉ०रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ से मिली है । उनकी सहायता के बिना यह ग्रन्थ लिखा जा सकता था, इसमे मुझे संदेह है । इसका एक-एक पृष्ठ उनका ऋणी है ।

इस पुस्तक का एक छोटा-सा इतिहास है । जब केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय और शब्दावली-आयोग ने साहित्य और भाषा विषय की विषय-नामिकाएँ बनाई तो उनमे मुझे भी एक सदस्य नामांकित किया गया । इन्ही विषय-नामिकाओ मे जब यह निर्धारित किया गया कि किन-किन ग्रन्थो का मौलिक लेखन कराया जाय, तब "पाडुलिपि-विज्ञान" को भी उसी सूची मे सम्मिलित किया गया । इसका लेखन कार्य मुझे सौपा गया ।

जब मैं राजस्थान विश्वविद्यालय मे हिन्दी विभागाध्यक्ष होकर आ गया और कुछ वर्ष बाद राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना हुई तो इस अकादमी के 'साहित्या-लोचन' और 'भाषा' की विषय-नामिका का एक सदस्य केन्द्र की ओर से मुझे भी बनाया गया । साथ ही उक्त ग्रन्थ भी लिखवाने और प्रकाशन के लिए राजस्थान-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी को दे दिया गया । दिसम्बर, 73 तक इस विषय पर विशेष कार्य नही हुआ । 74 के आरम्भ से कुछ कार्य आरम्भ हुआ । 5 मार्च, 74 को ग्रन्थ अकादमी के निदेशक पद से निवृत्त होकर मै इस ग्रन्थ के लिखने मे पूरी तरह प्रवृत्त हो गया । इसी का परिणाम यह ग्रन्थ है ।

इस ग्रन्थ की रचना मे राजस्थान विश्वविद्यालय के पुस्तकालयो का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है । राजस्थान-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी के पुस्तकालय का भी उपयोग किया गया है ।

प० कृपाशकर तिवारी जी के एक लेख को अपनी तरह से इसमे मैंने सम्मिलित कर लिया है । पं० उदयशंकर शास्त्री जी के एक चार्ट को भी ले लिया गया है । इन सबका यथास्थान उल्लेख है ।

जिन विषयो की चर्चा की गयी है उनके विशेषज्ञों के ग्रन्थो से तद्विषयक वैज्ञानिक प्रक्रिया बताने या विश्लेषण-पद्धति समझाने के लिए आवश्यक सामग्री उद्धृत की गयी है और यथास्थान उनका विश्लेषण भी किया गया है । इस प्रकार प्रत्येक चरण को प्रामाणिक बनाने का यत्न किया गया है । इन सभी विद्वानों के प्रति मै नतमस्तक हूँ । यदि ग्रन्थ मे कुछ प्रामाणिकता है तो वह उन्ही के कारण है ।

इन प्रयत्नो के किये जाने पर भी हो सकता है कि यह भानुमती का कुनबा

होकर रह गया हो, पर मुझे लगता है कि इसमें पाडुलिपि-विज्ञान का सूत्र भी अवश्य है।

पांडुलिपि-विज्ञान का अध्ययन विश्वविद्यालय के स्तर के विद्यार्थियो और शोधार्थियों के लिए उपयोगी होता है। प्रत्येक शोध-सगोष्ठी मे पाडुलिपि विषयक चर्चा किसी न किसी रूप मे अवश्य होती है, पर सम्यक वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव मे सतही ही रह जाती है। इतिहास, साहित्य, समाज-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, आदि कितने ही ऐसे विषय हैं जिनमे किसी न किसी दृष्टि से पाडुलिपियो का उपयोग करना पड जाता है। साहित्य के अनुसधानकर्त्ता का काम तो पांडुलिपियो के बिना चल ही नहीं सकता। विश्वविद्यालयो मे अब पी एच० डी० से पूर्व एम० फिल० के अध्ययन-अध्यापन का और विधान किया गया है। इसमे पी-एच० डी० के लिए परिपक्व अनुसंधान की योग्यता प्रदान कराने की व्यवस्था है। इस उपाधि के लिए पाडुलिपि-विज्ञान का अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए, ऐसा मैं मानता हूँ, अन्यथा एम० फिल० की उपाधि मे वह लाभ नही मिल सकेगा जो अभीष्ट है। अनुसधान की प्रक्रिया का ऐसे अध्ययन मे अपना महत्त्व है पर अनुसधान-प्रक्रिया के अन्तर्गत विविध विज्ञानो की सहायता अपेक्षित होती है और यह पाडुलिपि-विज्ञान ऐसा ही एक विज्ञान है। अत इस पुस्तक की आवश्यकता स्वयसिद्ध है।

यो भी यह विषय अपने आप मे रोचक है, अतः मे आशा करता हूँ कि इसका हिन्दी जगत मे स्वागत किया जायगा।

सत्येन्द्र

विषय-सूची

चित्र-सूची

अध्याय 1

पाण्डुलिपि-विज्ञान और उसकी सीमाएँ

नाम की समस्या

इस विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य द्वारा लिपिबद्ध की गई सामग्री से है। मनुष्य ने कितनी ही सहस्राब्दियों पूर्व लेखन-कला का आविष्कार किया था। तब से अब तक लिपिबद्ध सामग्री अनेक रूपों में मिलती है। अतः यहाँ लेखन से भी कई अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। आधुनिक युग में जिस तरह से हाथ से, लेखनी के द्वारा कागज पर लिखा जाता है उसी प्रकार मनुष्य की सभ्यता के आरम्भ और विकास की अवस्थाओं में यह लेखनक्रिया ईंटों पर, पत्थरों पर, शिलालेखों के रूप में या टंकण द्वारा की जाती रही। मोम-पाटी पर या चमड़े पर भी लिखा गया। ताड़पत्र पर नुकीली लेखनी से गोदन द्वारा यह कार्य किया गया और कपड़ों पर छापों द्वारा, भोजपत्र पर लेखनी के द्वारा, ताम्रपत्र तथा अन्य धातु पत्रों पर टंकण द्वारा या ढालकर या छापों द्वारा अपने विचारों को अंकित किया गया है। अतः इस विज्ञान को इन सभी प्रकार के लेखों को अपनी सामग्री के रूप में उपयोग करना होगा। इन सभी को हम लेख तो आसानी से कह सकते हैं क्योंकि विविध रूपों में लिपिबद्ध होने पर भी लिखने का भाव इनके साथ बना हुआ है। मुहावरों में भी टंकण द्वारा लेखन, गोदन द्वारा लेखन, आदि प्रयोग आते हैं। इतिहासकारों ने भी अपने अनुसंधानों में इनको अभिलेख शिलालेख, ताम्रपत्र लेख आदि का नाम दिया है। इन्हें जो लेख भी मिले हैं उन्हें, वासुदेव उपाध्याय ने धार्मिक लेख, 'प्रशस्तिमय-अभिलेख, स्मारक-लेख, आज्ञापत्र एवं दान-पत्र के रूपों में प्रस्तुत किया गया बताया है। मुद्राओं पर भी अभिलेख अंकित माने जाते हैं। इन अभिलेखों में आगे पुस्तक-लेखन आता है तो इसका एक अलग वर्ग बन जाता है। वस्तुतः यही वर्ग संकुचित अर्थ में इस पाण्डुलिपि-विज्ञान का यथार्थ क्षेत्र है। अंग्रेजी में इन्हें 'मैन्युस्क्रिप्ट्स' कहते हैं। 'मैन्युस्क्रिप्ट' शब्द को हस्तलेख नाम भी दिया जाता है और पाण्डुलिपि भी। रूढ़ अर्थ में पाण्डुलिपि का उपयोग हाथ की लिखी पुस्तक के उस रूप को दिया जाने लगा है जो प्रेस में मुद्रित होने के लिए देने की दृष्टि से अन्तिम रूप में तैयार हो।[1] फिर भी, इसका निश्चित अर्थ वही है जो हस्तलेख का हो सकता है। हस्तलेख का अर्थ पाण्डुलिपि से अधिक विस्तृत माना जा सकता है क्योंकि उसमें शिलालेख तथा ताम्रपत्र आदि का भी समावेश माना जाता है किन्तु पाण्डुलिपि का संबंध ग्रन्थ से ही होता है। आज मैन्युस्क्रिप्ट के पर्याय के रूप में 'हस्तलेख' और 'पाण्डुलिपि'

1. प० उदयशंकर शास्त्री ने पाडुलिपि के सम्बन्ध में यह लिखा है कि आजकल हस्तलिखित ग्रन्थों को पाडुलिपियाँ कहा जाने लगा है। किन्तु प्राचीन काल में पाडुलिपि उस हस्तलेख को कहा जाता था जिसके प्रारूप (मसविदा) को पहले लकड़ी के पट्टे या जमीन पर खड़िया (पाडु) (चाक) से लिखा जाता था फिर उसे शुद्ध करके अन्यत्र उतार लिया जाता था और उसी को पक्का कर दिया जाता था। हिन्दी में यह अर्थ विपर्यय अंग्रेजी के कारण हुआ है। अंग्रेजी में किसी भी प्रकार के हस्तलेख को मैन्युस्क्रिप्ट' कहते है। —[भारतीय साहित्य, जनवरी, १९५९, पृ० १२०]

दोनो ही प्रयुक्त होते हैं। हस्तलेख से हस्तरेखाओं का भ्रम हो सकता है। इस दृष्टि से 'मैन्युस्क्रिप्ट' के लिए पाण्डुलिपि शब्द कुछ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है इसलिए हमने इसी शब्द को मान्यता दी है।

अंग्रेजी के विश्वकोषों मे 'मैन्युस्क्रिप्ट' का क्षेत्र काफी विशद माना गया है।[1] फलत आज 'मैन्युस्क्रिप्ट' या 'पाण्डुलिपि' का यही विस्तृत अर्थ लिया जाता है। यही अर्थ इस ग्रन्थ मे भी ग्रहण किया गया है।

पांडुलिपि विज्ञान क्या है ?

मनुष्य अपनी आदिम अवस्था के वन्य-स्वरूप को पार करके इतिहास और सस्कृति का निर्माण करता हुआ, लाखो वर्षों की जीवन-यात्रा सम्पन्न कर चुका है। वह अपनी इस यात्रा मे चरण-चिह्न छोड़ता आया है। इन चिह्नों मे से कुछ आदिम अवस्था मे गुफाओं मे निवास के स्मारक गुहा-चित्र है जो 30,00,00 वर्ष ई पू से मिलते है। इन चिह्नों मे इनके अतिरिक्त भवनो के खडहर है, विशाल समाधिया है, देवस्थान है; अन्य उपकरण जैसे बर्तन, मृद्भाड, मुद्राए, एव मृण्मूर्तियाँ है, ईंटे है, तथा अस्त्र-शस्त्र है। इनके साथ ही साथ शिलालेख है, ताम्रपट्ट है, भित्तिचित्र है। इन सबके द्वारा और सब मे

1. न्यू यूनीवर्सल ऐनसाइक्लोपीडिया भाग 10 मे बताया गया है कि मैन्युस्क्रिप्ट लैटिन के [Manu Scriptus] मनु+स्क्रिप्टस से उत्पन्न है। इसका अर्थ होता है हाथ की लिखावट। विशद अर्थ मे कोई भी ऐसा लेख जो छपा हुआ नहीं है इसके अन्तर्गत आयगा। सामान्य अर्थ मे छपाई का प्रचलन होने से पर्व जो सामग्री पेपीरस, पार्चमेण्ट अथवा कागज पर लिखी गई वही 'मैन्युस्क्रिप्ट' कही गई। ऐनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना के अनुसार छापेखाने की छपाई आरम्भ होने से पूर्व का समस्त साहित्य 'मैन्युस्क्रिप्ट' के रूप मे ही था। इसके अनुसार वह समस्त सामग्री 'मैन्युस्क्रिप्ट' कही जायेगी जो किसी भी रूप मे लिखी गई हो, चाहे वह कागज पर लिखी हो अथवा किसी अन्य वस्तु पर, जैसे धातु, पत्थर, लकडी, मिट्टी, कपडे, वृक्ष की छाल, वृक्ष के पत्ते, अथवा चमडे पर।

In Archaeology a manuscript is any early writing on stone, metal, wood, clay linen, bark and leaves of trees and prepared skins of animals such as goats sheep and calves —The American People's Encyclopaedia (p 175)

विद्वानो का यह अभिमत है कि खोज मे जो सामग्री अब तक मिली है उसके आधार पर यह माना जा सकता है कि पहले लेखन-कार्य आदिम मानवो की चित्रकला की भाँति गुफाओं की भित्तियों पर या शिलाओं की भित्तियों पर हुआ होगा। तब पत्थरो या हाडो का उपयोग किया गया होगा। तदनन्तर मिट्टी (Clay) की ईंटो पर। ईंटो के बाद पेपीरस का आविष्कार हुआ होगा। पेपीरस के खरडो [Rolls] पर ग्रन्थ रहता था। इसी के साथ-साथ लिखने मिटाने और फिर लिखने की सुविधा की दृष्टि से लकडी की पाटी या पट्टी काम मे ली जाने लगी। पश्चिम मे मोम की पाटी का उपयोग मिलता है। आगे के विकास मे यह मोम पाटी आवरण पटल का रूप लेने लगी। 'पेपीरस' के रोल्स या खरीते बलशिनाए या कुण्डलियां बहुत लम्बे होते थे। ये असुविधाजनक लगे तो इन्हे दुहरा तिहरा कर पृष्ठ या पत्ते का रूप दिया गया और मोमपाटी के आवरण पटल इन पृष्ठो के रक्षक बन गये। ये ऊपर और नीचे के दोनो पटल एक ओर तार से गूँथे जाते थे। बाद मे लिप्यासन के लिए पेपीरस के स्थान पर पार्चमेंट [चर्मपत्र] काम मे आने लगा तो पार्चमेण्ट या चर्म-पत्र ग्रन्थ के पृष्ठो की भाँति और मोमपाटी या लकडी की पट्टियां आवरण पटल की भाँति उपयोग मे आने लगे। इनको कोडैक्स [Codex] कहा जाता है। आधुनिक जिल्द-बन्द ग्रन्थो के पूर्वज ये 'कोडैक्स' ही है। ऐसा माना जाता है कि पार्चमेण्ट [चर्मपत्र] का उपयोग लिप्यासन के लिए प्रथम ई० शती मे होने लगा था। इनका कोडैक्सी रूप मे प्रचार ईसा की चौथी शताब्दी से विशेष रूप मे हुआ। ये सभी पाडुलिपि के भेद हैं, जिन्हे विकास-क्रम से यहाँ बताया गया है।

मे उस प्रागैतिहासिक मनुष्य का रूप ऐतिहासिक काल की भूमिका मे उभरता है, जो प्रगति पथ की ओर चलता ही जा रहा है। उसके सघर्ष के अवशेष इतिहास के काल-क्रम मे दबे मिल जाते है। उनसे मनुष्य की सघर्ष कथा का बाह्य साक्ष्य मिलता है। इन बाह्य साक्षियो के प्रमाण से हम उसके अतरग तक पहुँचने का प्रयत्न करते है। प्रत्येक ऐसे आदिम उपादानो के साथ सहस्राब्दियो का मानवीय इतिहास जुडा हुआ है। इन अवशेषो के माध्यम से इतिहासकार उन प्राचीन महस्राब्दियो का साक्षात्कार कल्पना के सहारे करता है। उन्ही के आधार पर वह प्राचीन मानव के मन एव मस्तिष्क, विचारो और आस्थाओ के सूत्र तैयार करता है।

उदाहरणार्थ—अल्टामीरा[1] की गुफाओ मे दूर भीतर अँधेरे मे कुछ चित्र बने मिले। मनुष्य ने अभी भवन या झोपडी बनाना नही सीखा, अत वह प्राकृतिक पहाडियो या गुफाओ मे शरण लेता था। गुफाओ मे भीतर की ओर उसने एक अँधेरा स्थान चुना यानी उसने निभृत स्थान, एकान्त स्थान चुना क्योंकि वह चाहता था कि वहाँ वह जो कुछ करना चाहे, वह सबकी दृष्टि मे न आवे। उसका वह स्थान ऐसा है, कि जहाँ उसके अन्य साथी भी यो ही नही आ सकते। स्पष्ट है कि वह यहाँ पर कोई गुह्य कृत्य करना चाहता था।

चित्र—यहाँ उसने चित्र बनाये। अवश्य ही वह इस समय तक कृत्रिम प्रकाश उत्पन्न करना जान गया था, उसी प्रकाश मे वह चित्र बना सका, अन्यथा वह चित्र न बना पाता। साथ ही, उस गुह्य स्थान पर जो चित्र उसने बनाये वे चित्र सोद्देश्य है। इसका उद्देश्य टोना हो सकता है। वह टोने मे अवश्य विश्वास करता था। उसी टोने के लिए तथा तद्विषयक अनुष्ठानो के लिए एकान्त अन्धकार पूर्ण गुह्य अश उस गुफा मे उसने चुना, और वहाँ वे चित्र बनाये।[2] इन चित्रो के माध्यम से टोने के द्वारा वह अपना अभीष्ट प्राप्त करना चाहता था। प्रागैतिहासिक काल के लोग टोने मे विश्वास करते थे। उनके लिए टोना धर्म का ही एक रूप था ऐसा कुछ हम गुहा और उनके चित्रो को देखकर कह सकते है। किन्तु यथार्थ यह है कि यह जो कुछ कहा गया है उससे भी और अधिक कहा जा सकता था—पर यह सब कुछ बाह्य साक्ष्य से मानस के अतरग तक पहुँचने के उपक्रम मे कल्पना के उपयोग से सम्भव होता। उदाहरणार्थ—सामने चित्र है। पुरातत्वविद् उसे देख रहा है। चित्र, उसकी भूमि, उसका स्थान-स्थान का स्वरूप और स्थिति, वहाँ उपलब्ध कुछ उपादान, गुफाओ का काल—ये सब पुरातत्वविद् की कल्पना दृष्टि के लिए एक

1 Much research in this field has been done in recent years, and we now have a fairly definite knowledge of the Art of some of the most-primitive of men known to the anthropologist (from 30 000 to 10,000 B C) . . but the famous cave drawings of animals at Altamira in Spain are the most important

— The Meaning of Art, p 53.

2 There is evidence to show that paintings have been often repainted, and that the places where they are found were in some way regarded as sacred by the Bushmen, —The Meaning of Art, p 54

'By the symbolical representation of an event, primitive man thinks he can secure the actual occurence of that event. The desire for progeny, for the death of an enemy, for servival after death, or for the exorcism or propitiation of adequate symbol (यही टोना है।)

—Read, Herbert The Meaning of Art, p 57

भाषा है जिनसे वह आदिम युग के मनुष्य के मानस को पढ़कर निरूपित कर पाता है।

सभ्यता और संस्कृति के विकास मे यह आदिम मनुष्य ऐसे मोड पर पहुँचता है कि वह एक ओर तो चित्र से लिपि की दिशा मे बढ़ता है, दूसरी ओर 'भाषा' का विकास कर लेता है। तब वह अपने विचारो को इस प्रकार लिख सकता है कि पढने वाला जैसे स्वयं लिखने वाले के समक्ष खड़ा होकर लिपि की लकीरों से लेखक के मानस का साक्षात्कार कर रहा हो। अब सामान्यत अपनी कल्पना से उसे लेखक के मानस का निर्माण नही करना, जैसे गुफा-निवासी के मानस का किया गया; वह मानस तो लेख से लेखक ने ही खडा कर दिया है। इस लेखन के अनेक रूप हो सकते है, अनेक लिपियाँ हो सकती हैं, अनेक भाषाएँ हो सकती है। पर सबमे मनुष्य का मानस व्यापार, उसके भाव-विचार, उसने जो देखा-समझा उसका विवरण होता है। वस्तुत लेख मे ही मनुष्य का साक्षात् मानस प्रतिबिंबित मिलता है। ये सभी, चित्र से लेकर लिपि-लेखन तक, पाडुलिपि के अन्तर्गत माने जा सकते हैं।

'लेखन' एक जटिल व्यापार है। इसमे एक तत्त्व तो लेखक है, जिसके अन्तर्गत उसका व्यक्तित्व, उसका मनोविज्ञान और अभिव्यक्ति के लिए उसका उत्साह, अभिप्राय और प्रयत्न—शरीर, हृदय और मस्तिष्क— इन सबसे बनी एक इकाई— सभी सम्मिलित हैं; उसके अन्य तत्त्व लेखनी, लिखने के लिए पट या कागज, स्याही आदि है। इनमे से प्रत्येक का अपना इतिहास है, सबके निर्माण की कला है, और सबको समझने का एक विज्ञान भी है। लिपिक अपना अलग महत्त्व रखता है। लेखक जब ग्रन्थ-रचना करता है, तब वह अपना लिपिक भी होता है क्योंकि वह स्वय लिखकर ग्रन्थ प्रस्तुत करता है। लेखक के अपने हाथ मे लिखे ग्रन्थ का अपने आप मे ऐतिहासिक महत्त्व है। ग्रन्थ-रचयिता कितना ही विद्वान और पडित हो, जब ग्रन्थ रचना करता है, अपने विचारो और विषयो को लिपिबद्ध करता है तो कितनी ही समस्याओ को जन्म देता है। ये प्राय वे ही समस्याएं होती हैं, जो सामान्य लिपिकार पैदा करता जाता है। और ऐसी अनेक प्रकार की समस्याओ के लिए पाडुलिपि-विज्ञान की अपेक्षा है।

हमने यह देखा कि पांडुलिपि से सम्बन्धित कई पक्ष हमारे सामने आते है। एक पक्ष ग्रन्थ के लेखन और रचना विषयक हो सकता है। यह ग्रन्थ-लेखन की कला का विषय बन सकता है। दूसरा पक्ष, उसकी लिपि से सम्बन्धित हो सकता है, यह 'लिपि विज्ञान' का विषय है। 'लिपिकार' सम्बन्धी पक्ष भी कम महत्त्व का नही। तीसरा पक्ष, भाषा-विषयक है जो भाषा-विज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र की वस्तु है। चौथा पक्ष, उस ग्रन्थ मे की गई चर्चा के सम्बन्ध मे हो सकता है, उसमे ज्ञान-विज्ञान की चर्चा हो सकती है, वह काव्य ग्रन्थ भी हो सकता है। ये सभी पक्ष साहित्यालोचन या विविध ज्ञान-विज्ञान और काव्य शास्त्र से सम्बन्धित है। यह पक्ष 'शब्द-अर्थ' का ही एक पक्ष है। ये ग्रन्थ चित्रयुक्त भी हो सकते है। चित्र का विषय चित्रकला के क्षेत्र मे जायेगा। ग्रन्थ जिस पर लिखा गया है उस वस्तु (चमडा ईंट छाल, पत्ता, कपडा, आदि) का एक अलग पक्ष है, फिर उसे किस प्रकार पुस्तकाकार बनाया जाता है यह अलग विज्ञान है। स्याही एव लेखनी का निर्माण एक पृथक् अध्ययन का विषय है। ग्रन्थ इन सभी से मिलकर तैयार होता है और ये सभी पक्ष इससे बँध जाते है। इसके बाद ग्रन्थो की प्रतिलिपि का पक्ष आता है। किसी प्राचीन ग्रन्थ की अनेकानेक प्रतियाँ लम्बे ऐतिहासिक काल मे बिखरी हुई और विस्तृत

भू-भाग मे फैली हुई मिलती हैं। प्रतिलिपि की अपनी कला है। इस पक्ष का अपना महत्त्व है। इन प्राचीन प्रतियों को लेकर उनके आधार पर ग्रन्थ का सम्पादन करना तथा एक आदर्श पाठ प्रस्तुत करना एक अलग पक्ष है। इसका एक अलग ही पाठालोचन-विज्ञान अस्तित्व मे आ चुका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक पाडुलिपि में कितनी ही बातें होती हैं और उनमें से अनेक का एक अलग विज्ञान है पर उनमे से कोई भी अलग-अलग-पाडुलिपि नही है, न लिपि मात्र पाडुलिपि है और न उसमे लिखी भाषा और अक, न चित्र, न स्याही और न कागज, न शब्दार्थ, न उसमे लिखा हुआ ज्ञान-विज्ञान का विषय,—पाडुलिपि इन सबसे मिलकर बनती है, साथ ही इन सबसे भिन्न है। लेकिन इन सबके ज्ञान-विज्ञान से पाडुलिपि के विज्ञान को भी हृदयगम करने मे सहायता मिल सकती है। उसके ज्ञान के लिए ये विज्ञान सहायक हो सकते है। पाडुलिपि विज्ञान की दृष्टि से जिस पर सबसे पहले दृष्टि जाती है वह तो इन सबके पारस्परिक नियोजन की बात है। इन सबका नियोजनकर्त्ता एक व्यक्ति अवश्य होता है। वह स्वय उस पाडुलिपि का कर्त्ता हो सकता है अतएव विद्वान और पण्डित। किन्तु वह मात्र एक लिपिक भी हो सकता है जो उसकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करे। मूल पाडुलिपि भी पाडुलिपि है और उसकी प्रतिलिपि भी पाडुलिपि है। इस प्रकार एक व्यक्ति द्वारा पाडुलिपि के विभिन्न तत्त्वो के नियोजन मात्र से ही वह व्यक्ति पाडुलिपि को पूर्णता प्रदान करने मे समर्थ नही है। क्योंकि उसके जो उपादान है उन पर लेखक तथा लिपिकर्त्ता का वश नही होता। उसे कागज दूसरे से तैयार किया हुआ लेना होता है, वह कागज स्वय नही बनाता। यदि अनेक प्रकार के कागज हो तो वह चयन कर सकता है। इसी प्रकार लेखनी तथा काम पर भी उसका अधिकार नही। वह प्राकृतिक उपादानो से लेखनी तैयार करता है और जैसी भी लेखनी उसे मिलती है उसका वह अपनी दृष्टि से निकृष्ट या उत्कृष्ट उपयोग कर सकता है। स्याही भी वह बनी बनाई लेता है और यदि बनाता भी है तो जिन पदार्थों से स्याही बनायी जाती है, वे सभी प्रकृतिदत्त पदार्थ होते हैं जिनका वह स्वय उत्पादन नही करता। फिर जब वह लिखना प्रारम्भ करता है तो वर्ण, शब्द और भाषा उसे सस्कार, शिक्षा तथा अभ्यास से मिलते है। लिपि के अक्षरो के निर्माण मे उसका कोई हाथ नहीं होता किंतु प्रत्येक अक्षर के निर्धारित रूप को लिखने मे वह अपने अभ्यास का और रुचि का भी फल प्रस्तुत करता है इससे वर्णों के रूप-विन्यास में कुछ अन्तर आ सकता है। किन्तु इन सभी वस्तुओ का नियोजन वह एक विधि से ही करता है और इस विधि की परीक्षा ही पांडुलिपि-विज्ञान का मुख्य लक्ष्य है। पाडुलिपि का विषय क्या है, यह पाडुलिपि-विज्ञान के अध्येता की दृष्टि से विशेष महत्त्व की बात नही है। इसका उसे इतना ही परिचित होने को आवश्यकता है जितने से वह पाडुलिपि के विषय की कोटि निर्धारित कर सके।

किन्तु यह उसके लिए अवश्य आवश्यक है कि पांडुलिपि के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठें उनका वह प्रामाणिक समाधान प्रस्तुत कर सके। अत. जिन विषयो पर पाडुलिपिवेत्ता से प्रश्न किये जा सकते हैं वे सम्भवत. इस प्रकार के हो सकते है :—

(1) पाडुलिपि की खोज और प्रक्रिया। पांडुलिपि का क्षेत्रीय अनुसंधान भी इसी के अन्तर्गत आयेगा।

(2) भौगोलिक और ऐतिहासिक प्रणाली से पांडुलिपियों के प्राप्त होने के स्थानों का निर्देश।

(3) पाडुलिपियो के मिलने के स्थान के ममस्त परिवेश से प्राप्त पाडुलिपि का सम्बन्ध निरूपण ।
(4) पांडुलिपियो के विविध पाठो के सकलन के क्षेत्रो का अनुमानित निर्देश ।
(5) पाडुलिपि के काल-निर्णय की विविध पद्धतियाँ ।
(6) पाडुलिपि के कागज, स्याही, लेखनी आदि का पाडुलिपि के माध्यम से ज्ञान और प्रत्येक काल-ज्ञान के अनुसंधान की पद्धति ।
(7) पाडुलिपि की लिपि का विज्ञान तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ।
(8) पाडुलिपि के विषय की दृष्टि से उसकी निरूपण शैली का स्वरूप ।
(9) पाडुलिपि के विविध प्रकारो का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य तथा उन प्रकारो का भौगोलिक सीमा-निर्देश ।
(10) पाडुलिपि की प्रतिलिपियो के प्रसार का मार्ग तथा क्षेत्र ।
(11) पाडुलिपियो के माध्यम से लिपि के विकास का इतिहास ।
(12) लिपिकारो के निजी व्यक्तित्व का परिणाम ।
(13) लिपियो मे वैशिष्ट्य और उन वैशिष्ट्यो की भौगोलिक तथा ऐतिहासिक व्याख्या ।
(14) पाडुलिपियो की प्रामाणिकता की परीक्षा ।
(15) पाठालोचन-प्रणाली ।
(16) पाठ-पुर्निर्माण-प्रणाली ।
(17) शब्द रूप और अर्थ तथा पाठ ।
(18) पाडुलिपियो की सुरक्षा की वैज्ञानिक पद्धतियाँ ।
(19) पांडुलिपियो के संग्रहालय और उनके निर्माण का प्रकार ।
(20) पाडुलिपियो के उपयोग का विज्ञान ।
(21) पाडुलिपि और उसके अलकरण ।
(22) पाडुलिपि मे चित्र ।
(23) पाडुलिपि की भाषा का निर्णय ।
(24) पाडुलिपि-लेखक, प्रतिलिपिकार, चित्रकार और सज्जाकार ।
(25) पाडुलिपि, प्रतिलिपि लेखन के स्थान, तथा प्राप्त सुविधाए, प्रतिलिपिकार की योग्यताए ।
(26) ग्रन्थ-लेखन तथा प्रतिलिपि-लेखन के शुभ-अशुभ मुहूर्त ।
(27) पाडुलिपि के लिप्यकन मे हरताल प्रयोग, काव्य प्रयोग, सशोधन-परिवर्द्धन की पद्धतियाँ ।

पाडुलिपि विज्ञान इसलिए भी विज्ञान है कि वह पाडुलिपि का अध्ययन किसी एक विशिष्ट पांडुलिपि को दृष्टि मे रखकर नही करता वरन् पाडुलिपि के सामान्य रूप को ही लेना है । पाडुलिपि शब्द से कोई विशेष पुस्तक सामने नही आती । प्रत्येक प्रकार की पाडुलिपियो मे कुछ सामान्य लक्षण ऐसे होते है कि उनसे युक्त सभी ग्रन्थ पाडुलिपि कहे जाते है । पाडुलिपि शब्द के अन्तर्गत समग्र पाडुलिपियाँ सामान्यरूप मे अभिहित होती है जो लिखी गई है, लिखी जा रही है, या लिखी जाएँगी । यह विज्ञान उन सभी को दृष्टि मे रखकर विचार करता है । इसी दृष्टि से पाडुलिपि-गत सामान्य विषयों का पांडुलिपि-विज्ञान विश्लेषण करता है और विश्लेषित प्रत्येक अग पर वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य-कारण परम्परा

में बाँधकर सैद्धान्तिक विचार करता है । इनके आधार पर वह ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत करता है जिनसे तत्सम्बन्धी विविध प्रश्नो और समस्याओं का समाधान किया जा सकता है । पाडुलिपि-विज्ञान पाडुलिपि से सम्बन्धित तीनो पक्षो से सम्बन्धित होता है, ये पक्ष हैं . लेखन पक्ष, पाडुलिपि का प्रस्तुतीकरण पक्ष, जिसमे सभी प्रकार की पाडुलिपियाँ परिगणनीय हैं और तीसरा सम्प्रेषण पक्ष, जिसमे पाठक वर्ग सम्मिलित होता है, पाडुलिपि लेखक और पाठक इन दोनों पक्षों के लिए सेतु या माध्यम है । अतएव पांडुलिपि के अपने पक्ष के साथ पाडुलिपि-विज्ञान इन दोनो पक्षों का पाडुलिपि के माध्यम से उस अश का जिस अश के कारण पाडुलिपि हस्तलेख में आती है वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करता है । यह विज्ञान पांडुलिपि के समग्र रूप के निर्माण मे इन दानो पक्षो के योगदान का भी मूल्याकन करता है ।

ग्रन्थ रचना की प्रक्रिया मे मूल अभिप्राय है लेखक का यह प्रयत्न कि वह पाठक तक पहुँच सके और आज के पाठक तक ही नही दीर्घाति-दीर्घकालीन भविष्य के पाठको तक पहुँच सके । 'लेखन' क्रिया का जन्म ही अपनी अभिव्यक्ति को भावी युगो तक सुरक्षित रखने के लिए हुआ है ।

फलत· लेखन के परिणामस्वरूप प्राप्त ग्रन्थ या पांडुलिपि लेखक के विचारों को सुरक्षित रख कर उसे पाठक तक पहुँचाते है । इस प्रकार पाडुलिपि एक सेतु या उपादान है जो काल की सीमाओं को लाँघ कर भी लेखक को पाठक से जोड़ता है । पाठक भी इन्ही के माध्यम से लेखक के पास पहुँच सकता है । इसे यो समझा जा सकता है :
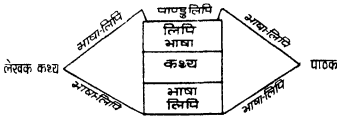
लेखक का कथ्य भाषा में रूपान्तरित होकर लिपिबद्ध होकर लेखनी से लिप्यासन पर अंकित होकर पाडुलिपि का रूप ग्रहण कर पाठक के पास पहुँचता है । अब पाठक ग्रन्थ के लिप्यासन या लिपिबद्ध भाषा के माध्यम से लेखक के कथ्य तक पहुँचता है । लेखक और पाठक मे काल गत और देशगत अन्तर है, और यह अन्तर ग्रन्थ के द्वारा शून्य हो जाता है, तभी तो आज हजारो वर्ष पूर्व के काल को लाँघकर देश काल के अन्तराल को मिटाकर हम लेखक से मिल सकते है । फिर भी, लेखक से पाठक तक या पाठक से लेखक तक की इस यात्रा मे समस्याएँ खडी होती हैं । उनके समाधान का महत्त्वपूर्ण साधन पांडुलिपि है । इसी महत्त्वपूर्ण साधन तक पहुँचने की दृष्टि से पांडुलिपि-विज्ञान की उपादेयता सिद्ध होती है ।

पाण्डुलिपि विषयक विज्ञान की आवश्यकता

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है और उठाया भी जा सकता है कि पाडुलिपियो का अस्तित्व' इतना पुराना है जितना कि लिपि या लेखन का आविष्कार, किन्तु आज तक पाडुलिपि-विज्ञान की आवश्यकता का अनुभव क्यो नही किया गया ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है इसमे सदेह नही । इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार आविष्कार की जननी आवश्यकता है उसी प्रकार विज्ञान की जननी भी किसी प्रकार की आवश्यकता ही है । इस विज्ञान की आवश्यकता तब ही अनुभव की गई जबकि वैज्ञानिक दृष्टि की प्रमुखता हो गई । जिस युग मे वैज्ञानिक दृष्टि प्रमुख होने लगती है उस युग मे प्रत्येक बात को वैज्ञानिक पद्धति से समझने का प्रयत्न किया जाता है । इसी प्रयत्न के फल-स्वरूप नये-नये विज्ञानो का जन्म होता है । यह वैज्ञानिक-दृष्टि उस विषय पर पहले पड़ती है जो कि विविध परिस्थितियो के फलस्वरूप अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो सकता है । जैसे भाषा को लोग सहस्राब्दियो से उपयोग मे लाते रहे और उसे एक व्यवस्थित प्रणाली मे समझने के स्थूल प्रयत्न भी प्रारम्भ से होते रहे किन्तु विज्ञान का रूप उसने उस समय ग्रहण किया जबकि एक ओर तो औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप नये निर्माणो और नये अनुसंधानो की प्रवृत्ति ने विज्ञान को प्रमुख आकर्षण बना दिया । दूसरे, उपनिवेशवाद और वाणिज्य-विस्तार के कारण देश-विदेशों की विविध प्रकार की भाषाएँ सामने आयी, उनका तुलनात्मक अध्ययन करना भी आवश्यक हो गया, और इसको तब और भी प्रोत्साहन मिला जबकि संस्कृत भाषा और साहित्य पाश्चात्य विद्वानो के सम्मुख आया । इन सबने मिलकर तुलनात्मक रूप से भाषाओं को समझने के साथ-साथ भाषाओं के वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता प्रस्तुत कर दी । तब से भाषा का विज्ञान निरन्तर प्रगति करता हुआ आज भाषिकी या लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) के नये रूप मे एक प्रकार से पूर्ण विज्ञान बन चुका है । इसी प्रकार पाठालोचन की जब आवश्यकता प्रतीत हुई और विविध ग्रन्थो का पाठालोचन प्रस्तुत करना पड़ा तो उसके भी विज्ञान की आवश्यकता प्रतीत हुई । फलत आज पाठालोचन का भी एक विज्ञान बन गया है । यह पहले साहित्य के क्षेत्र मे कविता के शुद्ध रूप तक पहुचने के साधन के रूप मे आया फिर यह भाषा विज्ञान की एक प्रशाखा के रूप मे पल्लवित हुआ । अब यह एक स्वतन्त्र विज्ञान है । यही स्थिति पाडुलिपि-विज्ञान की है । आज भारत मे अनेक प्राचीन हस्तलेख एव पाडुलिपियाँ उपलब्ध हो रही है । शतश हस्तलेख भण्डार, निजी भी और सस्थानो के भी, इधर कुछ वर्षो मे उद्घाटित हुए है । अत. पाडुलिपियाँ भी यह अपेक्षा करने लगी है कि उनकी समस्याओ को भी समग्रत अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया जाय । इस आवश्यकता को अनुभव करते हुए अभी कुछ वर्ष पूर्व भारतवर्ष मे सस्कृत-साहित्य-सम्मेलन ने पाडुलिपि-विज्ञान की आवश्यकता अनुभव की और एक प्रस्ताव पारित किया कि विश्वविद्यालयो मे पाडुलिपिविज्ञान भी अध्ययन का एक विषय होना चाहिए । अत आज पाडुलिपि विज्ञान की उपादेयता सिद्ध हो चुकी है । इसका महत्त्व भी कम नही है क्योंकि शायद ही कोई विश्वविद्यालय ऐसा हो कि जिसमे पाडुलिपियो का सग्रह न हो । नई परिभाषा से सरकारी कार्यालयो और सस्थाओ एव सस्थानो के कागज पत्र भी पाडुलिपि हैं । इनके भण्डार दिन-दिन महत्त्वपूर्ण होते जा रहे है । जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है कि देश भर में पुराने और नये शतश हस्तलेख और पाडुलिपियो के भण्डार फैले हुए हैं और बहुत से नये-नये

पाडुलिपि भण्डार प्रकाश में आते जा रहे हैं। इस कारण भी पाडुलिपि-विज्ञान आज महत्त्वपूर्ण हो उठा है।

एक बात और है, कुछ ऐसे विज्ञान पहले से विद्यमान हैं जिनका सीधा सम्बन्ध हमारे पांडुलिपि-विज्ञान से है—यथा-पेलियोग्राफी एक विज्ञान है। यह वह विज्ञान है जो पेपीरस, पार्चमेंट, मोमीपाटी (Postherds), लकडी या कागज पर के पुरातन लेखन को पढ़ने का प्रयत्न करता है, तिथियों का उद्घाटन करता है और उसका विश्लेषण करता है।[1] इसके प्रमुख ध्येय दो माने गये हैं पहला ध्येय है पुरातन हस्तलेखों को पढना। यह बताना आवश्यक नहीं कि पुरातन हस्तलेखों का पढना कोई आसान कार्य नहीं है। वस्तुत प्राचीन मध्ययुग एवं आधुनिक युग की हाथ की लिखावट को ठीक-ठीक पढने के लिए लिपिविज्ञान (पेलियोग्राफी) का प्रशिक्षण आवश्यक है। इस विज्ञान के अध्ययन का दूसरा ध्येय है इन हस्तलिपियों का काल-निर्धारण एव स्थान-निर्धारण। इसके लिए अन्त साक्ष्य और बहि:साक्ष्य का सहारा लेना होता है, लिखावट एवं उसकी शैली आदि की भी सहायता लेनी होती है। ग्रन्थ का रूप कैसा है? वह बलयित है, पट्टग्रथित पुस्तक (कोडैक्स) है, या पत्राकार है? उसका कागज या लिप्यासन, उसकी स्याही, लेखनी का प्रकार, उसकी जिल्दबन्दी तथा साज-सज्जा, सभी की परीक्षा करनी होती है, और उनके आधार पर निष्कर्ष निकालने होते हैं। सचित्र पाडुलिपियों के काल एव स्थल के निर्धारण मे चित्र बहुत सहायक होते हैं क्योंकि उनमे स्थान और काल के भेद के आधार बहुत स्पष्ट रहते हैं।

एक विज्ञान है एपीग्राफी। यह विज्ञान प्रस्तर-शिलाओं या धातुओं पर अंकित लेखों या अभिलेखों को पढता है, उनका काल निर्धारित करता है, और उनका विश्लेषण करता है।

इसी प्रकार अन्य विज्ञान भी हैं। ये सभी पाडुलिपि के निर्मायक विविध तत्त्वों मे सम्बन्धित हैं। पर इन सबमे मिलकर जो वस्तु बनती है और जिसे हम 'पाडुलिपि' कहते हैं, उस समग्र इकाई का भी विज्ञान आज अपेक्षित है। अन्य विविध विज्ञान इस विज्ञान के तत्त्व निर्धारण मे सहायक हो सकते हैं। पर, समस्त अवयवों से मिलकर जब एक रूप खडा होता है, तब उसका स्वयमेव एक अलग वैज्ञानिक अस्तित्व होता है। उसको एक अलग विज्ञान के रूप मे हमे जानना है। अत पाडुलिपि-विज्ञान वह विज्ञान है जो अध्येता को पाडुलिपि को पाडुलिपि के रूप मे समझने एवं तद्विषयक समस्याओं के वैज्ञानिक निराकरण मे सहायक सिद्ध होता है।

पाडुलिपि-विज्ञान एव अन्य सहायक विज्ञान

पाडुलिपि विज्ञान से सम्बन्धित कई विज्ञान है। ये इस प्रकार हैं 1. डिप्लोमैटिक्स 2. पेलियोग्राफी, 3 भाषाविज्ञान, 4 ज्योतिष, 5 पुरातत्त्व, 6. साहित्य शास्त्र, 7. पुस्तकालय विज्ञान, 8 इतिहास, 9. खोज, शोध प्रक्रिया विज्ञान (Research Methodology) और 10. पाठालोचन-विज्ञान (Textual Criticism).

1. Palaeography, Science of Reading, dating and analyzing ancient writing on papyrus, parchment, waxed tablets, postherds, wood or paper.
—The Encyclopaedia Americana, Vol. 2, p. 163.

सबसे पहले शोध-प्रक्रिया विज्ञान (Research Methodology) को ले सकते हैं। हस्तलिखित ग्रन्थो अथवा पाडुलिपियो को प्राप्त करने के लिए इस खोज-विज्ञान का बहुत महत्त्व है। बिना खोज के हस्तलेख प्राप्त नही हो सकते। यह खोज-विज्ञान हमे हस्तलेख खोज करने के सिद्धान्तो से ही अवगत नही करता, वह हमे क्षेत्र मे काम करने के व्यावहारिक पक्ष को भी बताता है। पाडुलिपि विज्ञान के लिए इसकी सर्वप्रथम आवश्यकता है। इसी से ग्रन्थ सकलन हो सकता है। यही सकलन हमारे लिए आधार-भूमि है। यों तो भारत मे और विदेशो मे भी प्राचीन काल से पुस्तकालय रहे है।[1] प्राचीन काल मे सपूर्ण साहित्य हस्तलेखो के रूप मे ही होता था, अत प्राचीन पुस्तकालयो मे अधिकाश हस्तलेख और पाडुलिपियाँ ही है। उन्ही की परम्परा मे कितने ही धर्म-मन्दिरो मे आज तक हस्तलेखो के भण्डार रखने की प्रथा चली आ रही है।[2] इसी प्रकार राजा-महाराजा भी अपने पोथीखानो मे विशाल हस्तलेखो के भण्डार रखते थे।[3] किन्तु इन पुस्तकालयो के अतिरिक्त भी बहुत सी ऐसी हस्तलिखित सामग्री है जो जहाँ-तहाँ बिखरी पडी है। उस सामग्री को प्राप्त करना, उसका विवरण रखना या अन्य प्रकार से उसे प्रकाश मे लाना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। पाडुलिपि-विज्ञानविद् का इस क्षेत्र मे योगदान अत्यन्त आवश्यक है।

सामग्री प्राप्त करने की दिशा मे दो प्रकार से कार्य हो सकता है :– 1. व्यक्तिगत प्रयत्न एव 2 सस्थागत प्रयत्न।

(1) व्यक्तिगत प्रयत्नो मे कर्नल टॉड, टैस्सिटेरी, डॉ रघुवीर एव राहुल साकृत्यायन प्रभृति कितने ही विद्वानो के नाम आते है। टॉड ने राजस्थान से विशेष रूप से कितनी ही सामग्री एकत्र की थी शिलालेख, सिक्के ताम्रपत्र, ग्रन्थ आदि का निजी विशाल भण्डार उन्होंने बना लिया था। वे साधन-सम्पन्न थे, और साम्राज्य-तन्त्र के अधिकार सम्पन्न अग थे। इटैलियन विद्वान टैस्सिटेरी ने राजस्थानी साहित्य की खोज के लिए अपने को समर्पित कर दिया था। राहुल जी एवं डॉ० रघुवीर के प्रयत्न बड़े प्रेरणाप्रद है। ये विद्वान् कितनी ही अभूतपूर्व सामग्री किन-किन कठिनाइयों मे, अकिंचन होते हुए भी तिब्बत, मचूरिया आदि से लाये जो अविस्मरणीय है।

(2) सस्थागत प्रयत्नो मे हिन्दी क्षेत्र मे नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, अग्रगण्य है। सन् 1900 से पूर्व से ही हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज सभा ने आरम्भ कराई। 1900 से खोज-विवरण प्रकाशित कराये। यह परम्परा आज तक चल रही है। इन खोज विवरणो से विदित होता है कि गाँवो और शहरो मे यत्र-तत्र कितनी विशाल सामग्री अब भी है। बहुत सी सामग्री नष्ट हो गयी है। इन खोज विवरणो मे जो कुछ प्रकाशित हुआ है, उससे हिन्दी साहित्य के इतिहास-निर्माण मे ठोस सहायता मिली है तथा शतशः साहित्यिक अनुसधानो मे भी ये विवरण सहायक सिद्ध हुए है। अत ग्रन्थ सग्रह तो महत्त्वपूर्ण है ही,

1 मिस्र मे अलक्जेण्ड्रिया का, यूनान मे एथेंस का, एशिया-माइनर मे पोम्पिआई का, भारत मे नालदा को, तक्षशिला का पुस्तकालय। कितने ही विश्वविद्यालयो का इतिहास मे उल्लेख मिलता है। जिनके प्राचीन पुस्तकालय हस्तलेखो से भरे पड़े थे।

2. भारत मे जैनो के मन्दिरो, बौद्ध सघारामो आदि मे आज तक भी हस्तलेखो के विशाल सग्रह है। जैसलमेर के संग्रहालय का कुछ विवरण टॉड ने दिया है।

3 राजस्थान के प्रत्येक राज्य में ऐसे ही पोथीखाने थे।

उनका विवरण भी कम महत्त्वपूर्ण नही है ।

इस समस्त कार्य को आज वैज्ञानिक प्रणाली से करने के लिए 'क्षेत्रीय प्रक्रिया' की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है। वस्तुत. पाडुलिपि विज्ञान के लिए यह विज्ञान पहली आधार शिला है ।

पेलियोग्राफी लिपि-विज्ञान होता है । पाडुलिपि विज्ञान की दृष्टि से लिपि-विज्ञान बहुत महत्त्वपूर्ण विज्ञान है । इसका सैद्धान्तिक पक्ष तो लिपि के जन्म की बात भी करेगा । उसका विकास भी बतायेगा । व्यावहारिक पक्ष मे यह विज्ञान उन कठिनाइयों पर विजय के उपायो की ओर भी सकेत करता है, जो किसी अज्ञात लिपि को पढने मे सामने आती है ।' मिस्र की चित्रलिपि पढने का इतिहास कितना रोचक है, उससे कम रोचक इतिहास भारत की प्राचीन लिपियो के उद्घाटन और पठन का नही है ।[1] इसी विज्ञान के माध्यम से हम विश्व की समस्त लिपियो के स्वरूप से भी परिचित होते है ।[2] इसी विज्ञान की सहायता से पाडुलिपि-विज्ञान विविध प्रकार की पाडुलिपियों की लिपियो की प्रकृति से परिचित होकर, उन्हे अपने उपयोग के योग्य बनाने की क्षमता पा सकता है। पाडुलिपियो मे लिपि का महत्त्व बहुत है । लिपि के पढने-समझने के सिद्धान्तो, स्थितियो और समस्याओं को हृदयगम करना पाडुलिपि-विज्ञान का एक आवश्यक पक्ष है ।

लिपि-विज्ञान के व्यावहारिक दृष्टि से दो भेद किये जाते है इनको अंग्रेजी मे एपीग्राफी (Epigraphy) अर्थात् अभिलेख लिपि विज्ञान तथा पेलियोग्राफी (Palaeography) अर्थात् लिपि विज्ञान कहते है ।

डेविड डिरिंजर का कहना है कि अभिलेख लिपि-विज्ञान यूनानी अभिलेख विज्ञान, लातीनी अभिलेख विज्ञान, हिब्रू अभिलेख विज्ञान जैसे विशेष क्षेत्रो मे विभाजित हो जाता है । यह विज्ञान मुख्यत उन प्राचीन अभिलेखो के अध्ययन मे प्रवृत्त रहता है जो शिलाओ, धातुओ और मिट्टी जैसी सामग्री पर काट कर, खोद कर, या ढालकर प्रस्तुत किये गये है । इस अध्ययन मे अज्ञात लिपियो का उद्घाटन (decipherment) तथा उनकी व्याख्या सम्मिलित रहती है ।

पेलियोग्राफी (Palaeography) भी एपीग्राफी की तरह क्षेत्रीय विभागो मे बाँट दी गई है । इसका उद्देश्य मुख्यत उस लेखन का अध्ययन है जो कोमल पदार्थों पर यथा कागज, चर्मपत्र, पेपीरस, लिनेन (linen) और मोमपट्ट पर या तो चित्रित किया गया है या उतारा (Traced) या चिह्नित किया गया हैं । यह क्रिया शलाका (स्टाइलस), कूँची, सेटा या कलम से की जा सकती है । इस विज्ञान का भी अनिवार्य अतरग विषय लिपि उद्घाटन (decipherment) एव व्याख्या भी है । स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनो विज्ञानो मे मूल भेद 'लिप्यासन' के कठोर या कोमल होने के कारण है । कुछ विद्वान 'डिप्लोमैटिक्स को भी पेलियोग्राफी की ही एक शाखा मानते है, इसमे शासकीय पट्टों-परवानों की लिपि को पढने का प्रयत्न सम्मिलित रहता है । यह विषय भी हमारे विज्ञान का अतरग विषय ही है ।

'भाषा-विज्ञान' भाषा का विज्ञान है । पाडुलिपि मे लिपि के बाद भाषा ही महत्त्वपूर्ण होती है । भाषा-विज्ञान लिपि के उद्घाटन मे सहायक होता है । यह हम आगे देखेंगे कि

1. देखिये अध्याय—'लिपि समस्या'।
2. डिरिंजर, डेविड — राइटिंग पृष्ठ 20.

किस प्रकार एक अभिलेख को एक अन्य भाषा मे लिखा परिकल्पित कर लेने के कारण ठीक नही पढ़ा जा सका। भाषा लिपि-ज्ञान मे बहुत सहायक होती है। फिर पांडुलिपि विज्ञान मे पाडुलिपि के कई आयाम भाषा पर ही निर्भर करते है। पाडुलिपि की वस्तु का परिचय भाषा के बिना असम्भव है। भाषा विज्ञान से ही वह तकनीक भी निकाली जा सकती है, जिससे बिल्कुल ही अज्ञात लिपि और उसकी अज्ञात भाषा का कुछ अनुमान लगाया जा सके। ऐसी लिपि जिसकी लेखन-प्रणाली और भाषा का पता नही, उद्घाटित नही की जा सकती है। एक प्रकार से यह कार्य असम्भव ही माना गया है। विश्व के इतिहास मे अभी तक ऐसे उद्घाटन का केवल एक ही उदाहरण मिलता है। माइकेल वेंट्रिस ने क्रीट की लाइनियर बी (Linear B) का उद्घाटन किया। यह क्रीट की एक भाषा थी। किन्तु इसके उद्घाटन से पूर्व न तो इसकी लेखन-प्रणाली का ज्ञान था, न यह ज्ञान था कि यह कौनसी भाषा है। वस्तुत यह सफलता वेंट्रिस महोदय को मुख्यत: भाषा-वैज्ञानिक-विश्लेषण की एक सगत तकनीक के उपयोग से ही मिली। अत. भाषा-विज्ञान ऐसे कठिन मामलो मे सहायक हो सकता है।

किसी भी हस्तलेख के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन से ही यह ज्ञान हो सकता है कि वह किस भाषा मे लिखा गया है। इसी से उस ग्रन्थ की भाषा के व्याकरण, शब्द-रूपो एव वाक्य-विन्यास तथा शैली का ज्ञान भी होता है। किस काल की और कहां की भाषा है, यह जानने मे भी यह विज्ञान सहायक होता है। इस प्रकार भाषा ज्ञान से हम पाडुलिपि के क्षेत्र का परिचय पा सकते है। दूसरी ओर पाडुलिपि की भाषा स्वय भाषा-विज्ञान की किसी समस्या पर प्रकाश डालने वाली सिद्ध हो सकती है। किसी विशेष-काल-गत भाषा की प्रवृत्तियो का ज्ञान पाडुलिपियो से हो सकता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान और पाडुलिपियाँ एक दूसरे के लिए सहायक है।

पुरातत्त्व (Archaelogy) के विशद अनुसधान क्षेत्र मे शिलालेख, मुद्रा-लेख, ताम्रपत्र आदि अनेक प्रकार की ऐसी सामग्री आती है जिसका उपयोग हस्तलेख-विज्ञान भी करता है। वस्तुत पुरातत्त्व के क्षेत्र मे जब ऐसे प्राचीन लेखो का अध्ययन होता है, तब यह हस्तलेख विज्ञान के क्षेत्र मे भी सम्मिलित होता है। अत उसके लिए इस विज्ञान की शरण अनिवार्य ही है, और हमारे विज्ञान के लिए भी पुरातत्त्व सहायक है, क्योकि बहुत से प्राचीन महत्त्वपूर्ण हस्तलेख पुरातत्त्व ने ही प्रदान किये है। मिस्र के पेपीरस, सुमेरियन सभ्यता के ईंट-लेख, भारत के तथा अन्य देशो के शिलालेख तथा अन्य लेख आदि पुरातत्त्व ने ही उद्घाटित किये है। और उनका उपयोग पाडुलिपि-विज्ञान-विशारदों ने किया है। यह भी तथ्य है कि पाडुलिपि-विज्ञान को पाडुलिपि के विषय मे पुरातन-कालीन जिस परिवेश और पृष्ठभूमि के ज्ञान की आवश्यकता होती है, वह पुरातत्त्व से प्राप्त हो सकता है।

इतिहास का क्षेत्र भी बहुत विशद है। इसकी आवश्यकता प्राय: प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान को पडती है। इसी दृष्टि से हमारे विज्ञान के लिए भी इतिहास की शरण आवश्यक होती है। इस विज्ञान को सही परिप्रेक्ष्य मे समझने के लिए इतिहास की सहायता लेनी पडती है। हस्तलेखो की पृष्ठभूमि का ज्ञान भी इतिहास से ही मिलता है।

पांडुलिपियो मे लेखकों के नाम और वश रहते है, आश्रय-दाताओ के नाम रहते है, देश एवं काल से सम्बन्धित कितनी ही बातो का भी उल्लेख रहता है, आश्रय-दाताओ की भी वश परम्परा दी जाती है। ऐसी प्रभूत सामग्री पांडुलिपियो की पुष्पिकाओं मे भी दी

जाती हैं। लिपि का स्वरूप भी देश-काल से जुडा रहता है, इसी प्रकार कागज या लिप्यासन के प्रकार का सम्बन्ध भी देशकाल से होता है। किसी ग्रन्थ की विषय-वस्तु में विद्यमान तथ्यो की ओर न भी जाए तो भी उक्त बातो के लिए भी इतिहास का ज्ञान या इतिहास-ज्ञान की प्रक्रिया जाने बिना काम नही चल सकता।

इसी प्रकार इतिहास को बहुत सी सामग्री प्राचीन ग्रन्थो से, हस्तलेखो से मिलती है। उसके लिए भी पाडुलिपि-विज्ञान की सहायता अपेक्षित है।

ज्योतिष--ज्योतिष का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उसमे एक शाखा काल-निदान की भी है। इसके अन्तर्गत दिन, तिथि, सवत्सर (संवत्-सन्) मुहूर्त, पक्ष, नक्षत्र, ग्रह, करण आदि का निदान और निर्णय आता है। यह ज्ञान इतिहास के लिए भी उपयोगी है, और हस्तलेख-विज्ञान के लिए भी। प्रत्येक हस्तलेख या पाडुलिपि का काल-निर्धारण ज्योतिष के 'पचाग' आदि की सहायता से किया जाता है। काल-निर्धारण की कितनी ही जटिल समस्याएँ ज्योतिष की सहायता के बिना हल नही हो सकती। अत हमारे इस विज्ञान को काल-निर्णय मे 'ज्योतिष' की सहायता लेनी ही पडती है। यह कहा जा सकता है कि हजारो वर्ष पुराने 'पचाग' या जत्रियाँ' मिलती हैं, उनकी सहायता से, तथा ऐसे ही कलैण्डरो से काल-निर्णय किया जा सकता है। यह भी ठीक है, पर आखिर ये पचाग-कलैण्डर आदि है तो ज्योतिष के ही अंग। अत 'ज्योतिष' अत्यन्त उपयोगी और सहायक विद्या है, जिस पर हमारे विज्ञान के निष्कर्ष आधारित होते है।

साहित्य शास्त्र--सहित्य-शास्त्र के चार बडे अग माने जा सकते हैं: प्रथम-शब्दार्थ-भाषा विज्ञान के अतिरिक्त शब्द से अर्थ तक पहुँचने के लिए शब्द-शक्तियो का विशेष महत्त्व साहित्य-शास्त्र मे है। इसी का एक पहलू साहित्य शास्त्र मे 'ध्वनि' है। दूसरा अंग है-'रस'। जिसके लिए साहित्य शास्त्रियो ने काव्य मे 'नवरस' की प्रतिष्ठा की है। तीसरा अग है-'छद'। एक और अग है-'अलकार'। हमारे विज्ञान के लिए 'शब्दार्थ' वाले विभाग की अपेक्षा तो पद-पद पर रहती है। 'रस' का ज्ञान साहित्यिक पाडुलेख के लिए तो सर्वोपरि है। अन्य ज्ञान-विज्ञानो के ग्रन्थो के लिए इसकी उतनी आवश्यकता नही। हालाकि, प्राचीन काल मे विविध ज्ञान-विज्ञान को रूपक प्रणाली से भी प्रस्तुत करने की परिपाटी रही है।[1] प्रतीक प्रणाली का उपयोग भी ज्ञान-विज्ञान के लिए किया गया है। इन दोनो परिपाटियो मे काव्यगत रस के शास्त्र का उपयोग सहायक होता है। अब 'छन्द' को ले। प्राचीन काल मे गद्य को 'ग्रन्थ लेखन' की भाषा ही नही माना जाता था। पद्य ही सर्व प्रचलित तथा लोकप्रिय माध्यम रहा है क्योकि पद्य का रचना-विधान छद-निर्भर होता है तथा उसे स्मरण रखना गद्य की अपेक्षा सुगम होता है। इस दृष्टि से छद-ज्ञान प्राचीन हस्तलेखो के लिए सामान्यत आवश्यक माना जा सकता है। यदि ग्रन्थ गद्य मे लिखा गया है तो 'छंद' उतना उपयोगी नही होता। 'अलकार' भी साहित्यशास्त्र का महत्वपूर्ण अग है, और हस्तलेखो तथा पाडुलिपियो मे इनका जहाँ-तहाँ उपयोग मिल सकता है। ऐसे स्थलो को समझने की दृष्टि से अलकार-ज्ञान का महत्व हो सकता है। लेकिन प्रत्येक की सीमा रेखा है- पाडुलिपि विज्ञान को इनकी वहीं तक आवश्यकता है, जहाँ तक ये पाडुलिपि की विषय-वस्तु को समझाने मे सहायक हैं।

1. यथा-प्रवीण सागर।

पुस्तकालय विज्ञान : पुस्तकालय विज्ञान का भी उल्लेख करना अप्रासंगिक नही होगा। हस्तलेखों या पाण्डुलिपियो का भण्डार जहाँ भी होगा वहाँ, छोटा-मोटा पुस्तकालय स्वतः ही बन जायगा। प्राचीन काल मे समस्त पुस्तकालय हस्तलेखों और पाण्डुलिपियो के ही होते थे। अलेक्जेण्ड्रिया, नालदा तथा अन्य ऐसे ही प्राचीन पुस्तकालयों मे सभी पुस्तकें हस्तलेखों के रूप मे ही थी। मुद्रण-यन्त्र के प्रचलन के बाद भी मुद्रित पुस्तको के साथ हस्तलेख रहे हैं। आधुनिक काल मे मुद्रित पुस्तको के पुस्तकालय प्रधान है—हस्तलेखों के पुस्तकालय बहुत कम रह गये हैं। अब पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे 'आधुनिक हस्तलेखागारो' (Modern Manuscript Library) का एक नया आन्दोलन चला है। इन पुस्तकालयो मे राज्यो, सरकारो एवं बडे-बडे उद्योगो के महत्त्वपूर्ण लेख, महान् व्यक्तियो के किसी भी प्रकार के हस्तलेख, पत्र, मसविदे, प्रतिवेदन, विवरण, डायरी, नत्थियाँ आदि-आदि सुरक्षित रखे जाते है, साथ ही इन्हे अनुसधान-कर्त्ताओं को पुस्तकालय द्वारा उपलब्ध भी कराया जाता है। रूथ बी. बोर्डिन एव रार्बट एम. वार्मर ने अपनी पुस्तक 'द माडर्न मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' मे बताया है कि —

"मैन्युस्क्रिप्ट या पाडुलिपि पुस्तकालय का अस्तित्व ही अनुसधाता और विद्यार्थी की सेवा करने के लिये होता है।"[1]

अतः पाडुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से इस सेवा को प्रस्तुत करने के लिए भी पुस्तकालय-विज्ञान का सहारा अपेक्षित होता है। हस्तलेखो और पाडुलिपियो को किस प्रकार व्यवस्थित किया जाय, कैसे उनकी पजिकाएँ रखी जाये, कैसे उनकी सामान्य सुरक्षा का ध्यान रखा जाय, कैसे उन्हे पढने के लिए दिया जाय, आदि बाते वैज्ञानिक विधि से पुस्तकालय-विज्ञान ही बताता है। संग्रहालयों (Museum) और अभिलेखागारो के लिए इस विज्ञान का महत्त्व स्वयं-सिद्ध हैं।

डिप्लोमैटिक्स

डिप्लोमेटिक्स वस्तुत 'पट्टा-परवाना विज्ञान' है। डिप्लोमेटिक्स यूनानी शब्द 'डिप्लोमा' से व्युत्पन्न है। इसका यूनानी मे अर्थ था 'मुडा हुआ कागज'। ऐसा कागज प्राय राजकीय पत्रो, चार्टरो आदि मे काम आता था। फलत इसका अर्थ विशेषतया ऐसे पत्रो से जुड गया जो पट्टे, परवाने, लाइसेंस या डिगरी के कागज थे।

आगे चल कर डिप्लोमेटिक्स ने विज्ञान का रूप ग्रहण कर लिया। आज इस विज्ञान का काम है प्राचीन शासकीय पट्टो-परवानो (documents), प्रमाण-पत्रो (diplomas), चारटरो एवं बुलो के लेख को उद्घाटित (decipherment) करना। ये परवाने शाहशाह, पोप, राजा तथा अन्य शासको की चासरियो से जारी किये गये हैं। इस प्रकार यह विज्ञान पेलियोग्राफी की ही एक शाखा है।

स्पष्ट है कि 'डिप्लोमेटिक्स' विज्ञान इतिहास के उन स्रोतो का आलोचनात्मक अध्ययन करता है, जिनका सम्बन्ध अभिलेखो (records या archive documents) से होता है। इन अभिलेखों मे चारटर, मैनडेट डीड (सभी प्रकार के), जजमेण्ट (न्यायालयादेश) आदि सम्मिलित हैं। इन पट्टो-परवानों के लेख को समझना, उनकी प्रामाणिकता पर विचार करना, उनके जारी किये जाने की तिथियो का अन्वेषण और निर्धारण करना, साथ ही

1. Bordin, R. B, & Warner, R. M.—The Modern Manuscript Library, P. 14.

उनके निर्माण की प्रविधि को समझना तथा यह निर्धारित करना कि वे इन रूपों में किस उद्देश्य के लिए उपयोग मे लाये जाते थे—इन सभी बातो को आज इस विज्ञान के क्षेत्र में माना जाता है। पहले इसमे मुहरबंद (sealing) करने की पद्धतियो का अध्ययन भी एक विषय था। अब यह विषय अलग विज्ञान बन गया है।

अत यह विषय भी किसी सीमा तक पाण्डुलिपि-विज्ञान का ही अंग है।

पांडुलिपि-पुस्तकालय

पुस्तके ज्ञान-विज्ञान का माध्यम हैं। ये पुस्तके प्राचीन काल में पांडुलिपियो के रूप मे ही होती थी। अत सभी प्राचीन पुस्तकालय पाडुलिपि-पुस्तकालय ही थे।

इन प्राचीन पुस्तकालयो के इतिहास से हमे विदित होता है कि सबसे पहले पुस्तकालय मिस्र मे आरम्भ हुए होगे। मिस्र मे पेपीरस पर ग्रथ लिखे जाते थे। ये खरीते[1] (Srolls) के रूप मे होते थे। इन ग्रथो मे से एक पेपीरस ग्रन्थ ब्रिटिश सग्रहालय मे है वह 133 फुट लम्बा है। ये खरीते गोलाकार लपेट कर रखे जाते थे। पेपीरस बहुत जल्दी नष्ट हो जाता है, अत यह सम्भावना है कि बहुत से खरीते (स्क्रॉल) और ऐसे पुस्तकालय जिनमे वे रखे गये थे, ऐसे मिट गये हैं कि उनका हमे पता तक नही। फिर भी, जो कुछ ज्ञात हो सका है, उसके आधार पर विदित होता है कि पेपीरस स्क्रॉलो के ग्रन्थ ई० पू० 2500 मे मिस्र मे विद्यमान थे।

पेपीरस के साथ-साथ या कुछ पहले से बेबीलोन (असीरिया) मे मिट्टी की ईटो (Clay tablets) पर लिखा जाता था। आधुनिक युग की ऐतिहासिक खुदाई से निन्हेवेह मे 10,000 लेख-ईटे मिली, इससे निन्हेवेह मे उनके पुस्तकालय का अस्तित्व सिद्ध होता है। मोहेनजोदडो मे भी मिट्टी की पकाई हुई मुहरे प्राप्त हुई है जिन पर लेख लिखे गये हैं।

ईटो और पेपीरस के बाद पार्चमेण्ट (चर्मपत्र) का उपयोग हुआ, उसके बाद कागज का उपयोग हुआ।

भारत मे मोहेनजोदडो की लिपि का विकास 3000 ई० पू० मे हो चुका होगा। यहाँ भी लेखयुक्त मुहरे या तावीज मिले है। बाद मे ग्रथो के लिए वृक्षो के पत्र और छाल का उपयोग पहले हुआ। ताडपत्र और भोजपत्र मे ग्रथ-रचना के लिए लिप्यासन का काम लिया जाने लगा। धातुपत्रो का भी उपयोग किया गया। भारतेतर क्षेत्रो मे प्राचीन पुस्तकालयो की जो सूचना आज उपलब्ध है वह नीचे की तालिका से जानी जा सकती है —

वर्ष (लगभग)	स्थान	ग्रथ	स्थापनकर्त्ता	लिप्यासन
1	2	3	4	5
1. ई पू. 2500	गिजेह् (Gizeh)	—	—	पेपीरस
2. ई. पू. 1400	अमर्ना	—	एमेह्लोटौप तृतीय (Amenho top III)	पेपीरस
3. ई. पू 1250	थीवीज	—	रेमेज (Remese)	पेपीरस

1. इन्हे वलयिताएँ, कुंडलियाँ अथवा 'खरड़ा' भी कहते हैं।

1	2	3	4	5
4. ई. पू. 600	निन्हेवेह (असीरिया)	10,000 ईंटे	असुरबेनीपाल	ईंट (clay tablets)
5. ?	उर	—	—	ईंट
6. ?	निप्पर (Nippur)	—	—	ईंट
7. ?	किसी	—	—	ईंट
8. ?	तेल्लो	—	—	ईंट
9. ई. पू. 500	एथेन्स (यूनान)	—	पिजिस्ट्रेटस	पेपीरस
10. ?	अलेक्जेण्ड्रिया	500,000 खरीते (Scrolls)	(1) अलेक्जेंडर (2) टालमी प्रथम	पेपीरस
11. ई. पू. 237	इदफिर (प्राचीन इदफुल (Idful)) होरेस के मंदिर मे	—	—	पेपीरस
12. ई. पू. 41[1] से पूर्व। (दूसरी शती ई पू के आरम्भिक चरण के लगभग)	पर्गमम	200,000 खरीतो से भी कही अधिक	सिकदर के बाद के उत्तराधिकारी	पेपीरस एव पार्चमैन्ट[2] (चर्मपत्र)
13 500 ईसवी	सेंट कैथराइन की मोनस्ट्री सिनाई पर्वत पर	—	—	कोडेक्स पार्चमैन्ट
14 600 ईसवी	सैंट गेले (स्विटजरलैंड मे)	—	—	,,
15. 800 ई.	(?) एथोस पर्वत पर (यूनान मे)	—	—	,,

1. मार्क एण्टनी ने 41 ई० पू० मे पर्गमम पुस्तकालय के 200,000 खरीते (Scrolls) ग्रंथ क्लिओपेट्रा' को दे दिये थे कि उन्हे अलेक्जेंड्रियन पुस्तकालय में रखवा दिया जाय।
2. पर्गमम के पुस्तकालय का बहुत सवर्द्धन हुआ। इससे सिकदरिया के लोगो मे यह आशका हो गयी कि कही सिकदरिया के पुस्तकालय का महत्त्व कम न हो जाय। अत उन्होने पर्गमम को पेपीरस देना बद कर दिया। तब पर्गमम मे चमडे के चर्म-पत्र का आविष्कार किया गया, जिसे 'पर्गमेण्टम' कहा गया, यही पार्चमेन्ट हो गया। पार्चमेण्ट के खरीते नही बन सकते थे, अत उनके पृष्ठ बने या पन्ने बने। इन पन्नो की सिलाई की गयी। यह सिले हुए पन्नो का रूप कोडैक्स (Codex) कहलाया। यही आधुनिक जिल्दबद पुस्तक का जनक है।

1	2	3	4	5
16. 1200 ई० के बाद	लौरेजों डे मेडिसी का पुस्तकालय, फ्लोरेंस, इटली	—	—	कोडेक्स पार्चमेण्ट
17. 1367 ई.	बिब्लियोथीक नेशनल (नेशनल लाइब्रेरी), पेरिस, फ्रांस	—	—	,,
18. 1447 ई.	वेटिकन पुस्तकालय, वेटिकन सिटी में			

(भारत तथा कुछ अन्य देशों के प्रमुख ऐतिहासिक पुस्तकालयों का विवरण परिशिष्ट में दिया गया है।)

आधुनिक पांडुलिपि आगार

'द माडर्न मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' के लेखक ने तीन प्रकार के संग्रहालयों मे अन्तर किया है :

1. रक्षागार (Archives)
2. म्यूजियम-अजायबघर या अद्भुतालय
3. हस्तलेखागार या पांडुलिप्यागार

'रक्षागार' के सम्बन्ध मे इनका कथन है कि : One of the most important types of Manuscript repository is the official archive which preserves the records of federal, state, or local government bodies.[1]

'रक्षागार' सरकारी कागज-पत्रो का भण्डार होता है। भारत में 'राष्ट्रीय लेखा रक्षागार' (National Archives) ऐसा ही संग्रहालय है। बीकानेर मे 'राजस्थान' के समस्त राज्यों के कागज-पत्र एक संग्रहालय में सुरक्षित हैं। अजायबघर (Museum) मे ऐसी वस्तुओं और हस्तलेखों का संग्रह रहता है जिनका महत्त्व दर्शनीयता के कारण होता है। कलात्मक वैचित्र्य या वैशिष्ट्य इनमे रहता है। इनका उपयोग हस्तलेखागारों या पांडुलिप्यागारों से भिन्न रूप में होता है।

उपर्युक्त ग्रंथकार के अनुसार हस्तलेखागार का प्रधान उद्देश्य है अध्येताओं तथा अनुसंधान-कर्त्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होना। वह लिखते हैं कि, 'A manuscript library exists to serve the scholar and the student'

किन्तु 'हस्तलेखागार' का जो स्वरूप और विशेषता इस लेखक ने प्रस्तुत की है, वह ऐसे देशों के लिए है जहाँ सभ्यता, संस्कृति और लेखन का सूत्र 300–400 वर्ष पूर्व

1 Bordin, R. B. & Warner, R.M.—The Modern Manuscript Library, P. 9. इसी लेखक ने यह भी लिखा है, "Archives are the permanent records of a body, usually, but not necessarily, or going, of either a public or private character. (P. 6)

से प्रारम्भ होता है और जहाँ 'ग्रंथ लेखन' मुद्रणालयों के आ जाने के कारण स्वतन्त्र महत्त्व नहीं प्राप्त कर सका ।

भारत जैसे प्राचीन देश में तथा ऐसे ही अन्य प्राचीन देशों में हस्तलेखागारों मे ज्ञान-विज्ञान के हस्तलेख या पांडुलिपियाँ बडी संख्या में मिलते हैं ।

इसका एक आभास हस्तलेखागारो की उस सूची से हो जाता है जो हम पहले दे चुके हैं । मुद्रण-यन्त्र के प्रचलन से बहुत पूर्व से पांडुलिपियाँ प्रस्तुत की जाती रही हैं । अत. ऐसे पाडुलिपि भाण्डागारो का उद्देश्य अनुसंधान से जुड़ा होकर भी विस्तृत है । इतिहास के विविध युगो में ज्ञान-विज्ञान की स्थिति ही नही ज्ञान-विज्ञान के सूत्रों को जानने के साधन भी ग्रथागारों मे उपलब्ध होते हैं ।

महत्त्व

फलत॰ पांडुलिपि-विज्ञान का महत्त्व स्वयं-सिद्ध है । पांडुलिपि-विज्ञान के विधिवत ज्ञान से इस महान् सम्पत्ति को समझने-समझाने का द्वार खुलता है, और हम रस्किन के शब्दो में, 'राजसी-सम्पदाकोष' (Kings Treasuries) में प्रवेश पाकर अभूतपूर्व रत्नों की परख करने मे समर्थ हो सकते है । यह बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती हैं ।

अध्याय 2

पांडुलिपि-ग्रन्थ-रचना-प्रक्रिया

लेखन और उसके उपरान्त ग्रन्थ-रचना का जन्म भी हमें आदिम आनुष्ठानिक पर्यावरण में हुआ प्रतीत होता है। रेखाकन से लिपिविकास तक के मूल में भी यही है और उसके आगे ग्रन्थ-रचना मे भी। प्राचीनतम ग्रन्थों में भारत के वेद और मिस्र की 'मृतकों की पुस्तक' आती हैं। वेद बहुत समय तक मौखिक रहे। उन्हें लिपिबद्ध करने का निषेध भी रहा। पर मिस्र के पेपीरस के खरीतों (scrolls) में लिखे ये ग्रन्थ समाधियों में दफनाये हुए मिले हैं। इन दोनों ही प्राचीन रचनाओं का सम्बन्ध धर्म और उनके अनुष्ठानो से रहा है। इन दोनो देशों मे ही नही अन्य देशों में भी लेखन ऐसे ही आनुष्ठानिक पर्यावरण से युक्त रहा है। प्रायः सभी प्रारम्भिक ग्रन्थो में आनुष्ठानिक जादुई धर्म की भावना मिलती है। इसीलिए पद-पद पर शुभाशुभ की धारणा विद्यमान प्रतीत होती है। यही बात ग्रन्थ-रचना से सम्बन्धित प्रत्येक माध्यम तथा साधन के सम्बन्ध में है।

ग्रन्थ-रचना में पहला पक्ष है—'लेखक'। आरम्भ मे लेखक का धर्म प्रचलित परम्पराओ, धारणाओं और वाक्-विलासो को लिपिबद्ध करना था। यह समस्त लोकवार्त्ता 'अपौरुषेय' मानी जाती रही है और वाक्-विलास 'मन्त्र'। इसमे लेखक को अधिक से अधिक 'व्यासजी' की तरह सम्पादक माना जा सकता है। बाद में 'लेखक' शब्द से मौलिक कृति का लेखन करने वाला भी अभिहित होने लगा। मौलिक कृति मे कृतिकार को या ग्रन्थकार को किन बातो का ध्यान रखना होता था, इसका ज्ञान हमें पाणिनि के आधार पर डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'India As Known to Panini' (पाणिनि कालीन भारत) मे कराया है। उन्होने बताया है कि पहले ग्रन्थ का संगत रूप-विधान होना चाहिए। इसका पारिभाषिक नाम है—तन्त्र-युक्ति। तन्त्र-युक्ति में ये बाते ध्यान में रखनी होती है : १—अधिकार या सगति अर्थात् आतरिक समीचीन व्यवस्था या विधान। २-मंगल—मगल कामना से आरम्भ। ३-हेत्वर्थ—वर्ण्य का आधार। ४-उपदेश—कृतिकार के निजी निर्देश। ५—अपदेश—खंडनार्थ दूसरे के मत को उद्धृत करना।

इसी पहले पक्ष मे लेखक के साथ पाठवक्ता या पाठवाचक भी रखना होगा। यह व्यक्ति मूल ग्रन्थ और लिपिकार के बीच मे स्थान रखता है।

दूसरा पक्ष है भौतिक सामग्री।

'राजप्रश्नीयोपांग सूत्र' (विक्रम की छठी शती) मे इनका वर्णन यो किया गया है :

"तस्सजं पोत्थरयणस्स, इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहां-रयणामयाइं पत्तगाइं, रिट्ठामईयो कवियाओं, तवणिज्जयए दोने, नाजामणिमए गंठी, वेरूलियमणिमए लिप्पासणे, रिट्ठामए छदणे, तवणिज्जमई संकला, रिट्ठामई मसी वइरामई लहमी, रिट्ठामयाइं अकखराइं, धम्मिए सत्थे। (पृ॰ 96)"[1]

1. मुनि श्री पुण्यविजय जी—भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ॰ 18 पर उद्धृत।

भौतिक सामग्री में निम्नलिखित वस्तुएँ आती हैं :—

1. लिप्यासन--वह वस्तु जिस पर लिखा जाना है; यथा–ईंट, पत्थर, कागज, पत्र (ताड पत्र), धातु, चमडा, छाल (भूर्जपत्र), पेपीरस, कपडा आदि। इसकी विस्तृत चर्चा 'प्रकार' शीर्षक अध्याय मे की गई है क्योंकि लिप्यासन भेद से भी ग्रन्थ-भेद माने जाते हैं।
2. मसि—स्याही
3. लेखनी--कूंची, टाँकी, कलम आदि
4. डोरा
5. काष्ठ—पट्टिकाएँ (काम्बिका)
6. वेष्ठन—छंदजु (आच्छादन)
7. ग्रन्थि—ताडपत्र आदि के ग्रन्थों में बीच मे छेद करके डोरी पिरोयी जाती है। ग्रन्थ के दोनों ओर इस डोरी के दोनो छोरो पर लकडी, हाथी-दांत, सीप, नारियल आदि की गोल टिकुली में से इस डोरी को निकाल कर गांठ दी जाती है। इन टिकुलियों को भी ग्रन्थि या गाँठ कहते हैं।
8. हडताल या हरताल—गलत लिख जाने पर उसे मिटाने का साधन है 'हड़ताल'।

तीसरा पक्ष है–लिपि और लिपिकार—

लिपिकार और लेखक तब ही पर्यायवाची होते हैं, जब लेखक ही लिपिकार का भी काम करता है। दोनो के लिए लिपि ज्ञान और उसका अभ्यास अवश्य अनिवार्य है। जी. बूह्लर ने हमे बताया है कि प्राचीन काल मे इन लेखकों या लिपिकारो के लिये *निर्देश-ग्रन्थ लिखे गये थे।* दो ऐसे ग्रन्थो का उन्होने उल्लेख भी किया है 1. लेख पंचाशिका। इसमे निजी पत्रो की रचना का वर्णन ही नही है वरन् पट्टो, परवानों तथा राजाओ की सधियो को लिखने का रूप भी बताया गया है। दूसरी पुस्तक है क्षेमेन्द्र व्यासदास रचित 'लोक प्रकाश' जिसके एक भाग मे हुण्डी, अनुबध आदि तैयार करने के रूप बनाये गये है। वत्सराज सुत हरिदास की 'लेखक मुक्ता मणि' का भी यही विषय है। एक ऐसी ही कृति महाकवि 'विद्यापति' की 'लिखनावली' भी है। इसका रचना काल सन् 1418 ई० है।

लेखक : ग्रन्थ रचना मे यह सबसे प्रधान पक्ष है।

'लेखक' शब्द लेखन-क्रिया के कर्त्ता के लिये प्राचीनतम शब्द माना जा सकता है। रामायण एव महाभारत में इसका उपयोग हुआ है। इससे विदित होता है कि महाकाव्य-युग में 'लेखक' होना एक व्यवसाय भी था और लेखन-कला की प्रतिष्ठा भी हो चुकी थी। पालि मे 'विनय-पिटक' के लेखन को एक महत्त्वपूर्ण और श्लाघ्य कला माना गया है और भिक्खुणियों को लेखन-कला की शिक्षा देने का विधान है ताकि वे पवित्र धर्मग्रन्थो का लेखन कर सकें। इस काल में पिता की इच्छा यही मिलती है कि उसका पुत्र लेखक का व्यवसाय ग्रहण करे, ताकि वह सुखी रह सके। महावग्ग और जातकों में भी ऐसे उल्लेख

हैं जिनसे उस काल में लेखन-व्यवसाय विशेषज्ञ का पता चलता है। पोथक (पांडुलिपि) लेखक का दो बार उल्लेख मिलता है और यह लेखक व्यावसायिक विशेषज्ञ लेखक ही हो सकता है।

शिला-लेखों के अनुसंधान से विदित होता है कि सांची स्तूप के एक शिलालेख में 'लेखक' का प्राचीनतम उल्लेख है। यहाँ 'लेखक' लेखन-व्यवसाय प्रवृत्त व्यक्ति ही है, बूह्लर ने इस शिला-लेख का अनुवाद करते हुए लेखक का अर्थ 'कापीइस्ट ऑव मैन्युस्क्रिप्ट्स' (Copyist of Mss) या राइटर, क्लर्क ही दिया है। बाद के कितने ही शिलालेखों से सिद्ध होता है कि 'लेखक' शब्द से व्यवसायी लेखन कला विज्ञ का ही अभिप्राय है और इस समय तक 'लेखक-वर्ग' एक व्यवसायवाची शब्द हो गया था। ये लेखक शिलालेखों पर उत्कीर्ण किये जाने वाले प्रारूप तैयार किया करते थे। बाद मे लेखक को पाडुलिपि-कर्त्ता का कार्य सौंपा जाने लगा—ये लेखक बहुधा ब्राह्मण होते थे, या दरिद्र और थके-माँदे वृद्ध कायस्थ। मन्दिरों और पुस्तकालयों में इन लेखकों की नियुक्ति ग्रन्थ-लेखन के लिये की जाती थी।

लेखक के पर्यायवाची जो शब्द भारतीय परम्परा में मिलते हैं वे हैं[1] लिपिकार या लिबिकार या दिपिकार। इस शब्द का प्रयोग चतुर्थ शती ई० पू० में हुआ मिलता है। अशोक के अभिलेखों मे यह शब्द कई बार आया है। इनमे यह दो अर्थों में आया है। एक तो लेखक दूसरे शिलाओं पर लेख उत्कीर्ण करने वाला व्यक्ति। संस्कृत कोषो में इसे लेखक का ही पर्यायवाची माना गया है, जैसे–अमरकोश मे—"लिपिकारोऽक्षरचणोऽ क्षर चुचुश्च लेखके"। डॉ० राजबली पाडेय ने बताया है कि, A persual of Sanskrit literature and epigraphical documents will show that the 'lekhaka'....and it was employed more in the sense of 'a copyist' and 'an engraver' than in the sense of 'a writer.'—

यो 'लिपि' और 'लिपिकार' शब्द का प्रयोग पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी हुआ है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का निष्कर्ष है कि पाणिनि के समय मे 'लिपि' का अर्थ होता था लेखन तथा लेख।[2]

1. Pandey, R. B.—Indian Palaeography. P. 90.
2 India As Known to Panini (अध्याय ४, खण्ड २, पृ० ३११) मे बताया है कि गोल्डस्टुकर के मतानुसार 'लेखन-कला' पाणिनि से बहुत पूर्व से प्रचलित थी। पाणिनि की वैदिक साहित्य ग्रन्थ रूप (MSS) में भी उपलब्ध था। डॉ. अग्रवाल का कथन है कि पाणिनि ने 'ग्रन्थ', 'लिपिकार', 'यवनानी लिपि' आदि शब्दो का उपयोग किया है। अत. इसमे सन्देह नही रह जाता कि पाणिनि के समय लेखन कला विकसित हो चुकी थी। डॉ. अग्रवाल ने आगे लिखा है कि—

'(i) Lipikar (III. 2.21) as well as its variant form 'libikara', denoted a writer. The term lipi with its variant was a standing term for writing in the Maurya period and earlier. Dhammalipi, with its alternative form dharmalipi, stands for the Edicts of Asoka engraved on rocks in the third century B. C. An engraver is there referred to as lipikara (M R.E. II). Kautilya also knows the term : 'A king shall learn the lipi (alphabet) and sankhyana (numbers, Arth 1. 5.). He also refers to samjna-lipi, 'Code Writing' (Arth. I. 12) used at the espionage Institute. In the Behistum inscription we find lipi for engraved writing. Thus it is certain that lipi in the time of Panini meant writing and script'.

'मत्स्य-पुराण' मे लेखक के निम्नांकित गुण बताये गये हैं :

सर्व देशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
लेखक. कथितो राज्ञ. सर्वाधिकरणेषु वै ।।
शीर्षोपेतान सुसंपूर्णन् शुभ श्रेणिगतान् समान् ।
अक्षरान् वै लिखेद्यस्तु लेखक· स वरः स्मृतः ।।
उपाय वाक्य कुशलः सर्वशास्त्रविशारदः ।
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्यान्नृपोत्तम ।।
वाजाभिप्राय तत्त्वज्ञो देशकालविभागवित् ।
अनाहार्यो नृपे भक्तो लेखकः स्यान्नृपोत्तम ।।

(अध्याय, 189)

'गरुड़ पुराण' में लेखक के ये गुण बताये गये है—

मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रिय. ।
सर्वशास्त्र समालोकी ह्येष साधुः स लेखक· ।।[1]

1 लेखक शब्द पर कुछ और रोचक सूचना हमें डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल के लेख 'Notes from the Brahat Kathakosha' से मिलती है। उनका यह लेख 'The Journal of the United Provinces Historical Society, (Vol XIX, पार्ट I-II, जुलाई-दिसम्बर, १९४६) मे प्रकाशित है। इसमे पृ. ८०-८२ में अनुभाग ‡३ मे 'लेखक' शीर्षक से यह बताया है कि मौर्यों के समय से लेखक प्रशासकीय तन्त्र का एक सदस्य रहा। कौटिल्य ने सख्याक (Accountant) और लेखक (Clerk) का वेतन ५०० कार्षापण वार्षिक बताया है। जैसे-जैसे समय बीता, लेखक के दायित्व मे भी वैसे-वैसे ही वृद्धि हुई। फ्लीट के अनुसार हस्तिन् के एक अभिलेख मे 'लिखितञ्च' का पाँचवी शताब्दी मे अभिप्राय कोई अभिलेख प्रस्तुत करना था, शिल्पकार (Engraver) के लिए उत्कीर्ण करने के लिए एक प्लेट पर मसौदा तैयार कर देना था।

सातवी शताब्दी के एक आदेशलेख (निर्माण्ड ताम्रपत्र अभिलेख) मे 'लेखक' के उल्लेख से विदित होता है कि राजा के निजी सचिवो मे वह सम्मिलित था और उसका अधिकार और कर्त्तव्य बढ़ गए थे। हरिषेण के कथाकोश मे एक लेखक महारानी और मन्त्रियो के साथ राजभवन मे उपस्थित है। उसकी उपस्थिति में महाराजा के पत्र आते है जिन्हे पढ़कर लेखक उसका अभिप्राय बताता है। राजा ने किसी उपाध्याय के सम्बन्ध मे लिखा था कि उसे सुगन्धित उबले चावल, घी तथा मषी भोजनार्थ दिया जाय। लेखक ने 'मषी' का अर्थ बताया 'कृष्णागार मषी' अर्थात् कोयले की काली स्याही घी मे घोल कर चावल के साथ खाने को दी जाय। स्पष्ट है कि लेखक ने माष या मषी का यथार्थ अर्थ 'दाल' न बताकर काली स्याही बताया। पत्र महारानी के नाम था। उसे पढ़ने का और उसकी व्याख्या का दायित्व लेखक पर था। जब राजा को विदित हुआ तो उसने 'कूड़भाज' को निकलवा दिया। यह २४वी कहानी मे है। इसी प्रकार की दो अन्य कहानियाँ हैं, दोनो मे पत्र महारानी के नाम हैं। पढ़ना और व्याख्या करना या अर्थ बताना लेखक का काम है। एक में लेखक ने स्तम्भ (खम्भो) के स्थान पर 'स्तभ' पढ़कर अर्थ किया बकरी। अत राजाज्ञा मानकर एक हजार खम्भो के स्थान पर एक हजार बकरियाँ खरीदी गयीं। एक ऐसे ही पत्र में लेखक ने 'अध्यापय' को 'अन्धापय' पढ़ा और राजकुमार को अन्धा कर दिया। मंत्रीगण और महारानी को उस अर्थ की समीचीनता आदि से कोई लेना-देना नहीं। स्पष्ट है कि लेखक का दायित्व बहुत बढ़ गया था। उसकी व्याख्या ही प्रमाण थी।

यही बातें 'शाङ्गधर पद्धति' में भी बताई गई हैं। 'पत्र कौमुदी' में तो राजलेखक के गुणों की लम्बी सूची दी गई है, इसके अनुसार लेखक को ब्राह्मण होना चाहिये।[1] जो मन्त्रणाभिज्ञ हो, राजनीति-विशारद हो, नाना लिपियों का ज्ञाता हो, मेधावी हो, नाना भाषाओं का ज्ञाता हो, नीतिशास्त्र-कोविद हो, सन्धि-विग्रह के भेद को जानता हो, राजकार्य मे विलक्षण हो, राजा के हितान्वेषण में प्रवृत्त रहने वाला हो, कार्य और अकार्य का विचार कर सकता हो, सत्यवादी हो, जितेन्द्रिय हो, धर्मज्ञ हो और राजधर्म-विद् हो, वही लेखक हो सकता था। स्पष्ट है कि लेखक का आदर्श बहुत ऊंचा रखा गया है। उस काल मे लेखक को पांडुलिपि लेखक ही मानना होगा, क्योंकि तब मुद्रण यन्त्र नहीं थे, अतः लेखक जो रचना प्रस्तुत करता था वह पांडुलिपि (मैन्युस्क्रिप्ट) ही होती थी। उस मूल पांडुलिपि से अन्य लिपिकार प्रतियाँ प्रस्तुत करते थे और जिन्हें आवश्यकता होती थी उन्हें देते थे। ब्राह्मणों को, मठों और विहारों को ऐसा ग्रन्थ-प्रदान करने का बहुत माहात्म्य माना गया है।

ऊपर के श्लोकों मे लेखक के जिन गुणो का उल्लेख किया गया है, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है 'सर्व देशाक्षराभिज्ञ — समस्त देशों के अक्षरो का ज्ञान लेखक को अवश्य होना चाहिये। साथ ही 'सर्वशास्त्र समालोकी'—समस्त शास्त्रो मे समान गति लेखक की होनी चाहिये। एक पांडुलिपिविद् में आज भी ये दो गुण किसी न किसी मात्रा मे होने ही चाहिये। यो पांडुलिपि विज्ञान विद् विविध लिपिमालाओं से और ज्ञान-विज्ञान कोशो से भी आज अपना काम चला सकता है, फिर भी उसके ज्ञान की परिधि विस्तृत अवश्य होनी चाहिए और उसके लिए सन्दर्भ-ग्रन्थो का ज्ञान तो अनिवार्य ही माना जा सकता है।

ऊपर उद्धृत पौराणिक श्लोको में जिस लेखक की गुणावली प्रस्तुत की गई है, वह वस्तुत राज-लेखक है और उसका स्थान और महत्त्व लिखिया या लिपिकार के जैसा माना जा सकता है। हिन्दी में लेखक मूल रचनाकार को भी कहते हैं और लिखिया या लिपिकार को भी विशेषार्थक रूप मे कहते है।

लिपिकार का महत्त्व विश्व मे भी कम नहीं रहा। रोमन साम्राज्य के बिखर जाने पर साम्राज्य की ग्रन्थ सम्पत्ति कुछ तो विद्वानों ने अपने अधिकार मे कर ली, और कुछ पादरियों (मोंक्स) ने। इस युग म प्रत्येक धर्म-विहार (मोनेस्ट्री) मे एक अलग कक्ष पाडुलिपि-कक्ष 'स्क्रिप्टोरियम' (Scriptorium) ही होता था। इस कक्ष मे पादरी प्राचीन ग्रन्थों की हस्तप्रतियाँ या पाडुलिपियाँ स्वय अपने हाथो से बड़ी सावधानी से तैयार किया करते थे। पाडुलिपि-लेखन को उन्होने उच्चकोटि की कला से युक्त कर दिया था।

1. इस सम्बन्ध में डॉ० राजबली पाण्डेय ने यह मत व्यक्त किया है: "There is no doubt that the invention of alphabet required some knowledge of linguistics and phonetics and as such it could be under-taken only by experts educated and cultured. That is why, for a very long time, the art of writing remained a special preserve of literary and priestly experts, mainly belonging to the Brahman class.', —Pandey, R. B.: Indian Palaeography, p. 83.

Alphabet या अक्षरावली या वर्णमाला जब बनी तब ब्राह्मण-वर्ण का अस्तित्व था भी, यह अनुसन्धान का विषय है, पर ब्राह्मण धर्म-विधाता थे और वर्णमाला देव-भाषा की थी—अतः उनका उस पर अधिकार हो अवश्य गया।

वे विविध प्रकार की चित्र-सज्जा से इन ग्रन्थों को विभूषित करते थे ।[1] जैन मन्दिरों और बौद्ध विहारों में भी ऐसा ही प्रबन्ध था ।

किन्तु यह बताया जाता है कि इससे पहले प्राचीन पांडुलिपियों के लिपिकार वे गुलाम होते थे, जिन्हें मुक्त कर दिया जाता था । रोम में कुछ व्यावसायिक लिपिकार स्त्रियाँ भी थीं । सन् 231 ई० में जब ओरिजेन ने 'ओल्ड टैस्टामेन्ट' के सम्पादन-संशोधन का कार्य प्रारम्भ किया तो सन्त एम्ब्रोज ने लिपि सुलेखन (कैलीग्राफी) में विज्ञ कुछ कुशल अधिकारी (Deacon) एवं कुमारियाँ भेजी थीं । इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ का सुलेखन एक व्यवसाय हो चुका था, जिसमें कुमारियाँ विशेष दक्ष थीं ।' बाद में, वह लेखन पादरियों का कर्त्तव्य बन गया । इन धर्म-विहारों में जहाँ ग्रन्थ-लेखन-कक्ष रहता था, लिपिकारों की सहायता के लिए पाठ-वक्ता (Dictator) भी रहते थे, जो ग्रन्थ का पाठ बोल-बोल कर लिखाते थे, इसके बाद वह ग्रन्थ एक संशोधक के पास भेजा जाता था, जो आवश्यक संशोधन करके उसे चित्रकार (मिनिएटर) को दे देता था जो उसे चित्र-सज्जा से सुन्दर बना देता था ।[2]

भारत में भी धर्म-विहारों, मन्दिरों, सरस्वती तथा ज्ञान भण्डारों में लेखक-शालाओं का उल्लेख मिलता है । 'कुमारपाल प्रबन्ध' में यह उल्लेख इस प्रकार आया है "एकदा प्रातर्गुरून सर्वसाधूश्च वन्दित्वा लेखकशाला विलोकनाय गता । लेखकाः कागदपत्राणि लिखन्तो दृष्टाः ।[3] जैन धर्म में पुस्तक लेखन को महत्त्वपूर्ण और पवित्र कार्य माना है । आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'योग-दृष्टि-समुच्चय' में 'लेखना पूजना दान' में श्रावक के नित्यकृत्यों में पुस्तक लेखन का भी विधान किया है । जैन-ग्रन्थों से यह भी विदित होता है कि ग्रन्थ-रचना के लिए विद्वान् लेखक को विद्वान् शिष्य और श्रमण विविध सूचनाएँ देने में सहायता किया करते थे ।[4] ऐसी भी प्रथा थी कि ग्रन्थ-रचनाकार अपने विषय के मान्य शास्त्रवेत्ता और आचार्य के पास अपनी रचना संशोधनार्थ भेजा करते थे । उनसे पुष्टि पाने के बाद ही इन रचनाओं की प्रतियाँ कराई जाती थीं । भारत में ग्रन्थ-लेखन या लेखक का कार्य पहले ब्राह्मणों के हाथ में रहा, बाद में 'कायस्थों' के हाथ में चला गया । कायस्थ लेखकों का व्यवसायी वर्ग था । विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति (1,336) की टीका में मूल पाठ में आये 'कायस्थ' शब्द का अर्थ लेखक ही किया है, 'कायस्थगणका लेखकाश्च' । इसमें सन्देह नहीं कि कायस्थ वर्ग व्यावसायिक लेखकों का वर्ग ही था-यही आगे चल कर जाति के रूप में परिणत हो गया । कायस्थों का लेखन बहुत सुन्दर होता था । 'कायस्थ' शब्द के कई अर्थ किये गये हैं । किन्तु यथार्थ अर्थ यही प्रतीत होता है कि कायस्थ वह है जो काय में स्थित रहे-'काय' मौर्य काल में सेक्रेटेरियट (Secretariate) को कहा जाता था, और इसमें स्थित व्यक्ति था कायस्थ ।

लेखक, लिपिकार, द्विपिकार या दिबिर के साथ अन्य पर्यायवाची भी भारत में प्रचलित थे-ये हैं : करण, कर्णिन्, शासनिन् तथा धर्मलेखिन् । डॉ. वासुदेव उपाध्याय[5]

1. The World Book Encyclopedia (Vol. 11), p. 224.
2. Encyclopedia Americana, (Vol. 18), p. 241.
3. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 25 ।
4. वही, पृ० 107 ।
5. उपाध्याय, वासुदेव—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० 256-257 ।

ने बताया है कि—

"कायस्थ शब्द के अतिरिक्त लेखक के लिए करण, करणिक, करनिन् आदि शब्द प्रयुक्त होते रहे। बेदिलेख में (करणिक और सुलेन) तथा चन्देलों की खजुराहो प्रशस्ति मे करणिक शब्द का प्रयोग मिलता है जो सुन्दर अक्षर लिखते थे.........कीलहार्न ने करण को भी कानूनी पत्रो के लेखक के अर्थ में माना है।.........उन्हे संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान रहता था।

शिल्पी, रूपकार, सूत्रधार तथा शिलाकूट का काम भी लेख उत्कीर्ण करना ही था।

पांडुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से 'लिपिकार' का महत्त्व बहुत अधिक है। उसके प्रयत्न के फलस्वरूप ही हमें हस्तलेख प्राप्त हुए है। उसकी कला से ग्रन्थ सुन्दर या असुन्दर होता है, उसका व्यक्तित्व ग्रन्थ मे दोष भी पैदा कर सकता है। लिपिकार के सम्बन्ध मे डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने बताया है कि किसी हस्तलेख की प्रामाणिकता पर भी लिपिकार के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है। उन्होंने दस प्रकार के लिपिकार बताये है :—

(1) जैन/श्रावक या मुनि।
(2) साधु/सम्प्रदाय-विशेष का या आत्मानंदी।
(3) गृहस्थ।
(4) पढ़ाने वाला (चाहे कोई हो)
(5) कामदार (राजघराने के लिपिक)
(6) दफ्तरी।
5 वे और छठे मे भेद है। कामदार तो लिपिक के रूप में ही रखे जाते है, दफ्तरी अन्य कार्यों के साथ मअझा होने पर प्रतिलिपि भी करता था।
(7) व्यक्ति विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।
(8) अवसर विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।
(9) सग्रह के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।
(10) धर्म विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

लिपिकार द्वारा प्रतिलिपि में विकृतियाँ

उद्देश्य

लिपिकार से ही लिपिगत विकृतियाँ जुड़ी हुई हैं।

किसी प्रति का महत्त्व उसमें लिखी रचना अथवा पाठ के कारण ही है। अतः पांडुलिपि-विज्ञान एवं पांडुलिपि सम्पादन के संदर्भ में जितनी भी भूलें संभव हो सकती हैं, उनको जानना भी आवश्यक है। संपादन में तो उनका निराकरण भी करना होता है। निराकरण प्रधानतया प्रति के 'उद्देश्य' से किया जा सकता है। पाठालोचन के विज्ञान में अभी तक इस ओर इंगित भी नहीं किया गया है। मुख्यतः पाठ सम्बन्धी भूलें/समस्याएँ ये होती हैं :—

विकृतियाँ:

(अ) सचेष्ट (जानबूझ कर की गयी)
(ब) निश्चेष्ट (अनजाने हो जाने वाली) तथा
(स) उभयात्मक (सचेष्ट-निश्चेष्ट)

ये कई प्रकार से होती हैं या लाई जाती हैं :—

(क) मूल पाठ मे वृद्धि के लिए ।
(ख) मूल पाठ मे से कुछ कमी के लिए ।
(ग) मूल पाठ के स्थान पर अन्य पाठ बैठाने के लिए ।
(घ) मूल पाठ के क्रम में परिवर्तन के लिए,
(ङ) मूल पाठ मे मिश्र पाठ की प्रति का अंश ग्रहण करने के लिए, स्वेच्छा से ।
(च) मिश्र पाठ की प्रति का किसी एक परम्परा की प्रति से मिलान करते समय स्वेच्छा से ।

अन्तिम दोनों का (ङ और च) एक प्रकार से आरम्भिक चारों मे से किसी न किसी में अन्तर्भाव हो जाता है ।

ऐसा इसलिए होता है कि इनमे से कोई न कोई भूल हो जाती है :—

(क) लिपिभ्रम, लिपि-साम्य ।
(ख) वर्ण-साम्य (छूटना या दुबारा लिखना) ।
(ग) शब्द-साम्य (छूटना या दुबारा लिखना) ।
(घ) लिपिकार द्वारा लिखे गये सकेत चिह्नों को न समझना ।
(ङ) शब्द का ठीक अन्वय न कर सकना ।
(च) पुनरावृत्ति (पंक्ति, शब्द और अर्द्ध पंक्ति की) ।
(छ) स्मृति के सहारे लिखना ।
(ज) बोले हुए को सुनकर लिखना । समान ध्वनियों वाली गलतियाँ इसी कारण होती है । यहाँ पाठ-वक्ता या पाठ-वाचक के तत्व को स्थान देते हैं । क्योंकि लिपिकार अक्षर देख नहीं रहा, सुन रहा है ।
(झ) हाशिये मे दिये गये पाठ को प्रतिलिपि करते समय सम्मिलित कर लेना । इसके तीन रूप हो सकते है—

1. हाशिये मे क्रमश: आई पंक्ति का एक सीध वाली मूल पाठ की पंक्ति मे मिश्रण कर लेना ।
2. हाशिये की सम्पूर्ण पंक्तियों या पूरे पाठ का बराबर वाले पूर्ण विराम चिन्ह के पश्चात् वाले मूल पाठ के बाद लिखना ।
3. अपवाद (Exception) के तौर पर कभी-कभी सम्पूर्ण हाशिये का पाठ प्रतिलिपि में आदि/अन्त और प्रसंग-विशेष की समाप्ति पर भी ले लिया जाता है । (डॉ. माहेश्वरी को मेहोजी कृत रामायण के विभिन्न हस्तलेखों का पाठ मिलान करने पर ऐसे उदाहरण मिले हैं । पर ऐसा कम ही पाया जाता है ।)

इस सम्बन्ध में ऊपर के क्रम सं० (अ) 'बोले हुए को सुनकर लिखना' के तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट करना है। कारण यह है कि अभी तक पाठ-संशोधन-कर्त्ताओं ने इस ओर जरा सा भी ध्यान नहीं दिया है। इससे भी बड़ा अनर्थ हुआ है। प्रायः इससे भाषा शास्त्रीय अध्येता गलत परिणाम पर पहुँच सकता है और लोग पहुँचे भी हैं।

उदाहरणार्थ—इकारान्त ण ध्वनि 'ण्य' करके इसी 'बोले हुए को सुनकर लिखने' के कारण लिखी गयी मिलती है। नवाणि > नवण्य। इसके सैकड़ो उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस बात को न समझने के कारण "नामदेव की हिन्दी कविता" के सम्पादकों (पूना विश्वविद्यालय) ने इसे एक प्रवृति माना है, जो भूल है। वस्तुतः यह रूप उच्चारण सम्बन्धी इसी विशेषता के कारण है और यह णकार-प्रधान राजस्थानी भाषा की प्रवृत्ति है। ऐसी प्रतियो को 'राजस्थानी' जानकर उनमे आई भूलों का निराकरण इसी दृष्टिकोण (angle) से करना चाहिये, अन्यथा गलत परिणाम पर पहुँचने की आशका रहेगी।

और > बोर

ओवड़ खेवड़ > वोवड़ खेवड़

दूसरा ऐसा ही एक और उदाहरण द्रष्टव्य है।—बीकानेर, नागौर तथा नागौर से दक्षिण (देवदर तक) के चारो ओर के इलाके (जिसके अन्तर्गत मिलता हुआ जैसलमेर, बीकानेर और जोधपुर राज्यों की सीमा वाला प्रदेश है,) की एक विशिष्ट ध्वनि है आ को ओ (आ > ओ) बोलना। यह 'ओ' 'ओ' न होकर ' ॅ ' जैसी ध्वनि है। डाक्टर > डॉक्टर। इस इलाके मे व्यापक रूप से यह ध्वनि प्रचलित है। यदि लिपिकार या बोलनेवाला इस इलाके का हुआ और इनमे से कोई भी दूसरा किसी और इलाके का, तो लेखन मे अन्तर होगा।

उदाहरणार्थ—कादा > कोंदा। काड > कोड़
(प्याज) (कितनी देर) (काल) (गोंद)

इस स्थिति को न समझने के कारण भी बड़ी भूलें सम्भव है।

तीसरा उदाहरण — यह दूसरे के समान व्यापक नहीं है, किन्तु उसे भी ध्यान मे रखना चाहिये। फलौदी और पोकरण के बाद पश्चिमोत्तर और पश्चिम की ओर जैसलमेर और पुराने बहावलपुर (अब पाकिस्तान मे) तक भविष्यवाचक क्रियारूप 'स्यैं' का प्रयोग है। यह एकवचन मे 'स्यैं' और बहुवचन में 'स्यैं' है। जायस्यैं = जाएगा, जायस्यैं = जाएँगे। जरा भी असावधानी से यदि बिन्दी न लिखी या सुनी गई, तो समूचे अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। समूह वाचक सज्ञाओं में तो विशेष तौर से। उदाहरणार्थ-

राज जायस्यें = आप जाएँगे (आदर सूचक प्रयोग)।

राज जायस्यैं = राज (नामक व्यक्ति) जाएगा।

चौथा और अन्तिम उदाहरण—मेवाड़ मे लिखित प्रतियों के सन्दर्भ मे है। गुजराती-बागड़ी-भीली के प्रभाव से अनेक संज्ञा शब्दों पर ' ॰ ' लगाने की और लगाकर बोलने की प्रथा है। जैसे, नंदी > नदी। टंका > टका। नंदी का तात्पर्य 'नहीं दीं' से भी है। नदी अर्थात् नदी। टंका अर्थात् समय का एक अंश, साथ ही उक्त से संबंधित मनुष्य भी। जैसे— चार टंका = चार बार खाने वाला मनुष्य अथवा समय का चौथाई 'भाग'। किन्तु टका अर्थात् 2 पैसे।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन प्रवृत्तियो का जानना जरूरी है, जो कि आदि, मध्य या पुष्पिका में लिखी रहती हैं।

उपर्युक्त समस्त भूलों का निराकरण प्रधानतः तो प्रति के 'उद्देश्य' से हो सकता है। उद्देश्य का पता प्रति मे हमे इस प्रकार लग सकता है :—

(अ) प्रति के प्रथम पत्र के प्रथम पृष्ठ पर लिखा हुआ मिलता है।

(ब) प्रति के अन्त में(पुष्पिका के भी अन्त मे)अन्तिम पत्र पर लिखा हुआ मिलता है। ये दोनो पत्राकार तथा शेष प्रकार की प्रतियों में पाये जाते है।

(स) पुष्पिका के पश्चात् (संवत् आदि का उल्लेख करने के बाद) मिलता है।

(द) यदि गुटको, पोथी, या पोथियों आदि मे कुछ रचनाएँ एक हस्तलेख में हों, और कुछ भिन्न में, तो प्राय. एक प्रकार के हस्तलेख के अन्त मे मिलते हैं।

कारण—ये संग्रह ग्रन्थ भी हो सकते हैं, जिनमे ध्येय यही रहता है कि अधिक से अधिक रचनाएं सुविधापूर्वक एक साथ ही सुरक्षित रह सकें। इस कारण विभिन्न प्रकार की प्रतियों को (जो एक आकार के पन्नो पर हो) एकत्र कर जिल्द बंधवा ली जाती है। अतः अध्येता को ध्यानपूर्वक मध्य का अंश (जहाँ एक हस्तलेख समाप्त होता है और दूसरा आरम्भ होता है) देखना चाहिये।

(क) कभी-कभी हाशिये में भी लिखा रहता है। ऐसे उदाहरण भी मिले है कि उद्देश्य अन्तिम पत्र के हाशिये मे स्थान की कमी से नही लिखा जा सका, अतः लिपिकार ने उस पत्र के ठीक पूर्व के पत्र के दाए हाशिये पर शेषांश लिखा हो। इस पूर्व के पत्र पर लिखित अंश को हाशिए का शेषांश नही समझना चाहिये। एकाध प्रतियो में ऐसा भी लिखा मिला है कि उद्देश्य लिखा तो आरम्भ के पन्ने पर है, किन्तु समाप्ति पुष्पिका के पश्चात् की गई है। इसका उद्देश्य प्रति की एकान्विति को द्योतित करना होना है तथा एक लिपिकार द्वारा लिखित है यह निर्दिष्ट करना होता है।

'उद्देश्य' में क्या लिखा रहता है ?

निम्नलिखित वाक्यावली से उद्देश्य का पता लगाया जा सकता है। सीधे रूप मे तो उद्देश्य कहीं भी लिखा रहता है, यह ध्यान में रखने की बात है। जहाँ ऐसा है भी, वहाँ यह निश्चित समझना चाहिये कि उसमें सचेष्ट विकृतियो के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

1. लिपिकार अमुक का शिष्य है।
2. लिपिकार ने अमुक गाँव मे/अमुक गाँव मे अमुक के घर मे/अमुक गाँव के अमुक निवास स्थान पर प्रति लिखी।
3. लिपिकार ने अमुक 'डेरे' पर/अमुक सायरी मे/अमुक देश (बीकाण, जोधाण, जैसाण, मेवाड़ों, ढूंढाड़ो आदि) में प्रति लिखी।
4. लिपिकार ने अमुक समय में/यात्रा (जातरा) मे/मन्दिर मे/अमुक की सत्संगति में/अमुक अवसर पर(आखातीज, गणेश चौथ, बूज, पून्यूं आदि) प्रति लिखी।
5. लिपिकार ने अमुक के कहने पर/आदेश पर/प्रति लिखी।

6. लिपिकार ने अमुक के लिए/अमुक की भेंट के लिए/अमुक के पाठ के लिए/अमुक के पढ़ने के लिए/अमुक के संग्रह के लिए/अमुक को सुनाने के लिए लिखी।
7. लिपिकार ने स्व-पठनार्थ/पाठ के लिए/संग्रह के लिए लिखी।
8. लिपिकार ने अमुक प्रति के बदले लिखी।
   (मूल प्रति नष्ट प्रायः हो रही थी, उसके पाठ को सुरक्षित रखने के लिए)
   "अमुक....'रै बदलै माँ लिखी," या
   "अमुक....'रै बदलायत लिखी," लिखा मिलता है।
9. ऐसे भी अनेक लिपिकार रहे हैं जिन्होंने प्रचारार्थ/बिक्री के लिए/धर्म भावना से/परिवार और मित्रों मे भेंट देने के लिए प्रतियाँ लिखी हैं। दो के नाम ये हैं—साहबरामजी तथा प्राणसुख (नगीने वाला)।
10. कई ऐसे भी लिपिकार हैं, जो एक समय एक के शिष्य हैं, बाद की लिखी प्रति में दूसरे के और तीसरी मे तीसरे के शिष्य। ध्यानदास, साहबराम, परमानन्द के नाम लिये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि :—

(अ) इससे यह न समझना चाहिये कि लिपिकार गुरु बदलता रहा है। अधिकांशतः वह नहीं ही बदलता है। गुरु से यह तात्पर्य है—

(क) पिता (जो गृहस्थ त्याग कर संन्यासी हो गये)
(ख) विद्या पढ़ाने वाला गुरु
(ग) दीक्षा देने वाला गुरु
(घ) अध्यात्म–पथ–निर्देशक गुरु, एवं
(ङ) सम्प्रदाय-विशेष के प्रवर्त्तक गुरु।

चार-चार [प्रथम चार (क) से (घ) तक] गुरुओ के नाम अनेक प्रतियो मे (एक ही प्रति मे भी) मिलते हैं। धर्म के क्षेत्र में गुरु भी बदल जाते हैं, किन्तु बहुत कम।

(ब) राजस्थान मे एक और विचित्र बात गुरु के सम्बन्ध है। स्वर्गस्थ गुरू के 'खोले' (गोद) भी किसी वर्तमान गुरु का शिष्य चला जाता है। खोले वह तब जाता है जबकि स्वर्गस्थ गुरु का आरम्भ किया हुआ कार्य उनकी मृत्यु के कारण अधूरा रह गया हो, अथवा वर्तमान गुरु के निर्देश से मृतक गुरु की आकांक्षा-विशेष की पूर्ति के निमित्त भी चला जाता है। ऐसी स्थिति मे एक ही प्रति मे रचना-विशेष की समाप्ति पर एक जगह एक गुरु का नाम और दूसरी जगह स्वर्गस्थ गुरु का नाम लिखा मिलता है।

किसी भी प्रति के पाठ को *ग्रहण करते समय* अथवा पाठ-सम्पादन के लिए चुनने के समय उल्लिखित प्रकार से उद्देश्य जानना आवश्यक है। तभी उसकी तुलनात्मक विश्वसनीयता का पता लग सकेगा।

इससे (उद्देश्य से) यह कैसे पता चलता है कि पाठ-सम्बन्धी कैसी और कौन-कौनसी भूलें सम्भव हैं :—

नोट : 'सम्भावना' की जा सकती है। निश्चित रूप से तो पाठ-सम्पादन के समय आई विकृतियों आदि के आधार पर ही कहा जा सकता है। सतर्कता के लिए कुछ आवश्यक बिन्दु प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

1. गुरु की कृतियों में, साम्प्रदायिक भावना के अनुसार कुछ समावेश/जोड़-तोड़ ।

2. गाँव किसका है ? ज्यादा कौन लोग हैं ? घर किसका है ? बास किसका है ? किस पर निर्भर है ? जैसे—यदि राजपूतों का गाँव है, तो सम्भव है कि सम्बन्धित प्रति में वह ऐसा नाम बैठा दे जैसा प्रायः राजपूतों के होते हैं क्योंकि पात्र प्रतीक हैं, अथवा (युद्ध से सम्बन्धित) घटना में मिश्रण कर दें . उनकी प्रसन्नता हेतु ।

   यदि घर 'थापनों' का है, तो नाम-साम्य के कारण प्रसिद्ध कवि को भी थापन बना दे, लिपिकार यदि जाति-विशेष का है, तो कवि-विशेष को भी उस जाति का बना दे ।

   उदाहरण : सुरजनदासजी पूनिया जाति के थे । पूनिया थापन नहीं होते । थापन लिपिकार ने/थापन के घर में रहकर लिखने वाले ने/थापन के कहने से लिखने वाले ने इनको थापन लिख दिया ।

3. डेरा किसका है ? साथरी की शिष्य-परम्परा क्या है ? 'देश' का नाम क्या है ? प्रथम से गद्दीधारी महन्त का, उसके गुरु का, उसके सम्प्रदाय की मान्यताओं का निदर्शन यत्र-तत्र किया गया मिलेगा । साथरी वाली स्थिति में प्रथम गुरु और उसके किसी शिष्य का नाम-उल्लेख किया गया मिलेगा । 'देश' का नाम लिखने वाला उससे इतर प्रान्त का होगा ।

4. समय क्या था ? कौनसी 'जातरा' थी ? मन्दिर किसका था ? प्रधान उपदेशक कौन था, (उसका सम्प्रदाय और गुरु कौन था) अवसर क्या था ? निश्चित है कि यत्र-तत्र इनसे सम्बन्धित पंक्तियाँ (मूल पाठ को तोड़-मरोड़ कर) यदि भावुक हुआ तो भावावेश मे लिपिक लिख देगा ।

5 किसके कहने/आदेश पर लिखी, उसकी पूर्वज-परम्परा और मान्यता का समावेश हो सकता है ।

6. इसमे सचेष्ट विकृति के उदाहरण पदे-पदे मिलेंगे । तात्पर्य यह है कि मूल रचना को (यदि वह किसी भी प्रकार से अस्पष्ट, दुरूह और कठिन हो तो भी) सरल करके रखना होता है ।

7. इसमें भी उपर्युक्त (6) बात हो सकती हैं । अन्तर यह है कि इसमे एक विशेष सुरुचि, सफाई और एकान्विति तथा एकरूपता का ध्यान रखा जाता है ।

8. यह मक्षिका स्थाने मक्षिका-पात का उदाहरण है । इस प्रकार की प्रति अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय होगी ।

9. इसमे भी (6 व 7) स्थिति आएगी ।

10. ऐसे लिपिकार भी तुलना की दृष्टि से अधिक विश्वसनीय हैं । उनका ध्येय रचना-विशेष को आगे लाना ही प्रायः पाया गया है ।

महत्त्वपूर्ण बात :

इस सम्बन्ध में अन्तिम एक बात और है । जहाँ लिपिकार स्वयं कवि हो, स्वयं के

पास प्रभूत रचना-सामग्री हो और सम्प्रदाय-विशेष का हो, ऐसी स्थिति में यदि वह ईमानदार है, तब तो ठीक है, अन्यथा बड़ी भारी सतर्कता बरतनी पड़ेगी। यह पता लगाना बड़ा कठिन होगा कि कौनसा अंश किस रूप में उसका स्वयं का है, और कौनसा नहीं। यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है, जब हम इस बात को ध्यान में रखते हैं कि मध्ययुग में पूरक-कृतित्व की भी सुदीर्घ परम्परा रही है। इससे भी अधिक क्षेपकों की। तब प्रश्न यह है—

(1) क्या सम्बन्धित समस्या पूरक-कृतित्व या क्षेपक के स्वरूप से उपस्थित हुई है?

(2) क्या वह ऐसे लिपिकार की स्वयं की रचना है?

(3) क्या यत्र-तत्र से कुनबा जोड़ने का प्रयास है?

यदि प्रति एक ही मिली है तो और भी जटिलता बढ़ती है, क्योंकि तब पाठालोचन की दृष्टि से आंकने का साधन नहीं रहता।[1]

डा. माहेश्वरी के इस विवेचन से लिपिकार के एक ऐसे पक्ष पर प्रकाश पड़ता है, जिसे हमें पाठालोचन में भी ध्यान में रखना होगा।

लेखन

डेविड डिरिंजर ने लिखा है कि "प्राचीन मिस्र-वासियों ने लेखन का जन्मदाता या तो थौथ (Thoth) को माना है, जिसने प्रायः सभी सांस्कृतिक तत्वों का आविष्कार किया था, या यह श्रेय आइसिस को दिया है, बेबीलोनवासी माईक पुत्र नेबो (Nebo) नामक देवता को लेखन का आविष्कारक मानते हैं। यह देवता मनुष्य के भाग्य का देवता भी है। एक प्राचीन यहूदी परम्परा में मूसा को लिपि (Script) का निर्माता माना गया है। यूनानी पुराणगाथा (मिश्र) में या तो हर्मीज नामक देवता को लेखन का श्रेय दिया गया है, या किसी अन्य देवता को। प्राचीन चीनी, भारतीय तथा अन्य कई जातियाँ भी लेखन का मूल दैवी ही मानते हैं। लेखन का अतिशय महत्त्व ज्ञानार्जन के लिए सदा ही मान्य रहा है, उधर लेखन का अपढ़ लोगों पर जादुई शक्ति के जैसा प्रभाव पड़ता है।"[1]

यह बताया जा चुका है कि लेखन का आरम्भ आदिम आनुष्ठानिक आचरण और टोने के परिवेश में हुआ। यही कारण है कि सभी भाषाएँ और उनकी लिपियाँ दैवी-उत्पत्ति वाली मानी गई हैं और उनकी आरम्भिक रचनाएँ और ग्रन्थ भी दैवी कृति हैं। भारत के वेद अपौरुषेय हैं ही। प्राचीन मिस्र-वासियो ने अपनी प्राचीन भाषा को 'देवताओं की वाणी' या 'मद्वन्त्र' नाम दिया था। मद्वन्त्र (Mdw-ntr) संस्कृत मन्त्र का ही रूपान्तरण प्रतीत होता है। इस दृष्टि से यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि आज भी या आज से कुछ पूर्व भी लेखन-कार्य को धार्मिक महत्त्व दिया गया और लेखक को सब प्रकार की शुचिता से युक्त होकर ही लेखन में प्रवृत्त होने की परम्परा बनी। लेखन-मात्र को इतना पवित्र माना गया कि लिप्यासन—कागज, पत्र आदि भी पवित्र मान लिये गए। भारत में कैसा ही कागज क्यों न हो अब से 20–25 वर्ष पूर्व अत्यन्त पावन माना जाता था। कागज का टुकड़ा भी यदि पैर से छू जाता था तो उसे धार्मिक अवमानना मान

1. Diringer, David—The Alphabet, p. 17.

कर सिर से लगाते थे और मन से क्षमा-याचना करते थे। जैनियों मे 'आशातना' की अवधारणा लेखन की इसी शुचिता के सिद्धान्त पर खड़ी हुई है। पुस्तक पर थूक आदि अपवित्र वस्तु न लगे, पैर की ठोकर न लगे, इन बातों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक माना गया। यह विधान भौतिक दृष्टि से तो पुस्तक की रक्षा के लिए ही था, जिसे धार्मिक परिवेश में रखा गया। वस्तुतः समस्त 'लेखन' व्यापार के साथ मूल आनुष्ठानिक टोने का परिवेश-भाव भी जुड़ा हुआ है तभी उसके प्रति धार्मिक भावनता का व्यवहार विद्यमान है और धर्म मे उसे स्थान मिल सका है।

सम्भवतः इसीलिए बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थों के अन्त में निम्नलिखित संस्कृत श्लोको मे से एक लिखा हुआ मिलता है :

'जलाद् रक्षेत स्थलाद् रक्षेत्, रक्षेद् शिथिल बन्धनात्,
मूर्ख हस्ते न दातव्या, एवं वदति पुस्तिका।"
"अग्ने रक्षेत् जलाद् रक्षेत्, मूषकेभ्यो विशेषतः।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत्"
"उदकानिल चौरेभ्यो, मूषकेभ्यो हुताशनात्
कष्टेन लिखितं शास्त्र, यत्नेन परिपालयेत्"

इन श्लोकों मे हस्तलेखों को नष्ट करने वाली वस्तुओ के प्रति सावधान रहने का संकेत है।

जल से ग्रन्थ की रक्षा करनी चाहिये। जल कागज-पत्र को गला देता है, स्याही को फैला देता है या धो देता है और ग्रन्थ को धब्बेदार बना देना है, जल से धातु पर मोर्चा लग जाता है। स्थल से भी रक्षा करनी होती है। कागज पत्र पर धूल पड जानी है तो वह जीर्ण होने लगता है, तडकने लगता है। स्थल मे से दीमक आदि निकल कर ग्रन्थ को चट कर जाते हैं, धूल और लू दोनों ही ग्रन्थ को हानि पहुँचाते हैं। अग्नि से ग्रन्थ की रक्षा की जानी चाहिये, इसमे दो मत नहीं हो सकते। चूहों से ग्रन्थ की रक्षा का विशेष प्रयत्न होना चाहिये। ग्रन्थ की रक्षा चोरो से भी करनी चाहिये। ग्रन्थों की चोरी पहले होती थी, और आज भी होती है। हस्तलिखित ग्रन्थ आज अत्यन्त मूल्यवान सामग्री मानी जाती है, अत हस्तलिखित ग्रन्थ की चोरी आज उससे बडी धन-राशि पाने की आशा से की जाती है। इन हस्तलेखों का बाजार आज विदेशों मे भी बन गया है, अतः चोरी का भय विशेष बढ़ गया है।

श्लोक मे इस बात की ओर ध्यान दिलाया गया है कि शास्त्र ग्रन्थ कष्टपूर्वक लिखा जाता है, अतः यत्नपूर्वक इनकी रक्षा की जानी चाहिये।

ग्रन्थ परम्पराएँ

भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों में लेखकों द्वारा कुछ परम्पराओ का अनुसरण किया है— जो इस प्रकार हैं :

सामान्य 1. लेखन-दिशा,
2. पंक्ति बद्धता, लिपि की माप,
3. मिलित शब्दावली,

4, विराम चिह्न,
5. पृष्ठ संख्या,
6. संशोधन,
7. छूटे अंश,
8. संकेताक्षर,
9 अंक-मुहर (Seal) ये पांडुलिपियों में नहीं लगाई जाती थीं, प्रामाणिक बनाने के लिए दानपत्रों आदि और वैसे ही शिला-लेखो मे लगाई जातीं थीं।
10. लेखन द्वारा अंक प्रयोग (शब्द में भी)

विशेष

विशिष्ट परम्पराओ का सम्बन्ध लेखको में प्रचलित धारणाओं या मान्यताओं से विदित होता है · ये निम्न प्रकार की मानी जा सकती हैं :

1. मंगल-प्रतीक या मंगलाचरण
2. अलंकरण (Illumination)
3. नमोकार (Invocation)
4. स्वस्तिमुख (Initiation)
5. आशीर्वचन (Benediction)
6. प्रशस्ति (Laudation)
7. पुष्पिका, उपसंहार (Colophone, Conclusion)
8. वर्जना (Imprecation)
9. लिपिकार प्रतिज्ञा
10. लेखनसमाप्ति शुभ

शुभाशुभ

कुछ बाते लेखन मे शुभ कुछ अशुभ मानी गई हैं, ये भी परम्परा से प्राप्त हुई हैं : यथा

1. शुभाशुभ आकार
2. शुभाशुभ लेखनी
3, लेखन का गुण-दोष
4 लेखन-विराम में शुभाशुभ

इनमे से प्रत्येक पर कुछ विचार आवश्यक है—

सामान्य परम्पराएँ— ये वे है जो लेखन के सामान्य गुणों से सम्बन्धित हैं। यथा :

(1) **लेखन-दिशा**–लेखन की दिशाएँ कई हो सकती हैं। 1–ऊपर से नीचे की ओर,[1] 2–दाहिनी से बांई ओर.[2] 3–बायी से दाहिनी ओर,[3] 4–बायी मे दाहिनी और पुन:

1. चीनी लिपि।
2. खरोष्ठी लिपि, फारसी लिपि।
3. नागरी (ब्राह्मी)।

दाहिनी से बांयी ओर ।[1] 5–नीचे से ऊपर की ओर। भारतीय लिपियों में ब्राह्मी और उससे जनित लिपियाँ बांयी ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती हैं, हिन्दी भी इसी परम्परा में देवनागरी या नागरी रूप में बांयें से दाये लिखी जाती है। खरोष्ठी दांयें से बांयें लिखी जाती है, जैसे कि फारसी लिपि, जिसमे उर्दू लिखी जाती है।

साथ ही लेखन मे वाक्य-पंक्तियाँ ऊपर से नीचे की ओर चलती हैं। यही बात ब्राह्मी, नागरी आदि लिपियों पर लागू होती है, खरोष्ठी, फारसी आदि पर भी। पर स्वात के एक लेख में खरोष्ठी नीचे से ऊपर की ओर लिखी गई मिलती है।

(2) **पंक्ति बद्धता**—लिपि के अक्षरों की माप : पहले भारतीय लिपियो में अक्षरों पर शिरो-रेखाएँ नहीं होती थीं। फिर भी, वे लेख पंक्ति में बाँध कर अवश्य लिखे जाते थे। यह बात मौर्य-कालीन शिलालेखों से भी प्रकट होती है। सभी अक्षर बाएं से दाएं सीधी पडी रेखाओ मे लिखे गये हैं, मात्राएँ मूलाक्षरों से ऊपर लगाई गई है। कुछ व्यतिक्रम अवश्य हैं, पर वे प्रवृत्ति को तो स्पष्ट करते ही हैं। आगे तो रेखाओ के चिह्न बनाकर या अन्य विधि से सीधी पंक्ति में लिखने के सुन्दर प्रयास मिलते है। रेखापाटी या कंबिका (रूल या पटरी) का उपयोग इसी निमित्त ग्रन्थों मे किया जाता था। लिपि के अक्षरो की माप भी एक लेख में बँधी हुई मिलती है, क्योंकि प्राय: प्रत्येक अक्षर लम्बाई-चौडाई मे समान मिलता है।

(3) **मिलित शब्दावली** — आज हम जिस प्रकार शब्द-प्रतिशब्द-बद्ध लेखन करते है, जिसमें एक शब्द अपने शब्द रूप में दूसरे से अलग बीच मे कुछ अवकाश दे कर लिखा जाता है, उस प्रकार प्राचीन काल में नही होता था, सभी शब्द एक दूसरे से मिला कर लिखे जाते थे। हम जानते हैं कि यूनानी प्राचीन पांडुलिपियो मे भी मिलित शब्दावली का उपयोग हुआ है।[2] यही हमे विदित होता है कि 11वी शताब्दी के आसपास ही अमिलित अलग-अलग सही शब्दो में लिखने की प्रणाली यथार्थत प्रचलित हुई।

भारत में शिलालेखो और ग्रन्थो मे ही यह मिलित शब्दावली मिलती है। इसे भी हम परम्परा का ही परिणाम मान सकते है। डॉ० राजबली पाडेय ने बताया है कि भारत में पृथक्-पृथक् शब्दो में लेखन की ओर ध्यान इसलिए नही गया क्योकि यहाँ भाषा का व्याकरण ऐसा पूर्ण था कि शब्दो को पहचानने और उनके वाक्यान्तर्गत सम्बन्धो में भ्रम नही रह सकता था। किन्तु क्या 11वी शताब्दी तथा यूनानी ग्रन्थो मे मिलित शब्दावली का भी यही कारण हो सकता है ? हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों मे भी मिलित शब्दावली की परम्परा मिलती है।

(4) **विराम चिह्न** -- मिलित शब्दावली की परम्परा म विराम-चिह्नों (Punctuation) पर भी ध्यान नही जाता। प्राचीन कोडेक्स ग्रन्थो की यूनानी पांडुलिपियो मे सातवी–आठवी शताब्दी ई० में विराम-चिह्नों का उपयोग होने लगा था। भारत मे पाँचवी शताब्दी ई० पू० से ईसवी सन् तक केवल एक विराम चिह्न उद्भावित हुआ था। दंड, एक आड़ी लकीर। इसे कभी-कभी कुछ वक्र [⊃] करके भी लिख दिया

1. भारत में कहीं-कहीं ही ब्राह्मी लेखों में प्रयोगात्मक।
2. The text of Greek MSS was, with occasional exceptions, written continuously without seperation of words, even when the words were written seperately, the dimensions were often incorrectly made........"

—The Encyclopaedia Americana (Vol. 21), p. 166.

जाता था। मंदसौर प्रशस्ति, (473–74 ई०) में विराम चिह्न का नियमित उपयोग हुआ। इसमें पद्य की अर्द्धाली के बाद एक दंड (।) और चरण समाप्ति पर दो दंड (।।) रखे गये हैं। आगे इनका प्रयोग और संख्या भी बढ़ी। भारत मे मिलने वाले विराम चिह्न ये हैं :

।, ।।, T (यह उत्तर में नही मिलता), ɔ।, ꞁϹ, ȷυ, ⊣। ꞁꞁ
ꞁT, ।।।, –, ⌒ या ɔ या ⌒ɔ¹, ⌒², ꞉³ ।।-, ɔ, ∂, Ꭰ

इन चिह्नों के साथ अंक तथा मंगल चिह्न भी विराम चिह्न की भाँति प्रयोग में लाये जाते रहे है।

(5) **पृष्ठ संख्या**—हस्तलिखित ग्रन्थ में यह परम्परा प्राप्त होती है कि पृष्ठ के अंक या सख्या नहीं दी जाती, केवल पन्नों के अंक दिये जाते हैं। ताम्र पत्रों पर भी ऐसे ही अक दिये जाते थे। यह सख्या पन्नें (पत्र) की पीठ वाले पृष्ठ पर डाली जाती थी, इसलिए उसे सांक पृष्ठ कहा जाता था, यों कुछ ऐसी पुस्तकें भी हैं जिनमें पन्ने के पहले पृष्ठ पर ही अंक डाल दिये गए हैं।

किन्तु प्रश्न यह है कि यह पृष्ठ संख्या किस रूप में डाली जाती थी? इस सम्बन्ध में मुनिजी ने बताया है[4] कि 'ताडपत्रीय जैन पुस्तकों में दाहिनी ओर ऊपर हाशिये में अक्षरात्मक अंक और बायीं ओर अकात्मक अक दिये जाते थे। जैन छेद आगमो और उनकी चूर्णियो मे पाठ, प्रायश्चित, भग, आदि का निर्देश अक्षरात्मक अंकों मे करने की परिपाटी थी। 'जिन कला सूत्र' के आचार्य श्री जिन भद्रिमणि क्षमा श्रमण कृत भाष्य में मूलसूत्र का गाथाक अक्षरात्मक अको मे दिया गया है।"

मुनि पुण्य विजय जी ने अक्षराको के लिए जो सूची[5] दी है वह पृष्ठ 36 पर है। पृष्ठ 37 पर ओझाजी की सूची है।

इन अको को दान-पत्रों और शिलालेखों में और पांडुलिपियो में किस प्रकार लिखा जाता था, यह ओझा जी ने बताया है, जो यो है : "प्राचीन शिला-लेखों और दान-पत्रों मे सब अक एक पक्ति मे लिखे जाते थे परन्तु हस्तलिखित पुस्तकों के पत्राको में चीनी अक्षरो की नाई एक दूसरे के नीचे लिखे मिलते हैं। ई० स० की छठी शताब्दी के आस-पास मि० बावर के प्राप्त किये हुए ग्रन्थो मे भी पत्राक इसी तरह एक-दूसरे के नीचे लिखे मिलते हैं। पिछली पुस्तको में एक ही पन्ने पर प्राचीन और नवीन दोनो शैलियों से भी अक लिखे मिलते है। पन्ने के दूसरी तरफ के दाहिनी ओर के ऊपर की तरफ के हाशिये पर तो अक्षर सकेत से, जिसको अक्षर-पल्ली कहते थे, और दाहिनी तरफ के नीचे के हाशिये पर नवीन शैली के अंको से, जिनको अंक-पल्ली कहते थे।"[6]

1 ई० पू० दूसरी शताब्दी से ई० सातवी तक यह ' ` ' चिह्न, (दण्ड) के स्थान पर प्रयुक्त होता रहा है।
2. ईसवी सन् की प्रथम से आठवी शताब्दी तक दो दण्डो के स्थान पर।
3. कुषाण-काल मे और बाद मे ⌒⌒ के स्थान पर।
4. मुनि श्री पुण्य विजयजी—भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 62।
5. वही. पृ० ६३।
6. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ० 108।

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी की सूची भी 'भारतीय प्राचीन लिपि माला' से यहाँ दी जाती है—[1]

१-ए. ख और ॐ
२-द्वि. स्ति और न
३-त्रि. श्री और म
४-ष्क, ष्क, ष्क, राक, रार्क, प्क, प्र्क, त्प्क, (प्के), ष्क, ष्क, र्फ और पु
५-तृ, तृ, तृ, तृ, ह और नृ
६-फ्र, फ्र, फ्रु, घ्र, भ्र, पु, व्या और फ्ल
७-ग्र, ग्रा, ग्री, ग्र्मा, ग्र्गा, और भ्र
८-ह्र, ह्र, ह्र, और द्र
९-ओं, उं, उं, उं, ॐ, अ और र्नु
१०-लृ, ळृ, ळ, राट, ऊ, अ और र्ता
२०-थ, था, र्थ, र्था, घ, र्घ, प्व और ष
३०-ल, ला, र्ल और र्ला
४०-प्त, र्प्त, प्ता, र्प्ता और प्त
५०-ड, ड, ड, ड, ड और ण
६०-चु, वु, घु, थु, र्थु, थू, र्थू, र्घु, घु और घु
७०-चु, चू, थू, र्थू, घू और र्म्त
८०-ठ, ठ, ठ, ठ, ठ और पु
९०-ध्व, ध्व, ध्व, ध्व और ⊗
१००-सु, सू, लु और अ
२००-सु, सू, र्सू, आ, लू और घू
३००-स्ता, सा, त्रा, सा, सु, सुं और सू
४००-सो, स्तो, और स्ता

1. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ० 107।

नेपाल, गुजरात, राजपूताना आदि में यह अक्षर-क्रम ई० स० की 16वीं शताब्दी तक कहीं-कहीं मिल जाता है। जैसे कि,

३३= ल्मु, १००= सु, १०२= सु, १३१= सु, १५०= सु, २०६= सु

आदि।

(6) **संशोधन** :—संशोधन का एक पक्ष तो उन प्रमादो से सावधान करता है जो लिपिकार से हो जाते हैं, और जिनके कारण पाठ भेद की समस्या खडी हो जाती है। यह पाठालोचन के क्षेत्र की बात है और वहीं इसकी विस्तृत चर्चा की गयी है।

दूसरा पक्ष है हस्तलिखित ग्रन्थों में लेखन की त्रुटि का संशोधन जो स्वय लिपिकार ने किया हो। मुनि पुण्य विजय जी ने ऐसी 16 प्रकार की त्रुटियाँ बतायी हैं, और इन्हे ठीक करने या इनका संशोधन करने के लिए लिपिकारो द्वारा एक चिह्न-प्रणाली अपनायी जाती है, उसका विवरण भी उन्होने दिया है।

ऐसी त्रुटियों के सोलह प्रकार और उनके चिह्न नीचे दिये जाते हैं :

त्रुटिनाम 1	चिह्ननाम 2	चिह्न 3
1. पतित पाठ (कही किसी अक्षर या शब्द का छूट जाना 'पतित पाठ' है]	पतित पाठ दर्शक चिह्न को 'हस पग' या 'मोर पग' कहा गया है। हिन्दी मे 'काक पद' कहते है।	^, V, V, X, X
2. पतित पाठ विभाग	पतित पाठ विभाग दर्शक चिह्न	X
3. 'काना' [मात्रा की भूल]	काना दर्शक चिह्न	'रेफ' के समान होने से भ्रान्ति के कारण यह भी पाठ-भ्रान्ति मे सहायक होता ही है।
4. अन्याक्षर. [किन्ही प्राय: समान-सी ध्वनि वाले अक्षरों में से अनुपयुक्त अक्षर लिख दिया गया।]	अन्याक्षर वाचन दर्शक चिह्न	W जिस अक्षर पर यह चिह्न लगा होगा, उसका शुद्ध अक्षर उस स्थान पर मानना होगा। यथा: W सत्रु। यहाँ स पर यह चिह्न है W अत: इसे 'श' पढ़ना होगा, खत्रिय पढ़ा जायगा 'क्षत्रिय'।
5. उलटी-सुलटी लिखाई	पाठपरावृत्ति दर्शक चिह्न	२, १ लिखना था 'बनचर' लिख गये

1	2	3
		'वचनर' तो इसे ठीक करने के लिये व च[2] न[1] र लिखा जायगा। च[2] न[1] का अर्थ होगा कि 'न' पहले 'च' दूजे पढ़ा जायगा। अधिक उलट सुलट हो तो क्रम से ३, ४ और अन्य अंकों का प्रयोग भी हो सकता है।
6. स्वर-संधि की भूल	स्वर संध्यंशदर्शक चिह्न	अ= ऽ, आ= ?, ?, ऽऽ, इ= ?, ?, ?, ? ई = ?, ?, उ = ?, ?, ऊ= ?, ऋ= ? ए = ?, ऐ= ? ओ = ?, औ= ? ? अं= ?
7 पाठ भेद*	पाठ भेद दर्शक चिह्न	प्र० पा०, प्रत्य०' पाठां०, प्रत्यन्तरें पाठांतरम्
8. पाठ भेद	पाठानुसंधान दर्शक चिह्न	उ. पं., उउ. पं नु नुं. नी. पं. नी
9 मिलित पदो में भ्रान्ति	पदच्छेद दर्शक चिह्न या वाक्यार्थ समाप्ति दर्शक चिह्न या पाद विभाग दर्शक चिह्न	'।' यह मिलित पदो के ऊपर लगाया जाता है।
10. विभाग-भ्रांति*	विभाग दर्शक चिह्न	। ।
11. पदच्छेद भ्रांति*	एकपद दर्शक चिह्न	'॥' — ऐसे दो चिह्नों के बीच में प्रस्तुत पद में पदच्छेद-निषेध सूचित होता है।
12. विभक्ति वचन* भ्रांति	विभक्ति वचन दर्शक चिह्न	11, 12, 13, 23, 32, 41, 53, 62, 73, 82

1	2	3
	ये चिह्न विभक्ति और वचन मे भ्रांति न हो इसलिए लगाये जाते हैं।	ये जोडे से अंक आते है, जिनमें से पहला अक विभक्ति-द्योतक (1= प्रथमा 6 षष्ठी आदि) तथा दूसरा वचन-द्योतक होता है। (1=एक वचन, 2=द्विवचन, 3=बहुवचन) जैसे 11 का अर्थ है प्रथमा एक वचन।
13. पदों के अन्वय मे भ्रांति*	अन्वयदर्शक चिह्न	शिरोभाग पर अन्वय क्रम द्योतक अंक–यथा न (3) ततोऽर्थान्तर (1) स्वसवेदन (4) प्रत्यक्षम् (2) यहाँ 1 सख्या वाला पद पहले; 2 का उसके बाद, 3 उसके बाद तथा उसके बाद 4 अक वाला–इस क्रम से अन्वय होना है। ठीक अन्वय हुआ ततोऽर्थान्तर प्रत्यक्ष न स्वसवेदनम्।
14. विशेषण-भ्रम विशेष्य-भ्रम*	विशेषण विशेष्य सम्बन्ध दर्शक चिह्न	U, कभी-कभी वाक्यो मे, प्राय लम्बे वाक्यो मे विशेषण कही और विशेष्य कही पड जाता है तब शिरोपरि लगाये गये उक्त चिह्नो से विशेषण-विशेष्य बताये जाते है, इससे भ्राति नही हो पाती।

कुछ अन्य सुविधाओ के लिए कुछ अन्य चिह्न भी मिलते है जिनसे 'टिप्पणी' का पता चलता है, अथवा किसी शब्द का किसी दूसरे पद से विशिष्ट सम्बन्ध विदित हो जाता है।

ऊपर के विवरण से यह भी स्पष्ट होगा कि ये चिह्न दो अभिप्राय सिद्ध करते है : एक तो इनसे लिपिकार की त्रुटियो का संशोधन हो जाता है, तथा दूसरे, पाठक को पाठ ग्रहण करने में सुविधा हो जाती है। हमने जिन पर पुष्प (*) लगाए है, वे त्रुटि मार्जन के लिए नहीं, पाठक की सुविधा के लिए हैं।

(7) छूटे अंश की पूर्ति के चिह्न

भूल से कभी कोई शब्द, शब्दांश, या वाक्यांश लिखने से छूट जाते है तो उसकी पूर्ति के कई उपाय शिलालेखों या पांडुलिपियों में किये गये मिलते हैं।

पहले जैसा अशोक के शिलालेखों में मिलता है, जहाँ छूट हुई वहाँ उस वाक्य के ऊपर या नीचे छूटा हुआ अंश लिख दिया जाता था। कोई चिह्न-विशेष नहीं रहता था।

फिर ऊपर संशोधक चिह्नों में 'पतित पाठ दर्शक चिह्न' बताया गया है। इसे हंस-पग, मोर पग या काक पद कहते हैं। इसे छूट के स्थान पर लगा कर छूटा पद पंक्ति के ऊपर या हाशिये में लिख दिया जाता है। पतित पाठ का अर्थ ही छूटा हुआ पद है। काक पद V ∧ ∧V ∠ ये भी हैं और × + ये भी है।

किन्तु कभी-कभी इस कट्टम (× +) के स्थान पर स्वस्तिक 卐 का प्रयोग भी मिलता है। यह भी छूट का द्योतक है और काक पद का ही काम करता है।

कुछ अन्य चिह्न

卐 स्वस्तिक का उपयोग कहीं-कहीं एक और बात के लिए भी होता आया है : जहाँ कहीं प्रतिलिपिकार को अर्थ अस्पष्ट रहता है, वह समझ नहीं पाता है तो वह वहाँ यह स्वस्तिक लगा देता है या फिर 'कुंडल' (○) लगा देता है। कुंडल से वह उस अंश को घेर देता है, जो उसे अस्पष्ट लगा या समझ में नहीं आया।

(8) संकेताक्षर या 'संक्षिप्ति चिह्न'[1] (Abbreviations)

भारत में शिलालेखों तथा पांडुलिपियों में संक्षिप्तीकरण पूर्वक संकेताक्षरों की परिपाटी शकों और कुषाणों के समय से विशेष परिलक्षित होती है। विद्वानों ने ऐसे संकेताक्षरों की सूची अपने ग्रन्थों में दी है। वह यों है :

1. सम्वत्सर के लिए सम्व, सव, स या स०
2. ग्रीष्म[2] – ग्री० (गृ०) गं० गि० या गिग्हन
3. हेमन्त – हे०
4. दिवस – दि०
5. शुक्ल पक्ष दिन—सु० सुदि० या सुति०। शुक्ल पक्ष को शुद्ध भी कहा जाता है।
6. बहुल पक्ष दिन— ब०, ब०दि०, या बति०
7. द्वितीय – द्वि०
8. सिद्धम् – ओ० श्री० सि०
9. राउत – रा०
10. दूतक—दू० (संदेश वाहक या प्रतिनिधि)
11. गाथा – गा०
12. श्लोक – श्लो०
13. पाद – पा०
14. ठक्कुर – ठ०

1. यह पर्याय प्रो० वासुदेव उपाध्याय द्वारा दिया गया है, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० 206।
2. उपाध्याय जी ने गृष्म रूप दिया है। वही, पृ० 260।

15. एद० ।। या एर्द० ।। —'ओंकार' का चिह्न
कुछ लोगो का विचार रहा है कि यह चिह्न स० 980 है। जैन-शास्त्र-लेखन इसी संवत् से आरम्भ हुआ पर मुनि ,पुण्यविजय जी इसे 'ओं०' का चिह्न मानते हैं।

16. ।। ꣾ ।। ये चिह्न कभी-कभी ग्रन्थ की समाप्ति पर लगे मिलते हैं।
।। ꣾ ।। ये 'पूर्ण कुम्भ' के द्योतक चिह्न हैं। जो 'मंगल वस्तु' है।

17. -ꣾ 3- ꣾ ०, ꣾ

किन्ही-किन्ही पुस्तको के अन्त मे ये चिह्न मिलते है। मुनि पुण्यविजयजी का विचार है कि पाडुलिपियो मे अध्ययन, उद्देश्य, श्रुतस्कंध, सर्ग, उच्छ्वास, परिच्छेद, लंभक, काड आदि की समाप्ति को एकदम ध्यान मे बैठाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की चित्राकृतियाँ बनाने की परिपाटी थी, ये चिह्न भी उसी निमित्त लिखे गये हैं।

(10) लेखक द्वारा अंक लेखन

ऊपर हम अक्षरों से अंक लेखन की बात बता चुके हैं, पर ग्रन्थो मे तो शब्दों से अंक द्योतन की परिपाटी बहुत लोकप्रिय विदित होती है। पांडुलिपियों की पुष्पिकाओं मे जहाँ रचना काल आदि दिया गया है वहाँ कितने ही रचयिताओं ने शब्दो से अंक का काम लिया है।[1]

सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श, हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओ के ग्रन्थो में शब्दो से अक सूचित करने की परिपुष्ट प्रणाली मिलती है। भा० जैन श्रम० स० तथा भा० प्रा० लि० मा० में 'अंकों' के लिये उपयोग मे आने वाले शब्दो की सूची दी गई है। ओझा जी का यह प्रयत्न प्राचीनतम है, भा० जैन श्र० सं० बाद की कृति है। दोनो के आधार पर यह सूची यहाँ प्रस्तुत की जाती है। यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि पहले इकाई की संख्या वाचक फिर दहाई एव सैंकडे व हजार की सख्या के बोधक शब्दो का प्रयोग होता है जैसे-कि पाद टिप्पणी का भाग (अ) संवत् 1623 को बता रहा है।

1. कुछ ग्रन्थों में से उदाहरण इस प्रकार है .

    3 2 6 1
(अ) गुणनयनरसेन्दु मिते वर्षे भाव प्रकरणवि चूरि :

    7 8 4 1
(ब) मुनि बसु सागर सितकर मित वर्षे सम्यक्त्व कौमुदी।

    1 1 8 1
(स) संवत ससिकुलबसु ससी आस्वनि मिति तिथि नाग,
दिन मंगल मगल करन हरत सकल दुख दाग।

    4 1 8 1
(द) वेद इन्दु गज भू गनित सवत्सर कविवार,
श्रावन शुक्ल त्रयोदशी रच्यौ ग्रन्थ सुविचारि।

    6 7 7 1
(य) रस सागर रवितुरग विधु संवत मधुर बसंत,
विकस्यो 'रसिक रसाल' लखि हुलसत सुहृद व सन्त'।

0– शून्य, ख, गगन, आकाश, अम्बर, अभ्र, वियत्, व्योम, अन्तरिक्ष, नभ, पूर्ण, रन्ध्र आदि । + बिन्दु, छिद्र ।

1– आदि, शशि, इन्दु, विधु, चन्द्र, शीतांशु, शीतरश्मि, सोम, शशांक, सुधांशु, अब्ज, भू, भूमि, क्षिति, धरा, उर्वरा, गो, वसुधरा, पृथ्वी, क्षमा, धरणी, वसुधा, इला, कु, मही, रूप, पितामह, नायक, तनु, आदि । + कलि, सितरुच, निशेश, निशाकर, औषधीश, क्षपाकर, दाक्षायणी-प्राणेश, जैवातृक ।

2– यम, यमल, अश्विन, नासत्य, दस्र, लोचन, नेत्र, अक्षि, दृष्टि, चक्षु, नयन, ईक्षण, पक्ष, बाहु, कर, कर्ण, कुच, ओष्ठ, गुल्फ, जानु जंघा, द्वय, द्वन्द्व, युगल, युग्म, अयन, कुटुम्ब, रविचन्द्रौ, आदि । + श्रुति, श्रोत्र ।

3– राम, गुण, त्रिगुण, लोक, त्रिजगत्, भुवन, काल, त्रिकाल, त्रिगत, त्रिनेत्र, सहोदरा, अग्नि, वह्नि, पावक, वैश्वानर, दहन, तपन, हुताशन, ज्वलन, शिखिन, कृशानु, होतृ आदि । + त्रिपदी, अनल, तत्त्व, त्रैत, शक्ति, पुष्कर, संध्या, ब्रह्म, वर्ण, स्वर, पुरुष, अर्थ, गुप्ति ।

4– वेद, श्रुति, समुद्र, सागर, अब्धि, जलधि, उदधि, जलनिधि, अम्बुधि, केन्द्र, वर्ण, आश्रम युग, तुर्य, कृत, अय, आय, दिश, दिशा, बन्धु, कोष्ठ, वर्ण आदि । + वार्द्धि, नीरधि, नीरनिधि, वारिधि, वारिनिधि, अंबुनिधि, अंभोधि, अर्णव, ध्यान, गति, सज्ञा, कषाय ।

5– बाण, शर, सायक, इषु, भूत, पर्व, प्राण, पाण्डव, अर्थ, विषय, महाभूत, तत्त्व, इन्द्रिय, रत्न आदि । + अक्ष, वर्ष्म, व्रत, समिति, कामगुण, शरीर, अनुत्तर, महाव्रत, शिवमुख ।

6– रस, अग, काम, ऋतु, मासार्ध, दर्शन, राग, अरि, शास्त्र, तर्क कारक, आदि । + समास, लेश्या, क्षमाखड, गुण, गुहक, गुहवक्त्र ।

7– नग, अग, भूभृत, पर्वत, शैल, अद्रि, गिरि, ऋषि, मुनि, अत्रि, वार, स्वर, धातु, अश्व, तुरग, वाजि, छन्द, धी, कलत्र आदि । + हय, भय, सागर, जलधि, लोक ।

8– वसु, अहि, नाग, गज, दंति, दिग्गज, हस्तिन्, मातंग, कुजर, द्वीप, सर्प, तक्ष, सिद्धि, भूति, अनुष्टुभ, मगल, आदि । + नागेन्द्र, करि, मद, प्रभावक, कर्मन, धी गुण, बुद्धि गुण, सिद्ध गुण ।

9– अंक, नन्द, निधि, ग्रह, रन्ध्र, छिद्र, द्वार, गो, पवन आदि । + खग, हरि, नारद, रव, तत्त्व, ब्रह्म गुप्ति, ब्रह्मवृति, ग्रैवेयक ।

10– दिश, दिशा, आशा, अंगुलि, पंक्ति, कुकुभ, रावणशिरं, अवतार, कर्मन आदि । + यतिधर्म, श्रमणधर्म, प्राण ।

11– रुद्र, ईश्वर, हर, ईश, भव, भर्ग, शूलिन, महादेव, अक्षौहिणी आदि । + शूलिन ।

12– रवि, सूर्य, अर्क, मार्तण्ड, द्युमणि, भानु, आदित्य, दिवाकर, मास, राशि, व्यय आदि । + दिनकर, उष्णांशु, चक्रिन, भावना, भिक्षु प्रतिमा, यति प्रतिमा ।

13– विश्वदेवाः, काम, अतिजगती, अघोष आदि । + विश्व, क्रिया स्थान, यक्षः ।

14– मनु, विद्या, इन्द्र, शक्र, लोक आदि । + वासव, भुवन, विश्व, रत्न, गुणस्थान, पूर्व, भूतग्राम, रज्जु ।

15– तिथि, घर, दिन, अह्न, पक्ष आदि । + परमार्थिक ।
16– नृप, भूप, भूपति, अष्टि, कला, आदि । + इन्दुकला, शशिकला ।
17– अत्यष्टि ।
18– धृति, + अब्रह्म, पापस्थानक ।
19– अतिधृति ।
20– नख, कृति ।
21– उत्कृति, प्रकृति, स्वर्ग ।
22– कृति, जाति, + परीषह् ।
23– विकृति ।
24– गायत्री, जिन, अर्हत्, सिद्ध ।
25– तत्त्व ।
27– नक्षत्र, उडु, भ, इत्यादि ।
32– दन्त, रद + रदन ।
33– देव, अमर, त्रिदश, सुर ।
40– नरक ।
48– जगती ।
49– तान, पवन ।
+64–स्त्री कला ।
+72–पुरुष कला ।

यह बात यहाँ ध्यान मे रखना आवश्यक है कि एक ही शब्द कई अकों के पर्याय के रूप मे आया है । उदाहरणार्थ—तत्त्व 3, 5, 9, 25 के लिए आ सकता है । उपयोग कर्त्ता और अर्थ कर्त्ता को उसका ठीक अर्थ अन्य सन्दर्भों से लगाना होगा ।

साहित्य मे भी कवि-समय या काव्य रूढ़ि के रूप मे सख्या को शब्दो द्वारा बताया जाता है । साहित्य-शास्त्र के एक ग्रन्थ से यहाँ शब्द और सख्या विषयक तालिका उद्धृत की जाती है जो 'काव्य कल्पलता वृत्ति' मे दी गयी है ।

संख्या	पदार्थ
एक–	आदित्य, मेरु, चन्द्र, प्रासाद, दीपदण्ड, कलश, खंग, हर नेत्र, शेष, स्वर्दण्ड, अगुंष्ठ, हस्तिकर, नासा, वंश, विनायक-दन्त, पताका, मन, शक्राश्व, अद्वैतवाद ।
दो–	भुज, दृष्टि, कर्ण, पाद, स्तन, संध्या, राम-लक्ष्मण, भृंग, गजदन्त, प्रीति-रति, गंगा-गौरी, विनायक-स्कन्द, पक्ष, नदीतट, रथधुरी, खग-धारा, भरत-शत्रुघ्न, राम-सुत, रवि-चन्द्र ।
तीन–	भुवन, वलि, वह्नि, विद्या, संध्या, गज-जाति, शम्भुनेत्र, त्रिशिरा, मौलि, दशा, क्षेत्रपाल-फण, काल, मुनि, दण्ड, त्रिफला, त्रिशूल, पुरुष, पलाश-दल, कालिदास-काव्य, वेद, अवस्था, कम्बु-ग्रीवारेखा, त्रिकूट-कूट, त्रिपुर, त्रियामा, यामा, यज्ञोपवीत सूत्र, प्रदक्षिणा, गुप्ति, शल्य, मुद्रा, प्रणाम, शिव, भवमार्ग, शुमेतर ।
चार–	ब्रह्मा के मुख, वेद, वर्ण, हरिभुज, सूर-गज-रद, चतुरिका स्तम्भ, सघ, समुद्र, आश्रम, गो-स्तन, आश्रम कषाय, दिशाएँ, गज जाति, याम, सेना के अंग, दण्ड, हस्त,
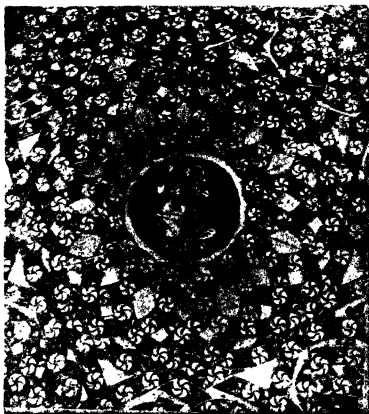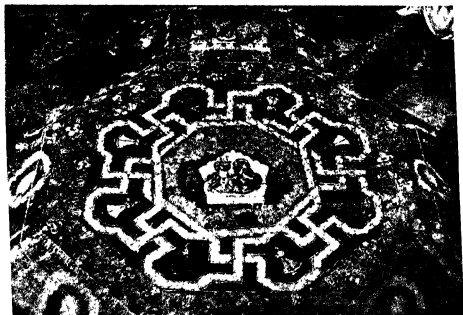
दशरथ-पुत्र, उपाध्याय, ध्यान, कथा, अभिनय, रीति, गोचरण, माल्य, संज्ञा, असुर भेद, योजनक्रोश, लोकपाल ।

पांच– स्मर, बाण, पाण्डव, इन्द्रिय, करांगुलि, शम्भुमुख, महायज्ञ, विषय, व्याकरणांग, व्रत-वह्नि, पार्श्व, फणि-फण, परमेष्ठि, महाकाव्य, स्थानक, तनु-वात, मृगशिर, पंचकुलें, महाभूत, प्रणाम, पंचोत्तर, विमान, महाव्रत, मरुद्, शस्त्र, श्रम, तारा ।

छः– रस, राग, व्रज-कोण, त्रिशिरा के नेत्र, गुण, तर्क, दर्शन, गुहमुख ।

सात– विवाह, पाताल, शक्रवाह-मुख, दुर्गति, समुद्र, भय, सप्तपर्ण-पर्ण ।

आठ– दिशा, देश, कुम्भिपाल, कुल, पर्वत, शम्भु-मूर्ति, वसु, योगांग, व्याकरण, ब्रह्म, श्रुति अहिकुल ।

नौ– सुधा-कुण्ड, जैन पद्म, रस, व्याघ्री-स्तन, गुप्ति, अधिग्रह ।

दश– रावण-मुख, अगुली, यति-धर्म, शम्भु, कर्ण, दिशाएँ, अगद्वार, अवस्था-दश ।

ग्यारह– रुद्र, अस्त्र, नेत्र, जिनमतोक्त अग, उपांग, ध्रुव, जिनोपासक, प्रतिमा ।

बारह– गुह के नेत्र, राशियाँ, मास, संक्रान्तियाँ, आदित्य, चक्र, राजा, चक्रि, सभासद् ।

तेरह– प्रथम जिन, विश्वेदेव ।

चौदह– विद्या-स्थान, स्वर, भुवन, रत्न, पुरुष, स्वप्न, जीवाजीवोपकरण, गुण, मार्ग, रज्जु, सूत्र, कुल, कर, पिण्ड, प्रकृति, स्रोतस्विनी ।

पन्द्रह– परम धार्मिक तिथियाँ, चन्द्रकलाएँ ।

सोलह– शशिकला, विद्या देवियाँ ।

सत्रह– संयम

अट्ठारह–विद्याएँ, पुराण, द्वीप, स्मृतियाँ ।

उन्नीस– ज्ञाताध्ययन

बीस– करशाखा, सकल-जन-नख और अँगुलियाँ, रावण के नेत्र और भुजाएँ ।

शत– कमल दल, रावणांगुलि, शतमुख, जलधि-योजन, शतपत्र-पत्र, आदिम जिन-सुत, धृतराष्ट्र के पुत्र, जयमाला, मणि हार, स्रज, कीचक ।

सहस्र– अहिपति मुख, गंगामुख, पंकज-दल, रविकर, इन्द्रनेत्र, विश्वामित्राश्रम वर्ष, अर्जुन-भुज, सामवेद की शाखाएँ, पुण्य-नर-दृष्ट-चन्द्र ।[1]

यहाँ तक हमने सामान्य परम्पराओं का उल्लेख किया है ।

विशेष में ऐसी परम्पराएँ आती है, जिनके साथ विशिष्ट भाव और धारणाएँ संयुक्त रहती है, इनमे कुछ आनुष्ठानिक भाव, टोना या धार्मिक सन्दर्भ रहता है । साथ ही ग्रन्थेतर कोई अन्य अभिप्राय भी सलग्न रहता है । इस अर्थ में हमने 10 बाते ली हैं :

(1) **मंगल-प्रतीक** मगल प्रतीक या मगलाचरण-शिलालेख, लेख या ग्रन्थ लिखने से पूर्व मंगल-चिह्न या प्रतीक जैसे स्वस्तिक 卐 या शब्द बद्ध मगल आदि अंकित करने की प्रथा प्रथम शताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण से और ई० प्रथम के आरम्भ से मिलने लगती है । इससे पूर्व के लेख बिना मंगल-चिह्न, प्रतीक या शब्द के सीधे आरम्भ कर दिये जाते थे । मंगलारंभ के लिए सबसे पहले 'सिद्धम्', शब्द का प्रयोग हुआ, फिर इसके लिए

1. हमने यह तालिका प्रो० रमेशचन्द्र दुबे के 'भारतीय साहित्य' (अप्रैल, 1957) में प्रकाशित (पृ० ११४–११६) लेख से ली है ।

एक चिह्न परिकल्पित हुआ ꣽ। पहले यह चिह्न और 'सिद्ध' दोनों साथ-साथ आये फिर अलग-अलग भी इनका प्रयोग हुआ। वस्तुतः यह चिह्न 'ओं०' ꣽ का स्थानापन्न है। आगे चलकर 'इष्ट सिद्धम्' का उपयोग हुआ भी मिलता है, पर 'सिद्धम्' बहुत लोकप्रिय रहा।

पाँचवीं शताब्दी ईसवी में एक और प्रतीक मंगल के लिए काम में आने लगा यह था 'स्वस्ति'। इसके साथ 'ओम' भी लगाया जाता था, 'स्वस्ति' या 'ओम स्वस्ति', कभी-कभी 'ओम' के लिए '१' का प्रयोग भी कर दिया जाता था।

'ओम्', 'ओम् स्वस्ति' या 'स्वस्ति' मात्र के साथ 'स्वस्ति श्रीमान्' भी इसी भाव से लिखा मिलता है। फिर कितने ही मंगल प्रतीक मिलते हैं, जैसे—स्वस्ति जयत्याविष्कृतम्, ओम् स्वामी महासेन ओम् स्वस्ति अमर सकाश, स्वस्ति जयत्यमल, ओम् श्री स्वामी महासेन, ओम् स्वस्ति जयत्याविष्कृतम्, ओम् स्वस्ति जयश्चाभ्युदयश्च। ओम् नम शिवाय अथवा नमश्शिवाय, श्री ओम् नमः शिवाय, श्री ओम् नम शिवाभ्याम्, ओम् ओम् नमो विनायकाय, ओम् नमो वराहाय, ओम् श्री आदि-वाराहाय नम, ओम् नमो देवराज-देवाय, ओम् नम· सर्वज्ञाय। ये शिलालेखो आदि से प्राप्त मगल-प्रतीक है। पर हस्तलेखों-पाडुलिपियों मे हमे 'जिन' स्मरण मिलता है या अपने सप्रदाय के सस्थापक का 'ओम् निम्बार्काय या 'वाग्देवी' का स्मरण 'ओम्' सरस्वत्य नम' और सामान्यत. "श्री गणेशाय नम·" मिलता है। राम-सीता, कृष्ण राधा का स्मरण भी मिलता है। इस प्रकार की अनेक विधियों से पाडुलिपियो में मंगल शब्द मिलते है जिनका काल-क्रम निर्धारण नहीं' किया गया है, जैसा कि शिलालेखो के मगल वाचकों का हुआ है।

(2) **नमस्कार (Invocation)**—ऊपर के विवरण मे हम मंगल या स्वस्ति के साथ 'नमस्कार' को भी मिला गये हैं। 'नमोकार' या 'नमस्कार' एक अन्य भावाश्रित तत्त्व है। इसको अग्रेजी मे डॉ. पांडेय ने INVOCATION (इनवोकेशन) का नाम दिया है। वस्तुतः जिस मांगलिक शब्द-प्रतीक में 'नमो'-कार लगा हो वह इंवोकेशन या नमोकार ही है। सबसे प्राचीन नमोकार खारबेल के हाथी-गुम्फा वाले अभिलेख मे आता है। सीधे सादे रूप मे 'नमो अर्हतानाम्' एवं 'नमो सर्व सिद्धानाम्' आता है।[1] शिलालेखों मे जिनको नमस्कार किया गया है वे हैं-धर्म, इन्द्र, संकर्षण, वासुदेव, चन्द्र, सूर्य, महिमावतानाम, लोकपाल, यम, वरुण, कुबेर,

1. इस सम्बन्ध में मुनि पुण्यविजय जी का यह कथन है कि "भारतीय आर्य संस्कृति ना अनुयाइयो कोई पण कार्यनी शुरूआत कांई ने कांई नानुं के मोटुं मंगल करीने जेज करे छे ओ शाश्वत नियमा-नुसार ग्रन्थ लेखनना आरम्भ मां हरेक लेखकों ॐ नम ऐं नमः, जयत्यनेकांतकण्ठी रवः, नमो जिनाय, नम· श्री गुरुभ्य, नमो वीतरागाय·, ॐ नम सरस्वत्यै, ॐ नम. सर्वज्ञाय, नम· श्री सिद्धार्थसुताय इत्यादि अनेक प्रकारना देव गुरु धर्म इष्टदेवता आदि ने लगता सामान्य के विशेष मगलसूचक नमस्कार करता लगता,······ " —भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 57–58।

वासव, अर्हत, वर्द्धमान, बुद्ध, भागवत-बुद्ध, संबुद्ध, भास्कर, विष्णु, गरुड़, केतु (विष्णु) शिव, पिनाकी, शूलपाणि, ब्रह्मा, आर्या वसुधारा (बौद्धदेवी)। हिन्दी पांडुलिपियों में यह नमोकार विविध देवी-देवताओं से सम्बन्धित तो होता ही है, सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक गुरुओं के लिए भी होता है।

(3) **आशीर्वाचन या मंगल कामना (Benediction)** -- यों तो 'मंगल-कामना' के बीज-रूप अशोक के शिलालेखों में भी मिल जाते हैं किन्तु ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो मे मगलकामना का रूप निखरा और यह विशेष लोकप्रिय होने लगी। वस्तुतः गुप्त-काल मे इसका विकास हुआ और भारतीय इतिहास के मध्ययुग मे यह परिपाटी अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई।

(4) **प्रशस्ति (Laudation)** -- किये गये कार्य की प्रशंसा और उसके शुभ फल का उल्लेख प्रशस्ति मे होता है, इसमे शुभ कार्य के कर्त्ता की प्रशस्ति भी गर्भित रहती है। इसका बीज तो अशोक के अभिलेखों मे भी मिल जाता है। इनमे नैतिक और धार्मिक कृत्यो, फलत. उनके कर्त्ताओ की सन्तुलित प्रशस्ति या प्रशंसा मिलती है।

गुप्त एवं वाकाटक काल मे प्रशस्ति-लेखन एक नियमित कार्य बन गया और इसमे विस्तार भी आ गया, इनमे दानदाताओ की प्रशंसा के साथ उन्हें अमुक दिव्य फल की प्राप्ति होगी, यह भी उल्लेख किया गया है। आगे चल कर धर्म शास्त्रों एवं स्मृतियो के अंश भी पावन कार्य की प्रशसा में उद्धृत किये गये मिलते है यथा :

बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभि :
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ।।
षष्टि वर्ष सहस्राणि स्वर्गे मोदेत भूमिद. ।
(दामोदरपुर ताम्रपत्रानुवास्तवे)[1]

विद्यापति की कीर्तिलता मे यह प्रशस्ति अंश इस प्रकार आया है :

गेहे गेहे कलौ काव्यं, श्रोतातस्य पुरे पुरे ।।1।।
देशे देशे रसज्ञाता, दाता जगति दुर्लभः ।।2।।[2]

बाद मे यह परम्परा लकीर-पीटने की भाँति रह गई।

(5) **वर्जना-निन्दा-शाप (Imprecation)**--इसका अर्थ होता है किसी दुष्कृत्य की अवमानना या भर्त्सना, जिसे शाप के रूप मे अभिव्यक्त किया जाता है। इसे किसी शिलालेख, अनुशासन, या ग्रन्थ मे लिखने का अभिप्राय यही होता था कि कोई उक्त दुष्कृत्य न करे जिसमे वह शाप का भागी बन जाये। ऐसी निन्दा के बीज हमे अशोकाभिलेखो मे भी मिलते हैं - यथा, यह परिस्रव है जो अपुण्य है (एसतु पीरस्तवे य अपुंञ) । निन्दा या शाप-वाक्यो का नियमित प्रयोग चौथी शताब्दी ईसवी से होने लगा था। छठी से तेरहवी ईसवी शताब्दी के बीच यह निन्दा-परम्परा लकीर पीटने का रूप ग्रहण कर लेती है। बाद में कुछ शिलालेखों मे इसके स्थान पर केवल 'गद्धे गलस'

1. Pandey, R. B.—Indian Palaeography, p. 163.
2. अग्रवाल, वासुदेवशरण (सं.)—कीर्तिलता, पृ० 4.

अर्थात् 'गदहा शाप' गंवारू गाली के रूप में लिखा गया है और एक में तो गदहे का ही रेखा-कन कर दिया गया है। भारतीय मध्य-युगीन भाषाओं की काव्य-परंपरा में खल-निंदा का भी यही स्थान है। इसके द्वारा अशोभनीय कार्य न करने की वर्जना अभिप्रेत होती है।

(6) उपसंहार : पुष्पिका--उपसंहार या समाप्ति की पुष्पिका मे इन बातों का समावेश रहता था—

(1) रचनाकार – (कवि आदि) का नाम, लेखादि को अनुष्ठित कराने वाले या अनुष्ठाता का नाम, उत्कीर्ण कर्त्ता का नाम, दूतक का नाम।

(2) काल – रचना काल, तिथि आदि, लेखन काल, प्रतिलिपि काल।

(3) स्वस्तिवचन–यथा : एवं संगर-साहस-प्रमथन प्रारब्ध लब्धोदया ।258।
पुष्णाति श्रियमाशाशंकधरणीं श्री कीर्तिसिंहोनृप. ।259।

(4) निमित्त--

(5) समर्पण, यथा—माधुर्य-प्रभवस्थली गुरु यशो-विस्तार शिक्षा सखी
यावद्विश्वमिदञ्च खेलतु कवेर्विद्याप्रतेभारती ।[1]

(6) स्तुति—

(7) निन्दा--

(8) राजाज्ञा --[जिससे यह कृति यों प्रस्तुत की गई]
यथा– संवत् 747 वैशाख शुक्ल तृतीया तिथौ। श्री श्री जय जग
ज्ज्योतिर्म्मल्ल-देव-भूपानामाज्ञया दैवज्ञ-नारायण-सिंहेन
लिखितमिदं पुस्तकं सम्पूर्णमिति शिवम्

शुभाशुभ

भारतीय परम्परा मे प्रत्येक बात के साथ शुभाशुभ किसी न किसी रूप में जुड़ा ही हुआ है। ग्रन्थ-रचना की प्रक्रिया मे भी इसका योग है।

पुस्तक का परिमाण क्या हो, इस सम्बन्ध मे 'योगिनी तन्त्र' में यह उल्लेख है :

मानं वक्ष्ये पुस्तकस्य श्रृणु देवि समासत ।
मानेनापि फलं विद्यादमाने श्रीर्हता भवेत् ।
हस्तमान पुष्टिमान मा बाहु द्वादशा गुलम् ।
दशांगुलं तथाष्टौ चततो हीनं न कारयेत् ।

इसमे विधान है कि परिमाण मे पुस्तक हाथ भर, मुट्ठी भर, बारह उंगली भर, दस उँगली भर और आठ उँगली भर तक की हो सकती है। इससे कम होने से 'श्री हीनता' का फल मिलता है। श्री हीन होना अशुभ है।

कैसे पत्र पर लिखा जाय? 'योगिनी तन्त्र' मे बताया है कि भूर्जपत्र, तेजपत्र, ताड़पत्र, स्वर्णपत्र, ताम्रपत्र, केतकी पत्र, मार्तण्ड पत्र, रौप्यपत्र, बट-पत्र पर पुस्तक लिखी जा सकती है, अन्य किसी पत्र पर लिखने से दुर्गति होती है। जिन पत्रो का ऊपर उल्लेख हुआ है उन पर लिखना शुभ है, अन्य पर लिखना अशुभ हैं।

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण (सं.)—कीर्तिलता, पृ० ११४।

इसी प्रकार 'वेद' को पुस्तक रूप में लिखना निषिद्ध बताया गया है । जो व्यक्ति लिख कर वेदों का पाठ करता है उसे ब्रह्महत्या लगती है, और घर में लिखा हुआ वेद रखा हुआ हो तो उस पर वज्रपात होता है ।

लेखक विराम में शुभाशुभ

भा० जै० श्र० स० मे शुभाशुभ की एक और परम्परा का उल्लेख हुआ है । यदि लेखक या प्रतिलिपिकार लिखते-लिखते बीच मे किसी कार्य में लेखन-विराम करना चाहता है तो उसे शुभाशुभ का ध्यान रखना चाहिये ।

उसे क, ख, ग, च, छ, ज, ठ, ढ, ण, थ, द, ध, न, फ, भ, म, य, र, ष, स, ह, क्ष, ज्ञ पर नहीं रुकना चाहिये । इन पर रुकना अशुभ माना गया है । शेष में से किसी भी अक्षर पर रुकना शुभ है ।

अशुभ अक्षरो के सम्बन्ध में अलग-अलग अक्षर की फल श्रुति भी उन्होंने दी है ।

'क' कट जावे, 'ख' खा जावे, 'ग' गरम होवे, 'च' चल जावे, 'छ' छटक जावे, 'ज' जोखिम लावे, 'ठ' ठाम न बैठे, 'ढ' ढह जाये, 'ण' हानि करे, 'थ' थिरता या स्थिरता करे, 'द' दाम न दे, 'ध' धन छुडावे, 'न' नाश या नाठि करे, 'फ' फटकारे, 'भ' भ्रमावे, 'म' मट्ठा या मन्द है, 'य' पुनः न लिखे, 'र' रोवे, 'ष' खिचावे, 'स' सन्देह धरे, 'ह' हीन हो, 'क्ष' क्षय करे, 'ज्ञ' ज्ञान न हो ।

जिन्हें शुभ माना गया है उनकी फल-श्रुति इस प्रकार है :

'घ' घरुडी लावे, 'झ' झट करे, 'ट' टकावी (?) राखे, 'ड' डिगे नहीं, 'त' तुरन्त लावे, 'प' परमेश्वर का है, 'ब' बनिया है, 'ल' लावे, 'व' वावे (?), 'श' शान्ति करे ।

इसमे मारवाड की एक और परम्परा का भी उल्लेख किया गया है कि वहाँ 'व' अक्षर आने पर ही लेखन-विराम किया जाता है और बहुत जल्दी उठना आवश्यक हुआ तो एक अन्य कागज पर 'व' लिख कर उठते हैं ।

शुभाशुभ सम्बन्धी सभी बातें अन्ध-विश्वास मानी जायेंगी पर ग्रन्थ-रचना या ग्रन्थ-लेखन या प्रतिलिपिकरण मे ये परम्पराएँ मिलती हैं, अतः पांडुलिपि-विज्ञान के ज्ञानार्थी के लिए यहाँ देदी गई है ।

भारतीय भावधारा के अनुसार लेखन प्रक्रिया मे आने वाली सभी वस्तुओं के साथ गुण-दोष या शुभ-अशुभ की मान्यता से एक टोने या अनुष्ठान की भावना गुथी रहती है । इसी प्रकार 'लेखन' के लिए जो अनिवार्य उपकरण है उस लेखनी के साथ भी यह धार्मिक भावना हमे ग्रन्थो मे वर्णित मिलती है ·

लेखनी · शुभाशुभ

लेखनी के सम्बन्ध मे ये प्रचलित श्लोक 'भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला' मे दिये गये है :

ब्राह्मणी श्वेतवर्णाच, रक्तवर्णाच क्षत्रिणी,
वैश्यवी पीतवर्णाच·. ग्रासुरी श्यामलेखिनी ।।1।।
श्वेते सुख विजानीयात्, रक्ते दरिद्रता भवेत् ।
पीते च पुष्कला लक्ष्मीः, ग्रासुरी क्षयकारिणी ।।2।।
चिताग्रे हरते पुत्रमाधोमुखी हरते धनम् ।
वामे च हरते विद्यां दक्षिणां लेखिनी लिखेत् ।।3।।
ग्रग्र ग्रन्थिर्हरेदायुर्मध्य ग्रन्थिर्हरेद्धनम् ।
पृष्ठग्रन्थिर्हरेत सर्वं निग्रन्थिं लेखिनीं लिखेत् ।।4।।
नवांगुलमिता श्रेष्ठा, ग्रष्टौ वा यदि नाऽधिका,
लेखिनी लेखयेन्नित्य धन-धान्य समागमः ।5।
इति लेखिनी विचारः ।।[1]
ग्रष्टाङ्गुलप्रमाणेन, लेखिनी सुखदायिनी,
हीनायाः हीन कर्मस्यादधिकस्याधिक फलम् ।।1।।
ग्राद्य ग्रन्थीर्हरेदायुर्मध्य ग्रन्थी हरेद्धनम् ।
ग्रन्त्य ग्रन्थीर्हरेन्सोख्यं. निर्ग्रन्थी लेखिनी शुभा ।[2]।
माथे ग्रन्थी मत (मति) हरे,
बीच ग्रन्थि धन खाय,
चार तसुनी लेखणे
लखनारो कट जाय ।1।[3]

इन श्लोकों से विदित होता है कि लेखनी के रंग, उससे लिखने के ढंग, लेखनी में गाँठें, लेखनी की लम्बाई ग्रादि सभी पर शुभाशुभ फल बताये गये है, रंग का सम्बन्ध वर्ण से जोड कर लेखनी को भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का माना गया है :

सफेद वर्ण की लेखनी ब्राह्मणी —इसका फल है सुख
लाल वर्ण की क्षत्राणी —इसका फल है दरिद्रता
पीले वर्ण की वैश्यवी —इसका फल है पुष्कल धन,
श्याम वर्ण की ग्रासुरी होती है एवं इसका फल होता है धन-नाश ।

किन्तु इस समस्त शुभ-ग्रशुभ के ग्रन्तरंग मे यथार्थ ग्रर्थ यही है कि निर्दोष लेखनी ही सर्वोत्तम होती है, उसी से लेखक को लेखन करना उचित है ।

वैसे 'लेखनी' एक सामान्य शब्द है, जिसका प्रयोग तूलिका, शलाका, वर्णवर्तिका,[4] वर्णिका[5] ग्रौर वर्णक[6] सभी के लिए होता था । पत्थर ग्रौर धातु पर ग्रक्षर

1 भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 34 ।
2. यह श्लोक स्व० चिमनलाल द० दलाल द्वारा सम्पादित 'लेख पद्धति' में भी आया है ।
3. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 34 ।
4. दशकुमार चरित में ।
5. कोशों में ।
6. ललित-विस्तर में ।

उत्कीर्ण करने वाली शलाका भी लेखनी है। चित्रांकन करने वाली कूँची तूलिका भी लेखनी है, अतः लेखनी का अर्थ बहुत व्यापक है। लेखन के अन्य उपकरणों के नाम ऊपर दिये जा चुके है। बूह्लरने बताया है कि "The general name of 'an instrument for writing' is lekhani, which of course includes the stilus, pencils, brushes, reed and wooden pens and is found already in the epics."[1]

नरसल या नेजे की लेखनी का प्रयोग विशेष रहा। इसे 'कलम' कहा जाता है।[2] इसके लिए भारतीय नाम है इषीका या ईषिका जिसका शब्दार्थ है नरसल (reed)।

डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में कलम शीर्षक से यह सूचना दी है कि

"विद्यार्थी लोग प्राचीन काल से ही लकड़ी के पाटो पर लकड़ी की गोल तीखे मुख की कलम (वर्णक) से लिखने चले आते हैं। स्याही से पुस्तके लिखने के लिए नड (बरू) या बाँस की कलमें (लेखनी) काम मे आती हैं। अजंता की गुफाओ मे जो रगो से लेख लिखे गये है वे महीन बालो की कलमों (वर्तिका) से लिखे गये होंगे। दक्षिणी शैली के ताडपत्रों के अक्षर कुचरने के लिए लोहे की तीखे गोल मुख की कलम (शलाका) अब तक काम में आती है। कोई-कोई ज्योतिषी जन्मपत्र और वर्षफल के खरडो के लम्बे हाशिये तथा आडी लकीरें बनाने मे लोहे की कलम को अब तक काम मे लाते है, जिसका ऊपर का भाग गोल और नीचे का स्याही के परकार जैसा होता है।[3]

पाश्चात्य जगत् मे एक ओर तो पत्थरों और शिलाओ में उत्कीर्ण करने के लिए छैनी (Chisel) को आवश्यक माना गया है, वहीं लेखनी के लिए पख (पर या पक्ष), नरमल या धातु शलाका का भी उल्लेख मिलता है। पाश्चात्य जगत् मे पंख की लेखनी का प्राचीनतम उल्लेख 7 वी शती ई० मे मिलता है।[4]

कोडॅक्स आधुनिक पुस्तक का पूर्वज है। यह एक प्रकार से दो या अधिक काष्ठ-पाटियो से बनती थी। ये काष्ठ पाटियाँ एक छोर पर छेदों में से लौह-छल्लों से जुड़ी रहती थी। इन पर मोम बिछा रहता था। इस पर एक धातु शलाका से खुरच कर या कुरेद (उकेर) कर अक्षर लिखे जाते थे।

"One wrote or scratched (which is the original meaning of the word) with a sharply pointed instrument, the stylus which had at the other end a flat little spatula for erasing, like the eraser at the end of the modern pencil'.[5]

यह स्टाइलस ओझा जी की बताई शलाका जैसी ही विदित होती है। इसी से मोमपाटी पर अक्षर उत्कीर्ण किये जाते थे।

1. Buhler, G —Indian Palaeography, p 147.
2. वही, 147।
3. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 157।
4. Encyclopaedia Americana (Vol. 18), p 241
5. Op. cit., (Vol. 4), p. 225.

स्याही

श्री गोपाल नारायण बहुरा के शब्दों में 'स्याही' विषयक चर्चा की भूमिका यों दी जा सकती है—

यों तो ग्रन्थ लिखने के लिए कई प्रकार की स्याहियों का प्रयोग दृष्टिगत होता है परन्तु सामान्य रूप से लेखन के लिए काली स्याही ही सार्वत्रिक रूप में काम में लाई गई है। काली स्याही को प्राचीनतम संस्कृत मे 'मषी' या 'मसि' शब्द से व्यक्त किया गया है। इसका प्रयोग बहुत पहले से ही शुरू हो गया था ।

जैनो की मान्यता है कि कश्यप ऋषि के वंशज राजा इक्ष्वाकु के कुल मे नाभि नामक राजा हुआ। उसकी रानी मरुदेवी से ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह ऋषभ ही नाभेय ऋषभदेव नाम से जैनों में आदि तीर्थङ्कर माने जाते हैं। कहते है कि आदिनाथ ऋषभदेव से पूर्व पृथ्वी पर वर्षा नहीं होती थी, अग्नि की भी उत्पत्ति नहीं हुई थी, कोई कँटीला वृक्ष नहीं था और संसार में विद्या तथा चतुराईयुक्त व्यवसायों का नाम भी नही था। ऋषभ ने मनुष्यों को तीन प्रकार के कर्म सिखाये–1. असिकर्म अर्थात् युद्ध विद्या, 2. मसिकर्म अर्थात् स्याही का प्रयोग करके लिखने-पढ़ने की विद्या, और 3. कृषि कर्म अर्थात् खेती-बाडी का काम। इसे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का ही रूप माना जा सकता है। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का निर्वाण विक्रम सवत् से 470 वर्ष पूर्व और ईसा से 526 वर्ष पूर्व माना गया है। कहते हैं कि इससे 3 वर्ष आठ मास और दो सप्ताह बाद पाँचवें आरे का आरम्भ हुआ है जो 21 हजार वर्ष तक चलेगा। इससे मषी कर्म के आरम्भ का अनुमान लगाया जा सकता है ।

मसि, मशि या मषी का अर्थ कज्जल है। 'मसी कज्जलम्', 'मेला मसी पत्रांजनं च स्यान्मसिर्द्वयोरिसि त्रिकाण्डशेष' । काली स्याही के निर्माण में भी कज्जल ही प्रमुख वस्तु है। इसीलिये स्याही के लिए भी मषी शब्द प्रयुक्त हुआ है। काली स्याही बनाने के कई नुस्खे मिलते है। उनमे कज्जल का प्रयोग सर्वत्र दिखाई देता है। एक बात और भी ध्यान मे रखनी चाहिये कि ताड-पत्र और कागज पर लिखने की काली स्याहियाँ बनाने के प्रकारो मे भी अन्तर है। ताडपत्र वास्तव मे काष्ठ जाति का होता है और कागज की बनावट इससे भिन्न होती है। इसीलिए इन पर लिखने की स्याही के निर्माण मे भी यत्किंचित् भिन्नता है।

स्याही बनाने मे कज्जल और जल के अतिरिक्त अन्य उपकरणो का मिश्रण करने की कल्पना बाद की होगी। प्राचीन उल्लेखो मे केवल जल और कज्जल के ही सन्दर्भ मिलते हैं। यह भी हो सकता है कि इन दोनों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की गौणता रही हो। पुष्पदन्त विरचित महिम्न स्तोत्र के एक श्लोक में स्याही, कलम, दवात और पत्र का सन्दर्भ है :—

> असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
> सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
> लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
> तदपि तव गुणानमीश पारं न याति ॥

अर्थात् श्वेतगिरि (हिमालय) जितना बड़ा ढेर कज्जल का हो, जिसे समुद्र जितने बड़े पानी से भरे पात्र (दवात) में घोला जाय, देव वृक्ष (कल्प वृक्ष) की शाखाओं से लेखनी बनाई जाय (जो कभी समाप्त न हो) और समस्त पृथ्वी को पत्र (कागज) बनाकर शारदा (स्वय सरस्वती) लिखने बैठे और निरन्तर लिखती रहे तो भी हे ईश ! तुम्हारे गुणों का पार नहीं है।

महिम्न· स्तोत्र का रचनाकाल 9 वीं शताब्दी से पूर्व का माना गया है किन्तु उक्त श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर कहा गया है कि मूल स्तोत्र के तो 31 ही श्लोक हैं जो अमरेश्वर के मन्दिर में उत्कीर्ण पाये गये है। 15 श्लोक बाद में स्तोत्र पाठकों द्वारा जोड़ लिये गये हैं।[1]

परन्तु यह निश्चित है कि विस्तृत पत्र और स्याही आदि लेखन के आवश्यक उपकरणों के व्यापक प्रयोग के प्रमाण 8वी शताब्दी के साहित्य मे भी उपलब्ध होते हैं–सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' कथा मे भी एक ऐसा ही उद्धरण मिलता है :—

'त्वत्कृते यानया वेदानुभूता सा यदि नम. पत्रायते सागरो लोलायते ब्रह्मा लिपिकरायते भुजगपतिर्वा कथक. तदा किमपि कथमप्येकैर्युगसहस्रै रभि लिख्यते कथ्यते वा।[2]

अर्थात् आपके लिए इसने जिस वेदना का अनुभव किया है उसको यदि स्वय ब्रह्मा लिखने बैठे, लिपिकार बने, भुजगपति शेषनाग बोलने वाला हो (साप की जीभ जल्दी चलती है) और लिखने वाला इतनी जल्दी-जल्दी लिखे कि कलम डुबोने से सागर रूपी दवात मे हलचल मच जाये तो भी कोई एक हजार युग मे थोडा बहुत ही लिखा जा सकता है।

पाश्चात्य जगत् मे हमे प्राचीनतम स्याही काली ही विदित होती है। सातवी शती ईस्वी से काली स्याही के लेख मिल जाते है। यह स्याही दीपक के काजल या धुँये से तो बनती ही थी, हाथी-दाँत को जलाकर भी बनायी जाती थी। कोयला भी काम मे आता था।[3] बहुत चमचमाती लाल स्याही का उपयोग भी होता था, विशेषत. आरम्भिक अक्षरो के लेखन में तथा प्रथम पक्ति भी प्राय. लाल स्याही से होती थी। नीली स्याही का भी नितांत अभाव नही था। हरी और पीली स्याही का उपयोग जब कभी ही होता था। सोने और चाँदी से भी पुस्तकें लिखी जाती थी।

भारत में हस्तलेखों की स्याही[4] का रंग बहुत पक्का बनाया जाता था। यही कारण है कि वैसी पक्की स्याही से लिखे ग्रन्थों के लेखन मे चमक अब तक बनी हुई है। विविध प्रकार की स्याही बनाने के नुस्खे विविध ग्रन्थो मे दिये हुए है। वैसे कच्ची

1 Brown, W. Normon—The Mahimnastava (Introduction), p 4-6

2 शुक्ल, जयदेव (सं)—वासवदत्ता कथा, पृ. 39।

3 The Encyclopaedia Americana (Vol. 18), p, 241.

4 भारत में स्याही का पर्यायवाची मसी या मषी था। प्राचीन काल में इन्ही का उपयोग होता था। ई० पू० के ग्रन्थ 'गृह्य-सूत्र' मे यह शब्द आया है। 'मसी' का अर्थ डॉ० राजबली पांडेय ने बताया है—मसलकर बनायी हुई। ब्हूलर ने इसका अर्थ चूर्ण या पाउडर बताया है। स्याही के लिए एक दूसरा 'मेला' शब्द भी प्राचीन काल मे कहीं-कहीं प्रयोग मे आता था। ब्हूलर ने 'मेला' की व्युत्पत्ति 'मैला' से मानी है। मैला = dirty · black : गदा या काला। डॉ० पाडेय ने ठीक बताया है कि यह

स्याही भी बनाई जाती रही है। पक्की और कच्ची स्याही के अन्तर का एक रोचक ऐतिहासिक कथांश 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' में डॉ. ओझा ने दिया है। वह वृत्त द्वितीय राजतरंगिणी के कर्त्ता जोनराज द्वारा दिया गया है और उनके अपने ही एक मुकदमे से सम्बन्धित है।

जोनराज के दादा ने एक प्रस्थ भूमि किसी को बेची। उनकी मृत्यु हो जाने पर खरीदने वाले ने जाल रचा। बैनामे में था—'भूप्रस्थमेक विक्रीतम्'। खरीदने वाले ने उसे 'भूप्रस्थ दशकं विक्रीतम्' कर दिया। जोनराज ने यह मामला राजा जैनोल्लाभदीन के समक्ष रखा। उसने उस भूर्ज-पत्र को पानी मे डाल दिया। फल यह हुआ कि नये अक्षर धुल गए और पुराने उभर आये, जोनराज जीत गए। "(जोनराज कृत राजतरगिणी श्लोक 1025–37)।"[1] प्रतीत होता है कि नये अक्षर कच्ची स्याही से लिखे गये थे, पहले अक्षर पक्की स्याही के थे। भोजपत्र को पानी मे धोने से पक्की स्याही नहीं धुलती, वरन् और अधिक चमक उठती है। कच्ची-पक्की स्याहियों के भी कई नुस्खे मिलते है :

'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला' मे बताया है कि पहले ताड़-पत्र पर लिखा जाता था। तीन-चार सौ वर्ष पूर्व ताड-पत्र पर लिखने की स्याही का उल्लेख मिलता है। ये स्याहियाँ कई प्रकार से बनती थी—'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला' मे ये नुस्खे दिये हुए है जो इस प्रकार है :

प्रथम प्रकार :

सहवर-भृ ग त्रिफल., कासीस लोहमेव नीली च,
समकज्जल-बोलयुता, भवति मषी ताडपत्राणाम् ।।

व्याख्या—सहवरेति कांटासे हरी ग्रो (धेमासो) भृगेति भागुरग्रो। त्रिफला प्रसिद्धैव। कासीसमिति कसीमम्, येन काष्ठादि रज्यते। लोहमिति लोहचूर्णम्। नीलीति गलीनिष्पादको वृक्ष तेद्रस। रस विना सर्वेषामुत्कल्य क्वाथ क्रियते, स च रसोऽपि समवर्तित कज्जल-बोलयोर्मध्ये निक्षिप्यते, ततस्ताडपत्रमषी भवतीति। यह स्याही ताम्बे की कढ़ाही मे खूब घोटी जानी चाहिए।[2]

दूसरा प्रकार :

काजल पा (पो) इण बोल (बीजा बोल), भूमिलया या जल मोगरा (?) थोड़ा पारा, इन्हे ऊष्ण जल मे मिला कर ताँबे की कढाई मे डाल कर सात दिन ऐसा घोटे कि सब एक हो जाय। तब इसकी बड़ियाँ बना कर सुखा ले। स्याही की आवश्यकता पड़ने पर इन बड़ियो को आवश्यकतानुसार गर्म पानी मे खूब मसल कर स्याही बनाले। इस स्याही से लिखे अक्षर रात मे भी दिन की भाँति ही पढ़े जा सकते है।

शब्द 'मैला' नही 'मेला' ही है जो मेल से बना है। स्याही मे विविध वस्तुओं का मेल होता है। स्याही—स्याहकाला से व्युत्पन्न है, पर इसका अर्थ-विस्तार हो गया है।

—ब्यूलर, पृ॰ 146 तथा डॉ॰ राजबली पाण्डेय, पृ॰ 84.

निआर्कस और क्यू॰ कर्टियस जैसे यूनानी लेखको की साक्षियों से यह सिद्ध है कि भारतीय कागज और कपड़े पर स्याही से ही लिखते थे। यह साक्षी 4थी शती ई॰ पू॰ की है।

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ॰ 155 (पाद टिप्पणी)।
2. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ॰ 38।

तीसरा प्रकार :

> कोरडए वि सरावे, ग्रंगुलिग्रा कोरडम्मि कज्जलए ।
> मद्दह सरावलग्गं, जावें चिय चि (वक) गं मुग्रइ ।
> पिचुमंद गुंदलेसं, खायर गुंदं व बीयजलमिस्सं ।
> भिज्जवि तोएण दढं, मद्दह जातं जलं मुसइ ।

ग्रर्थात् नये काजल को सरवे (सकोरे) में रखकर ऊँगलियों से उसे इतना मलें या रगड़े कि सरवे से लगकर उसका चिकनापन छूट जाय । तब नीम के गोंद या खैर के गोंद ग्रौर वियाजल के मिश्रण मे उक्त काजल को मिलाकर इतना घोटें कि पानी सूख जाये फिर बड़ियाँ बनाले ।

चौथा प्रकार :

> निर्यासात् पिचुमंद जात् द्विगुणितो बोलस्ततः कज्जलं,
> संजातं तिलतैलतो हुतवहे तीव्रातपे मर्दितम् ।
> पात्रे शूल्बमये तथा शन (?) अलैर्लाक्ष रसैर्भावितः,
> सद्भल्लातक-मृंगराजरसयुतो सम्यग् रसोऽयं मषी ।[1]

ग्रर्थात् नीम का गोंद, उससे दुगुना बीजाबोल, उससे दुगुना तिलों के तेल का काजल ले । ताँबे की कढाही में तेज ग्राँच पर इन्हें खूब घोट ग्रौर उसमें जल तथा ग्रलता (लाक्षारस) की थोडा-थोडा करके सौ भावनाएँ दे ग्रौर ग्रच्छी स्याही बनाने के लिए इसमें शोधा हुग्रा भिलावा तथा भाँगरे का रस डाले ।[2]

पाँचवां प्रकार :

पाँचवें प्रकार की स्याही का उपयोग ब्रह्म देश, कर्नाटक ग्रादि देशों में ताड़-पत्र पर लिखने मे होता था ।

ऊपर के सभी प्रकार ताड-पत्र पर लिखने की स्याही के हैं ।[3]

1. भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ॰ 38–40.
2 श्लोक में तो यह नही बताया गया हूं कि उक्त मिश्रण को कितनी देर घोटना चाहिए परन्तु जयपुर में कुछ परिवार स्याही वाले ही कहलाते है । त्रिपोलिया के बाहर ही उनकी प्रसिद्ध दुकान थी । वहाँ एक कारखाने के रूप में स्याही बनाने का कार्य चलता था । महाराजा के पोथीखाने में भी 'सरबराकार' स्याही तैयार किया करते थे । इन लोगों से पूछने पर ज्ञात हुग्रा कि स्याही की घुटाई कम से कम आठ पहर होनी चाहिए । मात्रा अधिक होने पर अधिक समय तक घोटना चाहिए ।
—गोपालनारायण बहुरा
3 पहले कह चुके हैं कि ताड़पत्र पर स्याही से कलम द्वारा भी लिखते है और लोहे की नोकदार कुतरन्भी से अक्षर कुरेदे भी जा सकते हैं । लिखने के लिए तो ऊपर लिखी विधियो से बनाई हुई स्याहियाँ ही काम में आती है परन्तु कुरेदे हुए अक्षरो पर काला चूर्ण पोत कर कपड़े से साफ करते है । इससे वह चूर्ण कुरेदे हुए अक्षरों में भरा रह जाता है और पत्र के समतल भाग से कज्जल या काला चूर्ण अपसारित हो जाता है । फिर अक्षर स्पष्ट पढ़ने में आ जाते हैं । समय बीतने पर यदि अक्षर फीके पड़ जावे तो यह विधि दोहरा दी जाने पर पुन अक्षर स्पष्ट हो जाते हैं । ऐसा मषी-चूर्ण बनाने के लिए नारियल की जटा या केंचुल तथा बादाम आदि के छिलके जलाकर पीस लिए जाते हैं ।
—गोपालनारायण बहुरा

इस प्रकार कागज-कपड़े पर लिखने की स्याही बनाने की भी कई विधियाँ हैं :

पहली विधि :

जितना काजल उतना बोल, ते थी दूणा गूंद झकोल,
जे रस भागरानो पड़े, तो ग्रक्षरे ग्रक्षरे दीवा जले ।

दूसरी विधि :

मध्यर्धे क्षिप सद्गुन्द गुन्दार्धे बोलमेव च,
लाक्षाबीयारसेनोच्चै मर्दयेत् ताम्रभाजने ।

तीसरी विधि :

बीग्रा बोल ग्रनइल करवा रस, कज्जल वज्जल (?) नइ ग्रबारस ।
'भोजराज' मिसी नियाद्, पान ग्रो फाटई मिसी नवि जाई ।

चौथी विधि :

लाख टाक बीस मेल, स्वाग टाक पाच मल
नीर टांक दो सौ लेई, हाडी मे चढाइये,
ज्यौं लों ग्राग दीजे त्यों लौ ग्रार खार सब लीजे ।
लोदर खार बालबाल पीस के रखाइये
मीठा तेल दीय जल, काजल सो ले उतार
नीकी विधि पिछानी के ऐसे ही बनाइये
चाहक चतुर नर लिखके ग्रनूप ग्रन्थ
बांच बांच बांच रीझ रीझ मौज पाइये । मसी विधि ।

पाँचवीं विधि :

स्याही पक्की करण विधि :—लाख चोखी ग्रथवा चीपडी लीजे पईसा 6, सेर तीन पानी मे डालें, सुवागो (सुहागा) पैसा 2 डाले, लोध 3 पैसा भर डाले । पानी तीन पाव रह जाये तो उतार ले । बाद मे काजल 1 पैसा भर डालकर घोट-घोट कर सुखा ले । ग्रावश्यकतानुसार इसमे से लेकर शीतल जल मे भिगो दे तो पक्की स्याही तैयार हो जाती है ।

छठी विधि :

काजल छह टक, बीजाबोल टक 12, बेर का गोद 36 टक, ग्रफीम टक 1/2, ग्रलता पोथी टंक 3, फिटकरी कच्ची टक 1/2, नीम के घोटे से ताम्बे के पात्र मे सात दिन तक घोटे ।

स्याही के ये नुस्खे मुनि श्री पुण्यविजयजी ने यहाँ-वहाँ से लेकर दिये हैं । उनका ग्रभिमत है कि पहली विधि से बनी स्याही श्रेष्ठ है । ग्रन्य स्याही पक्की तो हैं, पर कागज-

कपड़े को क्षति पहुँचाती हैं। लकड़ी की पाटी (पट्टी) पर लिखने के लिए ठीक है।[1]

राजस्थान में उपयोग आने वाली स्याही के बनाने की विधि ओझाजी ने इस प्रकार बताई है :

'पक्की स्याही बनाने के लिए पीपल की लाख को जो अन्य वृक्षों की लाख से उत्तम समझी जाती है, पीस कर मिट्टी की हँडिया मे रखे हुए जल में डालकर उसे आग पर चढ़ाते हैं। फिर उसमे सुहागा और लोध पीस कर डालते है। उबलते-उबलते जब लाख का रस पानी में यहां तक मिल जाता है कि कागज पर उससे गहरी लाल लकीर बनने लगती है तब उसे उतार कर छान लेते हे। उसको अलता (अलक्तक) कहते हैं, फिर तिलो के तेल के दीपक के काजल को महीन कपडे की पोटली मे रखकर अलते मे उसे फिराते जाते है जब तक कि उससे सुन्दर काले अक्षर बनने न लग जावे। फिर उसको दवात (मसीभाजन) मे भर लेते है। राजपूताने के पुस्तक लेखक अब भी इसी तरह पक्की स्याही बनाते है।''[2]

ओझाजी ने कच्ची स्याही के सम्बन्ध में लिखा है कि यह कज्जल, कत्था, बीजाबोर और गोंद को मिला कर बनाई जाती है। परन्तु पन्नो पर जल गिरने से यह स्याही फैल जाती है और चौमासे मे पन्ने चिपक जाते है।[3] अत: ग्रन्थ लेखन के लिए अनुपयोगी है।

आपने भोज-पत्र पर लिखने की स्याही के सम्बन्ध मे लिखा है कि "बादाम के छिलको के कोयलो को गोमूत्र मे उबाल कर यह स्याही बनायी जाती थी।[4] यही बात डॉ राजबली पाण्डेय ने लिखी है.

In Kashmir, for writing on birch-bark, ink was manufactured out of charcoal made from almonds and boiled in cow's urine. Ink so prepared was absolutely free from damage when MSS were periodically washed in water-tubes.[5]

कुछ सावधानियाँ[6]

मूलत: कज्जल, बीजाबोल समान मात्रा मे और इनसे दो गुनी मात्रा मे गोद को पानी मे घोल कर नीम के घोटे से ताम्र-पात्र मे घुटाई करना ही कागज और कपड़े पर

1 इसी बात को और स्पष्ट करते हुए मुनिजी ने बताया है कि 'जिस स्याही में लाख (लाक्षारस), कत्था, लोघ पडा हो, वह कपडा कागज पर लिखने के काम की नही है। इससे कपड़े एव कागज तम्बाकू के पत्ते जैसे हो जाते हैं। —भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ ४२।

मुनि पुण्यविजयजी ने काली स्याही सम्बन्धी खास सूचनाओ में ये बातें बताई है कज्जलमत्र निम्बतैलस सजात ग्राह्यम। २. गुन्दोऽत्र निम्बसत्क: खदिरसत्को बबूलसत्को वा ग्राह्य.। धवसत्कस्तु सर्वथा त्याज्य मषी विनाशको ह्ययम् (धौ का गोद नही डालना चाहिए)।

2 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 155।

3 वही, पृ० 155।

4. बूलर ने सूचना दी है (काश्मीर रिपोर्ट, 30) कि गफ पेपर्स आदि (18 F) में राजेन्द्रलाल मित्र ने टिप्पणियों में स्याही बनाने के भारतीय नुस्खे दिये हैं। —पृ० 146, पाद टिप्पणी, पृ० 537

5. Pandey, R. B.—Indian Palaeography, p. 85.

6. श्री गोपाल नारायण बहुरा की टिप्पणियाँ।

लिखने की स्याही बनाने की उपयोगी विधि है, अन्य रसायनों को मिलाने से वे उसको खा जाते हैं और अल्पायु बना देते हैं, जैसे — भाँगरा डालने से अक्षरों में चमक तो आती है परन्तु आगे चल कर कागज काला पड जाता है। इसी तरह लाक्षारस, स्वांग या क्षार आदि भी हानिकारक हैं। बीग्रारस बीग्रा नामक वनस्पति की छाल का चूर्ण बना कर पानी मे औटाने से तैयार होता है। इसको इसलिए मिलाया जाता है कि स्याही गहरी काली हो जाती है। परन्तु यदि आवश्यकता से अधिक बीग्रारस पड़ जाय तो वह गोंद के प्रभाव को कम कर देता है और ऐसी स्याही के लिखे अक्षर सूखने के बाद उखड जाते हैं। लाक्षारस इस कारण डाला जाता है कि इससे स्याही कागज में फूटती नही है। खौलते हुए साफ पानी में जरा-जरा-सा लाख का चूर्ण इस तरह से डाल कर हिलाया जाता है कि वह उसमे अच्छी तरह घुलता जाय, उसकी लुगदी न बनने पावे। बार-बार किसी सींक या फरड़े को उसमें डुबो कर कागज पर लकीर खींचते है। शुरू में जब तक लाख पानी में एकरस नही होती तब तक वह पानी कागज मे फूटता है पर जब अच्छी तरह लाख के रेशे उसमे एकाकार हो जाते हैं तो वह रस कागज पर जम जाता है। इसकी मात्रा मे भी यदि कमीबेशी हो जाय तो स्याही अच्छी नही बनती।

स्याही : विधि निषेध

स्याही बनाने के सम्बन्ध मे कुछ विधि-निषेध भी हैं—यथा–कज्जल बनाने के लिए तिल के तेल का दिया ही जलाना चाहिए। किसी अन्य प्रकार के तेल से बनाया हुआ काजल उपयोगी नही होता। गोद भी नीम, खैर या बबूल ही का लेना चाहिए। इसमे भी नीम सर्वश्रेष्ठ है। धोंक (धव) का गोंद स्याही को नष्ट करने वाला होता है। स्याही में रीगणी नामक पदार्थ, जिसे मराठी में 'डौली' कहते हैं, डालने से उसमे चमक आ जाती है और मक्खियाँ पास नही आती। जिस स्याही मे लाख, कत्था और लोहकीट का प्रयोग किया जाता है उसे ताड-पत्र आदि पर ही लिखने के काम मे लेना चाहिए, कागज और कपडे पर इसका प्रभाव विपरीत पडता है। वह कागज आगे चल कर क्षीण हो जाता है—प्रति लाल पड जाती है और पत्र तडकने लगते है। बीग्रारस की मात्रा अधिक हो जाने से गोद की चिकनाहट नष्ट हो जाती है और ऐसी स्याही से लिखे पत्रों की रगड़ से अक्षर घुलमिल जाते है और प्रति काली पड़ जाती है।

जब किसी संग्रह के ग्रन्थो को देखते है तो विभिन्न प्रतियाँ विभिन्न दशा मे मिलती है। कोई-कोई ग्रन्थ तो कई शताब्दी पुराना होने पर भी बहुत स्वस्थ और ताज़ी अवस्था मे मिलता है। उसका कागज भी अच्छी हालत मे होता है और स्याही भी जैसी की तैसी चमकती हुई मिलती है; परन्तु कई ग्रन्थ बाद की शताब्दियों मे लिखे होने पर भी उनके पत्र तडकने वाले हो जाते हैं और अक्षर रगड से विकृत पाये जाते है। कितनी ही प्रतियाँ ऐसी मिलती है कि उनका कुछ भाग काला पड़ा हुआ होता है। ऐसा इसलिए होता है कि वर्षा के बाद कभी-कभी धूप मे रखते समय जिन पत्रो को समान रूप से ऊष्मा नही पहुँचती अथवा आवश्यकता से अधिक समय तक धूप मे रह जाते है उनके कुछ हिस्सों की सफेदी उड जाती है। कुछ लेखक तो स्याही मे चिथड़ा डाल देते है (कभी-कभी सर्पाकार) जिससे वह अधिक गाढ़ी या पतली न हो जाय। परन्तु कुछ लेखक लोहे के टुकडे या कीले दवात में रख देते हैं। अपर दशा मे ऐसा होता है कि उस लोहे का काट हिलाने पर स्याही में मिल जाता

है और तत्काल उससे लिखी हुई पंक्तियाँ काली पड जाती हैं या पत्र का वह भाग छिक जाता है, अतः एक ही पत्र में विभिन्न पंक्तियाँ विभिन्न प्रकार की देखने में आती हैं। प्रतियों की यह खराबियाँ संक्रामक भी होती है। कई बार हम देखते हैं कि किसी प्रति के आद्य और अन्त्य पत्र के अतिरिक्त शेष पत्र स्वस्थ दशा में होते हैं। इसका कारण यह होता है कि बस्ते में जब कई प्रतियाँ बाँधी जाती हैं तो उस प्रति के ऊपर नीचे कोई रुग्ण प्रतियाँ रख दी जाती हैं जिनकी स्याही व कागज की विकृति बीच की प्रति के ऊपर-नीचे के पत्रों में पहुँच जाती है। इसीलिए जहाँ तक हो सके वहाँ तक एक प्रति को दूसरी से पृथक् रखना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक प्रति को एक स्वच्छ और रूखे सफेद कागज में लपेटना चाहिए (अखबारी कागज मे कभी नहीं) और फिर उसको कार्डबोर्ड के दो समाकृति के टुकड़ों के बीच मे रखकर वेष्टित करना चाहिए जिससे न तो कार्डबोर्ड का असर प्रति पर पड़ सके और न अन्य प्रति का रोग ही उसमें पहुँच सके।

रंगीन स्याही

रंगीन स्याहियो का उपयोग भी ग्रन्थ लेखन में प्राचीन काल से ही होता रहा है। इसमे लाल स्याही का उपयोग बहुधा हुआ है। लाल स्याही के दो प्रकार थे—एक अलता की, दूसरी हिंगलू[1] की। डॉ पाण्डेय ने बताया है कि—""Red ink was mostly used in the MSS for marking the medial signs and margins on the right and the left sides of the text, sometimes the endings of the chapters, stops and the phrases like 'so and so said thus' were written with red ink."[2]

ओझाजी इनसे पूर्व यह बता चुके है कि 'हस्तलिखित वेद के पुस्तको मे स्वरो के चिन्ह, और सब पुस्तको के पन्नो पर की दाहिनी और बायी ओर की हाशिये की दो-दो खडी लकीरे अलता या हिंगली से बनी हुई होती है। कभी-कभी अध्याय की समाप्ति का अंश एव 'भगवानुवाच', 'ऋषिरुवाच' आदि वाक्य तथा विरामसूचक खडी लकीरे लाल स्याही से बनाई जाती है। ज्योतिषी लोग जन्म-पत्र तथा वर्षफल के लम्बे-लम्बे खरड़ो मे खड़े हाशिये, आडी लकीरे तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की कुण्डलियाँ लाल स्याही से ही बनाते है।[3] फलत: काली के बाद लाल स्याही का ही स्थान आता है।[4]

पाश्चात्य जगत् में भी लाल स्याही का कुछ ऐसा ही उपयोग होता था। चमकीली लाल स्याही का उपयोग पाश्चात्य जगत् मे पुराने ग्रन्थों मे सौन्दर्यवर्द्धन के लिए होता था। इससे आरम्भिक अक्षर तथा प्रथम पंक्तियाँ और शीर्षक लिखे जाते थे, इसी से वे 'रुबैरिक्स' कहलाते थे और लेखक कहलाता था 'रुब्रीकेटर'। इसी का हिन्दोस्तानी मे अर्थ है 'सुर्खी'। जिसका अर्थ लाल भी होता है और शीर्षक भी। उधर भारत मे लाल के बाद

1. हिंगली को शुद्ध करके लाल स्याही बनाने की अच्छी विधि भा. जै. श्र. सं. अने लेखन कला में पृ० 45 पर दी हुई है।
2. Pandey, Rajbali—Indian Palaeography, p. 85.
3. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 156।
4. '—of coloured varieties red was the most common........'
—Pandey, Rajbali—Indian Palaeography, p. 85.

नीली स्याही का भी प्रचलन हुआ, हरी और पीली भी उपयोग में लाई गई। हरी तथा पीली स्याही का भी उपयोग हुआ पर अधिकांशत जैन ग्रन्थों में।

ओझाजी ने बताया है कि सूखे हरे रंग को गोंद के पानी में घोल कर हरी जंगाली और हरिताल[1] से पीली स्याही भी लेखक लोग बनाते है।[2]

सुनहरी एवं रूपहरी स्याही

सोने और चाँदी की स्याही का उपयोग भी पाश्चात्य देशों में तथा भारत में भी हुआ है। साहित्य मे भी प्राचीन काल के उल्लेख मिलते है। सोने-चाँदी में लिखे ग्रन्थ भी मिलते हैं। राजे-महाराजे और धनी लोग ही ऐसी कीमती स्याही की पुस्तकें लिखवा सकते थे। ये स्याहियाँ सोने और चाँदी के वरको से बनती थीं। वरक को खरल मे डाल कर धव के गोंद के पानी के साथ खरल मे खूब घोंटते थे। इससे वरक का चूर्ण तैयार हो जाता था। फिर साकर (शक्कर) का पानी डाल कर उसे खूब हिलाते थे। चूर्ण के नीचे बैठ जाने पर पानी निकाल देते थे। इसी प्रकार तीन-चार बार धो देने से गोद निकल जाता था। अब जो शेष रह जाता था वह स्याही थी।[3]

सोने और चाँदी की स्याही से लिखित प्राचीन ग्रन्थ नही मिलते। ओझाजी ने अजमेर के कल्याणमल ढड्ढा के कुछ ग्रन्थ देखे थे, ये अधिक प्राचीन नही थे। हां, चाँदी की स्याही मे लिखा यन्त्रावचूरि ग्रन्थ 15 वी शती का उन्हें विदित हुआ था।

भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला में अनुष्ठानादि के लिए जन्त्र-मन्त्र लिखने के लिए अष्ट-गन्ध एवं यक्ष कर्दम का और उल्लेख किया गया है। अष्ट-गन्ध दो प्रकार से बनायी जाती है

एक 1. अगर, 2 तगर, 3. गोरोचन, 4. कस्तूरी, 5 रक्त चन्दन, 6 चन्दन, 7. सिन्दूर, और 8 केसर को मिला कर बनाते है।

दो. 1. कपूर, 2. कस्तूरी, 3. गोरोचन, 4. सिदरफ, 5. केसर, 6. चन्दन, 7. अगर, एव 8. गेहूला—इससे मिला कर बनाते है।

यक्ष कर्दम में 11 वस्तुएं मिलाई जाती हैं. चन्दन, केसर, अगर, बरास, कस्तूरी, मरचककोल, गोरोचन, हिंगलो, रतजणी, सोने के वरक और अंबर।

चित्र रचना और रंग

'ऐनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना'[4] मे बताया गया है कि सचित्र पाडुलिपि उस हस्तलिखित पुस्तक को कहते हैं जिसके पाठ को विविध चित्राकृतियों से सजाया गया हो और सुन्दर बनाया गया हो। यह सज्जा रंगों से या सुनहरी और कभी-कभी रूपहली कारीगरी से प्रस्तुत भी की जाती है। इस सज्जा में प्रथमाक्षरों को विशदतापूर्वक चित्रित करने से लेकर विषयानुरूप चित्रो तक का आयोजन भी हो सकता था, या सोने और चांदी से

1. यह हरिताल, हडताल गलत लिखे शब्द या अक्षर पर फेर कर उस अक्षर को लुप्त किया जाता था। इसी से मुहावरा भी बना 'हडताल फेरना—नष्ट कर देना।'
2. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ॰ 44।
3 भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ॰ 44।
4. Encyclopaedia Americana (Vol. 18), p. 242.

खम्भात के कल्पसूत्र का एक चित्र (अपभ्रंश, १४८१ ई०)

ताड़पत्र की पाण्डुलिपि 'निशीथचूर्णिका' पर चित्रित जिन भगवान्
जैन शैली, ११८२ वि०

ताड़पत्र की पाण्डुलिपि 'निशीथचूर्णिका' पर चित्रित सरस्वती
जैन शैली, ११८४ वि०

लोर चन्दा के चित्र (अपभ्रंश, १५४०)

चमकते अक्षरों से सजावट कराना। ऐसी सजावट का आरम्भ पश्चिम में 14 वी शताब्दी से माना जाता है। दांते ने और चॉसर ने ऐसे चित्रित हस्तलेखो का उल्लेख किया है।

भारत मे 'अपभ्रंश शैली' के चित्र जो 11 वी से 16 वी शताब्दी तक बने मुख्यतः हस्तलिखित ग्रन्थो मे मिलते हैं। डॉ रामनाथ ने बताया है कि "मुख्यतः ये चित्र जैन-धर्म सम्बन्धी पोथियों (पाडुलिपियों) मे बीच-बीच में छोड़े हुए चौकोर स्थानो मे बने हुए मिलते हैं।"

इन चित्रो मे पीले और लाल रंगो का प्रयोग अधिक हुआ है। रंगों को गहरा-गहरा लगाया गया है।

"गुजरात के पाटन नगर से भगवती-सूत्र की एक प्रति 1062 ई० की प्राप्त हुई है। इसमे केवल अलंकरण किया गया है। चित्र नही है"......सबसे पहली चित्रित कृति ताडपत्र पर लिखित निशीयचूर्णि नामक पाडुलिपि है जो सिद्धराज जयसिंह के राज्य काल में 1100 ई० मे लिखी गई थी और अब पाटन के जैन-भण्डार मे सुरक्षित है। इसमे बेल बूटे और कुछ पशु-आकृतियाँ हैं। 13 वीं शताब्दी में देवी-देवताओ के चित्रण का बाहुल्य हो गया। अब तक ये पोथियाँ ताडपत्र की होती थी। 14 वी शताब्दी से कागज का प्रयोग हुआ।"[1] हमें विदित है कि 14 वी शताब्दी मे पश्चिम मे पार्चमेंट पर पाडुलिपि लिखी जाती थी और उन्हे चित्रित भी किया जाता था। भारत मे 3 शताब्दी पूर्व ताडपत्र पर ही यह चित्र-कर्म होने लगा था। भारत मे 14 वी शताब्दी तक प्राय: जैन धर्म-ग्रन्थ सचित्र लिखे गये, उधर 'पाल शैली'[2] की चित्राकित पुस्तके बौद्ध-धर्म-विषयक थी। प्राचीनतम पांडुलिपि 980 ई० की मिलती है। डॉ० रामनाथ के ये शब्द ध्यान देने योग्य है —

"पाल शैली के अन्तर्गत चित्रित पोथियाँ तालपत्रो मे है। लम्बे-लम्बे तालपत्र के एक से टुकडे काट कर उनके बीच मे चित्र के लिए स्थान छोड कर दोनो ओर ग्रन्थ लिख दिया जाता था। नागरीलिपि मे बडे सुन्दर अक्षरो मे यह लिखाई की जाती थी। बीच के खाली स्थानों में सुरुचिपूर्ण रगों में चित्र बनाये जाते थे। सुन्दर और सुघड़ आकृतियाँ बनायी जाती थी। जिनमे बडे आकर्षक ढंग से आँखो और अन्य अंग-प्रत्यगो का आलेखन होता था।[3]

1451 मे चित्रित बसन्त-विलास के समय मे कला जैन-बौद्ध एव वैष्णव धर्म का पल्ला छोड़ कर लौकिक हो चली। यह एक नया मोड़ था। काम-शास्त्र के ग्रन्थ ही नही, प्रेम गाथाएँ जैसे चन्दायन, मृगावती आदि भी सचित्र मिलती है।

ये चित्र बहुधा रगीन होते थे। ये विविध रगो से चित्रित किये जाते थे। विविध रगों की स्याही या मषी बनाई जाती थी। काली, लाल, सुनहली-रुपहली आदि रंगीन स्याहियो का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। लाल रग हिंगलू से, पीला हडताल से, धौला या सफेद सफेदे से तैयार किया जाता था। अन्य मिश्रित रंग भी बनाये जाते थे जैसे, हरताल एव हिंगलू मिला कर नारगी, हिंगलू और सफेद से गुलाबी, हरताल और काली स्याही मिला कर नीला रंग बनाया जाता था। इसी प्रकार अन्य कई विधियाँ थीं

1. रामनाथ (डॉ)—मध्यकालीन भारतीय कलाएँ और उनका विकास, पृ० 6–7।
2. वही, पृ० 6–7।
3. वही, पृ० 6–7।

जिनसे पुस्तकों को चित्रित करने के लिए भाँति-भाँति के रंग बनाये जाते थे। ये रंग स्याही की तरह ही काम करते थे।[1]

सचित्र ग्रन्थों का महत्त्व

ये सचित्र ग्रन्थ कई कारणों से महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं : एक तो ग्रन्थ-रचना के इतिहास मे सचित्र पांडुलिपियों का महत्त्व है क्योंकि इन सचित्र ग्रन्थों से विदित होता है कि मानव अपनी अनुभूतियों को किस-किस प्रकार की रंगीनियों और चित्रोपमताओं से व्यक्त करता रहा है। इन अभिव्यक्तियों मे उस मानव और उसके वर्ग के सांस्कृतिक बिम्ब भी समाविष्ट मिलते है।

दूसरे चित्रित पांडुलिपियों में विविध प्रकार के आकारांकन और अलंकरण मिलते हैं। इनमें इन अंकनों के अनन्त रूप चित्रित हुए हैं जो स्वयं चित्रों की अलंकरण कला के इतिहास के लिए भारी सार्थकता रखते हैं।

तीसरी बात यह है कि मध्य युग में भारत मे दसवी शताब्दी से पांडुलिपियों मे अंकित चित्र[2] ही एकमात्र ऐसे साधन हैं, जिनसे मध्ययुगीन चित्रकला की प्रवृत्तियाँ एव स्वरूप समझे जा सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चित्रित पांडुलिपियो मे रंग कौशल के साथ कुछ अन्य बाते भी है जो देखनी होती हैं।

कविता और चित्रकला दोनो ही प्रमुख ललित कलाएं मानी गई हैं। इसलिए कवि और चित्रकार का चोली-दामन का सा साथ है। जैसे ग्रन्थ को चित्रो मे सजाकर सचित्र बनाया जाता था वैसे ही चित्रों को भी कई बार सलेख बनाया जाता था, अर्थात् ग्रन्थ के विषय को समझाने के लिए जैसे चित्र-चित्रित कर दिये जाते थे उसी प्रकार किसी चित्र के विषय को स्पष्ट करने के लिए उस पर लेख या कविता की पंक्ति अंकित कर दी जाती थी। ऐसे चित्र-कर्म के लिए विविध रंगों की स्याहियाँ तैयार की जाती थी।

भोजदेव कृत 'समरांगण-सूत्रधार' (11 वीं० श०) में चित्रकर्म के आठ अंगों का वर्णन है। इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरपुराण मे भी चित्रकर्म के गुणाष्टक वर्णित है। इन दोनो में अन्तर अवश्य है, परन्तु लेखन अथवा लेखकर्म प्राय: समान रूप मे ही उल्लिखित है। ये हैं–1. वर्तिका, 2. भूमिबन्धन, 3. लेख्य अथवा लेप्य, 4. रेखाकर्माणि, 5 वर्णकर्म (कर्ण कर्म), 6 वर्त्तनाक्रम, 7. लेखन अथवा लेखकर्म और 8. द्विक कर्म-यह क्रम 'समरांगणसूत्रधार' मे बताया गया है।

1. 'वर्तिका' एक प्रकार का 'बरता' या पेंसिल होती है। इसको बनाने का प्रकार यह है कि या तो एक विशेष प्रकार की मिट्टी (जैसे पीली या काली) लेते हैं और उसका लकीरें खींचने मे प्रयोग करते हैं अथवा दीपक का काजल लेकर उसको चावल के चूर्ण या आटे मे मिलाते हैं और थोड़ा सा गीला करके पेंसिलो जैसी यष्टिका बना कर सुखा देते हैं। चावल के आटे के स्थान पर उबला हुआ चावल भी काम में लिया जा सकता है।

2. 'भूमिबन्धन' से तात्पर्य है चित्र या लेख का आधार स्थिर करना जैसे—दीवार,

1. विस्तृत विवरण के लिए देखिये—'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला', पृ० 119।
2. अंग्रेजी में इन्हें मिनिएचर (Miniature) कहते हैं।

मैनासत प्रसग का अन्तिम पत्र

काष्ठपट्टिका, कपड़ा, ताड़पत्र, भूर्जपत्र या रेशमी कपडा ग्रादि। लकड़ी के पटरे या ताड़-पत्र पर पहले सफेद रंग पोतते हैं। यही सफेद रंग चित्र में भी प्रयुक्त होता है।

3. 'लेख्य या लेप्य कर्म' द्वारा चित्र के लिए भूमि का लेपन या ग्रालेखन किया जाता है। जैसे जिन भागों में ग्रमुक रंग या भाई की पृष्ठभूमि तैयार करना है तो तदनु-कूल रंग को प्लास्टर की तरह लीपा या पोता जाता है। ग्रन्थ पर चित्र बनाने के लिए यह प्रक्रिया सदैव ग्रावश्यक नही होती, चित्र बनाते समय ही पृष्ठभूमि का रंग भी भर दिया जाता है। वृहदाकार भूमि पर चित्रित होने वाले चित्रों के लिए ही इसकी ग्रावश्यकता होती है।

4. 'रेखाकर्म'–फिर, कूंची से रेखाएँ खींचकर चित्र का प्रारूप बनाया जाता है जिसको खाका कह सकते है।

5. इसके बाद ग्रर्थात् जब खाका पूर्णतया तैयार हो जाता है तो रंग भरने का काम ग्रारम्भ होता है। इसको 'वर्णकर्म' कहते है। प्राचीन चित्रकार प्रायः सफेद, पीला, नीला, लाल, काला, ग्रौर हरा रंग काम मे लेते थे। सफेद रंग शंख की राख से बनाया जाता था। पीला रग हरताल से बनता था ग्रौर इसका प्रयोग शरीरावयव-सरचना तथा देवताग्रो के मुखमण्डन के लिए किया जाता था। पूर्वी भारत ग्रौर नेपाल की चित्रकारियां मे ऐसे प्रयोग खूब मिलते है। नीला रंग बनाने मे नील काम मे ली जाती है। यह प्रयोग भारत मे सर्वत्र ग्रौर सभी कालो मे होता रहा है। लाल रग के लिए ग्रालक्तक, लाक्षारस ग्रौर गैरिक (गेरू) तथा दरद का प्रयोग होता था। काले रग की तैयारी मे कज्जल की प्रधानता थी।

हरा रग मिश्र वर्ण कहलाता है। इसको बनाने के लिए नीले ग्रौर पीले रंगों को बहुत सावधानी से मिलाना होता है, फिर, छाया की मध्यमता ग्रथवा उज्ज्वलता को न्यूनाधिक करने के लिए सफेद रग भी मिलाया जाता है। प्राचीन भारतीय चित्रो मे हरे रग का प्रयोग कम ही किया जाता था। मुस्लिम-काल मे इसका चलन ग्रधिक हुग्रा है परन्तु देखा गया है कि नील ग्रौर हरताल के मिश्रण के कारण यह रग कागज को जल्दी ही क्षति पहुचाता है। कितने ही प्राचीन चित्रो मे जहां हाशिये की जगह हरा रग लगाया गया है वहां से कागज जीर्ण होकर गल गया है ग्रौर बीच का चौखटा बच गया है।

'शिल्परत्न' ग्रौर 'मानसोल्लास' मे रंगो के विषय मे विस्तार से लिखा गया है। बताया गया है कि कपित्थ ग्रौर नीम भी रग बनाने मे प्रयुक्त होते थे।

6 विस्तार ग्रौर गोलाई प्रदर्शित करने के लिए रगो मे जो हल्कापन ग्रौर गहरा-पन देकर स्पष्ट मीमोल्लेखन किया जाता है उसको 'वर्तनाक्रम' कहते है। इसमे वर्त्तनी ग्रर्थात् कूंची के प्रयोग की सूक्ष्मता का चमत्कार प्रधान होता है। 'विष्णु धर्मोत्तरपुराण' मे 'वर्त्तनाक्रम' का विवरण द्रष्टव्य है।

7. चित्र में ग्रन्तिम निश्चयात्मक रेखांकन को लेखन ग्रथवा 'लेखकर्म' कहते हैं। मूल चित्र से भिन्न रंग में जो चौहद्दी बनाई जाती है वह भी इसी में सम्मिलित है।

8. कभी-कभी मूल रेखा को ग्रधिक स्पष्ट बनाने के लिए उसको दोहरा बना दिया जाता है–यह 'द्विककर्म' कहलाता है।

ग्रन्थ-रचना के काम के अन्य उपकरण : रेखापाटी या समासपाटी और कांबी

'रेखापाटी' का विवरण ओझाजी ने भारतीय प्राचीन लिपिमाला में दिया है। लकड़ी की पट्टी पर या पट्ठे पर डोरियाँ लपेट कर और उन्हें स्थिर कर समानान्तर रेखाएं बनाली जाती है। इस पर लिप्यासन या कागज रख कर दबाने से समानान्तर रेखाओं के चिह्न उभर आते हैं। इस प्रकार पाडुलिपि लिखने में रेखाए समानान्तर रहती हैं।[1]

यही काम काबी या कंबिका से लिया जाता है। यह लकडी की पटरी जैसी होती है। इसकी सहायता से कागज पर रेखाएं खीची जाती थी।[2] कांबी का एक अन्य उपयोग होता था। पुस्तक पढ़ते समय हाथ फेरने से पुस्तक खराब न हो, इस निमित्त कांबी (सं॰ कंबिका) का उपयोग किया जाता था। इसे पढते समय अक्षरों की रेखाओ के सहारे रखते थे, और उस पर उंगली रख कर शब्दो को बताते जाते थे। यह सामान्यतः बाँस की चपटी चिप्पट होती थी। यों यह हाथी दांत, अकीक, चन्दन, शीशम, शाल वगैरह की भी बनाली जाती थी।[3]

डोरा : डोरी

ताडपत्र के ग्रन्थो के पन्ने अस्तव्यस्त न हो जाय इसलिए एक विधि का उपयोग किया जाता था। ताडपत्रों की लम्बाई के बीचोंबीच ताड़पत्रो को छेद कर एक डोरा नीचे से ऊपर तक पिरो दिया जाता था। इस डोरे से सभी पत्र नत्थी होकर यथास्थान रहते थे। लेखक प्रत्येक पन्ने के बीच में एक स्थान कोरा छोड देता था। यह स्थान डोरे के छेद के लिए ही छोड़ा जाता था। ताडपत्रो के इस कोरे स्थान पर की आवृत्ति हमे कागजो पर लिखे ग्रन्थों में भी मिलती है। अब यह लकीर पीटने के समान है, अनावश्यक है। हाँ, लेखक का कुछ कौशल अवश्य लक्षित होता है कि वह इस विधि से लिखता है वह स्थान छूटा हुआ भी सुन्दर लगता है।

ग्रन्थि

डोरी से ग्रन्थ या पुस्तक के पन्नों को सूत्र बद्ध करके इन डोरो को काष्ठ की उन पट्टिकाओ मे छेद करके निकाला जाता था, जो पुस्तक की लम्बाई-चौडाई के अनुसार काट कर ग्रन्थ के दोनों ओर लगाई जाती थीं। इनके ऊपर डोरियों को कस कर ग्रन्थि लगाई जाती थी।[4] यह प्राचीन प्रणाली है। हर्ष चरित मे सूत्रवेष्टनम् का उल्लेख मिलता है। इन डोरो को उक्त काष्ठपाटी मे से निकाल कर ग्रन्थि या गाँठ देने के लिए विशेष प्रणाली अपनाई गई – लकडी हाथीदाँत, नारियल के खोपडे का टुकडा लेकर उसे गोल चिपटी चकरी

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ॰ 157।
2. वही पृ॰ 158।
3. भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ॰ 19।
4. (93) Wooden covers, cut according to the size of the sheets, were placed on the Bhurja and Palm leaves, which had been drawn on strings, and this is still the custom even with the paper MSS. In Southern India the covers are mostly pierced by holes, through which the long strings are passed. The latter are wound round the covers and knotted.

—Buhler, G.—Indian Palaeography, p. 147.

के रूप की बना लेते हैं, उसमें छेद कर उस डोर या डोरी की इस चकरी में से निकाल कर बाँधते हैं, यथार्थ में ये चकरियाँ ही ग्रन्थि या गाँठ कही जाती हैं ।[1]

हड़ताल

पुस्तक-लेखन में 'हड़ताल' फेरने का उल्लेख मिलता है । हड़ताल या हरताल का उपयोग हस्तलेखों में उन स्थलों या अंशों को मिटाने के लिए किया जाता था, जो गलत लिख लिये गये थे । 'हरताल' से पीली स्याही भी बनाई जाती है । हरताल फेर देने से वह गलत लिखावट पीले रंग के लेप से ढक जाती है । कभी-कभी हड़ताल के स्थान पर सफेदे का उपयोग किया जाता है ।

परकार

ओझाजी ने बताया है कि प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में कभी-कभी विषय की समाप्ति आदि पर स्याही से बने कमल मिलते हैं । वे परकारों से ही बनाये हुए मिलते हैं । वे इतने छोटे होते हैं कि उनके लिए जो परकार काम में आये होंगे वे बड़े सूक्ष्म मान के होने चाहिये ।[2]

☐ ☐ ☐

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 201 ।
2. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 157 ।

अध्याय 3

पाण्डुलिपि-प्राप्ति और तत्सम्बन्धित प्रयत्न : क्षेत्रीय अनुसन्धान

'पाण्डुलिपि-विज्ञान' सबसे पहले 'पांडुलिपि' को प्राप्त करने पर और इसी से सम्बन्धित अन्य आरम्भिक प्रयत्नों पर ध्यान देता है। इस विज्ञान की दृष्टि से यह समस्त प्रयत्न 'क्षेत्रीय अनुसंधान' के अन्तर्गत आता है।

क्षेत्र एवं प्रकार

पांडुलिपि-प्राप्ति के सामान्यत. दो क्षेत्र है—प्रथम पुस्तकालय, तथा द्वितीय निजी। पुस्तकालयो के तीन प्रकार मिलते हैं —एक धार्मिक, दूसरा राजकीय तथा तीसरा विद्यालयों के पुस्तकालयो का।

1. **धार्मिक पुस्तकालय**—ये धार्मिक मठो, मन्दिरो, बिहारो मे होते हैं।
2. **राजकीय पुस्तकालय**—राज्य के द्वारा स्थापित किये जाते है।
3. **विद्यालय पुस्तकालय** —इनका क्षेत्र विद्यालयो मे होता है।

पूर्वकाल मे यह विद्यालय पुस्तकालय धर्म या राज्य दोनो मे से किसी भी क्षेत्र मे या दोनों मे हो सकता था। आजकल इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है।

निजी क्षेत्र

भारत मे घर-घर मे ग्रन्थ-रत्नो को पुराने समय से धार्मिक प्रतिष्ठा मिली हुई थी। किसी के घर मे पाडुलिपियो का होना गर्व और गौरव की बात मानी जाती थी। इन पोथियो की पूजा भी की जाती थी। अत: बीसवी शती में ग्रथानुसधान करने पर घर-घर में हस्तलिखित ग्रथो के होने का पता चला। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने सन् 1900 ई० से जो खोज कराई उससे हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। राजस्थान मे भी यही स्थिति है। यहाँ तो निजी ग्रथागार काफी अच्छे हैं। डॉ० ओझाजी ने 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' मे अजमेर के सेठ कल्याणमल ढड्ढा के पुस्तकालय का उल्लेख किया है जिसमे मूल्यवान स्वर्ण और रजत मे लिखे ग्रंथ थे। यह पुस्तकालय निजी था।[1] बीकानेर मे श्री अगरचन्द नाहटा का निजी भण्डार काफी बडा है। यहाँ बिहार के 'खुदाबख्श पुस्तकालय' का उल्लेख भी करना होगा। यह खुदाबख्श का निजी पुस्तकालय था। खुदाबख्श को अपने पिता से उत्तराधिकार मे 1900 पांडुलिपियाँ मिली थी। खुदाबख्श ने इस सग्रह को और समृद्ध किया। 1891 में जब इसे सार्वजनिक पुस्तकालय का रूप दिया गया तब इसमें पांडुलिपियों की संख्या 6000 हो गई थी। सन् 1976 में इस पुस्तकालय में 12000

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 156।

पांडुलिपियाँ थीं, 50,000 मुद्रित ग्रन्थ थे। इसी प्रकार बिहार के ही भरतपुरा गाँव के श्री गोपाल नारायण सिंह का संग्रहालय भी पहले निजी ही था। सन् 1912 में इसे सार्वजनिक पुस्तकालय बनाया गया। इस समय इसमें 4000 पांडुलिपियाँ हैं, ऐसा बताया जाता है।

खोजकर्त्ता

हस्तलेखों की खोज करने वाले व्यक्ति पांडुलिपि-विज्ञान के क्षेत्र के अग्रदूत माने जा सकते हैं। पर, उन्होंने जिस समय से कार्य आरम्भ किया, उस समय भी दो कोटियों के व्यक्ति पांडुलिपियों के क्षेत्र में कार्य में संलग्न थे। एक कोटि के अन्तर्गत उच्चस्तरीय विद्वान् थे जो हस्तलिखित ग्रन्थों और ऐतिहासिक सामग्री की शोध में प्रवृत्त थे, जैसे—कर्नल टॉड, हॉर्नले, स्टेन कोनो, बेंडेल, टेसिटरी, आरेल स्टाइन, डॉ० ग्रियर्सन, महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री, काशी प्रसाद जायसवाल, मुनि पुण्यविजय जी, मुनि जिनविजय जी, डॉ० राहुल सांकृत्यायन, डॉ० रघुवीर, डॉ० भण्डारकर, श्री अगरचन्द नाहटा, डॉ० भोगीलाल साडेसरा, डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, भाष्कर रामचन्द्र भालेराव आदि। दूसरी कोटि उनकी है जिन्हें एजेण्ट अथवा खोजकर्त्ता कहा जा सकता है। ये किसी संस्था की ओर से इस कार्य के लिए नियुक्त थे।

इनमें से प्रथम कोटि का कार्य विशिष्ट प्रकृति का होता है, उसके अन्तर्गत उनको पांडुलिपि के मर्म और महत्त्व का तथा उसके योगदान का वैज्ञानिक प्रामाणिकता के आधार पर निर्णय करना होता है।

दूसरा वर्ग सामग्री एकत्र करता है। घर-घर जाता है और जहाँ भी जो सामग्री उसे मिलती है वह उसे या तो उपलब्ध करता है या फिर उसका विवरण या टीप ले लेता है। स्वयं वस्तु को या ग्रन्थ को प्राप्त करना तो बड़ी उपलब्धि है। पर उसका विवरण, टीप या प्रतिवेदन (रिपोर्ट) भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पुस्तक उपलब्ध हो जाने पर भी विवरण प्रस्तुत करना पहली आवश्यकता है। किन्तु इससे भी पहला चरण तो ग्रन्थ तक पहुँचना ही है।

अतः सबसे पहला प्रश्न यही है कि पांडुलिपियों का पता कैसे लगाया जाय? इसके लिए ग्रन्थ-खोजकर्त्ता में साधारण तत्पर बुद्धि होनी ही चाहिये, उसमें समाज-प्रिय या लोक-प्रिय होने के गुण होने चाहिये। उसमें विविध व्यक्तियों के मनोभावों को ताड़ने या समझने की बुद्धि भी होनी चाहिये जो साधारण बुद्धि का ही एक पक्ष है। फिर, उसके पास कोई ऐसा गुण (हुनर) भी होना चाहिये जिससे वह दूसरों की कृतज्ञता पा सके। जहाँ ग्रन्थों की टोह लगे वहाँ के लोगों का विश्वास पा सकने की क्षमता भी होना अपेक्षित है। विश्वास-पात्रता प्राप्त करने के लिए उस क्षेत्र में प्रभाव रखने वाले व्यक्तियों से परिचय-पत्र ले लेने चाहिये। ऐसे क्षेत्रों में मुखिया, पटवारी, जमींदार तथा पाठशाला के अध्यापक अपना-अपना प्रभाव रखते हैं। इन व्यक्तियों से मिलकर हम अच्छी तरह ग्रन्थों का पता भी लगा सकते हैं तथा सामग्री भी जुटा सकते हैं। ज्योतिष या हस्तरेखा-विज्ञान और वैद्यक की कुछ जानकारी ग्रन्थ-खोजकर्त्ता को सहायक सिद्ध हुई है। इनके कारण लोग उसकी ओर सहज रूप से आकृष्ट हो सकते हैं। इसी प्रकार पशु-चिकित्सा का कुछ ज्ञान हो तो क्षेत्रीय कार्य में उपयोगी होगा तथा दैनिक जीवन में काम आने वाली ऐसी अन्य चीजों को यदि वह जानता

है, जिनके न जानने से मनुष्य दुःखी रहते है तो वे उसकी सहायता करने के लिए सदा प्रस्तुत रहेंगे। व्युत्पन्न-मति और तत्परबुद्धि भी बडी सहायक सिद्ध हुई हैं।

काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के एक ग्रन्थ-खोजकर्त्ता मेरे मित्र थे। उनकी सफलता का एक बडा कारण यही था कि वे हस्तरेखा विज्ञान भी जानते थे और कुछ वैद्यक भी जानते थे। आकर्षक ढग से लच्छेदार रोचक बातें करना भी उन्हें आता था। यह भी एक बहुत बड़ा गुण है।

हस्तलिखित पुस्तको की खोज का ऊपर दिया गया विवरण यह बताता है कि पांडुलिपियो का सग्रह किसी संस्थान या किसी पाडुलिपि विभाग के लिए किया जा रहा है। ऊपर दी गई पद्धति से निजी सग्रहालय के लिए भी पाडुलिपियाँ प्राप्त की जा सकती है।

व्यवसायी माध्यम - कुछ व्यक्ति व्यवसाय के लिए, अपने लिए अर्थ-लाभ की दृष्टि से स्वय अनेक विधियो से जहाँ-तहाँ से ग्रन्थ प्राप्त करते हैं, मुफ्त मे या बहुत कम दामो मे खरीदकर वे सस्थाओं को और व्यक्तियो को अधिक दामो मे बेच देते है। राजस्थान मे राजाओ और सामन्तो की स्थिति बिगडने से उनके सग्रहो मे हस्तलेख इन व्यवसायियो ने प्राप्त किये ये। कभी-कभी ये ग्रन्थ ऐसे विद्वानो, कवियो और पण्डितो के घरो मे भी मिलते है जिनकी सतान उन ग्रन्थो का मूल्य नही समझती थी, या आर्थिक सकट मे पड गयी थी। व्यवसायी इनसे वे ग्रन्थ प्राप्त कर लेते है और सस्थानो को बेच देते है। ऐसे व्यवसायियो से भी ग्रंथ प्राप्त किये जा सकते है।

साभिप्राय खोज-- खोज के सामान्य रूपो की चर्चा की जा चुकी है। इनके तीन प्रकार बताये जा चुके है — 1 शौकियासंग्रह, जो प्राय निजी सग्रहालयो का रूप ले लेते है। खुदाबख्श पुस्तकालय का उल्लेख हम कर चुके हैं। 2 सस्था के निमित्त वेतनभोगी एजेण्ट द्वारा, जैसे-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने कराया। दान की भावना से भी ग्रन्थ मिले है। कुछ व्यक्तियो ने अपने निजी सग्रहालय भावी सुरक्षा की भावना से किसी प्रतिष्ठित सस्थान को भेट कर दिये है। 3 व्यवसायी के माध्यम से सग्रह।

सामान्य खोज तो होती है, पर कभी-कभी साभिप्राय खोज भी होती है। यह खोज किसी या किन्ही विशेष हस्तलेखो के लिए होती है। इन खोजो का इतिहास कभी-कभी बहुत रोचक होता है। साभिप्राय खोज की दृष्टि से पहले यह जानना अपेक्षित होता है कि जिस ग्रन्थ को आप चाहते है वह कहाँ है ? इसके लिए आप विविध संग्रहालयो मे जाकर सूचियाँ या आगारों का अवलोकन करते है, कुछ जानकारों से पूछते है। मुल्ला दाऊद कृत 'चन्दायन' को प्राप्त करने का इतिहास लें। आगरा विश्वविद्यालय के क० मु० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ ने आरम्भ मे ही निर्णय लिया कि 'चन्दायन' का सम्पादन किया जाय।

' यह सुझाव डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने दिया था। उनके सुझाव पर शिमला के राष्ट्रीय सग्रहालय को लिखा गया उसका कुछ अंश वही पर था। उसकी फोटोस्टेट प्रतियाँ मंगवायी गयी। विदित हुआ कि इसी ग्रन्थ के कुछ अश पाकिस्तान मे उनके लाहौर के राष्ट्रीय आगार मे हैं। उनसे भी फोटोस्टेट प्रतियां प्राप्त की गयी। और भी जहाँ-तहाँ संपर्क किये गये। तब जितने पृष्ठ मिले उन्हें ही सम्पादित किया गया। पर, यह आवश्यकता रही कि इसकी पूरी व्यवस्थित प्रति कहीं से प्राप्त की जाय। हिन्दी विद्यापीठ को तो वह प्राप्त नहीं हो सकी परन्तु डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त उसे प्राप्त कर सके। कैसे प्राप्त की,

इसका रोचक वृतान्त यहाँ दिया जाता है । इससे खोज के एक और मार्ग का निर्देश होता है ।

डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त ने एक भेंटवार्त्ता मे बताया कि 'चन्दायन' की उन्होंने जिस प्रकार खोज की उसे 'जासूसी' कहा जा सकता है ।[1]

डॉ० गुप्त को प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम मे चन्दायन के कुछ पृष्ठ मिले । उन पर भूमिका लिखने के लिए वे 'गार्सा द तासी' का 'हिंदुई साहित्य का इतिहास' के पन्ने पलट रहे थे कि उनका ध्यान उस उल्लेख की ओर आकर्षित हुआ जिसमें तासी ने बताया था कि ड्यूक ऑफ ससैक्स के पुस्तकालय मे हूरक और हदा की कहानी का सचित्र ग्रन्थ था । डॉ० गुप्त समझ गये कि यह हूरक हंदा 'लूरक या लोरिक' चन्दा ही हैं । यह उल्लेख तासी ने 1834 ई. मे किया था ।

डॉ० गुप्त जानते थे कि किसी बडे ड्यूक के मरने के बाद उसका पुस्तकालय बेचा गया होगा । उन्होंने यह भी अनुमान लगा लिया कि वह पुरानी पुस्तको के विक्रेताओ ने खरीदा होगा और फुटकर बिक्री की गयी होगी ।

यह अनुमान कर उन्होने इण्डिया ऑफिस (लदन) ब्रिटिश म्यूजियम से प्राचीन पुस्तक विक्रेताओ द्वारा प्रकाशित सूची-पत्र प्राप्त किये । उनसे पता चला कि ससैक्स का पुस्तकालय लिली नाम के विक्रेता ने खरीदा था ।

आगे पता लगाया तो विदित हुआ कि लिली से अरबी-फारसी के ग्रन्थ इन भाषाओं के फ्रैंच विद्वान ग्लांड ने खरीदे ।

पता लगा कि ग्लाड मर चुके हैं, पुस्तकालय बिक चुका है ।

खोज आगे की । उनका सग्रह इग्लैण्ड के किसी अर्ल ने खरीदा था । अर्ल को पत्र लिखा । उत्तर देने वाले अर्ल ने बताया कि उनके पिताजी का सग्रह मेनचैस्टर विश्वविद्यालय के रिलैंड पुस्तकालय मे है ।

वहाँ वह पुस्तक डॉ० गुप्त को मिल गयी ।

इस विवरण से यह सिद्ध हुआ कि एक सूत्र को पकड़ कर अनुमान के सहारे आगे बढकर अन्य सूत्र तक पहुँचा जा सकता है, उससे अन्य सूत्र मिल सकते है- -तब अभीष्ट ग्रथ प्राप्त हो सकता है । किन्तु इसके लिए सूत्र मिलते जाने चाहिये । भारत मे ऐसे सूत्र आसानी से नहीं मिलते हैं ।

नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज-रिपोर्टों मे प्रत्येक हस्तलेख के मालिक का नाम दिया रहता है । पूरा पता भी रहता है । आज पत्र लिखने पर न तो कोई उत्तर आयेगा, और न आगे खोज करने पर ही कुछ पता चलेगा ।

किन्तु इस प्रकार की खोज मे सूत्र से सूत्र मिलाने मे भी कितने ही अनुमान और उनके आधार पर कितने ही प्रकार के प्रयत्नो की अपेक्षा रहती है । बडे धैर्यपूर्वक एक के बाद दूसरे अनुमान करके उनसे सूत्र मिलाने के प्रयत्न किये जाते है ।

निश्चय ही यह भी पुस्तक खोज का एक मार्ग है ।

ग्रन्थ शोधक को एक डायरी रखनी चाहिये । इसमें उसे अपने किये गये दैनंदिन

1. कादम्बिनी (मासिक प्रकाशन, जून 1975), निबन्ध : 'तस्करी के जाल में कला-कृतियाँ', प्रस्तोता : श्री रतीलाल शाहीन पृ० 44 ।

उद्योगों का पूरा विवरण देना चाहिये। उसमे ये बाते रहनी चाहिये : गाँव का परिचय, जिसके यहाँ ग्रन्थ मिलता है उस व्यक्ति का नाम, उसकी जाति, उसके माँ-बाप का परिचय, उसकी पीढ़ियो का संक्षिप्त इतिहास तथा यह सूचना भी कि वह ग्रथ उनके घर मे कब से है। इस प्रकार उस ग्रन्थ का उस घर मे आने और रहने का पूरा इतिहास उस डायरी मे सुरक्षित हो जाएगा। कितने ग्रन्थ आपको मिले और वह किस दशा मे थे, वेष्टनों मे लपेटे हुए रखे थे या यो ही ढेर मे पड़े थे ? यह उल्लेख करने की भी जरूरत है कि वे ग्रन्थपत्रो के रूप मे हैं या सिली पुस्तक के रूप मे। ग्रन्थकार या रचयिता का समस्त उपलब्ध परिचय दें। जिस व्यक्ति के पास वह ग्रन्थ है उस व्यक्ति से रचयिता के सम्बन्ध का पूरा परिचय भी दे। ग्रन्थ का लेखक कौन है ? यह ग्रन्थकार किस समय हुआ ? ग्रंथ और उसके लेखक के सबध मे कुछ किवदन्तियाँ प्रचलित हो तो उन्हे भी डायरी मे लिख लेना चाहिये।

अब पहला प्रयत्न तो यह करना चाहिए कि जिन ग्रन्थो का पता लगा है, उन्हे प्राप्त कर लिया जाय। यदि आपको ग्रन्थ भेट मे या दान मे मिल जाते है तो बहुत अच्छा है, किन्तु यदि मूल्य से भी प्राप्त हो जाते है तो भी सफलता मे चार चाँद लग माने जाते है। किसी पांडुलिपि का मूल्य निर्धारण करना कठिन कार्य है। जिन क्षेत्रो मे पाडुलिपियो के महत्त्व के विषय मे चेतना नही है वहा से नाममात्र का मूल्य देकर पुस्तकें/पाडुलिपियाँ प्राप्त की गयी है किन्तु जिस क्षेत्र मे यह चेतना आ गया है, वहाँ तो ग्रन्थ के महत्त्व का मूल्याकन कर ही मूल्य निर्धारित करना पड़ेगा। ग्रन्थ का महत्त्व उसके रचना-काल, उसम वर्णित विषय की उत्कृष्टता, उसकी लेखा-प्रणाली का वैशिष्ट्य, उसमे दिय चित्र तथा सज्जा की कला आदि अनेक बातो पर निर्भर करता है।

मूल्य देकर प्राप्त या भेट / दान मे प्राप्त ग्रन्थो के सम्बन्ध मे विक्रेता या दाता से प्रमाण-पत्र लेना भी अत्यन्त आवश्यक है। इसमे विक्रेता या दाता यही लिखेगा कि यह ग्रन्थ उसकी अपनी सम्पत्ति है और उसे उसके हस्तान्तरण का अधिकार है। यदि ग्रन्थ का स्वामित्व न मिल पाये तो भी ग्रन्थ का विवरण अवश्य ले लेना चाहिये।

विवरण लेना

यदि ग्रन्थ घर ले जाने के लिए न मिले तो समय निकाल कर ग्रन्थ के मालिक के घर पर ही उसकी टीप ले लें। साधारण परिचय मे सबसे पहले उस ग्रन्थ के आकार-प्रकार का भी परिचय दे। इसके बाद आप देखे कि वह कितने पृष्ठ का है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई और हाशिया कितना और कैसा है ? हाशिया दोनो ओर कितना छूटा हुआ है और मुख्य लिखावट कितने भाग मे है। यह नाप कर हमे लिख देने की आवश्यकता है। उसमे कुल कितने पृष्ठ है और उनमे से सभी पृष्ठ है या कुछ खो गये है, पूरी पुस्तक मे पृष्ठ कहाँ-कहाँ कटे-फटे होने से हमे सहायता नही पहुँचाते, छन्दो की सख्या कितनी है, किसी छन्द का क्रम भग तो नही है, अध्याय के अनुसार तो छन्द नही बदले गये है ? एक पूरे पृष्ठ मे कितनी पंक्तियाँ है ? इस तरह हरेक पृष्ठ की पंक्तियाँ गिनना जरूरी है। यह भी देखना होगा कि उसका कागज किस प्रकार का है।

यहाँ तक ग्रन्थ का बाहरी परिचय पाने का प्रयत्न हुआ।

अब हम ग्रन्थ के अन्तरग की ओर चलते है। इसमे तीन बाते देखनी चाहिये, पहली बात तो यह देखनी होगी कि आरम्भ मे ग्रन्थकार ने क्या किसी देवता या राजा की

स्तुति की है, अपने गुरु की स्तुति की है ? फिर क्या अपना तथा अपने कुटुम्ब का परिचय दिया है और क्या रचना का रचनाकाल दिया है ? कहीं-कहीं ये बातें ग्रन्थ के अन्त मे होती हैं । यह 'पुष्पिका' कहलाती है । प्रायः ग्रन्थ के अन्त मे अनुक्रमणिका भी होती है, और श्लोक संख्या दे दी जाती है । इनकी टीप लेना भी आवश्यक है ।

जो हस्तलिखित ग्रन्थ आपको उपलब्ध हुए हैं यदि उनमे से कुछ ऐसे हैं जो छप चुके हैं तो भी उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये । वे बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकते हैं । कभी-कभी उनमे भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अनोखी चीजें मिलने की सम्भावना रहती है । वे पाठालोचन मे उपयोगी हो सकते हैं । अब यह देखना चाहिये कि उस ग्रन्थ की भाषा किस प्रकार की है । उसमें कितने प्रकार के कितने छन्द हैं और कौन-कौन से विषय ग्रन्थ मे आए हैं, उन विषयों का ग्रथ में किस प्रकार उल्लेख किया गया है ? पांडुलिपियों में साधारणतः तिथियाँ खास ढंग से दी हुई होती हैं । बहुधा ये तिथियाँ और संवत् 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार उलटे पढ़े जाते हैं । फिर यह देखना चाहिये कि उस ग्रंथ की शैली क्या है ? उसमे स्फुटपद हैं अथवा वह प्रबन्धकाव्य है, आदि से अन्त तक समस्त ग्रंथ छंद मे ही लिखा गया है या बीच-बीच में गद्य भी सम्मिलित है, गद्य किस अभिप्राय से किस रूप मे आया है, इन बातों का भी टीप मे विवरण दिया जाना चाहिये ।

विवरण प्रस्तुत करने का स्वरूप

इस प्रकार ग्रन्थ तक पहुँच कर और उससे कुछ परिचित होकर पहली आवश्यकता होती है कि उसका व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया जाय । यहाँ हम कुछ विवरण उद्धृत कर रहे है, जिनसे उनके वैज्ञानिक या व्यवस्थित स्वरूप की स्थापना मे सहायता मिल सकती है ।

उदाहरण : कुब्जिकामतम् का

1898–99 में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल के तत्त्वावधान मे नेपाल राज्य के दरबार पुस्तकालय के ग्रन्थो का अवलोकन किया और उन ग्रन्थो का विवरण प्रस्तुत किया । उनमे से एक ग्रन्थ 'कुब्जिकामतम्' का विवरण यहाँ दिया जाता है ।[1]

(क) (29।कां) (ख) कुब्जिकामतम् (कुलालिकाम्नायान्तर्गतम्) (ग) $10 \times 1\frac{1}{4}$ inches, (घ) Folio, 152 (ङ) Lines 6 on a page (च) Extent 2,964 slokas, (छ) Character Newari, (ज) Date ; Newar Era 229. (झ) Appearence, Old (ञ) Verse.

BEGINNING ॐ नमो महाभैरवाय

सकर्ता मण्डलान्ते क्रमपदनिहितानन्दशक्तिः सुभीमा
अस्टक्षाद्य चतुष्कं अकुलकुलनत पंचक चान्यषट्कम् ।
चत्वारः पचकोऽन्यः पुनरपि चतुरस्तत्वतो मण्डलेदं
संस्टष्ट येन तस्मै नमत गुरुतरं भैरवं श्रीकुजेशम् ।।२।।

1. Sastri, H. P. — A Catalogue of Palm leaf and Selected Paper MSS belonging to the Durbar Library, Nepal.

श्री मरिमवतः पृष्ठे त्रिकूटशिखरानुगम्
सन्तानपुटमध्य स्यमनेका काररूपिणम् ।।
......................त्रिप्रकारस्तु त्रिशक्ति त्रिगुणोज्वलम्
चन्द्र सूर्यकृता..................स्वाह्नि देदीप्यवर्च्चसम् ।
....
कार्यकारणाभेदेन किंचित्कालमपेक्षया ।
तिष्ठते भैरवीशानं मौनमादाय निश्चलम् (?)
तत्र देवगणाः सर्वे सकिन्नरमहोरगा :
कुर्व्वन्ति कलकलाराव समागत्य समीपतः ।।
श्रुत्वा कलकलारावं को भवान् किमिहागतः
हिमवान् तु श्रसन्नात्मा गतोह्यन्वेषणं प्रति ।। इत्यादि ।।
नानेन रहिता सिद्धिर्मुक्तिर्नविद्यते ।
निराधारपद ह्य तत् तद्वेद परमंपदम् ।२।

COLOPHON इति कुलालिका माये श्रीमत् कुब्जिकामते समस्तस्थानावबोधश्चर्य्या
निर्देशो(२)नाम पर्चाविशतिमः पटल समाप्त । सवत् २९९ फाल्गुन कृष्णा ।

विषय : इति श्री कुलालिकान्भाये श्री कुब्जिकामते चन्द्रद्वीपावतारो नामः । १ पटल।

भ्रापयुयायै	कौमार्य्याधिकारी		नाम	।2।
मन्थानभेद	प्रचाररतिसंगमो		नाम	।3।
मन्त्रनिर्णयो	गह्वर	मालिन्यो	द्वारे	।4।
बृहत्समयोद्धार·	शब्दराशि	मालिनीतद्ग्रह	व्याप्ति निर्णय	।5।
जय	मुद्रानिर्णय			।6।
मंत्रोद्धारे	षडगविधाधिकारोनाम			।7।
स्वच्छन्दशिखाधिकारो			नाम	।8।
शिरवाकल्येक	देशो	(?)	नाम	।9।
देव्यासमयो	(?)	नाम	मन्त्रोच्चारे	।10।
षट्प्रकार	निर्णयो		नाम	।11।
षट्प्रकारधिकारवर्णनो			नाम	।12।
दक्षिणाषट्	कपटिज्ञानो		नाम	।13।
देवीदूती	निर्णयो		नाम	।14।
षट् प्रकारे	योगिनी		निर्णयः	।15।
षट् प्रकारे	महानन्द	मन्त्रको	नाम	।16।
पदद्वय	हैस	निर्णयो	नाम	।17।
चतुष्कस्य	पदभेदम्			।18।
चतुष्क	निर्णयो		नाम	।19

चन्द्र	द्वीपावतारो		नाम	।20।
द्वीपाम्नायो			नाम	।21।
समस्त	व्यस्तव्याधि	निर्णयो	नाम	।22।
त्रि:	कालभुत्	कान्ति	सम्बन्धः	।23।
तद्यंह्य	पूजा	विधि	पवित्रारोहणम्	।24।
समस्त	स्थानाबस्कंधश्चर्या	निर्देशो (?)	नाम	।25।

इसमें सबसे पहले (क) ग्रन्थ की पुस्तकालय-गत सख्या विदित होती है । यह ग्रन्थ-सन्दर्भ है । (ख) पुस्तक का नाम उसकी उप-व्याख्या के साथ है । उप-व्याख्या कोष्ठकों मे दी गई है ।

(ग) मे पुस्तक का आकार बताने के लिए पृष्ठ की लम्बाई 10 इच, चौड़ाई 1½ इंच बताई गई है । इसे संक्षेप मे यों 10"×1/1।2" बताया गया है । (घ) मे फोलियो या पृष्ठ सख्या बताई गई है । यह 152 है । (ङ) मे प्रत्येक पृष्ठ में पंक्ति सख्या बतायी गयी है । 6 पंक्ति प्रति पृष्ठ ।(च) मे ग्रन्थ परिमाण–कुल श्लोक सख्या 2964 बतायी गयी है । (छ) मे लिपि प्रकार है–लिपि प्रकार 'नेवारी लिपि' बताया गया है । (ज) मे तिथि का उल्लेख है-यह है नेवारी सवत् 299 (झ) मे 'रूप' का विवरण है-रूप मे यह प्रति प्राचीन लगती है । पद्यबद्ध है, यह बात (ञ) मे बतायी गयी है ।

इतनी सूचनाएँ देकर ग्रन्थ मे से पहले आरम्भ के कुछ पद्य उदाहरणार्थ दिये गये हैं । तब 'अन्त' के भी कुछ अश उदाहरणस्वरूप दिये गये हैं ।

यही पुष्पिका (Colophon) उद्धृत की गई है । यहाँ तक ग्रन्थ के रूप-विन्यास का आवश्यक विवरण दिया गया है । तब विषय का कुछ विशेष परिचय देने के लिए क्रमात् 'विषय सूची' दे दी गई है । प्रत्येक विषय के आगे दी गई सख्या परिच्छेदसूचक है ।

उदाहरण : डॉ. टेसीटरी के सर्वेक्षण से

अब एक उद्धरण डॉ० टेसीटरी के राजस्थानी ग्रन्थ सर्वेक्षण से दिया जाता है । एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल ने इन्हे 1914 मे सुपरिटेंडेन्ट 'बारडिक एण्ड हिस्टोरिकल सर्वे ऑव राजपूताना' बनाया । उनके ये ग्रन्थ-सर्वेक्षण 1917–18 के बीच मे सोसाइटी द्वारा प्रकाशित किये गये । इन्ही मे से 'गद्यभाग' के अन्तर्गत 'ग्रन्थांक 6' का विवरण 'परम्परा' मे डॉ० नारायणसिंह भाटी द्वारा किये गये अनुवाद के रूप में नीचे दिया जा रहा है :

ग्रन्थांक–6–नागौर के मामले री बात नै कविता[1]

गुटके के रूप मे एक छोटा-सा ग्रंथ, पत्र 132, आकार 5"×5⅛" पृ. 21 व 26 ब, 45ब–96ब, तथा 121 ब – 132 ब खाली हैं । लिखे हुए पन्नों में 13 से 27 अक्षरों वाली 7 से 16 तक पंक्तियाँ हैं । पृ० 100—125 पर साधारण (नौसिखिए के बनाए हुए) चित्र पानी के रगों मे 'रसूल रा दूहा' को चित्रित करने के लिए बनाए गए हैं (देखें नीचे घ)। ग्रन्थ कोई 250 वर्ष पुराना लिपिबद्ध है । पृ० 7 ब पर लिपिकाल सं० 1696 जेठ सुद 13 शनिवार और लेखक का नाम रघुनाथ दिया गया है । लिपि मारवाड़ी

1. 'परम्परा' (भाग 28-29), पृ० 25-26 ।

है और ड तथा ड मे भेद नही किया गया है। ग्रन्थ मे निम्न कृतियाँ है :

(क) परिहाँ दुहा वगेरे फुटकर वाता, पृ० 1 अ 11 ब
(ख) नागौर रै मामलै री कविता, पृ० 12 अ 21 अ।

इसमें तीन प्रशस्ति कविताएँ हैं—एक गीत एक झमाक तथा एक नीसाणी जिसका विषय करणसिह और नागौर के अमरसिंह की प्रतिस्पर्द्धा है, जिसका उद्धरण दूसरे अनुच्छेद में नीचे दिया गया है। इन कविताओ मे मुख्यतया बीकानेर के सेनाध्यक्ष मुहता वीरचन्द की वीरता का बखान किया गया है। गीत का रचयिता जगा है और झमाक का लेखक चारण देवराज बीकूपुरिया है। नीसाणी के लेखक का नाम नही दिया गया है।

तीन कविताओ की प्रारम्भिक पक्तियाँ क्रमश: निम्न प्रकार हैं :

गीत—दलाथम रूदरु भ………………आदि
झमाल—कैरव पांडव कलहीया………आदि
नीसांणी—अबरल दबी अघट सघर………आदि

(ग) नागौर रै मामलै री बात, पृ० 27 अ—45 ब।

जाखणिया ग्राम को लेकर बीकानेर और नागौर के बीच स० 1699–1700 के मध्य जो सघर्ष हुआ था उसका बडा बारीक और दिलचस्प वृतांत इसमे है। जबसे नागौर, जोधपुर के राजा गजसिह के पुत्र राव अमरसिंह को मनसब मे प्रदान किया गया, जाखणिया गाँव बीकानेर के महाराजा के अधिकार मे ही चला आता था परन्तु स० 1699 मे नागौरी लोगों ने जाखणिया ग्राम के आस-पास खेत बो दिये इससे झगड़े का सूत्रपात हुआ जिसका अन्त स० 1700 के युद्ध के बाद हुआ, जिसमे अमरसिंह की फौज को खदेड दिया गया और उसका सेनापति सिघवी सीहमल भाग खड़ा हुआ। युद्ध सम्बन्धी वृत्तान्त ठेठ अमरसिंह की मृत्यु तक चला है। यह छोटी-सी कृति बडे महत्त्व की है क्योकि इसमे अनेक बातो पर बारीकी से प्रकाश डाला गया है जो उस समय की सामन्ती जीवन-व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डालती है। इसका प्रारम्भ होता है —

बीकानेर महाराजा श्री करनीसिह जी रै राज ने नागौर राउ अमरसिह गजसिघौत रो राज सु नागौर बीकानेर रो कॉकड गाव (०) 1 जाषणीयो सु गाव बीकानेर रो हुतो ने नागौर रा कहे नु गाव माहरोद्धीवहीज असरचो हुतो………आदि।

अन्त इस प्रकार है—

इसडो काम मुहते रामचन्द नु फबीयो बडो नावं हुयो पातसाही माहे बदीतो हुवो इसडो बीकानेर काही कामदार हुयो न को हुसी। (घ) रसालू रा दूहा पृ० 99 व 115 ब। इसमे 33 दोहे है। प्रारम्भ—ऊँच (?) 3 महल्ल चवंदडी ॥2॥ यह दूसरे दोहे का चौथा चरण है और अन्तिम—राजा भोजु जुहारवै ॥31॥ (ङ) किवलास रा दूहा पृ० 116 अ—117 ब। इसमे 30 छन्द हैं। प्रारम्भ किणही सावण सयोग—आदि।

इस विवरण मे टेसीटरी महोदय ने सबसे पहले ग्रन्थ के आकार को हृदयगम कराने के लिए इसे गुटका बताया है। उसके आगे भी व्याख्या में 'छोटा-सा ग्रन्थ' कहा है। टेसीटरी महोदय ग्रन्थ की आकृति के साथ उसके वेष्टन आदि का भी उल्लेख कर देते हैं : यथा, ग्रथांक एक में पहली ही पंक्ति है "394 पत्रों का चमड़े की जिल्द में बँधा वृहदाकार ग्रन्थ"। ग्रंथाक 2 मे भी ऐसा ही उल्लेख है कि "कपड़े की जिल्द में बँधा 82 पत्रों का

सामान्य ग्रंथ" । तब पत्रों की संख्या बतायी है, '132' । पत्रों का आकार है 5" × 5।1।2" । इन 132 पत्रों में सामग्री का ठीक अनुमान बताने के लिए यह भी उल्लेख किया गया है कि कितने और कौन-कौन से पृष्ठ खाली हैं । फिर पंक्तियो की गिनती प्रति पृष्ठ तथा प्रत्येक पंक्ति में अक्षर का अनुमान भी बताया गया है कि इसमे 13 से 27 अक्षरो वाली 7 से 16 तक पंक्तियाँ हैं ।

पुस्तक चित्रित है । चित्र कितने हैं ? कैसे हैं ? और किस विषय के हैं, इनका विवरण भी दिया गया है—

चित्र कितने है ? 16
किन पृष्ठों पर है ? 'पृ० 100—115 तक' पर ।
कैसे हैं ? नौसिखिये के बनाये, पानी के रंगों के ।
विषय क्या है ? 'रसूल रा दूहा' को चित्रित करने वाले ।

फिर लिपिकाल का अनुमान दिया गया है :—

"कोई 250 वर्ष पुराना लिपिबद्ध ।"

यदि लेखक और लिपिकार का भी उल्लेख कही ग्रन्थ मे हुआ है तो उसका विवरण भी है —

कहाँ उल्लेख है ? पृ० 7 ब पर
लिपिकाल क्या है ? स० 1696, जेठ सुद 13, शनिवार
लिपिकार का नाम क्या है ? रघुनाथ

लिपि की प्रकृति भी बतायी गयी है—लिपि मारवाडी । एक वैशिष्ट्य भी बताया है कि 'ड' तथा 'ड' मे अन्तर नही किया गया । तब ग्रन्थ के विषय का परिचय दिया गया है ।

कुछ और उदाहरण लें .

अन्य उदाहरण : पृथ्वीराज रासौ

(क) प्रति स० 5 (ख) साइज 10 × 11 इंच (ग) 1–पुस्तकाकार, (ग) 2–अपूर्ण, और (ग) 3–बहुत बुरी दशा मे है । (घ) इसके आदि के 25 और अन्त के कई पन्ने गायब हैं जिसमे आदि–पर्व के प्रारम्भ के 67 रूपक और अन्तिम प्रस्ताव (बाण वेध सम्यौ) के 66वें श्लोक के बाद का समस्त भाग जाता रहा है । इस समय इस प्रति के 786 (26–812) पन्ने मौजूद है । बीच मे स्थान-स्थान पर पन्ने कोरे रखे गये हैं जिनकी सख्या कुल मिलाकर 25 होती है । प्रारम्भ के 25 पन्नों के नष्ट हो जाने से इस बात का अनुमान तो लगाया जा सकता है कि अन्त के भी इतने ही पन्ने गायब हुए है । (ङ) 1–पर अन्त के इन 25 पन्नों मे कौन-कौनसे प्रस्ताव लिखे हुए थे, इनमें कितने पन्ने खाली थे, इस प्रति को लिखवाने का काम कब पूरा हुआ था और (ङ) 2–यह किसके लिए लिखी गई थी ? इत्यादि बातों को जानने का इन पन्नो के गायब हो जाने से अब कोई साधन नहीं है । लेकिन प्रति एक-दो वर्ष के अल्पकाल मे लिखी गई हो, ऐसा प्रतीत नही होता, क्योंकि (च) इसमे नौ-दस तरह की लिखावट है और (छ) प्रस्तावो का भी कोई निश्चित क्रम नहीं है । ज्ञात होता है, रासौ के भिन्न-भिन्न प्रस्ताव जिस क्रम से और जब-जब भी हस्तगत हुए वे उसी क्रम से इसमे लिख लिये गये हैं । (ज) 'ससिव्रता सम्यौ',

'सलष युद्ध सम्य' और 'अनंगपाल सम्यौं' के नीचे उनका लेखन-काल भी दिया हुआ है। ये प्रस्ताव क्रमशः सं० 1770, सं. 1772 और स. 1773 के लिखे हुए हैं, लेकिन 'चित्ररेखा', 'दुर्गाकेदार' आदि दो एक प्रस्ताव इसमें ऐसे भी हैं जो कागज आदि को देखते हुए इनसे 25–30 वर्ष पहले के लिखे हुए दिखाई पडते हैं। साथ ही, 'लोहाना अजान बाहु सम्यौ' स्पष्ट ही सं० 1800 के आस-पास का लिखा हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि रासौ की यह एक ऐसी प्रति है जिसको तैयार करने मे अनुमानतः 60 वर्ष (सं. 1740–1800) का समय लगा है।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के हाथ की लिखावट होने से प्रति के सभी पृष्ठों पर पंक्तियो और अक्षरों का परिमाण भी एकसा नही है। किसी पृष्ठ पर 13 पंक्तियाँ, किसी पर 15, किसी पर 25 और किसी-किसी पर 27 तक पंक्तियाँ हैं। लिखावट प्राय: सभी लिपिकारो की सुन्दर और सुपाठ्य हैं। पाठ भी अधिकतर शुद्ध ही है। दो एक लिपिकारों ने संयुक्ताक्षरो मे लिखने मे असावधानी की है और ख्व, ग्ग, त्त इत्यादि के स्थान पर क्रमशः ख, ग, त आदि लिख दिया है, जिससे कही-कही छदोभग दिखाई देता है। पर ऐसे स्थान बहुत अधिक नही है। इसमे 67 प्रस्ताव है। उपरोक्त प्रति सं० 2 के मुकाबले मे इसमे तीन प्रस्ताव (विवाह सम्यौं, 'पद्मावती सम्यो और रेणसी सम्यों) कम और एक (समरसी दिल्ली सहाय सम्यौ) अधिक है।

इस प्रति में से 'ससिव्रता सम्यौ' का थोडा-सा भाग हम यहाँ देते हैं। यह सम्यौ, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, स० 1770 का लिखा हुआ है —

दूहा

आदि कथा शशिवृत की कहत अब समूल।
दिल्लो वै पतिसाह ग्रहि कहि लहि उनमूल ॥१॥

अरिल्ल

ग्रीषम ऋतु क्रीडन सुराजन। पिति उकलत थेह नभ छाजन॥
विषम बाय तप्पित तनु भाजन। लागी शीत सुमीर सुराजन॥

कवित्त

लागी शीत कल मंद नीर निकट सुरजत पट।
अमित सुरंग सुगंध तनह उबटंत रजत पट।
मलय चन्द मल्लिका धाम धारा–ग्रह सुवर।
रजि विपिन वाटिका शीत द्रुम छांह रजततर॥
कुमकुमा अग उबटत अधि मधि केसरि घनसार धनि।
कीलंत राज ग्रीषम सुरिति आगम पावस तईय भनि॥

इसकी प्रति मेवाड़ के प्रसिद्ध कवि राव बख्तावर जी के पौत्र श्री मोहनसिंह जी राव के पास है।[1]

1. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग), पृ० 64–65।

इस विवरण में 'क' के द्वारा तो ग्रन्थ का क्रमांक दिया गया है ।

(ख) मे आकार या साइज दी गई है—10 इंच चौड़ी × 11 इंच लम्बी

(ग) में विशिष्ट आकार बताया गया है—इसमें पहले तो यह उल्लेख है कि यह पुस्तकाकार है । पुस्तकाकार से अभिप्राय है कि सिली हुई पुस्तक है, पत्राकार नही कि जिसमे पत्र अलग-अलग रहते है ।' फिर, कुछ अन्तरंग परिचय दिया है कि पुस्तक अपूर्ण है । फिर ऊपरी दशा बताई गई है । 'बहुत बुरी दशा' । दशा का यह वर्णन लेखक ने अपनी रुचि के रूप में किया है । 'बुरी दशा की व्याख्या नही दी है ।

(घ) मे आन्तरिक विवरण है— पहले इसका स्थूल पक्ष है । इस स्थूल पक्ष में 'पन्नो' की दशा' बताई गई है । इसमे जिन बातो का उल्लेख किया जाता है वे हैं : पन्ने गायब है क्या ? कितने और कहाँ-कहाँ से गायब है ? क्या कुछ पन्ने कोरे छोड दिये गये हैं ? कितने और कहाँ पन्ने कोरे छोडे गये है ? अब कुल कितने पन्ने ग्रन्थ मे हैं ? क्या पन्ने की ऐसी दशा से ग्रन्थ की वस्तु को ग्रहण करने मे कुछ बाधा पडी है ?

यह अन्तिम प्रश्न स्थूल पक्ष से सम्बन्धित नही है । यह तो अन्तरंग पक्ष अर्थात् ग्रन्थ की वस्तु से सम्बन्धित है । वस्तुत: यह स्थूल और अन्तरग को जोडने का प्रयत्न भी करता है । इसी दृष्टि से यह प्रश्न भी यहाँ दिया गया है ।

(ङ) अब अन्तरग पक्ष मे निम्नलिखित बातो की जानकारी दी गई है : पहली बात तो यही बतायी गयी है कि पन्नो के गायब हो जाने या नष्ट हो जाने का क्या प्रभाव पडा है ? यह सूचना दी जाती है कि 'इन पृष्ठो मे क्या था अब नही बताया जा सकता. अन्य आवश्यक सूचनाएँ भी नही मिल सकती ।'

(च) अन्तरग पक्ष मे ही यह जानकारी अपेक्षित होती है कि पुस्तक में एक ही लिखावट है या कई लिखावटे है ।

(छ) क्या अध्याय-क्रम ठीक है, या अस्तव्यस्त और अक्रम (रासौ मे अध्याय को 'प्रस्ताव' या 'सम्यौ' का नाम दिया गया है ।)

(ज) ग्रन्थ मे लिपिकाल की सूचनाएँ या अन्य सूचनाएँ क्या-क्या है ?

ये सभी बाते आन्तरिक विवरण के अन्तरग पक्ष से सम्बन्धित है । विवरण-लेखक उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुमानाश्रित अपने निष्कर्ष भी दे सकता है ।

एक और विवरण ले :

उदाहरण : रुक्मिणी मंगल

327-रुक्मिणी मगल, पदम भगत कृत ।

(क) प्रत्येक राग-रागिनी के अन्तर्गत आए छन्दो की संख्या पृथक्-पृथक् है ।

(ख) पत्र संख्या–83 है ।

(ग) अपेक्षाकृत मोटे देशी कागज पर है ।

(घ) आकार 11 × 5·5 इंच का है ।

(ङ) हाशिया—दाएँ—एक इंच, बाँए–एक इंच है ।

(च) पक्ति—प्रति पृष्ठ 10 पंक्तियाँ है ।
(छ) अक्षर—प्रति पक्ति 26–30 तक अक्षर हैं ।
(ज) लिपि-पाठ्य है, किन्तु बीच मे कई पन्नो के आपस मे चिपक जाने से कहीं-कहीं अपाठ्य है ।
(झ) श्री साहबरामजी द्वारा
(ञ) यह प्रति सं० 1935 में लिपिबद्ध की गयी ।
(ट) प्राप्ति स्थान—लोहावट साथरी है ।
(ठ) आदि का अंश—"श्री विष्ण जी श्री रामचन्द्र जी नम"
(ड) अथ श्री प्रदमईया कृत
(ढ) रुकमणी मंगल लिषतं :
(ण) दोहा — ससार सागर अथाग जल ।। सूझत वार न पार ।।
गुर गोबिन्द कृपा करो ।। गाँवाँ मगल चार ।।१।।"
(त) अन्त का अश— जो मगल कूं सुन गाय गुन है बाजें अधिक बजायें
पूरण ब्रिह्म पदम के स्वामी मुक्त भक्त फल पाय । 5।।192
(थ) ईती श्री पदमईया कृत रुकमणी मगल सम्पूर्ण
(थ) 1—संमत् 1935 रा वृष मीती भाद्रवाद्व 4 वार आदितवारे लीपीकृत
(थ) 2—शाध श्री 108 श्री महंतजी श्री आतमारामजी का मिष शायबरामेण
(थ) 3—गाँव फीटकासणी मेधे
(थ) 3–1 विष्णुजी के मीदर मे
(थ) 4 – जीसी प्रती देषी (प्रति) तसी लिषी मम दोम न दीजीये—
(थ) 4- 1हाथ पाव कर कुबडी मुष अरु नीचें नैन । ईन कष्टाँ पोथी लीपी तुम नीके राषीयो सेन ।
(द) सुभमस्तु कल्याणमस्तु विष्णुजी । (भिन्न हस्तलिपि मे)
(ध) 1 - प्रती व्यावलो श्रीकिसन रुकमणी रो मगलाचार री पोथी साद गोंविददास विष्णु बैंईरागी की कोई उजर करण पावेंन्ही ।। साद रूपराम बिसनोइयाँ रा कना मु लीनो छै गाँव रामडावाम रा छै ।[1]

इसमे—
(क) मे कृतिकार का नाम दिया गया है ।
(ख) मे यह सूचना है कि राग-रागिनी में छन्द संख्या अलग-अलग है । (यह अन्तरग पक्ष है)
(ग) 'कागज' विषयक सूचना (आकार एव स्वरूप पक्ष से सम्बन्धित) मोटा देशी कागज । वस्तुत कागज या लिप्यासन की प्रकृति बताना बहुत आवश्यक है । कभी-कभी इससे काल-निर्धारण मे भी सहायता मिलती है, कागज के विविध प्रकारो का ज्ञान भी अपेक्षित है ।
(घ) मे आकार बताते हुए इंचों में लम्बाई-चौड़ाई बतायी गई है ।
(ङ) यह लेखन-सज्जा से सम्बन्धित है : हाशिये कैसे छोड़े गये हैं दाँये और बाँये दोनों ओर हाशिये हैं ;

1 माहेश्वरी, हीरालाल (डॉ०)—जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० 120 ।

(च) में प्रत्येक पृष्ठ में पंक्ति-संख्या का निर्देश है ।
(छ) में प्रति पंक्ति मे अक्षर-संख्या बतायी गयी है ।
(ज) में लिपि—इसमें सुपाठ्य या अपाठ्य की बात बतायी गई है । (लिपि का नाम नहीं दिया गया है । लिपि नागरी है ।)
(झ) में लिपिकार का नाम,
(ञ) मे लिपिबद्ध करने की तिथि,
(ट) में प्राप्ति-स्थान की सूचना है ।

आन्तरिक परिचय :

(ठ) में ग्रन्थ के 'आदि' से अवतरण दिया गया है । ग्रन्थारम्भ 'नमोकार' से होता है · इसमें सांप्रदायिक इष्ट को नमस्कार है ।
(ड) ग्रन्थ के आदि मे पुष्पिका है । इसमे रचनाकार और
(ढ) ग्रन्थ का नाम दिया गया है । तब
(ण) ग्रन्थ का प्रथम दोहा उद्धृत है, यह दोहा 'मंगलाचरण' है ।
(त) मे 'अन्त के अश का उद्धरण है, जिसमे ग्रन्थ की 'फल-श्रुति' है , यथा 'मुक्ति भक्ति फलपाया'
(थ) मे ग्रन्थ के अन्त की 'पुष्पिका' (Colophon) है । जिसमें 'इति' और सम्पूर्ण' से ग्रन्थ के अन्त और सम्पूर्ण होने की सूचना के साथ रचनाकार एव ग्रन्थ-नाम दिया गया है । तब (थ) 1–लिपिबद्ध करने की तिथि, (थ) 2–लिपिकार का परिचय, (थ) 3–मे लिपिबद्ध किये जाने के स्थान-गाँव का नाम है एवं (थ) 3–1उस गाँव में वह विशिष्ट स्थान (विष्णु मन्दिर) जहाँ बैठ कर लिखी गई । (थ) 4–लिपिकार की प्रतिज्ञा और दोषारोपण की वर्जना है । (थ) 4 1में पाठक एव सरक्षक से निवेदन है, इसका स्वरूप परम्परागत है ।
(द) आशीर्वचन ।
(ध) 1–भिन्न हस्तलिपि मे पुस्तक के मालिक की घोषणा ।

उदाहरण–एक पोथी

एक और ग्रन्थ के विवरण को उदाहरणार्थ यहाँ दिया जा रहा है । इस ग्रंथ का विवरण मे लेखक ने 'पोथी'[1] बताया है —

81 पोथी, जिल्दबधी (ब. प्रति) । यत्र-तत्र खण्डित । एकाध पत्र-अप्राप्य । अपेक्षाकृत मोटा देशी कागज । पत्र सख्या 152 । आकार 10 × 7 इच । हाशिया–दाएँ बाएँ : पौन इंच । तीन लिपिकारो द्वारा स० 1832 से 1839 तक लिपिबद्ध । लिपि, सामान्यत. पाठ्य । पंक्ति, प्रति पृष्ठ ।

(क) हरजी लिखित रचनाओं मे 23–29 तक पंक्तियाँ हैं ।
(ख) तुलछीदास लिखित सबदवाणी मे 31 पक्तियाँ हैं, तथा ।
(ग) ध्यानदास लिखित रचनाओं में 24–25 पंक्तियाँ हैं । अक्षर–प्रति-पंक्ति–क्रमशः (क) में 18 से 20 तक, (ख) में 24 से 25 तक तथा (ग) में 23 से 25 तक ।

1. माहेश्वरी, हीरालाल (डॉ०)—जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० 41–42 ।

गाँव 'मुकाम' के श्री बदरीराम थापन की प्रति होने से इसका नाम ब० प्रति रखा गया है। इसमें ये रचनाएँ हैं—

(क) औतार पात का बर्षांण, बील्होजी कृत । छन्द संख्या 140 ।
(ख) गूगलीयै की कथा, बील्होजी कृत । छन्द संख्या 86 । (प्रथम रचना का अन्तिम और दूसरी के आरम्भ का एक पन्ना भूल से शायद जिल्द बाँधते समय, 'कथा जैसलमेर की' के बीच में लग गया है।)
(ग) सच अषरी विगतावली, बील्होजी कृत । छन्द संख्या –48 ।
(घ) कथा दूणपुर की, बील्होजी कृत । छन्द संख्या–60 ।
(ङ) कथा जैसलमेर की, बील्होजी कृत । छन्द संख्या–89 ।
(च) कथा झोरड़ा की, बील्होजी कृत । छन्द संख्या–33 ।
(छ) कथा ऊदा अतली की, केसौजी कृत । छन्द संख्या–77 ।
(ज) कथा सैंसे जोषाणी की, कैसौदासजी कृत । छन्द संख्या–106 ।
(झ) कथा चीतोड की, कैसौदासजी कृत । छन्द संख्या-130 ।
(न) कथा पुल्हेजी की, बील्होजी कृत । छन्द संख्या–25 ।
(ट) कथा असकदर पातिसाह की, केसौदासजी कृत । छन्द संख्या–191 ।
(ठ) कथा बाल-लीला, कैसौदासजी कृत । छन्द संख्या–61 ।
(ड) कथा धमचारी तथा कथा-चेतन, सूरजनदास जी कृत । छन्द संख्या–115 ।
(ढ) ग्यांन महातम, सुरजनदासजी कृत । छन्द संख्या–199 ।

सभत् 1832 मिती जेठ बद 13 लिषते वणिबाल हरजी लिषावतं प्रतित रासाजी लालाजी का चेला पोथी गाँव जाषाणीया मझे लिषी छै सुभ मसतु कल्याण ।।

कथा चतुरदस मे लिषी अरज करू कर धारि ।
घट्य बधि अक्षर जो हुवैं । सन्तो ल्यौह सुधारि ।।1।।

(ण) पहलाद चिरत, कैसौदासजी कृत । छन्द संख्या–595 । (त) श्री वायक झांभैजी का (सबदवाणी) पद्य प्रसंग समेत । सबद संख्या-117 । आदि का अंश–श्री परमात्मनेनम श्री गणेमायनम । लिषते श्री वायक झांभैजी का ।।

काचै करवै जल रष्या । सबद जगाया दीप ।
वांमण कूं परचा दिया । अैसा अमा अचरज कीप ।।1।।
जो बूझ्या सोई कह्या । अलष लषाया भेव ।।
घोषा सवै गमाईया । जदि सबद कह्या झभदेव ।।2।।
शबद ।। गुर चीन्हो गुर चिन्ह पिरोहित । गुर मुष धरम बषाणीं ।।

अन्त का अंश भलीयाँ होइ त मल बुधि आवे । बुरिया बुरी कमावे ।।117।। संवत 1833।। तिथ तीज भादवो सुदि । सहर गोर मध्ये लिषते । वषत सागर तटे । लिषावतूं रासा प्रतीत भांभापंथी ।। शबद झांभैजी का सपूरण ।। लिषतेतूं तुलीछीदास ।। झांभापंथी केसोदास जी का चेला । केसोदास जी कालीपोस । बाबाजी नूर जी का सिष । नूरजी षेराजजी का सिष । षेराज जी जसांणी । आगे बाबा झांभाजी तांई पीढ़ी छै सू हम जाणत भी नाही । जिसी मुसाहिब जी की लिषति थी तिसी लिषी छै यथार्थ प्रिति

उतारी छै। ।सबद।। दोहा ।।कवित्। ग्ररिल जो कुछ था सोई ।।थ। कवत सुरजनजी रा कह्या, संख्या 329। समत् 1839 रा बैसाष मासे तिथौ 5 देवा गुरबारे लिषतं वैष्णव ।। ध्यांनदास दुगाली मध्ये जथा प्रति तथा लिषतं ।। बाचै विचारै तिणनु राम राम । (द) होम को पाठ (ध) ग्रादि बंसावली । (न) विवरस (प) कलस थापन (फ) पाहल । (ब) चौजुगी वीवाह की । (भ) पांहलि (पुन.) ग्रादि—श्री गणेसायनमः श्री सारदाय नमः श्री बिसनजी सत सही ।। लिषतुं ग्रौतार पात का बषांण ।।

दूहा ।। नवणि करूं गुर ग्रापणैं ।। नउ निरमल भाय ।

कर जोडे बंदूं चरण ।। सीस नवाय नवाय ।।1।।

ग्रन्त—मछ की पाहलि ।। कछ की पाहली ।। बारा की पाहली ।। नारिसिंघ की पाहलि ।। वांवन की पाहलि फरसराम की पाहलि राम लक्षमण की पाहलि । कंन की पाहलि बुध की पाहलि निकलकी पाहलि—।।

ऊपर कुछ ग्रन्थों के विवरण (Notices) उद्धृत किये गये हैं। साथ ही प्रत्येक विवरण मे ग्रायी बातों का भी संकेत हमने ग्रपनी टिप्पणियों में कर दिया है। उनके ग्राधार पर ग्रब हम ग्रन्थ के विवरण मे ग्रपेक्षित बातों को व्यवस्थित रूप मे यहाँ दे देना चाहते हैं: पांडुलिपि हाथ में ग्राने पर विवरण लेने की दृष्टि से इतनी बातें सामने ग्राती हैं :

(1) ग्रन्थ का 'ग्रतिरिक्त पक्ष'। इसमे ये बाते ग्रा सकती हैं :

ग्रन्थ का रख-रखाव · वेष्टन, पिटक, जिल्द, पटरी (कांबी), पुट्ठा, डोरी, ग्रन्थि । वेष्टन कैसा है ? सामान्य कागज का है, किसी कपडे का है, चमड़े का है या किसी ग्रन्य का ? वह पिटक, जिसमें ग्रन्थ सुरक्षा की दृष्टि से रखा गया है, काष्ठ का है या धातु का है। जिल्द–यदि ग्रन्थ जिल्दयुक्त है तो वह कैसी है । जिल्द किस वस्तु की है, इसका भी उल्लेख किया जा सकता है ।

ताड-पत्र की पाडुलिपि पर ग्रौर खुले पत्रो वाली पांडुलिपि पर ऊपर नीचे पटरियाँ या काष्ठ-पट्ट[1] लगाये जाते है, या पट्ठे (पुट्ठे) लगाये जाते हैं। इन्हें विशेष पारिभाषिक ग्रर्थ मे 'कबिका या कांबी' भी कहा जाता है । भा.जै.श्र.स. ग्रने लेखन कला मे बताया है कि 'ताड़-पत्रीय लिखित पुस्तकना रक्षण माटे तेनी ऊपर ग्रने नीचे लाकड़ानी चीपो-पाटीग्रो राखवामां ग्रावती तेनुं नाम 'कबिका' छे।[2] तो यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि क्या ये पट्टिकायें ग्रन्थ के दोनो ग्रोर हैं। इनके ऊपर डोरे मे ग्रन्थि लगाने की ग्रन्थियाँ (गोलाकार टुकडे जिनमे डोरे को पिरोकर पक्की गाँठ लगायी जाती है) भी है क्या ? ये किस वस्तु की है ? ग्रौर कैसे है ? क्या इन पर ग्रलकरण या चित्र भी बने हैं ? ग्रलंकार ग्रौर चित्र का विवरण भी दिया जाना चाहिये ।

(2) पुस्तक का स्वरूप—'ग्रतिरिक्त पक्ष' के बाद पांडुलिपि के 'स्वपक्ष' पर दृष्टि जाती है । इसमे भी दो पहलू होते हैं ।

1. भा० जै० श्र० सं० ग्रने लेखन कला में 'काष्ठ पट्टिका' उस लकडी की 'पट्टी' को बताया है जिस पर व्यवसायी लोग कच्चा हिसाब लिखते थे, और लेखकगण पुस्तक का कच्चा पाठ लिखते थे। बच्चों को लिखना सिखाने के लिए भी पट्टी काम ग्राती थी । यहाँ इस काष्ठ पट्टिका का उल्लेख नहीं है। यहाँ 'काष्ठ पट्टिका' से 'पटरी' ग्रभिप्रेत है, जो पांडुलिपि की रक्षार्थ ऊपर-नीचे लगायी जाती है।

2. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति ग्रने लेखन कला, पृ० 19 ।

पहला पहलू पुस्तक के सामान्य रूप-रंग-विषयक सूचना से सम्बन्धित होता है। पुस्तक देखने में सुन्दर है, अच्छी है, गन्दी है, बुरी है, मटमैली है, जर्जर है, जीर्ण-शीर्ण है, आदि। या भारी-भरकम है, मोटी है, पतली है। वस्तुतः इस रूप में पुस्तक का विवरण कोई अर्थ नहीं रखता, उपयोगी भी नहीं है। हाँ, यदि सुन्दर है या गन्दी है न लिख कर उसके बाह्य रूप-रंग का परिचय दे दिया जाय तो उसे ठीक माना जा सकता है, यथा, ग्रंथ का कागज गल गया है, उस पर स्याही के धब्बे है, चिकनाई के धब्बे, हल्दी के दाग है, रेत-मिट्टी, धुएँ आदि से धूमिल हैं, कीड़े-मकोड़ो ने, दीमक ने जहाँ-तहाँ खा लिया है, पानी मे भीगने से पुस्तक लिढ़ड हो गयी है, आदि।

पुस्तक के रूप का दूसरा पहलू है, 'आकार-सम्बन्धी'। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है, और सभी विवरणो मे इसका उल्लेख रहता है। इसमे ये बाते दी जाती हैं.

(क) पुस्तक का प्रकार : प्रकार नामक अध्याय मे इनकी विस्तृत चर्चा है। आजकल प्रकारो के जो नाम-विशेष प्रचलित है, वे डॉ० माहेश्वरी ने अपने ग्रन्थ मे दिये हैं, वे निम्नलिखित हैं :

1. पोथी—प्रायः बीच से सिली, आकार मे बडी।
2. गुटका—पोथी की भाँति, पर छोटा : 6 × 4·5 इंच के लगभग।
3. बहीनुमा पुस्तिका—21 × 4 25" इंच। अधिक लम्बी भी होती है।
4. पुस्तिका : आकार 7.5" × 5·25" के लगभग।
5. पोथा।
6. पत्रा (खुले पत्रों या पन्नों का)
7. पानावली (विशेष विवरण 'प्रकार' शीर्षक अध्याय मे देखिये)।

(ख) पुस्तक का कागज या लिप्यासन सामान्यतः लिप्यासन के दो स्थूल भेद किये गये हैं : (1) कठोर लिप्यासन-मिट्टी की ईंटें शिलाएँ, धातुएँ, आदि इस वर्ग मे आती हैं। चर्म, पत्र, छाल, वस्त्र, कागज आदि (2) कोमल माने जाते है। मिट्टी की ईंटे, शिला, धातु, चर्म, छाल, ताड-पत्र आदि मे से पत्र, पत्थर, धातु, चर्म, छाल, वस्त्र आदि के प्रकारो को तो 'जनक' कह सकते हैं। क्योंकि इनसे लिप्यासन जन्म लेते है। इनमे इनका प्रकृत रूप विद्यमान रहता है। उधर कागज पूरी तरह 'जनित' या मानव निर्मित है। यह विविध वस्तुओ से बनाया जाता है। कागज के भी कितने ही प्रकार होते है यथा-देशी कागज, सामान्य, मोटा, पतला, कुछ मोटा, मशीनी और ये विविध रगो के—भूरा, बादामी, पीला, नीला आदि। इस सम्बन्ध मे मुनि पुण्यविजय जी ने जो उल्लेख किया है वह ध्यातव्य है

"कागज ने माटे आपणा प्राचीन संस्कृत ग्रन्थामा कागद अने कद्गल शब्दो वपराग्रेला जोवा माँ आवे छे। जेम आजकाल जुदा जुदा देशों मे नाना मोटा, झीणा जाडा, सारा नरसा आदि अनेक जातना कागलो बने छे तेम जून जमाना थी माडी आज पर्यन्त आपणा देशना हरेक विभाग माँ अर्थात् काश्मीर, दिल्ली, बिहारना पटणा शाहाबाद आदि जिल्लाओं, कानपुर, घोसुंडा (मेवाड), अमदाबाद, खंभात, कागजपुरी (दौलताबाद पासे) आदि अनेक स्थलों मां पोत पोतानी खपत अने जरूरी आतना प्रमाणमां काश्मीरी, मुंगलीआ, अरवाल, साहेबखानी, अमदाबादी, खभाती, शणीआ, दौलताबादी आदि जात जातनो कागलो बनता हुता अने हजु पण घणे ठेकाणे बने छे, ते मांथी जेजे जे सारा, टकाऊ

अने माफक लाने ते नो ते मो पुस्तक लखवा माटे उपयोग करता" ।[1] इस पुस्तक में काश्मीरी कागज की बहुत प्रशंसा की है। यह कागज बहुत कोमल और मजबूत होता था। इस विवरण में मेवाड के घोसुन्दा के कागज का उल्लेख है, पर जयपुर में सांगानेर का सांगानेरी कागज भी बहुत विख्यात रहा है।

कागज के सम्बन्ध में श्री गोपाल नारायण बहुरा की नीचे दी हुई टिप्पणी भी ज्ञानवर्द्धक है :

"स्यालकोट अकबर के समय मे ही एक प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र बन गया था। वहाँ पर लिखने-पढने का काम खूब होता था और कागज व स्याही बनाने के उद्योग भी वहाँ पर बहुत अच्छे चलते थे। स्यालकोट का बना हुआ बढिया कागज 'मानसिंही कागज' के नाम से प्रसिद्ध था। यहाँ पर रेशमी कागज भी बनता था। इस स्थान के बने हुए कागज मजबूत, साफ और टिकाऊ होते थे। मुख्य नगर के बाहर तीन 'ढानियों' में यह उद्योग चलता था और यहाँ से देश के अन्य भागों मे भी कागज भेजा जाता था। दिल्ली के बादशाही दफ्तरो मे प्रायः यहाँ का बना हुआ कागज ही काम में आता था ।[2]

इसी प्रकार कश्मीर में भी कागज तो बनते ही थे, साथ ही वहाँ पर स्याही भी बहुत अच्छी बनती थी। कश्मीरी कागजों पर लिखे हुए ग्रन्थ बहुत बड़ी संख्या मे मिलते हैं। जिस प्रकार स्यालकोट कागज के लिए प्रसिद्ध था उसी तरह कश्मीर की स्याही भी नामी मानी जाती थी ।[3]

राजस्थान में भी मुगलकाल मे जगह-जगह कागज और स्याही बनाने के कारखाने थे। जयपुर, जोधपुर, भीलवाडा, गोगूंदा, बूंदी, बांदीकुई, टोडाभीम और सवाई माधोपुर आदि स्थानो पर अनेक परिवार इसी व्यवसाय से कुटुम्ब पालन करते थे। जयपुर और आस-पास के 55 कारखाने कागज बनाने के थे, इनमे सांगानेर सबसे अधिक प्रसिद्ध था और यहाँ का बना हुआ कागज ही सरकारी दफ्तरों मे प्रयोग में लाया जाता था। 200 से 300 वर्ष पुराना सांगानेरी कागज और उस पर लिखित स्याही के अक्षर कई बार ऐसे देखने मे आते हैं मानो आज ही लिखे गये हो ।

शहरों और करबों से दूरी पर स्थित गाँवो में प्राय बनिये और पटवारी लोगों के घरों व दूकानों पर 'पाठे और स्याही' मिलते थे। सांगानेरी मोटा कागज 'पाठा' कहलाता था, अब भी कहते है। 'पाठा' सम्भवत 'पत्र' का ही रूपान्तर हो। सेठ या पटवारी के यहाँ ही अधिकतर गाँव के लोगो का लिखा-पढी का काम होता था। कदाचित् कभी उनके यहाँ लेखन सामग्री न होती तो वह काम उस समय तक के लिए स्थगित कर दिया जाता जब तक कि शहर या ग्राम के बड़े कस्बे या गाँव से 'स्याही' पाठे' न आ जावे। तुकता या विवाह आदि के लिए जब सामान खरीदा जाता तो 'स्याही-पाठा' सबसे पहले खरीदा जाता था।"

तात्पर्य यह है कि जो हस्तलेख हाथ में आये उनके लिप्यासन की प्रकृति और प्रकार का ठीक-ठीक उल्लेख होना चाहिये ।

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 29-30।
2. Surcar, J. — Topography of the Mughal Empire, p 25.
3. Ibid, p. 112.

(ख) 1—कागज के प्रकार के साथ कागज के सम्बन्ध में ही कुछ अन्य बातें और दी जाती हैं :

1. कागज का रंग स्वाभाविक है या काल-प्रभाव से अस्वाभाविक हो गया है।
2. क्या कागज कुरकुरा (Brittle) हो गया है ?
3. कीड़ों-मकोड़ो या दीमको या चूहो से खा लिया गया है ? कहाँ-कहाँ, कितना ? इससे ग्रन्थ के महत्त्व को क्या और कितनी क्षति पहुँची है।
4. समस्त पांडुलिपि में क्या एक ही प्रकार का कागज है, या उसमें कई प्रकार के कागज हैं ?

इन अन्य बातो का अभिप्राय यह होता है कि कागज विषयक जो भी वैशिष्ट्य है वह विदित हो जाय।

(ख) 2—कागज से काल-निर्धारण मे भी सहायता मिल सकती है। इस दृष्टि से भी टीप देनी चाहिये।

(ग) पत्रों की लम्बाई-चौड़ाई- यह लम्बाई-चौडाई इचो में देने की परिपाटी 'लम्बाई इच × चौडाई इच' इस रूप मे देने मे सुविधा रहती है। अब तो सेंटीमीटर में देन का प्रचलन भी प्रारम्भ हो गया है।

3 पांडुलिपि का रूप-विधान

(क) पक्ति एव अक्षर परिमाण — सबसे पहले लिपि का उल्लेख होना चाहिये। देवनागरी है या अन्य ?[1] वह लिपि शुद्ध है या अशुद्ध ? पांडुलिपि के अन्तरग-रूप का यह एक पहलू है।

प्रत्येक पृष्ठ मे पक्तियो की गिनती दी जाती है, तथा प्रत्येक पक्ति मे अक्षर सख्या दी जाती है। इनकी औसत सख्या ही दी जाती है।[2] इससे सम्पूर्ण ग्रन्थ की सामग्री का अक्षर-परिमाण विदित हो जाता है।

सस्कृत ग्रन्थो मे 'अनुष्टुप' को एक श्लोक की इकाई मान कर श्लोक सख्या दे दी जाती थी। इस सबन्ध मे 'भा०जै०श्र०स० अने लेखन कला' से यह उद्धरण यहाँ देना समीचीन होगा :

"...... ए ग्रन्थनी श्लोक सख्या गणवा माटे कोईपण साधुने ए नकल आपवामा आवती अन ते साधु "बत्रीस अक्षरनो एक श्लोक" ए हिसाबे आखा ग्रन्थना अक्षरो गणीने श्लोक सख्या नक्की करता"।[3] बत्तीस अक्षर का एक अनुष्टुप श्लोक होता है : एक चरण में 8 अक्षर, पूरे चार चरणो मे $8 \times 4 = 32$ अक्षर। इस प्रकार गणना का मूलाधार अक्षर ही ठहरता है।

(ख) पत्रों की संख्या—पक्ति एव अक्षरो का विवरण देकर यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि पत्रो की पूर्ण सख्या भी दे दी जाय। यथा : टेसीटरी, '436 पत्रो का वृहदाकार

1. यथा-टेसीटरी "कुछ देवनागरी लिपि में और कुछ उस समय में प्रचलित मारवाडी लिपि मे लिपिबद्ध है।" परम्परा (28–29), पृ० 146।
2. यह पद्धति भी है कि कम से कम अक्षरो की संख्या और अधिक से अधिक अक्षरो की संख्या दे दी जाती है, यथा 23 से 25 तक।
3. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 106।

ग्रन्थ'। पत्रों की सख्या के साथ यह भी देखना होगा कि (क) पत्र-संख्या का क्रम ठीक है, कोई इधर-उधर तो नहीं हो गया है।

(ख) कोई पत्र या पन्ने कोरे छोड़े गये हैं क्या ?

(ग) उन पर पृष्ठांक कैसे पड़े हुए हैं ?

(घ) पन्ने व्यवस्थित हैं और एक माप के हैं या अस्त-व्यस्त और भिन्न-भिन्न मापों के हैं ?

विशेष 1. इसी के साथ यह बताना भी आवश्यक होता है कि लिखावट कैसी है-सुपाठ्य है, सामान्य है या कुपाठ्य है कि पढ़ी ही नहीं जाती। सुपाठ्य है तो सुष्ठु भी है या नहीं। लिपि सौष्ठव के सम्बन्ध में ये श्लोक आदर्श प्रस्तुत करते हैं :

"अक्षराणि समशीर्षाणि बर्तुलानि घनानि च।
परस्परमलग्नानि, यो लिखेद् स हि लेखक :।
समानि समशीर्षाणि, बर्तुलानि घनानि च।
मात्रासु प्रतिबद्धानि, यो जानाति स लेखक .।
"शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान्, शुभ श्रेणिगतान् समान्
अक्षरान् वै लिखेद् यस्तु, लेखकः स वर: स्मृतः।।"

यथा टेसीटरी "अनेक स्थानों पर पढा नहीं जाता क्योंकि खराब स्याही के प्रयोग के कारण पत्र आपस मे चिपक गये हैं।[1]

2. यह भी बताना होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ मे एक ही हाथ की लिखावट है या लिखावट-भेद है। लिखावट मे भेद यह सिद्ध करता है कि ग्रन्थ विभिन्न हाथो से लिखा गया है, यथा टेसीटरी : समय-समय पर अलग-अलग लेखकों के हाथ से लिपिबद्ध किया हुआ है।"[2]

(ग) अलंकरण--सज्जा एवं चित्र

(आ)सज्जा की दृष्टि से इन दोनो बातो की सूचना भी यही देनी होगी कि ग्रथ अलकरण-युक्त है या सचित्र है। अलकरण केवल सुन्दरता बढाने के लिए होते है, विषयो से उनका सम्बन्ध नहीं रहता। पशु-पक्षी, ज्यामितिक रेखाकन, लता-बेल एव फल-फूल की आकृतियो से ग्रन्थ सजाये जाते है। अत. यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि सजावट की शैली कैसी है। सजावट के विविध अभिप्रायों या मोटिफो का युग-प्रवृत्ति से भी सम्बन्ध रहता है, अतः इनसे काल-निर्धारण मे भी कुछ सहायता मिल सकती है। साथ ही, चित्रालकरण से देश और युग की सस्कृति पर भी प्रकाश पड सकता है। यह सिद्ध है कि मध्ययुग मे चित्रकला का स्वरूप ग्रन्थ-चित्रो (Miniatures) के द्वारा ही जान सकते है। जो भी हो, पहले अलंकरण से सजावट की स्थिति का ज्ञान कराया जाना चाहिये।

तब, ग्रन्थ-चित्रों का परिचय भी अपेक्षित है। क्या चित्र पुस्तक के विषय के अनुकूल है, क्या वे विषय के ठीक स्थल पर दिये गये हैं ? वे सख्या मे कितने है ? कला का स्तर कैसा है ?

1. परम्परा (28-29), पृ० 112।
2. वही, पृ० 112।

यह बात ध्यान में रखने की है कि चित्र-सज्जा के कारण पुस्तक का मूल्य बढ़ जाता है। ग्रन्थ के चित्रों का भी मूल्य अलग से लगता है।

(ग्रा) चित्रों की संख्या की ओर उसके कला-स्तर का उल्लेख करते हुए एक सम्भावना की ओर और ध्यान देना अपेक्षित है। कितनी ही पुस्तकों के चित्रों में एक विशेषता यह देखने को मिलती है कि चारों कोनों में से किसी एक में चतुर्भुज बना कर एक व्यक्ति का रूपांकन कर दिया गया है। इस व्यक्ति का चित्र के मूल कथ्य से कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। यह सिद्ध हो चुका है। यह चतुर्भुज में अंकित चित्र कृतिकार का होता है। अतः विवरण में यह सूचना भी देनी होगी कि पुस्तक में जो चित्र दिये गये हैं उनमें एक झरोखा-सा बना कर पुस्तक-लेखक का चित्र भी अंकित मिलता है क्या?

(ग) चित्रों में विविध रंगों के विधान पर भी टीप रहनी चाहिये। हाशिये छोड़ने और हाशिये की रेखाओं की सजावट का भी उल्लेख करें।

(घ) स्याही या मषी

स्याही का भी विवरण दिया जाना चाहिये :

1. कच्ची स्याही में लिखा गया है या पक्की में ? एक ही स्याही में सम्पूर्ण ग्रन्थ पूरा हुआ है अथवा दो या दो से अधिक स्याहियों का उपयोग किया गया है ? प्रायः काली और लाल स्याही का उपयोग होता है। लाल स्याही से दाँयें-बाँयें हाशिये की दो-दो रेखाएँ खींची जाती हैं। यह भी देखने में आया है कि ग्रन्थों में आरम्भ का नमोकार और "अथ ....ग्रन्थ लिख्यते" आदि शीर्षक लाल स्याही में लिखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक अध्याय के अन्त की पुष्पिका भी और ग्रन्थ-समाप्ति की पुष्पिका भी लाल स्याही से लिखी जाती है। पूरा ग्रन्थ काली स्याही में, उसके शीर्षक और पुष्पिकाएँ लाल स्याही में हों तो उसका उल्लेख भी विवरण में किया जाना उचित प्रतीत होता है। किन्हीं ग्रन्थों में ऐसे स्थलों पर लाल रंग फेर देते हैं, और उस पर काली स्याही से ही पुष्पिका आदि दी जाती है।

यह तो वे बातें हुईं जो पांडुलिपि के रूप का बाह्य और अन्तरंग रूप का ज्ञान कराती हैं।

4. अन्तरंग परिचय

इसके बाद विवरण या प्रतिवेदन (रिपोर्ट) में कुछ और आन्तरिक परिचय भी देना होता है। यह अन्तरंग परिचय भी स्थूल ही होता है। इस परिचय में निम्नांकित बातें बताई जाती हैं

(क) **ग्रन्थकार या रचयिता का नाम** यथा, टेसीटरी—"दम्पति विनोद[1]........(1) इसका कर्ता जोशीराया है।" बीकानेर के राठोडाँरी ख्यात (2) ग्रन्थ का निर्माण चारण सिढायच दयालदास द्वारा हुआ। ढोला मारवणी री बात—रचयिता-अज्ञात[2]

रचयिता के सम्बन्ध में अन्य विवरण जो ग्रन्थ में उपलब्ध हो वह भी यहाँ देना चाहिये। यथा, निवास स्थान, वंश परिचय आदि।

1. परम्परा (28–29), पृ० 48।
2. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, पृ० 38।

(ख) रचनाकाल[1] : इस विवरण मे वही रचना-काल दिया जायगा जो ग्रन्थ में ग्रन्थ कर्त्ता ने दिया है। यदि उसने रचना-काल नहीं दिया तो यही सूचना दी जानी चाहिये।

हाँ, यदि आपके पास ऐसे कुछ आधार हैं कि आप इस कृति के सम्भावित काल का अनुमान लगा सकते हैं तों अपने अनुमान को अनुमान के रूप मे दे सकते हैं।

(ग) ग्रन्थ रचना का उद्देश्य–यथा, "बीकानेर के राठोड़ाँ री ख्यात:[2] ग्रन्थ का निर्माण ········बीकानेर के महाराजा सिरदार सिह के आदेश पर किया गया है।"

"इसी प्रकार ये उद्देश्य भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, यथा-राजाज्ञा से' और 'सुफल प्राप्त्यर्थ' विष्णुदास ने 'पांडव चरित्र' लिखा।

(घ) ग्रन्थ रचना का स्थान। यथा, 'गढ़ गोपाचल वैरिनि सालू'।[3]

(ङ) यदि किसी के आश्रय मे लिखा गया है तो आश्रयदाता का नाम—यथा, 'डौगर-सिघ राउवर वीरा' तथा आश्रयदाता का अन्य परिचय

(च) भाषा विषयक अभिमत– यहाँ स्थूलत: यह बताना होगा कि संस्कृत, डिंगल, प्राकृत, अपभ्रंश, बगाली, गुजराती, ब्रज, अवधी, हिन्दी (खड़ीबोली) तामिल या राजस्थानी (मारवाड़ी, हाड़ौती, ढूँढारी, शेखावाटी), आदि विविध भाषाओ मे से किस भाषा मे ग्रथ लिखा गया है।

यहाँ भाषाओं की यह सूची सकेत मात्र देती है। भाषाएँ तो और भी हैं, उनमे से किसी मे भी यह ग्रथ लिखा हुआ हो सकता है।

(छ)—1 भाषा का कोई उल्लेखनीय वैशिष्ट्य।

(ज) लिपि एवं लिपिकार का नाम

(झ) लिपिकार का कुछ और परिचय (ग्रन्थ मे दी गयी सामग्री के आधार पर)

1. किस गुरु-परम्परा का शिष्य
2. माता-पिता तथा भाई आदि के नाम
3. लिपिकार के आश्रयदाता
4. प्रतिलिपि कराने का अभिप्राय

क—किसी राजकुमार के पठनार्थ
ख—किसी अन्य के लिए पठनार्थ
ग—स्व-पठनार्थ
घ—आदेश-पालनार्थ
ङ—शुभ फल प्राप्त्यर्थ
च—दानार्थ आदि-आदि

(ञ) लिपिकार के आश्रयदाता का परिचय

(ट) प्रतिलिपि का स्वामित्व

1. विस्तृत विवरण के लिए देखिए 'काल निर्णय की समस्या' विषयक सातवाँ अध्याय।
2. परम्परा (28–29), पृ० ९।
3. पाडव चरित, पृ० 5।

(ठ) प्रत्येक अध्याय के अन्त मे भी यदि पुष्पिका हो तो उसे भी उद्धृत कर देना चाहिये ।

5. अन्तरंग परिचय का आन्तरिक पक्ष

(क) प्रतिपाद्य विषय का विवरण । यथा, टेसीटरी- इसी अध्याय में पृ 74 पर (ग) 'नागौर रे मामले री बात' का विवरण देखें ।

(ख) आरम्भ का अश, कम से कम एक छन्द चार चरणो का तो देना ही चाहिये । यदि आरम्भ के अश मे कुछ और ज्ञातव्य सामग्री हो तो उसे भी उद्धृत कर दिया जाय , जैसे पुष्पिका । (यथावत् उद्धृत करनी होती है ।)

(ग) आरम्भ मे यदि पुष्पिका या कोलोफोन हो तो उसे भी यथावत् उद्धृत करना होगा ।

(घ) मध्य भाग से भी कुछ अंश देना चाहिये । ये अंश ऐसे चुने जाने चाहिये कि उनसे कवि के कवित्व का आभास मिल सके ।

(ङ) अन्त का अश, इस अ श मे अन्तिम पुष्पिका, तथा उससे पूर्व का भी कुछ अश दिया जाता है ।

(च) परम्परागत फलश्रुति, लेखक की निर्दोषिता (जैसा देखा वैसा लिखा) तथा श्लोक या अक्षर की संख्या ।

(छ) अन्य उल्लेखनीय बात या उद्धरण । यथा,

प्राप्ति स्थान, एव उस व्यक्ति का नाम एव परिचय जिसके यहां से ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है ।

विवरण के लिए प्रस्तावित प्रारूप

काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने विवरण लेन वाले व्यक्तियो की सुविधा के लिए प्रारूप मुद्रित करा दिया था । विवरण लेनेवाला उसमे दिये विविध शीर्षको के अनुकूल सूचना भर देना है । इस योजना से यह भय नहीं रहता है कि खोजकर्त्ता किन्हीं बातों को छोड़ देगा । ऊपर जो विवेचन दिया गया है उसके आधार पर एक प्रारूप यहाँ प्रस्तुत किया जाता है :

हस्तलिखित-ग्रन्थ (पाडुलिपि) का सामान्य
परिचयात्मक विवरण (रिपोर्ट)

क्रमाक·········

पाडुलिपि का प्रकार·········
गुटका/पोथी······ ··············

1. पाडुलिपि (ग्रन्थ) का नाम·········
2. कर्त्ता या रचयिता·········
3. रचना काल·········
4. पुस्तक की कुल पत्र सख्या·········
(विशेष--

(क) कितने पृष्ठ या पन्ने कोरे छोड़े गये हैं ? किस-किस स्थान पर छोड़े गये हैं·········

(ख) क्या कुछ पृष्ठ/पन्ने अपाठ्य है ? कहाँ-कहां ?·········

(ग) क्या कहीं कटे-फटे हैं ? कहाँ-कहाँ ?........

5. प्रत्येक पत्र की लम्बाई × चौड़ाई (इचों या सेंटीमीटरों मे)........

6. प्रत्येक पृष्ठ पर पक्ति संख्या........
प्रत्येक पंक्ति में अक्षर संख्या........

7. पांडुलिपि का लिप्यासन प्रकार........
ईंट
शिला
चर्म
ताम्र या अन्य धातु का
ताड-पत्र
भूर्जपत्र
छाल, पेपीरस आदि
कपड़ा
कागज........प्रकार सहित........

8. लिपि-प्रकार........
देवनागरी, मारवाड़ी, कैथी आदि

9. लिखावट क्या एक ही हाथ की या कई हाथों की........
लिखावट के सम्बन्ध मे अन्य विशिष्ट बातें........

10. प्रत्येक पन्ने पर लिपि की माप[1]................
(औसत मे)

11. लिपिकार/लिपिकारो के
नाम........
स्थान........
लिप्यंकन की तिथि........

12. रचनाकार के आश्रयदाता...... ....
(परिचय)

13. लिपिकार के आश्रयदाता....................
(परिचय)

14. रचना का उद्देश्य

15. प्रतिलिपि करने का उद्देश्य

16. पुस्तक का रख-रखाव–
बुगचा, थैला, सामान्य वेष्टन, पुट्ठे, तख्तियाँ, डोरी, ग्रन्थि, अन्य छादन........

17. विषय का सक्षिप्त परिचय-अध्यायों की संख्या के उल्लेख के साथ................

17. (1) विषय का कुछ विस्तृत परिचय

18. आदि (उद्धरण)

1. लिपि के माप से यह पता चलेगा कि अक्षर छोटे हैं या बड़े हैं।

19. मध्य (उद्धरण)
20. अन्त (उद्धरण)
21. ग्रन्थ में आयी सभी पुष्पिकाएँ–
    (1)
    (2)
    (3)
    (4)
    (5)
    (6)
    (7)

शोध-विवरण का यह प्रारूप अपने-अपने दृष्टिकोण से घटा-बढ़ा कर बनाया जा सकता है। इसका सबसे बडा लाभ यह है कि कोई भी महत्त्वपूर्ण बात छूट नही सकती है और सूचनाएँ क्रमांक युक्त हैं। यथार्थ मे इन अकों का उपयोग भी लाभप्रद हो सकता है।

विवरण लेखन में दृष्टि

डॉ० नारायणसिह भाटी ने 'परम्परा'[1] मे डॉ० टेसीटरी के 'राजस्थानी ग्रन्थ सर्वेक्षण अंक' मे सम्पादकीय मे डॉ० टेसीटरी के शोध सिद्धान्तों को संक्षेप मे अपने शब्दों मे दिया है। वे इस प्रकार है :

1 "ग्रन्थ का परिचय देने से पहले उन्होंने बड़े गौर से उसे आद्योपान्त पढ़ा है तथा पूरे ग्रन्थ मे कोई भी उपयोगी तथ्य मिला है उसका उल्लेख अवश्य किया है।

2 डिंगल मे पद्य और गद्य दोनो ही विधाओं के अधिकांश ग्रन्थ ऐतिहासिक-तथ्यो पर आधारित हैं। अत. उन्होंने इतिहास को कही भी अपनी दृष्टि से ओझल नही होने दिया है। उस समय कर्नल टॉड के 'राजस्थान' के अतिरिक्त यहां का कोई प्रामाणिक इतिहास प्रकाशित नही था। अत ऐसी स्थिति मे भी ऐतिहासिक तथ्यों पर टिप्पणी करते समय लेखक ने सचेष्ट जागरूकता का परिचय दिया है और अनेक स्थलो पर अपना मत व्यक्त करते हुए शोधकर्त्ताओं के लिए कई गुत्थियों को सुलझाने का भी प्रयास किया है।

3. कृति मे से उद्धरण चुनते समय प्राय: इतिहास, भाषा अथवा कृति के लेखक व सवत् आदि तथ्यो को पाठक के सम्मुख रखने का उद्देश्य रखा है। उद्धरण अक्षरश: उसी रूप मे लिए गये है जैसे मूल में उपलब्ध है।

4. एक ही ग्रन्थ मे प्राय. अनेक कृतियाँ सगृहीत हैं परन्तु प्रत्येक कृति का शीर्षक लिपिकर्त्ता द्वारा नही दिया गया है। ऐसी कृतियो पर सुविधा के लिए टैसीटरी ने अपनी ओर से राजस्थानी शीर्षक लगा दिये है।

5. जो कृतियाँ ऐतिहासिक व साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान नही हैं उनका या तो उल्लेख मात्र कर दिया है या निरर्थक समझ कर छोड़ दिया है, परन्तु ऐसे स्थलों पर उनके छोड़े जाने का उल्लेख अवश्य कर दिया है।

1. परम्परा (28-29), पृ० 1-2।

6. जहाँ ग्रन्थ में कुछ पत्र त्रुटित हैं अथवा किसी कारण से कुछ पृष्ठ पढ़े जाने योग्य नहीं रहे हैं तो इसका उल्लेख भी यथास्थान कर दिया गया है।

7. जहाँ एक ग्रन्थ की कृतियाँ दूसरे ग्रन्थ की कृतियों के समरूप हैं, या उनकी प्रतिलिपि हैं या पाठान्तर के कारण तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्व रखती हैं, ऐसी स्थिति मे उनका स्पष्ट उल्लेख बराबर किया गया है।

8. जहाँ गीत, दोहे, छप्पय, नीसाणी आदि स्फुट छन्द आए हैं वहाँ उनका विषयानुसार वर्गीकरण करके उनके सम्बन्ध मे यथोचित् जानकारी प्रस्तुत की गई है। कृति के साथ कर्त्ता का नाम भी यथासम्भव दे दिया गया है। कर्त्ता का नाम देते समय प्राय. उसकी जाति व खाँप आदि का भी उल्लेख कर दिया है।

9. डॉ० टैसीटरी प्रमुखतया भाषा-विज्ञान के जिज्ञासु विद्वान थे, अतः उन्होंने प्राचीन कृतियो का विवरण देते समय उनमे प्राप्त क्रियारूपो आदि पर भी अवसर निकाल कर टिप्पणी की है।

लेखा-जोखा .

पाडुलिपि की खोज मे प्रवृत्त सस्था या व्यक्ति उक्त प्रकार से ग्रन्थो के विवरण प्राप्त कर सकते है। साथ ही उन्हे अपनी इस खोज पर किसी एक कालावधि में बाँधकर विचार करना और लेखा-जोखा भी लेना होगा। यह कालावधि तीन माह, छ माह, नौ माह, एक वर्ष या तीन वर्ष की हो सकती है।

यह लेखा जोखा उक्त शोध से प्राप्त सामग्री के विवरणो के लिए भूमिका का काम दे सकता है। इसमे निम्नलिखित बातो पर ध्यान दिया जा सकता है :

लेखे-जोखे की कालावधि

सन्……से सन्……तक

1. खोज कार्य मे आने वाली कठिनाइयां, उन्हे किन उपायो से दूर किया गया।
2. खोज कार्य का भौगोलिक क्षेत्र। सचित्र हो तो उपयोगिता बढ़ जाती है।
3 भौगोलिक क्षेत्र के विविध स्थानो से प्राप्त सामग्री का सख्यात्मक निर्देश। किस स्थान से कितने ग्रन्थ मिले ? सबसे अधिक किस क्षेत्र से ?
4. कुल ग्रन्थ संख्या जिनका विवरण इस कालावधि मे लिया गया।
5. इस विवरण को (विशेष कालावधि मे) प्रस्तुत करने के सम्बन्ध मे नीति, यथा

(क) सबसे पहले मवाड और मेवाड मे भी सबसे पहले यहाँ के तीन प्रसिद्ध राजकीय पुस्तकालयो— सरस्वती भण्डार, सज्जनवाणी विलास और विक्टोरिया हॉल लाइब्रेरी से ही इस काम (शोध) को शुरू करना तय किया।[1]

(ख) "प्रारम्भ मे मेरा इरादा जितने भी हस्तलिखित ग्रन्थ हाथ मे आयें उन सबके नोटिस लेने का था। लेकिन बाद में जब एक ही ग्रन्थ की कई पाडुलिपियाँ मिलीं तब इस विचार को बदलना पड़ा ……अतएव मैंने एक ही ग्रन्थ की उपलब्ध सभी हस्तलिखित प्रतियों का एकसाथ तुलनात्मक अध्ययन किया और जिन-जिन ग्रन्थो

1. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज (प्रथम भाग), प्राक्कथन पृ० क।

की विभिन्न प्रतियों में पाठान्तर पाया उन सब के नोटिस ले लिये और जिन-जिन ग्रन्थों की भिन्न-भिन्न प्रतियों मे पाठान्तर दिखाई नही दिया उनमें से सिर्फ एक, सबसे प्राचीन, प्रति का विवरण लेकर शेष को छोड़ दिया। लेकिन इस नियम का निर्वाह भी पूरी तरह से न हो सका"[1]—

(ग) "कुल मिलाकर मैने 1200 ग्रन्थो की 1400 के लगभग प्रतियाँ देखीं और 300 के नोटिस लिये। मूल योजना के अनुसार इस प्रथम भाग मे इन तीन सौ ही प्रतियों के विवरण दिये जाने को थे, लेकिन कागज की महंगाई के कारण ऐसा न हो सका और 175 ग्रन्थों (201 प्रतियों) के विवरण देकर ही संतोष करना पड़ा।"[2]

6 समस्त ग्रन्थो का विषयानुसार विभाजन या वर्गीकरण। पं० मोतीलाल मेनारिया ने इस प्रकार किया है :—

1. भक्ति
2. रीति और पिंगल
3. सामान्य काव्य
4. कथा-कहानी
5. धर्म, अध्यात्म और दर्शन
6. टीका
7. ऐतिहासिक काव्य
8. जीवन-चरित
9. शृंगार काव्य
10. नाटक
11. संगीत
12 राजनीति
13. शालिहोत्र
14. वृष्टि-विज्ञान
15. गणित
16. स्तोत्र
17. वैद्यक
18. कोश
19. विविध
20. सग्रह[3]

प्रत्येक खोज संस्थान या खोज-प्रवृत्त व्यक्ति को यह विभाजन अपनी सामग्री के आधार पर वर्गीकरण के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार करना चाहिये। पुस्तकालय-विज्ञान का वर्गीकरण उपयोग मे लाया जा सकता है। प्रत्येक विषय की प्राप्त पांडुलिपियो की पूरी संख्या भी देनी चाहिए।

1. राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज (प्रथम भाग), प्राक्कथन पृ० ग।
2. वही पृ० च
3. वही पृ० च

7. यह सूचना भी देनी होती है कि—

(1) ऐसे लेखक कितने हैं जो अब तक अज्ञात थे। उनकी अज्ञात कृतियों की संख्या।

(2) ज्ञात लेखकों की अज्ञात कृतियों की संख्या तथा नयी उपलब्धियों का कुल योग।

डॉ० हीरालाल, डी० लिट्०, एम० आर० ए० एस० ने त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (सन् 1926–1928 ई०) की विवरणिका में प्राप्त ग्रन्थों का विषयानुसार वर्गीकरण यों दिया था :

"**हस्तलेखों के विषय** · हस्तलेखों के विषय का विवरण निम्नलिखित है .

धर्म	358	हस्तलेख
दर्शन	114	,,
पिंगल	31	,,
अलंकार	50	,,
शृंगार	151	,,
राग रागिनी	51	,,
नाटक	2	,,
जीवन चारित्र	25	,,
उपदेश	43	,,
राजनीतिक	12	,,
कोश	16	,,
ज्योतिष	124	,,
सामुद्रिक	9	,,
गणित व विज्ञान	6	,,
वैद्यक	74	.
शालिहोत्र	11	,
कोक	11	,,
इतिहास	67	,
कथा-कहानी	44	,,
विविध	80	,,
जोड	1279	हस्तलेख"

8. मेनारिया जी और डॉ० हीरालाल जी दोनों के वर्गीकरण सदोष है, पर इनसे प्राप्त ग्रन्थ सम्पत्ति के वर्गों का कुछ ज्ञान तो हो ही जाता है। किन्तु पांडुलिपिविद को अपनी सामग्री का अधिक से अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत करना चाहिए, अन्यथा पुस्तकालय-विज्ञान में दिये वर्गीकरण का सिद्धान्त ही अपना लेना चाहिये।

9. नयी उपलब्धियों का कुछ विशेष विवरण, उनके महत्त्व के मूल्यांकन की दृष्टि से :

इस विशेष कालावधि के विवरण मे पुस्तको के विवरणो को अकारादि क्रम से प्रस्तुत करने में सुविधा रहती है।

कुछ अनुक्रमणिकाएँ दी जानी चाहिएँ।

1. ग्रन्थ नामानुक्रमणिका
2. लेखक नामानुक्रमणिका

लेखे-जोखे मे रचना काल और लिपिकाल दोनों की कालक्रमानुसार उपलब्ध रचनाओं और विषयवार ग्रन्थों की सूचना भी दी जानी चाहिये। इसके लिए निम्न प्रकार की तालिका बनायी जा सकती है

विषय वर्ग	भक्ति		रीति		आदि
काल	र० काल ग्रन्थ संख्या	लिपिकाल ग्रन्थ सं०	र० काल ग्रन्थ संख्या	लिपिकाल ग्रन्थ स०	
1001[1]					
1010					
1020					
1030					

इस तालिका द्वारा शताब्दी क्रम से उपलब्ध ग्रन्थ-संख्या का ज्ञान हो जाता है।

एक तालिका यहाँ 'हिन्दी हस्तलेखो की खोज की तेरहवी 'विवरणिका' मे उदाहरणार्थ उद्धृत की जाती है :

शतियाँ	12वी	13वी	14वीं	15वी	16वी	17वी	18वी	19वी	अज्ञात	योग
	2	—	—	7	36	201	209	427	394	1278

इस तालिका द्वारा शताब्दी क्रम से उपलब्ध ग्रन्थ संख्या का ज्ञान हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि 13वीं विवरणिका के वर्षों मे 12 वी शती से पूर्व की कोई कृति नही मिली थी। 12 वी शती की 2 कृतियाँ मिली। फिर दो शताब्दियाँ शून्य रही।

इस तालिका से यह विदित हो जाता है कि किस काल मे किस विषय की कितनी पुस्तकें उपलब्ध हुई है। इस काल-क्रम से प्राचीनतम पुस्तक की ओर ध्यान जाता है। काल-क्रम मे जो पुस्तक जितनी ही पुरानी होगी उतनी ही कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण मानी जायेगी। उससे यह भी विदित होता है कि काल क्रम मे विविध शताब्दियों मे उपलब्धियो का अनुपात क्या रहा ?

अब तक के अज्ञात लेखकों और अज्ञात कृतियों का विशेष परिचय प्राप्त हो सके तो उसे प्राप्त करके उन पर कुछ विशेष टिप्पणियाँ देना भी लाभप्रद होता है।

काशीनागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में जो क्रम अपनाया गया है, वह इस प्रकार है : (1) में विवरणिका, जिसमे खोज के निष्कर्ष दिये जाते हैं। फिर परिशिष्ट एवं रचयिताओं का परिचय। (2) में ग्रन्थों के विवरण, (3) में अज्ञात रचनाकारों के

1. इस 'काल-क्रम' का आरम्भ उस प्राचीनतम सन्/संवत् से करना चाहिये, जिसकी कृति हमें खोज में मिल चुकी हो।

ग्रन्थों की सूची, (4) में महत्त्वपूर्ण हस्तलेखों की समय-सूचक तालिका । यह परिपाटी दीर्घ अनुभव का परिणाम है । इसे कोई भी पांडुलिपि-विज्ञान-विद् अपने लाभ के लिये अपना सकता है ।

तात्पर्य यह है कि लेखे-जोखे के द्वारा ग्रन्थ शोध से प्राप्त सामग्री का संक्षेप में मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है, जिससे शोध उपलब्धियों का महत्त्व उभर सके ।

तुलनात्मक अध्ययन

पांडुलिपि-विद् के लिए यही एक और प्रकार का अध्ययन-क्षेत्र उभरता है । इसे उपलब्ध सामग्री का तुलनात्मक मूल्यांकन या अध्ययन कह सकते हैं । हमें क्षेत्रीय कार्य करते हुए और विवरण तैयार करते हुए कुछ कवि प्राप्त हुए । अब हमें यह भी जानना आवश्यक है कि क्या एक ही नाम के कई कवि हैं ? उनकी पारस्परिक भिन्नता, अभिन्नता और उनके कृतित्व की स्थूल तुलना करके अपनी उपलब्धि का महत्त्व समझा और समझाया जा सकता है । इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करना होगा । 'चन्द कवि' नाम के कवि के आपको कुछ ग्रन्थ मिले । आपने अब तक प्रकाशित या उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनका विवरण एकत्र किया । तब तुलनापूर्वक कुछ निष्कर्ष निकाला । इसका रूप यह हो सकता है :

कवि चन्द

हिन्दी साहित्य में आदिकालीन चदवरदायी से लेकर आधुनिक युग तक चंद नाम के अनेक कवि हुए है । 'मिश्रबधु विनोद' ने 'चद' नाम के जिन कवियों का उल्लेख किया है उनका विवरण निम्न प्रकार है । इस विवरण के साथ 'सरोज सर्वेक्षणकार' की टिप्पणियाँ भी यथास्थान दे दी गई है ।

मिश्रबन्धु विनोद

भाग 2 पृष्ठ—548
नाम—(1316) चन्द्रधन
ग्रन्थ— भागवत-सार भाषा ।

कविताकाल—1863 के पहले (खोज 1900) । यहाँ वैषम्य केवल इतना है कि हमारे निजी सग्रह के कवि का नाम 'कवि चन्द' है और मिश्रबन्धु में चन्द्रधन ।

अब 'चन्द' नाम के अन्य कवि 'मिश्रबन्धु विनोद' मे नाम साम्य के आधार पर ये है :

प्रथम भाग

(135) **चन्द** पृष्ठ 134
ग्रन्थ—हितोपदेश
कविताकाल—स० 1563
पृ०—71
(39) **नाम महाकवि चन्द बरदाई**
ग्रन्थ—पृथ्वीराज रासो

सरोजकार[1] ने पृथ्वीराज रासो के रचयिता चन्द को **'चन्द कवि प्राचीन बन्दीजन, सम्भल निवासी' स्वीकार किया है । सं० 1196 में** उपस्थित माना है ।

सरोज-सर्वेक्षणकार[2] ने चन्द का रचना काल सं० 1225 से 1249 तक माना है । इनकी मान्यता के अनुसार चन्द की मृत्यु स० 1249 में हुई ।

द्वितीय भाग

पृ०—278

(538) **नाम**—(403) चन्द

ग्रन्थ—नागनौर की लीला (कालीनाथना) । सरोज सर्वेक्षणकार का मत है कि इस पुस्तक का नाम 'नाग लीला' भी है ।

रचना काल—1715

पृ०—325

(382) **चन्द व पठान सुल्तान**

सरोजकार ने इस चन्द कवि को संवत् 1749 मे उपस्थित माना है । कवि सुलतान पठान नवाब राजागढ भाई बन्धु बाबू भूपाल के यहाँ थे । इन्होंने कुण्डलियाँ छद मे सुलतान पठान के नाम से बिहारी सतमई का तिलक बनाया है ।

सरोज सर्वेक्षणकार का मत है कि चन्द द्वारा प्रस्तुत यह टीका मिलती नहीं है । भूपाल का नवाब स० 1761 मे सुलतान मुहम्मद खाँ था । इन्ही के आश्रित चन्द कवि का उल्लेख मिलता है ।

तृतीय भाग

पृष्ठ—44

(2138) **नाम**—(1784) चन्द कवि

विवरण—सं० 1890 के लगभग थे ।

पृष्ठ—85

(2341) **नाम**—(2003) चन्द कवि

ग्रन्थ—भेद प्रकाश - (प्र० ग्रं० रि०), महाभारत भाषा (1919) (खोज 1904) ।

कविताकाल—स० 1904

कुछ-कुछ नाम साम्य के आधार पर निम्न कवि मिश्रबन्धु विनोद से मिलते है । ये चन्द नाम के नही, वरन् चन्द से मिलने-जुलते नाम वाले है । इन्हे यहाँ केवल इसलिए दिया जा रहा है कि इनके नाम मे जो साम्य है, उससे कही आगे भ्रम न रहे और 'चन्द' या 'चन्द्र' जिसका नामांश है वह भी ज्ञात हो जाय ।

प्रथम भाग

पृष्ठ—194

(265) **नाम**—**चन्द सखी (ब्रजबासी)**

1 सरोजकार से हमारा अभिप्राय 'शिवसिंह सरोज' के लेखक से है ।
2. 'सरोज सर्वेक्षणकार' से हमारा अभिप्राय डॉ० किशोरी लाल गुप्त से है ।

कविता काल—1638

द्वितीय भाग

पृष्ठ—301
(584) नाम—चन्द्रसेन
ग्रन्थ—माधव-निदान
पृष्ठ—467
(1066/2) नाम—चन्द्रलाल गोस्वामी (राधावल्लभी)।
कविता काल—1824 (द्वि० त्रै० रि०)
पृष्ठ—344
(763) नाम—चन्द्रलाल गोस्वामी (राधावल्लभी)
कविता काल—1767
पृष्ठ—437
(998) नाम—चन्द्र (राधा वल्लभी)
रचना काल—1820
पृष्ठ—466
(1064) नाम—चन्द्रदास
कविता काल—1823 के पूर्व
पृष्ठ—470
(1077) नाम—चन्द्र कवि सनाढ्य चौबे
कविता काल—1828
पृष्ठ--475
(1094) नाम—चन्दन
समय—सं० 1830 के लगभग वर्तमान थे।
पृष्ठ—815
नाम—(1011) चन्द्रहित, राधावल्लभी
पृष्ठ—508
नाम—(1190/1) चन्द्रजू गुसाई
रचनाकाल—1846
पृष्ठ—571
नाम—(1433) चन्द्रशेखर वाजपेयी

तृतीय भाग

पृष्ठ—13
नाम—(1716) चन्द्रदास
नाम—(1717) चन्द्ररस कुंद
नाम—(1718) चन्द्रावल
पृष्ठ—77
नाम—(2248) चन्दसखी

कविताकाल—1900 के पूर्व
पृष्ठ—154
नाम—(2634) चन्द्रिका प्रसाद तैवारी
पृष्ठ—196
नाम—(2923) चन्द्र झा

चतुर्थ भाग

पृष्ठ—260
नाम—(3255) चन्द्रभान
रचनाकाल—स० 1875
पृष्ठ—322
नाम—(3449) चन्द्रकला बाई
समय—सं० 1950
पृष्ठ—406
नाम—(3853) चन्द्र मनोहर मिश्र
रचनाकाल—स० 1963
पृष्ठ—410
नाम—(3858) चन्द्रमौलि सुकुल
रचनाकाल—सं० 1964
पृष्ठ—413
नाम—(3867) चन्द्र शेखर शास्त्री
रचनाकाल—सं० 1965
पृष्ठ—417
नाम—(3878) चन्द्रभानु सिंह दीवान बहादुर
रचनाकाल—स० 1967
पृष्ठ—447
नाम—(3970) चन्द्रशेखर मिश्र
पृष्ठ—454
नाम—(4028) चन्द्रशेखर (द्विज चन्द्र)
जन्मकाल—सं० 1939
पृष्ठ—456
नाम—(4055) चन्द्रलाल गोस्वामी
जन्मकाल—लगभग 1940
नाम—(4056) चन्द्रिका प्रसाद मिश्र
रचनाकाल—सं० 1965
पृष्ठ—464
नाम—(4117) चन्द्रराज भण्डारी
पृष्ठ—465

नाम—(4124) चन्द्रभानु राय
पृष्ठ—480
नाम—(4216) चन्द्रमती देवी
जन्मकाल—सं० 1950
पृष्ठ—520
नाम—(4312) चन्द्रमाराय शर्मा
रचनाकाल—सं० 1982
पृष्ठ—557
नाम—(4437) चन्द्रशेखर शास्त्री
जन्मकाल—सं० 1957
पृष्ठ—574
नाम—(4521) चन्द्रकला
रचनाकाल—सं० 1987

सरोजकार ने उपर्युक्त 'चन्द' कवियों के अतिरिक्त निम्नलिखित दो अन्य कवियों का उल्लेख किया है—

प्रथम—चन्द कवि । यह सामान्य कवि थे । इन चन्द कवि के सम्बन्ध में सरोज सर्वेक्षणकार ने लिखा है कि कायस्थों की निन्दा का एक कवित्त सरोज में प्रस्तुत किया है ।

द्वितीय—चन्द कवि के सम्बन्ध मे सरोजकार ने लिखा है कि इन्होंने शृंगार रस मे बहुत सुन्दर कविता की है । हजारा में इनके कवित्त हैं । सरोज सर्वेक्षणकार ने इन चन्द कवि का अस्तित्व सं० 1875 के पूर्व स्वीकार किया है ।

मिश्रबन्धु विनोद और 'सरोज सर्वेक्षण' से 'चन्द कवि' नामधारी कवियों के इस सर्वेक्षण के उपरान्त कुछ अन्य स्रोतों से भी 'चन्द' नाम के कवियों का पता चलता है, उन्हें यहाँ देना ठीक होगा ।

एक कवि चन्द का उल्लेख 'जयपुर का इतिहास'[1] में है । इस 'चन्द कवि' के ग्रन्थ 'नाथ वंश प्रकाश' का उल्लेख इसमें हुआ है । ये चौमूं नरेश रणजीत सिंह तथा कृष्ण सिंह और जयपुर नरेश जगतसिंह के समकालीन थे । 'नाथ वंश प्रकाश' में से 'जयपुर का इतिहास' मे जो उद्धरण लिखे गये हैं—वे निम्नलिखित प्रकार हैं—

(अ) जहाज (भाज) की लड़ाई में रणजीत सिंह की विजय—

"शहर फतेहपुर में फते—करी नंद रतनेश ।
भाज गयो अापाण तजि, लखि रणजीत नरेश ।"[2]

(आ) महाराजा जगत सिंह (जयपुर) की सेनाओं द्वारा जोधपुर को घेरने का उल्लेख—

गही कोट की ओट को, मान अभा बलमन्द।
लूटि जोधपुर को लियो कृष्ण सुभाग बलन्द ।[3]

1. शर्मा, हनुमान प्रसाद—जयपुर का इतिहास, पृ० 226.
2. वही, पृ० 226.
3. वही, पृ० 231.

'नाथ वंश प्रकाश' (पद्य 275) में लिखा है कि 'मीर खाँ' के युद्ध के समय कृष्ण सिंह जी का चेहरा चमकता था और शत्रुगण उससे क्षोभित होते थे ।

'नाथ वंश प्रकाश' (पद्य 270) मे लिखा है कि समरू बेगम ने चौमू पर चढ़ाई की । उस समय उसका कर्नल आगे आया था । उसको कृष्ण सिंह जी ने ससैन्य परास्त किया और उसके साथ वालो के रुण्ड-मुण्ड उठाकर पीछे हटा दिया ।

'आचार्य श्री विनय चन्द ज्ञान भण्डार ग्रंथ सूची (भाग–1)' से विदित होता है कि इस भण्डार मे चन्द कवि के तीन ग्रथ है—

1. चन्द–नेम राजमती पद (हिन्दी–राजस्थानी) 5 छन्द[1]

2. चन्द–राधा कृष्ण के पद –5 पद[2]

3. चन्द–सीमन्धर स्वामी की स्तुति–6 छन्द[3]

इनमे से दो जैन कवि हैं और एक कवि को उसकी रचना के विवरण के आधार पर वैष्णव माना जा सकता है ।

इससे पूर्व कि कवि चद के सम्बन्ध मे ऊपर की सूची को लेकर और पं० कृपा शंकर तिवारी के हस्तलेखागार मे प्राप्त सामग्री के आधार पर कुछ कहा जाय हम तिवारी जी की सामग्री पर भी सक्षिप्त टिप्पणियाँ नीचे प्रस्तुत कर रहे है ।

(1) कवि चंद

रचना –नाग दवन ('नाग लीला' लिपिकार द्वारा) पूर्ण ।
रचना काल–संवत् 1756 श्रा. सु. 5, बुधवार ।
लिपिकाल-संवत् 1869 अश्व० बदी 3, फोलियो 1 से 9 तक

विवरण

यह ग्रन्थ कवि चंद द्वारा संवत् 1756 मे रचा गया है । इसमे कृष्ण द्वारा काली दमन की घटना का वर्णन है । ग्रन्थ ब्रज एवं राजस्थानी भाषा से युक्त है । कवि ने द्वित शब्दों का अवसरानुकूल प्रयोग किया है । भाव, भाषा, शैली आकर्षक है । कहीं-कहीं पृथ्वीराज रासो की सी झलक दृष्टिगत होती है । प्रारम्भ मे गणेश, शारदा की वंदना है । कवि ने चौपाई का अधिक प्रयोग किया है । इसके अतिरिक्त अरिल्ल, छप्पय, दोहा, रजनी कुण्डलियाँ, पाधरी, सवैया आदि का अच्छा प्रयोग किया है । भावनाओं का वर्णन करने मे कवि सफल हुआ है । यह ग्रन्थ पूर्ण है । उदाहरणार्थ :

प्रारम्भ

दोहा—

हौ गनपति गुन विस्तरौं सिधिबुधि दातार ।
अष्ट सिधि नव निधि करो कृपा करतार ।।

तुव तन बरदाइनी करै मूढ कबिराइ ।
बुधि विचित्र कवि चन्द को दै अब सारद माइ ।।
सत्रह से दस पचच्छर मैं सही

1. भानावत, नरेन्द्र (डॉ०) सं०—आचार्य श्री विनय चन्द्र ज्ञान भंडार, ग्रन्थ सूची, पृ० 38 ।
2. वही पृ० 66 ।
3. वही, पृ० 88 ।

सदि सांवन तिथि पंच चन्द कवियों कही ।।
मढ़यौ ग्रन्थ गुन मूल मह्य बुधवार है
परिहां हाजूं नागदवनि कौं छंद कियो विस्तार है ।।

इसी कवि की इसी 'नागदमन' या 'नागलीला' की एक हस्तलिखित प्रति की सूचना श्री कृष्ण गोपाल माथुर ने दी है ।[1] उन्होंने इसका रचनाकाल संवत् 1715 माना है। ऊपर हमने ग्रन्थ में आये तिथि विषयक उल्लेख को उद्धृत कर दिया है । इसमे 'सत्रह से दस पंचछर' लिखा हुआ है । इसका अर्थ करते समय यदि हम 'पच' शब्द पर ही रुक जायेंगे तब तो स० 1715 मानना होगा जैसा कि श्री माथुर ने माना है किन्तु पूरा शब्द 'दस पचछ.' है जो कि संधि के कारण 'पचछर' हो गया है । अतएव हमारी दृष्टि मे इसका ठीक अर्थ होगा-सत्रह सौ और दस पच = 50 + 6 अर्थात् 1756 ।

नागदवन के कुछ पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं।

नागदवन (नागलीला)

रिस रोस रहा मुरली धुनिकौ सुनि नाद अगाध तिहु पुर छाही ।
ब्याल जग्यो जम ज्वाला उठी विख भाल इति ब्रह्ममण्डल माही ।
हरखि जुसुधा ब्रज की वसुधा जब फुलि फिरयी घर ही घर माही ।
कस गिरयो मुरझाइ तबै धरकी छतिया मुरली धुनि पाही ।।
मुरली धुनि कौ सुनि सबद चौंकि उठयौ तत्काल
झटकि पुंछि फन फुकरत उठयो क्रोध कौ काल ।।

जागौ भाग काली धरा भूमि हाली, बिखं ज्वालाझाली हरे वृछ जाली
कछे बदल सग्राम कौ बन्नवारी, फन्नफुकर फकुन भाक अरी ।
लरी निरख झाला मुरछे मुरायरी, हरख्ली दुचि भइ नाग नारी ।
हट को व नार्म कह्यो वृधवारी, हसनै उठे चेति वाला विहारी ।
कछे काकली प्रीति वार्घ कटैठी, मुजा ठाकि ठाठे अखारे अमेही ।
सु सूंधे अचानक कूदे कन्हाई, धिरे कुण्डली मधि बैठे मन्हाई ।
वन तालज्जे सिरं सेस मद्धि, द्विपावें तन तौ करें पूछि सद्धी ।
रिसं रोस सेस बिख झाल अग्गी, जले झार झारे द्रुमदाह लग्गी ।
बुझावें जदुनाथ एह्थअवध्यं, वजें मुठि पंसी जुतीर तत्त थे ।
झट वर्क फन पुछि फुकार भारे, जदुनाथ ज्यौं गारडु छद मारे ।।
नफीरी बजैं बैंस मजीर मेरं बजे ताल तुंवर घटा बनेर ।
बजे दुंदुभि औ सुर नाइ चंगी वजै मोह चंग दुनारा उपंगी ।
सरगी बजी खंजरी सब-नाद उपज्यौ मही तौ मह्य रुप स्वाद ।
बजैं संख सृग्र अ्रसख अ्रभंगी नरसिंघ वज्जे उछाह सुअंगी ।
बजे धुंघरु घू घरी घोर-नीकी कटताल कैसावसै नाद हीकी ।
हथं नाल बजे अलगोज भारी, नचे ग्वाल बालें सु आनंद कारी ।।
भई बधाई ब्रज में जदुकुल हरखि अपार ।
सकल सभा रछा करैं काली नाथ नै हार ।।

1. वीणा, (इन्दौर), अप्रैल, 1972, पृ० 53 ।

(2) कवि चंद

रचित ग्रन्थ—भागवत् दोहासूची ग्रन्थ ।

रचना काल—सं० 1896 (नरसिंह चौदस को पूर्ण हुई) ।

पुस्तक विवरण—

जिल्द की सिली हुई, दायें-बायें हाशिया, 10.6 इंच, कुछ जीर्ण, देशी कागज। फोलियो सं० 32। कुछ दो-तीन पृष्ठ खाली हैं। दसम स्कंध रंगीन हाशिये में लिखा है।

लिपिकाल—

इसमे लिपिकार का नाम तथा काल नही दिया है। ऐसा विदित होता है कि यह स्वयं कवि की ही लिखी पहली प्रति है। एक ओर का पुट्ठा नहीं है। लेख सामान्य रूप मे सुपाठ्य है।

विवरण- -

यह पुस्तक कवि चन्द रचित है। यह कवि चन्द बाघ नृपति के पुत्र है। यह पूर्ण श्रीमद्भागवत् श्रीधरी टीका की दोहो मे सूची है। कवि ने एक-एक दोहे मे एक-एक अध्याय का अर्थ लिखा है, इस प्रकार से सभी स्कधो के अध्यायो की दोहे मे सूची है। इतने बड़े अध्याय की दोहे में सूची बनाना कठिन कार्य है। चन्द कवि ने इसमे सफलता पाई है। भाषा ब्रजभाषा है। धर्म की दृष्टि से कवि का यह प्रयास विशेष महत्त्व रखता है। पुस्तक विभिन्न स्कंधों में विभाजित है। दसम स्कंध कवि ने स० 1805 असाढ़ बु० पडवा गुरु को समाप्त किया। द्वादस स्कंध सं० 1896 नरसिह चौदस को समाप्त हुआ।

कवि ने अपने परिचय मे केवल निम्न पक्तियाँ लिखी हैं—

इतिश्री भागवते महापुराण श्री धरी टीकानुसारण 12 स्कंधे सूची सम्पूर्ण महाराज श्री बाघ सिंह जी फतेहगढ़ नृपत सुतचन्द कथक्तत दोहा समाप्त।

कवि ने प्रारम्भ मे वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ जी और उनके पुत्र की गुरु के रूप मे वदना की है। पुष्टि मार्ग की महानता भी बताई है।

उदाहरण—

दसवी अध्याय दिलीप वंस रामचन्द्र अवतार।
रावण हत आए अवधि तार्कं कंज सहै भार।
भ्रातन जुत श्री रामचन्द्र जिग कीयि अवध विराज।
ग्यारीध्या मण्डल कथा बिरची सुक सुभ साज।

अन्त—

इक-इक दोहा में लिख्यो इक ईकध्या कीयं।
सूची द्वादसकध की स्यजन बुध असमर्थ।
बाघ नृपत सुत चन्द कृत दुहा सूची मांन।
को बिद वाज विचार कर सुध कीज्यो बुधवान।

टिप्पणी—अन्तिम पृष्ठ मे जगदीश पण्डे के सम्बन्ध में लिखा है।

(3) कवि चंद

(अ) रचना—अभिलाष पच्चीसी

लिपिकाल--सं० 1833 (एक लिखावट के कारण) फोलियो 1 से 8 तक, रचना पूर्ण है ।

विवरण

कवि चद के हित हरिवंश हरिव्यासी सम्प्रदाय के हैं। इसमें इन्होंने नागरीदास का भी नाम लिया है। सुन्दर ब्रजभाषा में कवित्त सवैया में रचना है। अभिभावनायुक्त सुन्दर 26 पद हैं। रचनाकार ने इसका नाम मनो-अभिलाषा रखा है।

उदाहरणार्थ **'अभिलाष पच्चीसी'** में से कुछ पद प्रस्तुत हैं :—

प्रारम्भ

जाति पाति नाना भाँति कुल अभिमान तजि
निसि दिन सीस को नवाऊं रसिकन मैं ।
सेवा कुंज मण्डल पुलिन वंशीवट निधिवन
औ समीर धीर बिचरौ मगन में ।
लता द्रुम हेरो राधाकृष्ण कहि टेरौं,
रज लपटाऊं तन मैं औ सुख पाऊं मन मैं ।
अहो राधा वल्लभ जू तुम ही सौ विनती है
जैसे बनै तैसी मोहि राखौ वृन्दवन में ।।

मध्य—

बहु वन भूमि द्रुम लता रही झमि लेतौ
त्रिविधी समीर सौ रुस्ति लहकि लहकि ।
फुली नव कुंज तहां भंवर करत गुंज सदा
सुख पुंज रह्यौ सौरभ महकि महकि ।
कौकिल मयूर सुक सारों आदि पक्षी सब
दम्पति रिझावत है गावत गहकि गहकि ।
हित सौ जे देखे नित तिनकी दौ कहा कहौं
बात ही मैं चन्द चित जात है बहकि बहकि ।।

अन्त—

ढोलक मृदंग मुह चंग औ उमंग चंग
गदायरौ तबूरा बीन आदि सब साज है ।
इनकौ भिलाइबौ परन उपजाईबौ
सरस रंग छाईबौ प्रवीनन कौ काज है ।
कर सौ तौ कर औ सुघर होत
जैसे सब सौज तैसे रमिक रयाज है ।
जब मिलै संगी चन्द रस रंगी
तब रग जामै टुटै भव पाज है ।।

(ब) रचना—समय पचीसी

रचनाकार—कवि चंद हित

रचना का समय नहीं दिया है। ग्रन्थ पूर्ण है। लिपिकाल और लिपिकार सवत् 1833 वि.। फोलियो 9 से 15 तक।

विवरण—

भक्तियुक्त अत्यन्त सुन्दर ब्रजभाषा के कवित्त, सवैया इस ग्रन्थ में हैं। पद संख्या कुल 26 हैं। रचना पूर्ण है। उदाहरणार्थ :—

अन्त—

ईतनी विचारि चन्द सबन सौ नय चले जामैं
भलौ होई सोई करौ निशि भोर ही।

उदाहरणार्थ—'समय पच्चीसी' के कुछ पद प्रस्तुत हैं—

आरम्भ—

समय बिपरीति कहुं देखिये न प्रीति
मिटि गई परतीति रीति जगत की न्यारी जू।
स्वारथ मैं लगे परमारथ सौ भगे
झूठे तन ही मे पगे साची वस्तु न निहारी जू।
मोह मैं भुलाने मदा दुख लपटानें
ज्ञान ऊर मे न आने भक्ति हिय में न धारी जू।
चंद हितकारी तौपे होत बलिहारी
लाज तुमको हमारी कृपा करिये बिहारी जू॥

मध्य—

जग दुख सागर मे गोता खात जीव यह
माया की पवन के झकोर मांझ परचौं है।
धारि शिर भार क्यौहु हो नहि पार ग्रैसे
करत विचार मन मेरो अरबरयो है।
टेरत तहां तैं दीन-बन्धु करुणा के सिन्धु
तुम बिन दुख कौ कापैं जात हर्यो है।
बहु प्राण धर्यो, कृपा ही को अनुसर्यो प्यारे
जोई तुम कर्यो सोई आनन्द सौ भर्यो है।

अन्त—

दैनि के समय मैं न होत है प्रभात कहुं
भोर के समय मैं न होत कभू रात है।
ठीक दुपहर माझ होत नहिं संझ चन्द
सांझ ही के मांझ कहौ कैसे होत प्रात है।
प्रात मध्य सांझ रात होत है समय ही मैं
ग्रैसे हानि लाभ सुख दुख निजु गात है।
समै की जो बात तेतौ समै ही मैं होत जात
जानत बिबेकी अबिबेकी पछितात है॥

(स) रचना—श्री राम जी चौपर को ख्याल

रचनाकार—कवि चन्द (हित)

लिपिकाल—1823, अपूर्ण। फोलियो 15 से 20 तक।

इस रचना में 12 पद पूर्ण हैं। 13वाँ पद पूर्ण नहीं है और आगे के पृष्ठ नहीं हैं। अत: यह विदित नहीं होता कि रचना कितनी बड़ी है। पद बड़े सुन्दर है। भाषा ब्रजभाषा है। कवित्त सवैया का प्रयोग है। उदाहरणार्थ :—

प्रारम्भ—

चौपर को षयाल सब षेलत जगत माझ
यह सब ही को ज्ञान प्रगट दिषावें है।

नोट :—यह चन्द हित है, इनका रचनाकाल जानना है। तीनो ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

उदाहरणार्थ–'**श्री राम जी चौपर को ख्याल**' के पद उद्धृत किये जाते हैं।

चौपर—

कविता बनावें आछे अछरनि लावें
जानि जमक मिलावें अनुप्रास हूं सबै कहों।
भाट ह्व सुनावें हरखावें ललचावें, दाम
एक नहि पावें वृथा नर की कृपा चहै।
सब मैं प्रवीन हरिपद मैं न लीन
प्रेम रस के नहीं लहै
भक्ति सौ विमुख ताको मुख न दिखाओ
हम चाहत है यह वासौ दूर नित ही रहै।
उत्तम पदारथ बनाय कै जो आगें धरैं
तहि नहि देखे यह मुम को चरेल है।
ऐसैं परमारथ की बात न सुहात याहि
वृथा बकवाद विख सेवें बिगरैल है।
आगे और पीछे को विचार नाहि करे कम्
महानीच सबही सौ अरत अरेल है
हरि गुरु कों संतन को रूप नहि जान्यो
यातैं भक्तिहीन नर सीग पूंछ बिन बैल है।।

अथ भाव लिख्यते

रूप के सरोवर मे अली कुमुदावली हैं
लाल है चकोर तहाँ राधा मुख चन्द है
छवि की मरीचिन सौ सींचत है निस दिन
कोटि कोटि रवि ससि लागे अति मन्द है
इकटक कर रहैं मुख नाम सुख लहैं
फिरि कृपा दृष्टि चहै सुख रूप नंदनंद हैं

जाको बेद गावें मुनि ध्यान हूं न पावें
तेतौ बलि बलि जावें चन्द फसे प्रेम फन्द है ।
पीत रंग बोरे खरे खेलत है होरी दाऊ
वृन्दावन वीथिन मैं धूम मची भारी हैं ।
सुघर समाज सब सखी सौज लिये सौंहैं
फैंटनि गुलाल कर कंज पिचकारी हैं ।
चोटनि चलाव तब तब चावत प्रदायनि सौ
नैननि नचावत हंसत सुकुवारी है ।
हो हो कहि बोलें चन्द हित संग डोलें
कहै सुख को निकेत ये बिहारिन बिहारी है ।।

(ख) रचना—चंद्र नाथ जी की सबदी

प्रति गूढ़ भाषा में 19 पद हैं । यह ग्रन्थ योग से सम्बन्धित है ।

उदाहरण—

काया सोनौ सिध सुनार
प्रारम्भ प्रग्नि जगावण हार ।
ताहि प्रग्नि को लागौ पास
प्रग्नि जगाई चकमक स्वास ।

(3) **ग्रन्थ–श्री नीतिसार भाषायाम**

रचनाकार–कवि चन्द

रचनाकाल–जयपुर नरेश सवाई जयसिंह जी का समय

लिपिकाल–कवि के समय का अथवा अनुमान से 200 वर्ष प्राचीन

विवरण—

यह पुस्तक 5:8 इच चौडी लगती है । दोनों ओर 1 इच की जगह छूटी हुई है । एक हाथ की सुन्दर सधी हुई लिखावट है । यह पुस्तक अलग-अलग जुज में है, इस समय बिना सिलाई के है । सारी रचना जो विद्यमान है उसका अन्तिम फोलियो नं० 59 है परन्तु गणना करने से 64 होती है । प्रारम्भ का फोलियो अप्राप्य है, मध्य के 16 फोलियो नहीं हैं । अन्त के अनुमान से 1 या 2 फोलियो नहीं हैं ।

यह रचना कवि चंद रचित है, कवि ने जयपुर राज्य के मुसाहिब श्री मनोलाल दरोगा के लिए यह रचना की । मनोलाल दरोगा धर्मात्मा, वीर, उदार, नीतिज्ञ था । रचना में नीतिसार ग्रन्थ को अपूर्व कौशल के साथ ब्रजभाषा में दोहा, सोरठा, चौपाई, बरवे, अडिल, त्रौटक, छप्पय, कवित्त, कुण्डलियाँ, आदि छदो मे प्रकट किया है । राजनीति सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यक बातो का, यथा–युद्ध की सामग्री, व्यूह-प्रति-व्यूह आदि अनेक बातों का उल्लेख किया गया है । अनेक दृष्टियों से यह रचना महत्त्वपूर्ण है । राजा-मन्त्री के गुणों का विस्तार से प्रकटीकरण है । कवि ने रचना को सर्गों में विभाजित किया है ।

1–इन्द्री जयो विद्यावृद्धि संजोगोनाम प्रथमो सर्ग–65 छंद
2–विद्या उपदेश वर्णाश्रमधर्म दण्ड महात्मनां द्वितीयो सर्ग–35 छद
3–आचार व्यवस्थानां तृतीयो सर्ग–29 छंद
4–राजा मुसाहिब देश कोष षजानों फौज, मित्र परीक्षण गुण वर्णना चतुर्थ सर्ग–49 छंद
5–भृत्य मित्रं वंधन उपदेस सामान्य जीत वृत्य नाम पंच सर्ग–5 छद
6–कंटक साधनोनाम षष्टं सर्ग–12 छंद
7–राजपुत आतमारनदास सरश्ता वर्णनाम् सप्तम्–41 छंद
8–अष्टमोसर्ग के केवल 32 छद इसमे है ।
9–अप्राप्य
10–अप्राप्य
11–अप्राप्य
12–अप्राप्य
13–अकीलचर प्रकरण वर्णनोनाम त्रयोदश सर्ग–42 छद
14–प्रकृति कर्म प्रकृति विशन वर्णनों नाम चतुर्दश–43 छद
15–राजोपदेश सप्त विसन दूषण वर्ननोनामं पचदसमौ–39 छंद
16–राजोपदेश जाग्रा जुवति दरसनों नाम षोडसोसर्ग–44 छंद
17–दरसैनो नाम सप्तदशो सर्ग–21
18–अष्टादशमो सर्ग–38
19–उनीसवो सर्ग–39
20–बीसवे सर्ग मे व्यूह आदि का तथा अंत मे काव्य-ग्रन्थ प्रयोजन दिया है जो 51 वे छद तक है । आगे के पृष्ठ नही है ।

इस प्रकार से इस पुस्तक मे लगभग 630 छंद प्राप्य हैं ।

उदाहरण—

दोहा

गुरु सेवहु नृप पद वितै, पावहु कमला पूर
सिक्षा सै नीतिहि बढ़ै शत्रु हनियतै धूर ।
जावर भूप नहि नीति रस ताजीतै अरिहीन
छोटो हू जग जय लटै राजा शिक्षा लीन ।।

छप्पय—

श्री जय साहि नरेस चरम अवतार प्रगटि वर
जिनके अष्ट प्रधान नीति धम जान बुधिवर
सिंघी भूँयारांम स्वांम के काम सुधारत
फोज मुसाहिब हुकुमचंद दल उवन विदारत
जीवण जु सिंघ विजय अतुल मंत्री विमल प्रभानिये
मनाजुलाल बगसि बिलंद टाल हिन्दु की जानिये ।

अमा जु चंद दीवान स्वामिधर्मि हरिभक्त है
मानासिंध सिंघ जिमि बल दंडन अनुरक्त है
सिरमोर सीतलाल पालना प्रजा समाम्ह
चंवरि विदिसि दिस गहन परच आवदनी हत्थ है
सब विधि सुजान बुधिवान बरम नी लाल उदारचित ।

सवैयों के अंत मे लिखा है "इति श्री नीतिसारे भाषायां कवि चंद बिरचितं दरांगाजी श्री मनालालजी हेत" ।

यह प्रति प्रारम्भिक प्रति हो सकती है । इसमे अनेक स्थानों पर शुद्ध किया हुआ है ।

ऊपर हमने मिश्रबन्धु विनोद से चन्द अथवा चन्द्र और उनके नाम साम्य वाले कवियों की सूची दी है । उसका एक कारण सीधा-सा यह है कि हमें हिन्दी में चन्द नाम तथा साम्य रखने वाले नाम के कवियो का एकसाथ ज्ञान हो जायेगा किन्तु हमारा दूसरा उद्देश्य और मुख्य उद्देश्य यह जानना भी है कि जो ग्रन्थ हमें उपलब्ध हुए हैं और जिनके लेखक जो चद नाम के कवि है उनका पता मिश्रबन्धुओं तक मिल सका था अथवा नहीं । इसमें जिन चन्द नाम के कवियों का साहित्य मिला है उनमें से एक तो 18वीं शताब्दी का कवि है । शेष सभी 19वीं शताब्दी के विदित होते हैं । मिश्रबन्धु विनोद के चन्दबरदायी तो प्रसिद्ध हैं और प्रसिद्धि से भी अधिक विवादास्पद हैं । दूसरे चन्द हितोपदेश के लेखक हैं । जिनका रचना काल 1563 माना गया है अर्थात् वे 16वीं शताब्दी के हैं । एक चन्दसखी ब्रजभाषी 1638 यानी 17वी शती के है । 18वीं शती के कवि हैं एक चन्द 'नागनौर की लीला' के लेखक जिनका रचनाकाल 1715 या 1756 है । दूसरे चन्द पठान और मुलतान हैं जिनका समय 1761 है । एक चन्द्रसेन को 1726 के पूर्व का बताया गया है । एक चन्दलाल गोस्वामी 1768 के हैं । ये राधावल्लभी हैं । ये 18वी शताब्दी के कवि हैं । 19वी शताब्दी के कवियो में एक चन्द्रधन है 'भागवत सार भाषा' के लेखक जिनका समय 1863 बताया गया है । दूसरे चन्द्र राधावल्लभी है जिनका समय 1820 बताया गया है । एक चन्द्रदास को 1823 के पूर्व का, फिर एक चन्द्रलाल गोस्वामी राधावल्लभी जिनका कविता काल 1824 माना गया है । सम्भवत ये वही चन्द्रलाल हैं जिनका कविता काल 1768 बताया गया है । फिर एक चन्द्रकवि सनाढ्य चौबे है, कविता काल 1828 । फिर एक चन्द्रहित राधावल्लभी जिनका रचनाकाल नही दिया है । एक चन्द जो गोसाई है जिनका रचनाकाल 1846 है । इतने 19वी शताब्दी के कवि है ।

इनमें से हमारे संग्रह के पहले कवि और मिश्रबन्धु विनोद के 'नागनौर' की लीला के लेखक कवि चन्द एक ही है जिनकी रचना 'नागदमन' है । मिश्रबन्धुओं ने इसे 'नागनौर' लिखा है जो मूलत. 'नागदौन' होगा और इसका रचनाकाल सं० 1715 मिश्रबन्धु बिनोद में बताया गया है । हम ऊपर देख चुके है कि 'वीणा' मे भी इसी कवि की इसी कृति का उल्लेख है और उन्होंने भी सवत् 1715 रचना काल माना है । क्योंकि संवत् की जो पक्ति है उसे 'सत्रह सै दस पच' तक ग्रहण करे तो उससे 1715 ही रचना का संवत् निकलेगा । अत 'नागदौन' की लीला के लेखक चन्द और हमारे चन्द 'नागदवन' के लेखक एक ही प्रतीत होते हैं । कृति के नाम मे विभिन्नता है पर विषय से स्पष्ट है कि उसमें नागदमन या कृष्ण की नागलीला का वर्णन किया गया है । मिश्रबन्धु बिनोद में

अत्यन्त सूक्ष्म रचना मिलती है। हमारी दृष्टि में यह कवि महत्त्वपूर्ण हैं। यह आवश्यक है कि इस पर विशेष ध्यान दिया जाये। हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि हमारी दृष्टि में इसका रचनाकाल 1856 होना चाहिए। हमें 'सत्रह से दस पच' पर ही नहीं रुकना चाहिए आगे 'छर' को भी ग्रहण करना होगा।

हमारे दूसरे कवि चन्द 'भागवत दोहा' सूची के लेखक हैं। जैसा कि हमने ऊपर टिप्पणी मे बताया है कि यह 'भागवत दोहा सूची' ग्रन्थ श्रीमद्भागवत् श्रीधरी टीका की दोहों में सूची है। कवि ने एक-एक अध्याय को एक-एक दोहे मे अत्यन्त संक्षेप मे प्रस्तुत कर दिया है। ग्रन्थ मे जो उल्लेख है उससे विदित होता है कि लेखक ने 10 स्कंध ग्रन्थ 1895 में पूरा किया, द्वादश स्कंध 1896 मे नृसिंह चौदस को। इन चन्द के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में जो परिचय दिया हुआ है उससे प्रतीत होता है कि यह फतेहगढ़ के नृपति महाराजा बाघसिंह के पुत्र थे। अंत मे, एक दोहे में यह भी उल्लेख है जो ऊपर की टिप्पणी में विद्यमान है। आरम्भ में जिस प्रकार वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथजी की वंदना की गयी है उससे स्पष्ट है कि यह पुष्टि मार्गी थे। इन कवि चन्द का पता मिश्रबन्धुओं को नहीं था, ऐसा प्रतीत होता है। हमारे कवि चन्द के 'भागवत दोहा सूची' ग्रन्थ के समकक्ष ग्रन्थ 'भागवत सार भाषा' के लेखक चन्द्रघन को मिश्रबन्धुओ ने 1863 के पूर्व का बताया है। ग्रन्थ के नाम से भी यह सम्भावना प्रतीत होती है कि मिश्रबन्धुओ के चन्द्रघन पुष्टि-मार्गी कवि चन्द से भिन्न हैं। अतः ये एक नये कवि हैं जिनका अब तक पता नहीं था। इसमे कोई सन्देह नही कि यह 'बाघनृपति सुत चन्द' विद्वान भी थे और उच्च कोटि के कवि भी थे, तभी एक अध्याय का सार एक दोहे मे दे सके।

फिर एक कवि चन्द 'अभिलाष पच्चीसी' के लेखक है। प्रतीत होता है कि 'समय पच्चीसी' और 'श्री राम जी चौपड के ख्याल' के लेखक भी यही कवि चन्द है। बहुधा इन्होने अपने नाम के साथ हित लगाया है यथा 'कवि चन्द हित' जिससे भी सिद्ध होता है कि ये हित हरिवंश सम्प्रदाय अर्थात् राधावल्लभी सम्प्रदाय के कवि हैं।

कवि चन्द हित की इन रचनाओं का लिपि समय 1823 दिया हुआ है। हित शब्द के आधार पर देखे तो मिश्रबन्धुओं के 1001 की संख्या के कवि चन्द हित भी राधावल्लभी है अतएव दोनो एक ही प्रतीत होते है। पर इनमे से किसी के साथ रचनाकाल नहीं दिया हुआ है। इससे अन्तिम निर्णय नहीं लिया जा सकता।

इनके बाद चन्द्रलाल गोस्वामी के दो रचनाकाल हैं, एक 1767 और एक 1824 और एक अन्य चन्द राधावल्लभी का समय 1880 है। इन तीनो का विशेष विवरण मिश्रबन्धु विनोद मे नही दिया गया है। इसलिये यह निर्णय करना सम्भव नही कि यह हमारे कवि चन्द हित से भिन्न है या अभिन्न। किन्तु इसमे संदेह नही कि कवि चन्द हित की रचनाये 'समय पच्चीसी', 'अभिलाष पच्चीसी' तथा 'राम की चौपड़ का ख्याल' नयी उपलब्धियाँ है और इसी प्रकार 'नीतिसार भाषायाम' के लेखक कवि चन्द भी एक नयी खोज हैं। जयपुर नरेश सवाई जयसिंह का 1699 से 1743 तक शासनकाल है। इनके राज्य के मुसाहिब श्री मनोलाल दरोगा के लिए यह रचना कवि चन्द ने रची।[1]

1. इति श्री नीति सारे भाषायां, कवि चन्द विरचितं दरोगा जी श्री मनोलालजी हेत।

स्पष्ट है कि नीतिसार का सम्बन्ध विशेषतः राजनीति से है।

एक अन्य कवि 'चन्द नाथ' हैं जिन पर संक्षिप्त टिप्पणी दी है। इनका ग्रन्थ 'चन्द्रनाथ की शब्दी' हमें प्राप्त हुआ है। यह भी नयी उपलब्धि विदित होती है। ये नाथ सम्प्रदाय के कवि हैं और इस शब्दी में योग की चर्चा है।

एक अन्य चन्द कवि की एक कृति 'संग्राम' हमें अन्यत्र देखने को मिली। यह भी जयपुर नरेशों के कवि हैं और इसने 'सग्राम सागर' नामक ग्रन्थ में महाभारत के द्रोणपर्व के अनुवाद के रूप में युद्ध-शास्त्र का वर्णन किया है। इस कवि ने आरम्भ में शिव की वंदना की है फिर कृष्ण की वदना की है किन्तु इसने विस्तारपूर्वक नृपवंश वर्णन तथा कवि वंश वर्णन दिये हैं जिससे जयपुर राजघराने के राजाओं तथा उनके आश्रित कवियों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। हम इनके ये अंश यहाँ ज्यों के त्यो उद्धृत कर रहे हैं :—

अथ नृप वंश वर्णनम छपये

देश ढुढाहर मध्य सर्व सुख सम्पति साजत।
अमरावति सम अवनि मांझ आमेरि विराजत।
तास भूप पृथिराज सदा हरि भक्ति परायन।
भारमल्ल तिन तनय खग्ग खंडन अरि धायन।
भगवत दास नृप तास सुव दखल जैम दक्षिण करिये।
सुत मान जिति शत अष्टि रण जश जहा न धन बिथयरिय।
तास कवर जगतेश खान ईशव जिन खंडिय।
महा सिघ तिन तनय कीर्ति महि मडल मडिय।
? (जा) यउताम जयसिंघ जीति सेवा गहि आनिय।
तास पुत्र नृप राम अमल आसाम जु ठानिय।
? य कृष्ण सिंघ तिन के तनय विष्णु सिंघ तिन सुत लियउ।
जयसिंह सवाई जास जिन अश्वमेध अध्वर कि[illegible] ।8।
माधवेश नरनाह तनै तिनके परगट्टिय।
जिन जवाहिर हि जेर ठानि जट्टन दह बट्टिय।
तिन तनूज परताप ताप दुज्जन दल मांडिय।
करि पटेल मदमग जग दक्षिण दल खडिय।
राजाधिराज जगतेश मय जिन जहान जय विथ्थरिय।
करि समर (?क) उज कमधज्ज कारण भजाय कमधज्ज किय।
तिन तनूज जयसाह तरनि समतेज उझल्ले।
जन्म लेत जिन तिमिर तत भय नष्ट मुसल्ले।
कूरम राम नरेन्द्र तनै तिनके परगट्टिय।
पुहुमि मांझ पुरहूत जेमि प्रभुता जिन पट्टिय।
रसबीर मांझ बटिट सुरुचि द्रोण जुद्ध चित अनुसरिय।
भाषा प्रबन्ध कवि चन्द कौ करन हेतु आयस करिय ।।10।।

दोहा   लशत भरि कूरम सदन कवि कोविद वर ब्रंद
देव मनुज भाषा निपुण निरख्यो तहं कवि चन्द। 11।

कवि वंश वर्णन

दोहा—

उतन बासवन पुर विशद अंतरवेद मझार।
भयो चंद्र मणि विप्र कुल कान्य कुब्ज अवतार। 14।

तिहि तनूजा गिरधर भये गिरधर को हियवाश।
वशे आय रुजगार लहि दिल्ली पति के पाश। 15।

भये शिरोमणि तास सुत पंडित परम सुजान।
लहि निदेश आने इते दिल्ली पति तें मान। 16।

तिहि तनूज माधव भये चरनऊ माधव चाह।
जिस हमेश वर्णन किये सुजश बडे जयसाह। 17।

भये प्रकट तिनके तनय जाहिर लछीराम।
जिन्हें रीझि जयसाह नृप दिये दिष्ष दश ग्राम। 18।

रामचन्द्र तिनके भये पैरि सवैगुन पंथ।
महाराजा जयसाह हित अलंकार किय ग्रंथ। 19।

प्रगट पुत्र तिनके भये सोमानन्द सुजान।
माधवशे नरनाह तें लह्यो सरस सनमान। 20।

तिनके सुवन सपूत भे लालचंद इक आय।
महाराज परताप को रहै सदा गुन गाय। 21।

सुकविचद तिनको तनय भो गुन उत्तम गात्र।
कूरम राम नरेन्द्र के भयो कृपा को पात्र। 22।

देश विदेशन मे भयो कवि पंडित विख्यात।
कूरम राम नरेन्द्र हित किये ग्रंथ जिन्हे सात। 23।

हुकम पाय जिहि राम को द्रोण पर्व अनुसार।
गु सग्राम सागर रच्यो शूरन को शृंगार। 24।

श्रवण सुनत ही क्षेत्र कुल कायरता गटि जाय।
अंग अंग प्रति जंग की मन उमंग अधिकाय। 25।

रुद्र गगन योगीश शशि भाद्र शुक्ल रविवार।
ढंजि द्रोण सग्राम निधि लियो गृंथ अवतार। 1911। 27।

इति श्री मन्महाराजाधिराज राजराजेन्द्र श्री सवाई राम सिंघ देवाज्ञया सुकवि चंद विरचित संग्राम सागरे पाशुपता———शुभमस्तु।

पत्र संख्या 378, जिल्द बंधी।

इसके आधार पर राजवंश वर्णन और सुकवि चंद के वंश का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ इस प्रकार प्रतीत होता है जैसे कि प्रस्तुत तालिका में दिया हुआ है।

काल	राजवंश	कविवंश
1503–1527 ई०	1–पृथ्वी राज	चन्द्रमणि (उतनवास, काव्य
1548–1574	2–भारमल्ल	कुब्ज, बनपुर ग्रन्तर्वेद
1574–1590	3–भगवत दास	गिरधर (दिल्ली पति की
1590–1614	4–मानसिंह	सेवा में ग्राये) शिरोमणि
	5–जगतेश	
1615–1622	6–महासिंघ	
	7–भावसिंह	
1622–1667	8–जयसिंह प्र०	1–माधव
		2–लच्छी राम
		3–रामचन्द्र
1667–1690	9–रामसिंह प्र०	
	10–कृष्ण सिंह	
	11–विष्णु सिंह	
1700–1743	12–जयसिंह सवाई द्वि०	
1743–1751	13–सवाई ईश्वरी सिंह	
1751–1768	14–सवाई माधव सिंह	शोभा चंद, जवाहर
1778–1803	15–सवाई प्रताप सिंह	लालचंद
1803–1818	16–सवाई जगत सिंह	
	17–सवाई जयशाह	
1835–1880	18-सवाई रामसिंह द्वि०	सुकवि चंद
1880–1922	19–सवाई माधोसिंह जी बहादुर द्वि०	
1922–1970	20–सवाई मानसिंह	
1970–1971	21–सवाई भवानी सिंह	

ऐसा प्रतीत होता है कि 'नाथ वंश प्रकाश' का लेखक तथा 'संग्राम सागर' का लेखक तथा 'नीतिसार' का लेखक एक ही व्यक्ति है। इस कवि ने संग्राम सागर में यह उल्लेख तो किया है कि उसने सवाई रामसिंह के लिए सात ग्रन्थ लिखे। एक ग्रन्थ 'भेद प्रकाश नाटक' भी एक अन्य हस्तलेखागार में हमें देखने को मिला। उसका लेखक भी सुकवि चंद है। उसका रचना काल सन् 1890–1912 दिया हुआ है। यह भी इसी कवि का प्रतीत होता है। मिश्रबन्धु विनोद ने कवि चन्द के जिस 'भेद प्रकाश ग्रन्थ' का उल्लेख किया है वह भी इसी कवि से ग्रभिन्न विदित होता है। इस कवि की ओर विशेष ध्यान देने की ग्रावश्यकता है। इस कवि का काव्य स्तर भी ऊँचा है। यहाँ खोज में प्राप्त इन 'चन्द' नाम के कुछ कवियों का सामान्य परिचय तुलनापूर्वक दिया गया है।

इस एक विस्तृत उदाहरण से उन सभी बातों पर प्रकाश पड़ जाता है, जो कि इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन मे उपयोग में आती हैं। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि जितनी भी उपलब्ध सामग्री है उसके आधार पर पहले तो एक सूची समान नाम के कवियों की बनायी जानी चाहिए। इसमे संक्षेप में वे आवश्यक सूचनाएँ दी जानी चाहिए जो सामान्यतः अपेक्षित है, यथा—उनके ग्रन्थ, उनका रचना-काल एवं उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में अन्य सूचनाएँ।

इनके आधार पर यह देखना होगा कि कौन-कौन से कवि ऐसे हैं जो एक ही व्यक्ति हैं, भले ही उनके नोटिस या विवरण अलग-अलग लिए गए हो। इस प्रकार समस्त उपलब्ध सामग्री का एक सरसरा निरीक्षण प्रस्तुत हो जाता है, जो विषय के अध्येता के लिए उपयोगी हो सकता है।

इसके साथ ही अपने संग्रह में उपलब्ध इसी नाम के कवियों के ग्रन्थों की कुछ विस्तार से चर्चा कर देने से यह भी पता चल सकता है कि क्या हमारी सामग्री बिल्कुल नयी उपलब्धि है और क्या किन्ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है ?

यह कहने की आवश्यकता नही कि उपर्युक्त एक नाम के कवियों और उनकी कृतियों की यह चर्चा इन कवियो का अध्ययन नहीं है, इसका उद्देश्य केवल जानकारी देना है।[1]

अब पांडुलिपि विज्ञानार्थी को इसी प्रकार की अन्य अपेक्षित सूचियाँ या तालिकाएँ भी अपने तथा अन्यों के लिए अपेक्षित उपयोगी जानकारी या सूचना देने के लिए प्रस्तुत करनी चाहिए।

यहाँ तक उन प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है जो पांडुलिपि के सम्पर्क में आने पर पांडुलिपि विज्ञानार्थी को करने होते हैं।

विवरण प्रकार · इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है विवरण लेने और प्रस्तुत करने का। इन प्रयत्नों को संक्षेप में यों दुहराया जा सकता है। **विवरण कई प्रकार के हो सकते हैं :**

एक प्रकार को 'लघु सूचना' कह सकते हैं,

इसमें निम्नलिखित बातों का उल्लेख संक्षेप में पर्याप्त माना जा सकता है।

1 क्रमांक

2. रचयिता का नाम……… (अकारादि क्रम में)

3. ग्रन्थ नाम …………

1. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रधान मन्त्री, निरीक्षक, खोज विभाग, काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा ने 'हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थो का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (सन् 1926–28 ई०) की 'पूर्व पीठिका' मे इसी प्रकार का एक सुझाव दिया था। उन्होने लिखा है, "मेरा विचार है कि कुछ प्रमुख ग्रन्थकारो पर खोज की सामग्री के आधार पर कुछ पुस्तकें पृथक रूप मे क्रमश प्रकाशित की जाय। इनसे अनुसन्धान करने वालो को विशेष लाभ तो होगा ही, आलोचना करने वालों और ग्रन्थ सम्पादित करने वालों को भी सरलता होगी। अनायास उन्हें बहुत-सी सामग्री घर बैठे मिल जायगी। इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नही पड़ेगी।" (पृ० व)

4. विषय.............
5. रचना काल .... रचना स्थान ....
6. लिपि काल .... लिपि स्थान ....
7. लिपिकार

'मिश्रबन्धु विनोद' मे ऐसी सूचनाएँ बहुत है, यथा :

नाम (1025) टेक चन्द

ग्रन्थ (1) तत्वार्थ श्रुत सागरी टीका की वचनिका (1837)
(2) सुदृष्टि तरंगिणी वचनिका (1838),
(3) षट् पाहुड वचनिका,
(4) कथा कोश
(5) बुध प्रकाश
(6) अनेक पूजा पाठ

रचना काल – 1837[1]

ऐसी सूचनाएँ प्रकाशन करके पांडुलिपि-विज्ञानार्थी भविष्य के अनुसन्धान का बीज वपन करता है, तथा साहित्य सम्पत्ति की समृद्धि के लेखे-जोखे मे भी सहायक होता है। साहित्य के इतिहास और संस्कृति के इतिहास की यथार्थ रूप-रचना मे निर्मापक तन्तु या ईंट का भी काम करता है।

कभी-कभी तो रचयिता (कवि) के नाम की सूची या ग्रन्थनाम की सूची दे देना भी उपयोगी होता है। इन सूचियों से उन कवियो और ग्रन्थो की ओर ध्यान-आकर्षित होता है जो भले ही गौण हो, पर साहित्य तथा संस्कृति की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं। श्री नलिन विलोचन शर्मा जी ने 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' मे इन गौण कवियो का महत्त्व स्थापित करने का प्रयत्न किया है और पाडुलिपि मे सिद्ध विद्वान की भाँति कुछ सूचियाँ भी परिश्रम-पूर्वक किये गये अनुसधान को चरितार्थ करने वाली दी है। एक सूची उन्होंने मगन्न के गौण कवियो की विविध सुभाषित ग्रन्थों[2] मे प्रस्तुत की है।

इस तालिका में उन्होने 'सदुक्ति कर्णामृत' से ही छांट कर गौण कवि दिये है। इन कवियो को सूची मे अकारादि क्रम से सजोया है, दूसरे उन्होने इस तालिका मे यह भी सकेत

1. मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृ० 818।
2. उन्होने यह सूची निम्न सुभाषित ग्रन्थो से तैयार की है
   (क) सदुक्ति कर्णामृत (श्रीधरदास द्वारा 13वी शती के प्रारम्भ में संकलित)। यही इस तालिका का मुख्य आधार है।
   (ख) कवीन्द्र वचन समुच्चय (जिसमें सभी कवि 1000 ई० से पूर्व के ही हैं)।
   (ग) सुभाषित मुक्तावली एवं सूक्ति मुक्तावली
   (घ) दोनों (जल्हण द्वारा संकलित) 13वीं शती के मध्य की है।
   (ङ) शार्ङ्गधर पद्धति (14वीं का मध्य)।
   (च) सुभाषितावली (15वीं)।

कर दिया है कि समान छंद या कवि का नामोल्लेख किसी अन्य सुभाषित संग्रह में भी हैं। तीसरा महत्त्वपूर्ण संकेत इस तालिका में यह दिया गया है कि इन गौण कवियों के सम्बन्ध में 'साहित्य' तथा 'जीवनी' सम्बन्धी कुछ सामग्री आज किन-किन स्रोतों से उपलब्ध है।

इस पद्धति को समझाने के लिए इस तालिका में से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

1. अचल : कवीन्द्र समुच्चय (आगे 'क.' से संकेतित), कोई सूचना नहीं (आगे न. से संकेतित)।

व्याख्या : 1. अकारादि क्रम में 'अचल' पहले आता है। यह शब्द शर्माजी ने 'सदुक्ति कर्णामृत' से लिया है।

2. 'कवीन्द्र समुच्चय' में भी यह कवि मिलता है।

3. 'क' संकेत से अभिप्राय है कि आगे जहाँ 'कवीन्द्र समुच्चय' का उल्लेख होगा वहाँ केवल 'क' लिखा जायेगा।

4. 'अचल' के सम्बन्ध में कोई और सूचना नही मिलती। इसके लिए कि कोई सूचना नही मिलती, संकेताक्षर 'न' रखा है। सूची मे आगे जहाँ 'न' आयेगा वहाँ यही अभिप्राय होगा कि उस कवि के सम्बन्ध मे कोई और जानकारी नहीं मिलती।

74. गणपति–सु मे पीटरसन ने (पृ. 33) लिखा है कि जल्हण की सू. म राजशखर का एक श्लोक है जिसमे गणपति नामक एक कवि और उसकी कृति 'महा मोह' का उल्लेख है।[1]

व्याख्या 1. संख्या 74 अकारादि क्रम मे सूची मे गणपति का स्थान बताता है।

2. 'सु' सुभाषितावली का सकेताक्षर है। सख्या 14 के ग्रन्थ मे इसका सकेत है। वहाँ यह पूरे नाम से दी गई है।

3 'सू.' यह 'सूक्ति मुक्तावली' का संकेताक्षर है। यह सूचना 36वी संख्या के कवि के सन्दर्भ मे दे दी गई है।

131. तुतातित, ऑफ्रेक्त (कॅटेलॉगस-कॅटेलेगोरम) के अनुसार सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल स्वामी का नाम।[2]

इन उदाहरणो मे यह विदित होगा कि मिश्रबन्धुओ ने जो संक्षिप्त विवरण दिये है उनसे यह आगे का चरण है, क्योकि एक शब्द या एक पंक्ति लिखने के पीछे लेखक का विशद् अध्ययन विद्यमान है, उसका उपयोग भी इस तालिका में भरपूर हुआ है। यह तालिका सूची मात्र नही वरन् अध्ययन प्रमाणित विवरण है।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने 482 गौण कवियों की तालिका दी है। उसके साथ यह टिप्पणी है : "ऊपर प्रस्तुत तालिका से सस्कृत' के ज्ञात-गौण कवियो की सख्या का अनुमान-मात्र किया जा सकता है। अन्य समस्त सुलभ स्रोतो मे ऐसे नाम सकलित किये जायें तो संख्या सहस्राधिक होगी।" निश्चय ही ऐसी तालिका प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किसी सीमा तक पांडुलिपि विज्ञानार्थी के क्षेत्र में आता है। उसके आधार पर संस्कृत साहित्य का पूर्ण इतिहास लिखना साहित्य के इतिहासकार का काम होगा।

1. शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ० 14।
2. वही, पृ० 16।

इस प्रकार आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने 'हिन्दी' के गौण कवियों का इतिहास' शीर्षक अध्याय मे '971' कवियो की तालिका दी है। यह तालिका भी उन्होंने प्रकाशित ग्रन्थों के आधार पर प्रकाशित की है। इस सम्बन्ध मे उनकी भूमिकावत् यह टिप्पणी उल्लेख्य है

"परमानन्द सुहाने' तथा इनसे भिन्न बहुसंख्यक कवियों की स्फुट रचनाएँ शिवसिंह सरोज मे भी संगृहीत है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि सरोजकार द्वारा उल्लिखित आकर-ग्रन्थो मे से प्राय: सभी आज अप्राप्य है। परमानन्द सुहाने के हजारा मे जिन कवियो के छद संगृहीत है, उनके नामो और समय आदि को, सरोज पर अवलम्बित आगे दी गई तालिका से मिला कर हिन्दी के गौण कवियो के अध्ययन के निमित्त आधार-भूमि तैयार की जा सकती है। इस तालिका मे सरोजकार द्वारा किये गये नामो तथा समय के विषय मे ग्रियर्सन तथा किशोरीलाल गोस्वामी[1] की टिप्पणियो का भी उल्लेख है।"[2]

प्रश्न यह उठता है कि क्या मुद्रित और उपलब्ध ग्रन्थो के आधार पर ऐसी सूची प्रस्तुत करना पांडुलिपि विज्ञानार्थी के क्षेत्र मे आता है? आपत्ति सार्थक हो सकती है। पर पांडुलिपि विज्ञानार्थी को अपने भावी कार्यक्रम की दृष्टि से या किसी परिपाटी को या प्रणाली को हृदयगम करने के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है। हस्तलेखो मे शतश ऐसे सग्रह ग्रन्थ मिलेंगे जो 'हजारा' की भाँति के होंगे। उनके कवि और काव्य को तालिकाबद्ध करने के लिए यही प्रणाली काम मे लायी जा सकती है जो आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने यहाँ दी है।

तालिका का रूप :

अब इस तालिका के रूप को समझने के लिए कुछ उदाहरण दिये जाते है

(1) अकबर बादशाह

स०, दिल्ली, 1584 वि०, ग्रि० कि०, 1556–1605।

(2) अजबेस (प्राचीन)

स०, 1570, वि०; ग्रि०, कि०, इस नाम का कवि कोरी कल्पना।

(5) अवधेश ब्राह्मण

स०, बदरबारी, बन्देलखण्डी, 1901 वि०; ग्रि०, 1840 ई० मे उप०।

(6) अवधेश ब्राह्मण

स०, भूपा के बुंदेलखंडी, 1835 वि०; ग्रि०, जन्म 1832 ई०। कि० के अनुसार दोनो अवधेश ब्राह्मण एक ही है, रचनाकाल 1886–1917 ई० है; 1839 ई० जन्मकाल नही है।

(787) लक्ष्मणशरण दास

कि०, "इस कवि का अस्तित्व ही नही है" सरोज में उद्धृत पद 'म दास सरन लछिमन सुत भूप' का अर्थ है–"यह दास लछिमन सुत अर्थात वल्लभाचार्य की शरण मे है।"

(806) शम्भु कवि

स०, राजा शम्भुनाथ सिंह सुलंकी, सितारागढ़वाले 1, 1738 वि०, नायिका भेद;

1. आचार्य शर्मा यहाँ 'गोस्वामी' भूल से लिख गए हैं। यह 'गुप्त' है।
2. शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ० 161।

ग्रि०, सितारा के राजा शम्भुनाथसिंह सुलंकी, उर्फ शम्भुकवि, उर्फ नाथ कवि, उर्फ नृपशम्भु, 1650 ई० के आस-पास उपस्थित, सुन्दरी तिलक, सत्कविगिराविलास, कवियों के आश्रयदाता ही नहीं, स्वयं एक प्रसिद्ध ग्रन्थ के रचयिता, यह श्रृंगार-रस में है और इसका नाम 'काव्य निराली' (?), कि०, शम्भुनाथ सोलकी क्षत्रिय नहीं, मराठे, सरोज में इस कवि के संबंध में लिखा है-"श्रृंगार की इनकी काव्य निराली है। नायिका-भेद का इनका ग्रन्थ सर्वोपरि है। इसी का भ्रष्ट अंग्रेजी अनुवाद ग्रियर्सन ने किया है और इनके काव्य ग्रन्थ का नाम 'काव्य निराली' ढूंढ निकाला है। इनका नखशिख रत्नाकर जी द्वारा सम्पादित होकर भारत जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हो चुका है।"[1]

इन उद्धरणों से इस प्रणाली का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। कालक्रम मे सबसे पहला ग्रन्थ 'सरोज' अर्थात् शिवसिंह सरोज, उसने कवि का उल्लेख सबसे पहले किया। आधार ही उसे बनाया है। सरोज का द्योतक सकेताक्षर 'स०'। उसके बाद ग्रियर्सन ने सूचना दी है। ग्रियर्सन का द्योतक सकेताक्षर 'ग्रि०' तब 'कि०' सकेताक्षर से किशोरीलाल गुप्त को अभिहित कराते हुए उनके 'सरोज सर्वेक्षण' से आवश्यक जानकारी संक्षेप मे दे दी है। इस प्रकार एक ऐसी सूची या तालिका की आधारशिला आचार्य शर्मा ने रख दी है जिसमें पांडुलिपि विज्ञानार्थी अपनी दृष्टि से यथास्थान नये कवियो का नाम और आवश्यक सूचना जोड़ता जा सकता है तथा टिप्पणी देकर अद्यतन अध्ययनो से प्राप्त ज्ञान को हस्तामलकवत् कर सकता है।

पाडुलिपि विज्ञानार्थी इसी सूची का उपयोगी सम्वर्द्धन दो प्रकार से कर सकता है : प्रथम तो अब तक की खोजों के विवरणो से सामग्री लेकर।

यथा, खोज मे उपलब्ध हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थो का अठारहवां त्रैवार्षिक विवरण (सन् 1941-43 ई०) द्वितीय भाग मे जिसके सपादक प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र है : चतुर्थ परिशिष्ट (क) मे प्रस्तुत खोज में मिले नवीन रचयिताओ की नामावली दी है, और उनका शताब्दी क्रम भी बताया है। इस नामावली मे 206 कवि हैं। पाडुलिपि-विज्ञानार्थी इन नामो की परीक्षा कर अपनी तालिका में प्रामाणिक कवियों को स्थान दे सकता है।

इससे भी महत्त्वपूर्ण चतुर्थ परिशिष्ट (ग) है। इसमे काव्य संग्रहों मे आये नवीन कवियों की सूची दी गई है। इस सूची मे गौण कवियो की तालिका और अधिक उपयोगी हो जायेगी और शोधार्थी को शोध की दिशाओ का निर्देश भी कर सकेगी।

पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को एक तालिका और बना कर अपने पास रखनी होगी। यह तालिका उसके स्वयं के उपयोग के लिए तो होगी ही, अन्य अनुसधाता भी उसका उपयोग कर सकते हैं। इस तालिका को रा०ब० डॉ० हीरालाल जी डी०लिट०,एम०आर०ए० एस. ने त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण मे इस रूप मे दिया है। यह इन्होंने चतुर्थ परिशिष्ट में दिया है। इसकी व्याख्या यो की गई है : "महत्त्वपूर्ण हस्तलेखो के समय एव सन् 1928 ई० तक प्रकाशित खोज विवरणिकाओं मे उनके उल्लेख का विवरण"। तालिका का रूप यह है :

सख्या	रचयिताओं का नाम	हस्तलेखो का नाम	प्राप्त हस्तलेखो के उल्लेख तथा समय	विशेष
1	2	3	4	5

1. शर्मा, नलिन विलोचन—साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ० 226।

यह तालिका उपयोगी है, यह स्वयंसिद्ध है, क्योंकि सन्दर्भ की दृष्टि से भी खोज-विवरणों का उल्लेख कर दिया गया है, जहाँ विस्तृत विवरण देखे जा सकते हैं। संख्या 4 को दो भागों में भी विभाजित किया जा सकता है : प्रथम—यह भाग केवल समय-द्योतक होगा, और दूसरा, यह भाग विवरणिकाओं का उल्लेख करेगा। डॉ० हीरालाल ने केवल ना० प्र० स० के खोज के विवरणों के ही उल्लेख दिये हैं, पर पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को जितने भी ऐसे विवरण मिलें उन सभी से सूचनाएँ देनी होंगी। स्पष्ट है कि यह तालिका जितनी परिपूर्ण होगी उतनी ही अधिक उपादेय होगी।

इस विवेचन से हमारा ध्यान डॉ० किशोरीलाल गुप्त के प्रयत्न की ओर जाता है जो उन्होंने 'सरोज सर्वेक्षण' के रूप में प्रस्तुत किया है। 'सरोज' में दिये विवरणों की अन्य स्रोतों से प्राप्त सामग्री का उपयोग कर उन्होंने परीक्षा की है और उनके सम्बन्ध में सप्रमाण अपना निर्णय भी दिया है। पांडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए यह प्रणाली उपयोगी है, इसमे सन्देह नही। वह किसी भी प्राप्त 'पाडुलिपि' के विषय मे उपलब्ध अन्य सामग्री से इसी प्रकार परीक्षा करके टिप्पणी देगा, इससे अद्यतन ज्ञातव्य की सूचना उपलब्ध रह सकेगी।

इसी परिपाटी का पल्लवित रूप वह है जो 'चन्दकवि' के विवरण मे ऊपर दिया गया है। ऐसे विवरण एक-एक कवि पर पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को प्रस्तुत कर लेने चाहिए।

ऊपर हम देख चुके है कि विवरण के मुख्यत दो भाग होते है। एक को 'परिचय' कह सकते है। इसका विस्तृत विवरण विवेचनापूर्वक दिया जा चुका है। दूसरा अश है विषय का अतरग परिचय आदि, मध्य और अन्त के उद्धरणों सहित।

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों मे आरम्भ मे आदि, मध्य (कभी मध्य उद्धृत नही भी किया जाता था) और अन्त के छद-मात्र दे दिए जाते थे। आरम्भ मान लीजिए दोहे से है तो मात्र वह दोहा दे दिया जाता था। अन्त एक कवित्त से हो रहा है तो बस केवल उसी को दे देते थे। इससे विषय का अपेक्षित परिचय नहीं मिल पाता था। अतः जार्ज ग्रियर्सन के परामर्श से इस विषय के अतरग परिचय को अधिक विस्तार दिया जाने लगा। विषय की भी कुछ अधिक विस्तृत रूपरेखा दी जाने लगी। इस बात की ओर उक्त 'विवरणिका' म डॉ हीरालाल जी ने सकेत किया है :

"इसमे विगत विवरणिकाओ की अपेक्षा ग्रन्थों के विषय का विवरण विस्तार से दिया भी गया है। केवल उन्ही का विवरण नही दिया गया है जिनका विवरण विगत विवरणिकाओ मे विस्तृत रूप मे विद्यमान है। एसा सर जार्ज ग्रियर्सन के सुझाव से ही किया गया है जो उपादेय तो अवश्य है किन्तु इससे विवरणिका का विस्तार बहुत हो गया है।"[1]

विस्तार के रूप

विवरण के विस्तार के भी तीन रूप सम्भवतः माने जा सकते हैं :

1. विषय का ब्यौरेवार बहुत सक्षेप मे सार-रूप। इससे ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का कुछ ज्ञान हो सकता है। यह परिचय ग्रन्थ का ज्ञान कराने के लिए नही होता, वरन् ग्रन्थ

1 हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थो का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण, पृ० 7।

की विषय-वस्तु और विज्ञानार्थी की दृष्टि से उसकी प्रकृति और प्रतिपाद्य की पद्धति का उल्लेख करता है। डॉ. टैसीटरी ने अपने दृष्टिकोण से उन हस्तलेखों की विस्तृत टिप्पणियाँ ली, जो ऐतिहासिक महत्त्व के थे।

दूसरा रूप है मूल उद्धरणों का; पांडुलिपि के आदि, मध्य और अन्त से ऐसे उद्धरण देने का और इतने उद्धरण देने का कि उनसे उन मूल उद्धरणों के द्वारा कवि या लेखक की भाषा, शैली तथा अन्य अभिव्यक्तिगत वैशिष्ट्यों की ओर दृष्टि जा सके।

इसका तीसरा रूप है ग्रंथ में आयी समस्त पुष्पिकाओं को उद्धृत करना। पुष्पिकाओं से कितनी ही महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती है।

इस प्रकार विवरण प्रस्तुत करके पांडुलिपि-विज्ञानार्थी उपलब्ध सामग्री के उपयोग के लिए मार्ग प्रशस्त कर देता है।

कालक्रमानुसार सूची

इनमें से एक कालक्रमानुसार उपलब्ध-ग्रंथ सूची भी हो सकती है जो इतिहास के क्षेत्रों में प्रसिद्ध 'The Chronology of Indian History' (भारतीय इतिहास के कालक्रम) के ढग की हो सकती है। मेरे सामने ऐसी ही एक पुस्तक C.Mabel Duff की लिखी है। उसके आरम्भ में दी गई कुछ बातें यहाँ देना समीचीन प्रतीत होता है।

पहले तो उन्होंने लिखा है कि "इस कृति में नागरिक तथा साहित्यिक इतिहास की उन तिथियों को एकत्र कर व्यवस्थित रूप से तालिकाबद्ध कर देना अभिप्रेत है, जो वैज्ञानिक अनुसन्धान से आज के दिन तक निर्धारित की जा चुकी हैं।

इससे यह सिद्ध है कि वे तिथियाँ ही दी गई है जो वैज्ञानिक प्रविधि से पुष्ट होकर निर्विवाद हो गई हैं।

दूसरी बात उन्होंने यह बताई है कि भारतीय इतिहास की सामग्री मात्रा में प्रचुर है और अनेक ग्रंथों और निबन्धों में फैली हुई है, अतः इस काल-तालिका में उस समस्त सामग्री को व्यवस्थित करके तो रखा ही गया है, स्रोतों का निर्देश भी है जिससे यह तालिका समस्त सामग्री के स्रोतों की अनुक्रमणिका भी बन गई है।

ये दोनों बातें हमें ध्यान में रखनी होंगी। डफ ने इस तालिका में कुछ तिथियाँ (सन्/संवत) इटेलिक्स में दी है। इटेलिक्स में वे तिथियाँ दी गई है जो पूरी तरह सही नहीं है, पर निष्कर्ष से निकाली गई हैं और लगभग सही (Approximately Correct) मानी जा सकती हैं। यह प्रणाली भी उपयोगी है क्योंकि इसमें सुनिश्चित और प्राय: निश्चित तिथियों में अन्तर स्पष्ट हो जाता है जो वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इस पुस्तक में से साहित्य सम्बन्धी कुछ उल्लेख उदाहरणार्थ प्रस्तुत करना समीचीन होगा। पुस्तक अंग्रेजी में है; यहाँ अपेक्षित अंशों का हिन्दी रूपान्तर दिया जा रहा है :

ई०पू० 3102 शुक्रवार, फरवरी 18, कलियुग या हिन्दू ज्योतिष संवत का आरम्भ...... यह बहुधा तिथियों में दिया जाता है, यह विक्रम संवत से 3044 वर्ष पूर्व का है और शक संवत् से 3179 वर्ष पूर्व का :

------ 140 पतंजलि, वैयाकरण, 'महाभाष्य' का रचयिता ई०पू० 140–120 में विद्यमान। 'महाभाष्य' के अवतरणों से गोल्डस्टुकर एवं भण्डारकर ने पतंजलि की तिथि निर्धारित की है। जिनसे विदित होता है कि वह

मेनांडर और पुष्यमित्र के समकालीन थे। पूर्वी भारत के गोनार्द के वे निवासी थे और कुछ समय के लिए काश्मीर में भी रहे थे। उनकी माँ का नाम गोणिका था—

गोल्डस्टुकर पाणिनि 234। LitRem i, 131 ff LiAu, 485. BD8. 1 A, i, 299 ff JBRAS, XVI, 181, 199.

सन् ई० 476 आर्यभट्ट, ज्योतिषी का जन्म कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) मे, आर्याष्टक तथा दशगीतिका का रचयिता–WL. 257. Indische Streifen, iii, 300-2 गणकतरंगिणी, ed. सुधाकर, The Pandit, N. S. XIV (1892), P. 2.

600 कविबाण, श्री हर्षचरित, कादम्बरी और चंडिकाशतक के रचयिता, मयूर, सूर्य-शतक के रचयिता, दंडी, दशकुमार चरित एवं काव्यादर्श के रचयिता और दिवाकर इस काल में थे क्योंकि ये कन्नौज के हर्षवर्द्धन के समसामयिक थे। जैन परम्परा के अनुसार मयूर बाण के श्वसुर थे। भक्तामर स्त्रोत के रचयिता मानतुंग भी इसी काल के हैं। ब्हूलर, Di indischer Inschriften Petersons सुभाषितावली, Int 88. VOJ, IV, 67.

1490 हिन्दी कवि कबीर इसी काल के लगभग थे क्योंकि वे दिल्ली के सिकंदर शाह लोदी के समसामयिक थे—BOD 204। उड़िया के कवि दीन कृष्णदास, रस-कल्लोल के कर्त्ता भी सम्भवत इसी काल मे थे। वे उड़ीसा के पुरुषोत्तम देव (जिनका राज्यकाल 1478–1503 के बीच माना जाता है) के समसामयिक थे, आदि।

इस पद्धति मे यह द्रष्टव्य है कि प्रथम स्तम्भ मे केवल सन् (ईस्वी) दिया गया है। और सभी बातें दूसरे स्तम्भ मे रहती हैं। जिन घटनाओं की ठीक तिथियाँ विदित है वे यदि एक ही वर्ष के अन्दर घटित हुई है, तो उन्हें तिथि-क्रम से दिया जाता है।

हमे हिन्दी के हस्तलेखों या पाडुलिपियों की ऐसी कालक्रम तालिका बनाने के लिए निम्न बातों का उल्लेख करना होगा। स्तम्भ तो दो ही रखने होंगे। पहले मे प्रचलित 'सन्' उक्त इतिहास की तालिका की भाँति ही देना ठीक होगा। दूसरे खाने मे पहले खाने के सन् के सामने सं० लिखकर 'संवत्' की संख्या देनी होगी। उसके नीचे 'चैत्र' से आरम्भ करके तिथि का उल्लेख करना ठीक माना जा सकता है। तिथि का पूरा विवरण 'पुष्पिका' सहित लिखना चाहिए। 'कृतिकार' का नाम, आश्रयदाता का नाम, कृति के लिखे जाने के स्थान का नाम, ग्रंथ का विषय। साथ ही लिपिकार या लिपिकारो के नाम। लिपि करने का स्थान-नाम, लिपिकाल, लिपिकाल की कालक्रम से भी प्रविष्टि की जायगी। वहाँ भी लिपिकार के साथ ग्रंथ और रचयिता का उल्लेख काल-सहित किया जायेगा, यथा—

पांडुलिपि कालक्रम तालिका

क्रमसंख्या	ईसवी सन्	
1.	760	वि०सं० 817 सरहपा–ब्राह्मण, भिक्षु सिद्ध (6) देश मगध (नालंदा) कृतियाँ–कायकोष-अमृत-वज्रगीति, चित्तकोष–अ ज-वज्रगीति, डाकिनी गुह्य,-

वज्रगीति, दोहा कोष–उपदेशगीति, दोहा कोष, तत्त्वोपदेश-शिखर-दोहा कोष, भावना फल-दृष्टि चर्या, दोहा-कोष, बसन्ततिलक-दोहा कोष, चर्यागीति दोहा कोष, महामुद्रोपदेश दोहा कोष, सरहपाद गीतिका (गोपाल-धर्मपाल के राज्य-काल (750–70–806 ई०) मे विद्यमान ।
रा० सां०–"पुरातत्त्व निबन्धावलि (पृ० 169) रा० सां०–हिन्दी काव्य धारा)।

2. 1459 वि०सं० 1516
9, ज्येष्ठ वदि, बुधवार (रचना काल)। 'लखमसेन पद्मावति' रचयिता दामो। लिपिकाल सं० 1669 वर्ष, माह 7। लिपि-स्थान : फूलखेडा। सवत पनरह सौलोत्तरा मझारि, ज्येष्ठ बदि नवमी बुधवार। सप्त तारिका नक्षत्र दृढ़ जाणि, वीर कथारस करू बखाण" दामो रचित लखमसेन पद्मावती सं० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी + प्रकाशित (परिमल प्रकाशन प्रयाग–2) प्रथम सं० 1959 ई०।

अब 1459 में 10 वीं बृहस्पतिवार ज्येष्ठ वदी की कोई रचना है तो 'लखमसेन पद्मावती' के उल्लेख के बाद इसी स्तम्भ मे लिखी जायगी। पहले विक्रम संवत्, तब रचना-तिथि, ग्रन्थ का नाम, रचयिता का नाम तथा अन्य आवश्यक सूचनाएँ देकर नये प्रघट्टक से पुष्प या तारक (*) लगा कर सन्दर्भ सूचना दे दी जानी चाहिये।

प्रत्येक पाडुलिपि विज्ञानार्थी अपने-अपने लिए ये कालक्रम तालिकाएँ बना सकते हैं, पर आवश्यकता इस बात की है कि The Chronology of Indian History की तरह समस्त पांडुलिपियों की 'कालक्रम तालिका' प्रस्तुत कर दी जाय। साथ ही दायीं और इतना स्थान छूटा रहे कि पाडुलिपियों के प्रकाशन की सूचना यथा समय भर दी जाय, यथा : ऊपर (+) चिह्न के साथ प्रकाशन सूचना दी गयी है।

अध्ययन को, विशेष दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिए, ऐसी सूचियाँ भी प्रस्तुत करनी होगी जैसी डब्ल्यू० एम० कल्लेवाइर्ट (W.M. Callewaert) ने बेल्जियम के 'ओरियन्टेलिया लोवनीनसिया पीरियोडिका' के 1973 के अंक में प्रकाशित करायी है और शीर्षक दिया है "सर्च फॉर मैन्युस्क्रिप्ट्स् ऑव द दादूपन्थी लिटरेचर इन राजस्थान"[1] अर्थात् राजस्थान मे दादूपन्थी साहित्य के हस्तलेखों की खोज

इस 12 पृष्ठ के निबन्ध मे छोटी-सी भूमिका में उन्होंने यह बताया है कि 'सबसे पहले स्वामी मंगलदास जी ने 77 दादूपन्थी लेखकों की व्यवस्थित सूची प्रस्तुत की जिसमे लेखकों के नाम, उनकी कृतियाँ और सम्भावित रचना-काल दिया।" फिर भी बहुत-से दादू-पन्थी लेखकों के बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ अभी तक सूचीबद्ध नहीं हुए है। तब लेखक ने यह बताया है कि—

"इन पृष्ठो मे राजस्थान, दिल्ली और वाराणसी मे पाँच महीने की अवधि में उन्होंने जो शोध की उसके परिणाम दिये गये हैं। लेखक ने यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी है कि

1. Callewaert. W. M.—Search for Manuscripts of the Dadu Panthi Literature in Rajasthan, Orientalia Lovaniensia Periodica (1973-74).

इस सूची का यह दावा नहीं कि इसमे जितने भी सम्भव संग्रह हो सकते हैं, सभी का उपयोग कर लिया गया है। इस कथन से उस भ्रम को दूर किया गया है, जो सम्भवतः इस सूची को देखकर पैदा होता कि इस लेखक ने सूची अद्यतन पूर्ण कर दी है, अब और कुछ शेष नहीं रहा। वस्तुतः मानवीय प्रयत्नो की सामर्थ्य और सीमाओं के कारण ऐसा दावा कोई भी नहीं कर सकता कि ऐसी सूची उस विषय की अन्तिम सूची है।"

फिर लेखक ने यह भी इंगित कर दिया है कि इस सूची में दादू के शिष्यों के द्वारा प्रस्तुत किये गये साहित्य का ही समावेश है, किसी अन्य की कृति का समावेश किया गया है तो यथास्थान उसका उल्लेख कर दिया गया है।

लेखक ने सूची में उन ग्रन्थो की पाडुलिपियो का उल्लेख करना भी समीचीन समझा है जिनका मुद्रित रूप मिल जाता है। ऐसा उसने पाठालोचन के लिए उनकी उपयोगिता को दृष्टि मे रख कर किया है।

यह सूचना भी उसने दी है कि सन्-सवत की सख्या से ईस्वी सन् (A.D.) ही अभिहित है। प्रतिलिपि के कालक्रम से ही ग्रन्थ सूची तैयार की गई है।

इस सम्बन्ध मे लेखक के पक्ष में हमे यह कहना है कि प्रतिलिपि-काल अधिकांश पाडुलिपियों में मिल जाता है, जब कि रचना-काल बहुत कम रचनाओं मे प्राप्त होता है। यह बात संत-साहित्य के सम्बन्ध मे सर्वाधिक सत्य है। अतः सूची बनाने में क्रम की दृष्टि से वैज्ञानिक आधार प्रतिलिपि का काल ही हो सकता है। यो भी प्रतिलिपि-काल महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह काल यह तो सिद्ध करता ही है कि रचना इस काल से पूर्व हुई। यह काल ग्रन्थ की लोकप्रियता का भी प्रमाण होता है, और लिपि के तत्कालीन रूप की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

इसके बाद सग्रहो या सग्रहालयो की संकेत सूची दी गई है, क्योंकि सूची मे आगे सकेताक्षरो से ही काम चलाया गया है। ऐसे 16 सग्रहो या सग्रहालयो के सकेताक्षर दिये गये हैं, यथा 'D.M' · दादू महाविद्यालय, मोती डूंगरी, जयपुर।

जिन सग्रहो से यह सूची प्रस्तुत की गई है वे निम्न प्रकार के है

1. सस्थाओ के सग्रह, जैसे-दादू महाविद्यालय का, दादूद्वारा नरैना का, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा का, अनूप सस्कृत पुस्तकालय बीकानेर का, आदि।
2. ऐसी बड़ी सस्थाओ के अन्तर्गत विशिष्ट वर्ग या कक्ष के सग्रह, यथा : NPM. यह सकेत काशी नागरी-प्रचारिणी सभा वाराणसी (Varanasi) के पुस्तकालय के 'मायाशकर याज्ञिक संग्रह' के लिए है।
3. ऐसे महाग्रथ जिनमे ग्रथ सकलित हो, यथा . NAR,MG यह सकेताक्षर 'दादू द्वारा नरैना' के महाग्रंथ का द्योतक है।
4. ऐसी सूचियाँ जिनमे पाडुलिपियों का उल्लेख है : यथा : NPV. यह काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिन्दी पुस्तको का संक्षिप्त विवरण (1900–55) I–II 1964 के सस्करण का द्योतक है। इस विवरण से भी दादूपन्थी ग्रथों को इस सूची में सम्मिलित किया गया है।
5. व्यक्तियों के संग्रह, यथा : KT. यह सकेताक्षर है प० कृपाशकर तिवारी, 1, म्यूजियम रोड, जयपुर के संग्रह के लिए है।

तब उन्होंने सूची से पूर्व ही उन स्रोतों का विवरण और दे दिया है, जिनसे दादूपंथी साहित्य का पता चल सकता है।

अब सूची मे उन्होने पहले बायी ओर लेखक या कवि का नाम दिया है, उसके साथ कोष्ठक में उसका अस्तित्व-काल दिया है और उसके सामने दाये छोर पर भक्तमाल (राघवदास कृत) का उल्लेख उसकी उन पृष्ठो की सख्या सहित किया है, जिन पर इस कवि का विवरण है। जिन कवियो का उल्लेख उक्त भक्तमाल मे नही है, उनके आगे यह संकेत नही किया गया।

इस नामद्योतक पक्ति के नीचे भिन्न टाइप मे 'पुस्तक' या पाडुलिपि का नाम, उसके आगे सक्षेप मे छन्दो की गणना और यदि रचनाकाल उसमे है तो उसका उल्लेख। उसके नीचे संकेताक्षरों मे उन संग्रहो का उल्लेख है, जिनमे यह ग्रंथ मिलता है। कोई अन्य ज्ञातव्य उसी के साथ कोष्ठक मे दिया गया है।

इस सूची की रूपरेखा की कुछ विशिष्ट बाते केवल निर्देशनार्थ ही दी गयी है। पांडुलिपि-विज्ञानार्थी ऐसी सूचियाँ बनाते समय यह ध्यान में रखेगा ही कि सूची अधिकाधिक वैज्ञानिक और उपयोगी बने। इसी दिशा-निर्देशन की दृष्टि से यहाँ इस सूची का एक उद्धरण देना भी समीचीन प्रतीत होता है

Jagannatha[1] Bh M. p 732–733.

Gunaganja nama (anthology of selections from 162 poets) DM 2, p. 521-536 (1676); 14 b, p 1-216; 17, p 329-450; 10 c; 14 b; NP 2521/1476, p. 1-48, p 2520/1475, p. 1-20, NAR 3/11; 4 p 316 ff, 7/2; 13/83, 23/10 (1761), VB 154/6, KT 500/SD

Mohamard raja ki Katha

VB 34, p. 575-79 (1653), DM 2, p. 329-332(1676), 24, p 376-382, 18, p 465 ff, 20. p. 401-406; 14, p. 78-84, c p 2987/4, 3028/12, 3657/6, 3714/3; KT 148(1675-1705); 399, p. 5-82; 495, 303, VB 4, p. 483-496; 74 p 521-526, 8, p 271-281, NAR 2/3, 19/14, 23/34, 29/21; PV 163, 588; 751. 664; NP 2346/1400, p. 56-68 has this work under the name of Jan Gopal. See the note in NPVI, p 254 on the different names of Jangopal.

Dattatrey ke 25 guruo ki lila

VB 14, p. 154-162; KT 205; p. 65-74(1653), see also Jangopal's work

Dohe—VB 4, passim, KT 477; AB 78, p. 148-160.

Pada—VB 12, p. 20(1684); KT, 331, 352, 122, 469; 566. 154, 240, 311.

The (complete ?) works of Jagannath are found in DM 3, p. 1-b59; 1, p. 429-557; NAR MG p. 201-283. NP VI, p. 322.

1. Callewaert, W. M.—Search for Manuscripts of the Dadu-Panthi Literature in Rajasthan, Orientalia Levaniensia Periodica (1973-74), p. 160.

Dayaldas (disciple of Jagannath)

Nasiket vyakhyan (completed in 1677)

VB 4, p. 390–451, NAR 2/2 ; 3/7; 5/5 ; DM 9, p. 447-469; 21, p. 329-357; 20, p. 453-481; 14, p 131-165; 23, p. 362-388; VB 8, p. 331-400; KT. 486; SD: NPV I, p. 407.

नकली पांडुलिपियाँ

पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को क्षेत्रीय अनुसधान मे जिस सबसे विकट समस्या का सामना करना पड़ता है वह नकली ग्रथों की है। पाडुलिपियो के साथ यह नकली पांडुलिपियों की समस्या भी खड़ी होती है। तुलसीदास जी पर लिखे गये दो ऐसे ग्रंथ मिले थे, जिनके लेखकों ने दावा किया था कि वे गोस्वामी जी के प्रिय शिष्य थे। एक ने सवत् एवं तिथि देकर उनके जीवन की विविध घटनाम्रो का उल्लेख किया था। इनसे कोई कोना अधकारमय नही रह जायगा। किन्तु अन्तरग परीक्षा से विदित हुआ कि उसमें सबकुछ कपोल-कल्पित हैं। पूरा का पूरा ग्रथ किसी कवि ने दूसरे के नाम से रच डाला था, अतः नकली था, जाली था। ऐसे ही अनेक उदाहरण मिलते है।

स्व० डॉ० दीनदयाल गुप्त, भू०पू० अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की एक मौखिक परीक्षा के समय वाराणसी के एक ऐसे व्यक्ति का नाम बताया था जो जाली हस्तलिखित पुस्तके तैयार करने मे दक्ष था। मुझे आज उसका नाम स्मरण नहीं, किन्तु ऐसे व्यक्तियो का होना असम्भव नही। जहाँ पुरानी ऐतिहासिक वस्तुओ के क्रय-विक्रय के केन्द्र होते है वहाँ ऐसी जालसाजी के लिए बहुत क्षेत्र रहता है। अनेक प्रकार के प्रयत्न किये जाते है और नकल को असल बता कर व्यवसायी पूरी ठगाई करते हैं।

19वी शताब्दी के अन्तिम चरण में मध्य एशिया के 'खुतन' शहर मे तो किसी ने हस्तलिपियो के निर्माण के लिए कारखाना ही बना डाला था। डॉ. भगवतीशरण उपाध्याय ने धर्मयुग, 8 मार्च, 1970 (पृष्ठ 23 एव 27) के अंक मे 'पुरातत्व मे जालसाजी' शीर्षक निबन्ध मे 'आरेल स्टाइन' के आधार पर रोचक सूचना दी है। उन्होने बताया है कि 'खुतन और काशगर से एक बार जाली हस्तलिपियो की खरीदफरोख्त का ताता बँधा और अग्रेजी, रूसी तथा अनेक यूरोपीय सग्रहकर्त्ताओ को जाली हस्तलिपियाँ पर्याप्त मात्रा में बेची गयी। यह इतनी दक्षतापूर्वक की गई जालसाजी थी कि "विद्वान् और अनभिज्ञ दोनों ही समान रूप से इस धोखे के शिकार हुए।" 'आदिर आरेल स्टाइन' ने इस जालसाजी का पूरी तरह भंडाफोड़ किया। इसलाम अखुन नाम के एक जालसाज ने तो प्राचीन पुस्तको की खपत अधिक देख कर एक कारखाना ही खोल दिया था। आरेल स्टाइन महोदय के विवरण के आधार पर डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने इस जालसाज इस्लाम अखुन द्वारा जालसाजी करने की कथा यों दी है

"अब इसलाम अखुन द्वारा निर्मित 'प्राचीन पुस्तको' की कथा सुनिये, अपनी पहली 'प्राचीन पुस्तक' इस प्रकार बनाई हुई उसने 1895 मे मुंशी अहमद दीन को बेची। मुंशी अहमद दीन मैकार्टनी की अनुपस्थिति में काशगर के असिस्टेंट रेजिडेंट के दफ्तर की सम्भाल करने लगा था। वह पुस्तक हाथ से लिखी गई थी और कोशिश इस बात की की गयी थी कि

इस कारखाने में बनी पहली पुस्तकों की तरह घसीट ब्राह्मी में लिखी असली हस्तलिपियों के कुछ टुकड़े दंदां-उइलिक मे इब्राहीम को पहले कभी मिल गये थे और यह काम इन जालसाजों ने कुछ इस तरह किया था कि यूरोप के अच्छे से अच्छे विशेषज्ञ तक को आसानी से सफलतापूर्वक धोखा दिया जा सकता था। यह डॉ० हेर्न्ले की 'मध्य-एशियाई पुरावस्तुओं की रिपोर्ट' से प्रमाणित है, जो पहले की सामग्री पर आधारित थी। यह 'पहले की सामग्री' इस्लाम अखुन के कारखाने में बनी अन्य वस्तुओं के साथ अब ब्रिटिश म्यूजियम लंदन के हस्तलिपि-विभाग के जाली कागजात के अनुभाग में सुरक्षित है। इसी प्रकार की एक 'प्राचीन खत्तन की हस्तलिपि' की अनुलिपि (फैक्सिमिली) डॉ० स्वेन हेडिन की कृति 'थ्रू एशिया' के जर्मन सस्करण मे सुरक्षित है जो इस्लाम इब्राहीम आदि की आधुनिक फैक्ट्री मे प्राचीन रूप मे सम्पादित हुई।

काशगर मे जालसाजी का यह बाजार गर्म होने तथा हस्तलिपियो की कीमत बगैर मीनमेख के कल्पनातीत मिलने से अन्यत्र के जालसाज भी वहाँ जा पहुँचे। इनमे सरगना लद्दाख और कश्मीर का एक फरेबी बनरुद्दीन था। उसका काम तो बहुत साफ न था, पर 'प्राचीन पुस्तकों' की संख्या का परिमाण सहसा काफी बढ गया। चूँकि उन्हे खरीदने वाले यूरोपियन उन अक्षरों को पढ या उनका वास्तविक प्राचीन लिपि से मिलान नही कर सकते थे, अत. जालसाजो ने भी जाली अक्षरों का मूल से मिलान कर अपने करतब मे सफाई लाने की कोशिश नही की।

हाथ से लिख कर फरेब से हस्तलिपियाँ बनाने का काम बड़ी मेहनत से सम्पन्न होता था। इसी से जालसाजी के उन माहिरों ने काम हल्का और आसान करने के लिए कारखाना ईजाद किया। अब वे लकडी के ब्लाकों से बार-बार छापे मार कर पुस्तको का निर्माण करने लगे। इससे उनके काम मे बडी सुविधा हो गयी। इन ब्लाको को बनाने मे भी किसी प्रकार की कठिनाई नही होती थी, क्योकि चीनी, तुर्किस्तान में लकडी के ब्लाकों से छपाई आम बात थी। 'प्राचीन पुस्तकों' की इस प्रकार से छपाई 1896 मे शुरू हुई। नयी सिरजी लिपि की भिन्नता ने विद्वानों की कल्पना को जगाया और उसकी व्याख्या करने के लिए बड़े परिश्रम से उन्होने नये फार्मूले रचे।

हस्तलिपि 'प्राचीन' बनाने मे जिन उपायो का अवलम्बन किया जाता था, इस्लाम अखुन ने उसका भी सुराग दिया। 'ब्लाक-प्रिंट' अथवा हस्तलिपि तैयार करने के लिए कागज भी विशेष रूप से तैयार किया जाता था और विशेष विधि मे उसे पुराना भी कर लिया जाता था। तुर्किस्तान कागज के उद्योग का प्रधान केन्द्र होने के कारण खुत्तन जाल-साजों के लिए आदर्श स्थान बन गया था। कारण कि वहाँ उन्हें मनोवांछित प्रकार और परिमाण का कागज बडी सुविधा से प्राप्त हो सकता था। 'तोगरुगा' के जरिये कागज पहले पीले या हल्के भूरे रंग में रंग लिया जाता था। तोगरुगा तोगरक नामक वृक्ष से प्राप्त किया जाता था, जो पानी मे डालते ही घुल जाता था और घुलने पर दाग छोडने वाला द्रव बन जाता था।

रंगे कागज के ताव पर जब लिख या छाप लिया जाता तब उसे धुँए के पास टाँग दिया जाता था। धुँए के स्पर्श से उसका रूप पुराना हो जाया करता था। अनेक बार इसमे कागज कुछ झुलस भी जाता था। जैसा कि कलकत्ते में सुरक्षित कुछ 'प्राचीन पुस्तकों' से प्रमाणित है। इसके बाद उन्हें पत्रवत् बाँध लिया जाता था। इस जिल्दसाजी

से जालसाजी का भण्डाफोड़ हो सकता था। क्योंकि उसमें कुछ ऐसे बन्धन आदि का प्रयोग होता था जिनसे उनके आधुनिक यूरोपीय सम्पर्क का जाहिर हो जाना भी अनिवार्य था। यद्यपि इसका राज भी तभी खुला जब इस्लाम अखुन ने अपना कसूर कबूल कर लिया और हकीकत बता दी। हस्तलिपि अथवा पुस्तक तैयार हो जाने पर उसके पन्नों में रेत झाड़ देते थे जिससे उनके रेगिस्तानी रेत में दीर्घकाल तक दबे रहने का आभास पैदा हो जाय। 1898 के बसंत मे आरेल स्टाइन लिखते हैं, "जाली ब्लाक-प्रिंट जाँचने के पहले मुझे कपड़े के ब्रुश का इस्तेमाल करना पडा था। यह हस्तलिपि कश्मीर के एक संग्रहकर्त्ता के जरिये मुझे कश्मीर मे ही मिली थी।"[1]

यही हम श्री पूर्णेन्दु बसु की पुस्तक 'Archives and Records : What are they ?' नामक पुस्तक से भी कुछ उद्धृत करना चाहेंगे। बसु महोदय ने तीसरे (III) अध्याय मे लेखों के शत्रु (Enemies of Records) मे रिकार्डों के प्रमुख शत्रु की गणना दी है कि "The are generally speaking time, fire, water, light, heat, dust, humidity, atmospheric gases, fungi, vermin," 'acts of God' and, last but not least, human beings" लेखो-अभिलेखों के शत्रुओ मे उन्होने काल, अग्नि, जल, प्रकाश, गर्मी, धूप, आर्द्रता, वातावरणिक गैसे, फफूंद (fungi) तथा कीडे-मकोड़ो के साथ-साथ मनुष्यो को भी प्रमुख शत्रु बताया है। अन्य शत्रुओ पर चर्चा करने के उपरान्त 'मनुष्य' के सम्बन्ध मे लिखा है—

"Human beings can be as much responsible for the destruction of records as the elements or insects. I am not only referring to mishandling or careless handling the effects of which are obvious. There are cases of bad appraisal. It is evident that every scrap of paper produced or received in an office cannot be kept for ever–they are not sufficiently valuable to merit expenditure of money or energy for their preservation, by being retained they only occupy valuable space and obscure the more valuable materials So at some stage a selection has to be made of the records that can be destroyed without doing any harm to either administration or scholarship Bad appraisal has often led to the valuable record being thrown away and the valueless kept Then there are people who may use the information contained in records to the detrement of government or of indviduals Again there are others who may wish to temper with the records in order to destroy or distort evidence There are some who are either collectors of autographs and seals or are mere kleptomaniacs, and it is a problem to guard the record against them."[2]

इसमें हस्तलेखों के मानवीय शत्रुता के कारनामो का उल्लेख है। यह बताया गया है कि 1. वे हस्तलेखों का ठीक ढंग से उपयोग नही करते, 2. वे ग्रन्थों-लेखों के उपयोग मे

1. धर्मयुग (8 मार्च, 1970), पृ० 23 एवम् 27।
2. Basu, Purendu — Archives and Records : What are they ?, p, 33.

प्रमाद करते हैं, 3. वे महत्त्व को ठीक नही आँक (appriase) पाते, फलतः अभिलेखागारों मे से कभी-कभी महत्त्वपूर्ण कागज-पत्र नष्ट करवा दिये गए, रद्दी हस्तलेखो को सुरक्षित रखा गया । इससे सरकार को और व्यक्ति को भी हानि उठानी पडी है, 4 स्वार्थियो ने साक्षी को नष्ट करने या बिगाड़ देने के लिए हस्तलेखों में जालसाजी की, 5 कुछ हस्ताक्षरों (autograph) और मुद्राओ (seal)/मुहरों के सङ्कलनकर्त्ता अभिलेखों मे से उन्हें काट लेते हैं, कुछ को यो ही कतरनों का शौक होता है । ये सभी काम अभिलेखो के प्रति शत्रुता के काम हैं ।

लेखों-अभिलेखो में हेरफेर करना भी जालसाजी है । यह जालसाजी बहुत घातक है । ऐसी ही एक जालसाजी की बात राजतरंगिणी के लेखक द्वितीय (तृतीय) जोन राज ने बताई है, जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं । इसमें स्वयं जोन राज के साथ उस व्यक्ति ने भोज-पत्र पर लिखे भूमि के बिक्रीनामा मे जालसाजी करके सारी भूमि हड़प लेनी चाही थी । पर पहले बिक्रीनामा पक्की स्याही से लिखा गया था बाद मे जालसाज ने कच्ची स्याही से जाल किया था । फलत. पानी मे भोजपत्र के डाल देने पर कच्ची स्याही धुल गयी और जाल सिद्ध हो गया । महाकवि भास के बहुत-से ग्रन्थ कुछ वर्ष पूर्व मिले थे । एक विद्वान् ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि वे जाली है । ब्रिटिश म्यूजियम मे ऐसी जाली वस्तुओं का अलग ही एक कक्ष बना दिया गया है ।

अतः पाडुलिपि-विज्ञानविद् को पुस्तक की आन्तरिक और बाह्य परीक्षा द्वारा यह आश्वस्त हो लेना आवश्यक है कि कोई पांडुलिपि जाली तो नही है ।

अध्याय 4

पाण्डुलिपियों के प्रकार

प्रकार-भेद : अनिवार्य

'पांडुलिपि' का अर्थ बहुत विस्तृत हो गया है, यह हम पहले के अध्यायों में देख चुके है। वस्तुतः विस्तृत अर्थ होने का अभिप्राय ही यह है कि उसके अन्तर्गत कितने ही प्रकारों का समावेश हो गया है। पांडुलिपि में विविध प्रकार के लिप्यासनों पर लिखी कृतियाँ भी आयेंगी, साथ ही वे ग्रंथ-रूप में भी हो सकती हैं और राज्यादेशो के रूप में भी, चिट्ठी-पत्री के रूप में भी, और भी कितने ही प्रकार के कृतित्व 'पांडुलिपि' मे समावेशित हैं। अतः 'पांडुलिपि-विज्ञान' के क्षेत्र के सम्यक् ज्ञान के लिए उसके सभी प्रकारो और प्रकार-भेदों के आधारों से कुछ परिचित होना अनिवार्य हो जाता है। यह प्रकार-भेद 'पांडुलिपि' के अभिप्राय-क्षेत्र के आधार पर किया गया है।

इन प्रकारो को एक दृष्टि मे निम्नस्थ वृक्ष से समझा जा सकता है :
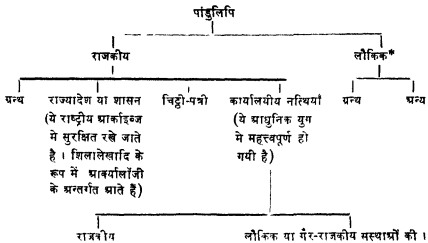
उक्त वृक्ष मे हमने राजकीय क्षेत्र मे भी ग्रंथ को एक प्रकार माना है, और लौकिक मे भी। राजकीय क्षेत्र मे भी ग्रंथ-रचना होती थी, इसमे सन्देह नहीं। स्वयं राजाओं ने ग्रंथ रचना की है। किन्तु इस वर्ग मे ऐसे ही ग्रंथ रखने होगे जिनका अभिप्राय राजकीय हो। राजा की विजय या उसकी प्रशस्ति विषयक ग्रंथ राजकीय योजनाओ पर ग्रंथ आदि।

लिप्यासन की दृष्टि से भी पांडुलिपियों के भेद होते हैं। लेखों को आसन की प्रकृति के अनुसार लेखनी/कलम से, टांकी से, कोरक से, सांचे से, छेनी से, यंत्र से लिखा जाता है।

* स्मृति चन्द्रिका में उद्धृत वशिष्ठोक्ति कि 'लौकिकं राजकीयं च लेख्यं विद्याद् द्विलक्षणं (व्यवहार 1.14)।' इसी वशिष्ठोक्ति के आधार पर हमने भी यहाँ 'राजकीय' और 'लौकिक' दो भेद स्वीकार किये हैं।

इस आधार से लिप्यासन के दो प्रकार हो जाते हैं : इन्हें 'कोमल' तथा 'कठोर' कहा जाता है। कोमल पर लिखा जाता है, कठोर पर उत्कीर्ण किया जाता है।

पाण्डुलिपि (लिप्यासन की दृष्टि से प्रकार)

- लेखन निमित्त : कोमल लिप्यासन वाली
  - ताड़पत्रीय
    - लेखनी लिखित उत्तर में। भगवान बुद्ध के उपदेश उनकी मृत्यु के तुरन्त बाद ताड़-पत्रों पर लिखे गए। प्राचीन ताडपत्रीय ग्रन्थ भारत से बाहर एशिया मे तुरफ़ान आदि में मिले। होरीयुजी (जापान) में उष्णीय विजय धारणी 7वीं शती ई. मे भारत में लिपिबद्ध हुई। नेपाल मे ताडपत्रीय स्कंद पुराण 7वी शती का प्रतिलिपित माना जाता है।
    - शलाका-कोरित दक्षिण मे 15वी शती से पूर्व के ही मिलते हैं।
  - भोजपत्रीय (भूर्ज का एक पर्यायवाची शब्द लेखन भी है) ग्रन्थों के अतिरिक्त भोज-पत्र पर चिट्ठियाँ विशेषत: लिखी जाती थी। अभी तक प्राप्त प्राचीनतम भोजपत्रीय ग्रंथ खरोष्ठी लिपि में, प्राकृत भाषा में धम्मपद हैं जो 2री–3री शती में प्रतिलिपित हैं और खोतान में मिली हैं।
  - अगरुपत्रीय या समुचीपात। ये ग्रन्थ आसाम में मिले। 15वीं शती का सुन्दर-कांड पेरिस में सुरक्षित है।
  - पटीय (वस्त्र-निर्मित) संस्कृत में कापासिक पट। 1351-52 ई. की एक प्रति श्रीप्रभसूरि की 'धर्म-विधि' की उदयसिंह की टीका सहित कपड़े के 13 पन्नों में प्रत्येक पाना 13 × 5"। जैन पुस्तकालय अन्हिलवाड़ा मे सुरक्षित है। रेशमी पाट भी काम में आता था।
  - चर्मपत्रीय: चर्मपत्रीय-ग्रन्थ भारत मे कम। जैसलमेर के एक पुस्तकालय में एक कोरा चर्म-पत्र मिला था। रूस में पीटर्सबर्ग के संग्रहालय में काशगर से प्राप्त कुछ चर्म-पत्र हैं जिन पर भारतीय लिपि में लिखा हुआ है।
  - कागजीय: कागजीय-पांडुलिपियों पर आगे विस्तार से वर्णन है।
  - काष्ठीय
- उत्कीर्णन निमित्त : कठोर लिप्यासन वाली
  - पाषाणीय
  - मृण्मय
  - सीप-दांतिकी
  - ताम्रपत्रीय
  - स्वर्ण-पत्रीय
  - रजत-पत्रीय
  - अन्य धातुओं की

चट्टानीय शिलालेख का चित्र तथा शिलापट्टीय (त्रिपुरांतकम् का)

चट्टानीय

'उन्नत शिखर पुराण' दिगम्बर-जैन-सम्प्रदाय की कृति है। 1170 ई. की यह कृति उदयपुर क्षेत्र के भीलवाड़ा जिले में बिजौलियाँ गाँव की चट्टान पर खुदी हुई है।

रोसेटा का शिलालेख
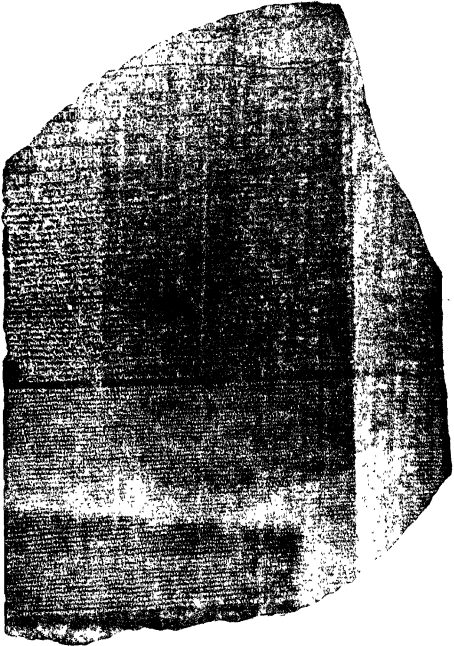
शिलापट्टीय

सामान्य शिलालेख एक शिला-पट्ट पर लिखे जाते थे और उचित स्थान पर जड़ दिए जाते थे। पर बड़ी-बड़ी प्रशस्तियाँ और ग्रन्थ भी शिलापट्टों पर लिखे और जड़े मिलते हैं। राणा कुम्भा का लेख पाँच शिला-पट्टों पर लिखा (खोदा) हुआ कुम्भलगढ़ के कुंभि स्वामिन् या मामादेव के मन्दिर में जड़ा मिला है। मेवाड़ में राजसमुद्र जलाशय के पुश्तों पर 24
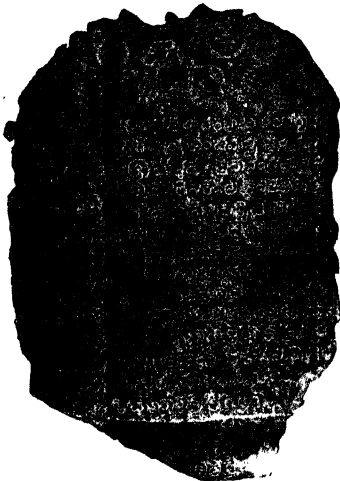
पुष्पगिरि शिलालेख

शिलापट्टों पर जड़ी हुई है 'राजप्रशस्ति', इसके 24 खंड हैं। इसके रचयिता है कवि रणछोड़। यह प्रशस्ति राणा राजसिंह के सम्बन्ध में है। राजा भोज परमार का प्राकृत भाषा का काव्य 'कूर्मशतक', मदन की संस्कृत कृति 'पारिजातमंजरी'(या विजयश्री नाटक), चाहमान राजा विग्रहराज चतुर्थ (1153–64 ई.) का 'हर केलि नाटक' तथा उनके राजकवि सोमेश्वर कृत 'ललित-विग्रहराज नाटक' शिला-पट्टों पर खुदवाकर दीवारों में जड़वाये गए थे। इनके अंश अजमेर संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

स्तम्भीय

स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण करने की पुरानी परम्परा है। सम्भवतः प्राचीनतम स्तम्भ लेख अशोक (272–232 ई. पू.) कालीन हैं। इन पर खुदे लेखों में इन्हें शिला-स्तम्भ कहा गया है। ये स्तम्भ निम्न प्रकार के मिलते हैं :

कालकुड का वीरस्तम्भ (पालिया)

स्तम्भ

1. शिलास्तम्भ

2. ध्वजस्तम्भ (जैसे–होलियो-डोरस का गरुड़ध्वज) मन्दिर के सामने खड़े किये जाते हैं और इन पर लेख भी रहता है।

3. जयस्तम्भ किसी विजय पर किसी विजेता राजा की प्रशस्ति के लिए (जैसे समुद्रगुप्त का एरण का और यशोधर्मन का मन्दसौर का)

4. कीर्तिस्तम्भ किसी यशस्वी के पुण्य कार्य के लिए खड़ा किया जाता है।

(क्रमशः)

स्तम्भ

5. वीर स्तम्भ (गुजराती में जिन्हें 'पालियाँ' कहते है) गाँव या नगर के किसी वीर की युद्ध मे मृत्यु होने पर। इन पर लेख भी रहते हैं।

6. सती स्तम्भ ये सती होने वाली नारी का स्मारक होता है। इन पर भी लेख मिलते है।

7. धर्मस्तम्भ (वोटिव पिलर्स) ये धर्म-स्थलों पर, विशेषतः बौद्ध धर्म के स्थलो पर स-लेख मिलते हैं।

देवगिरि का सतीस्तम्भ (पालिया)

महाकुट का धर्मस्तम्भ

स्तम्भ
8. स्मृति स्तम्भ
ये गोत्र या गोत्र शालिका भी कहे जाते हैं। अपने कुटुम्ब के किसी व्यक्ति की स्मृति मे खड़े किए जाते हैं।
9. छाया-स्तम्भ
इन स्मृति स्तम्भो पर स्मृत व्यक्ति की मूर्ति उकेरी रहती है।
10. यूप स्तम्भ
(यज्ञोपरान्त बलि को बाँधने के लिए बनाये गए स्तम्भ) इन पर भी लेख मिले हैं।
9. मृण्मय—मृण्मय लेख कई रूपों में मिलते हैं, यथा—
1. ईंट पकायी हुई एवं कच्ची
ईंट की सामग्री, दोनों प्रकार की प्रभूत मात्रा मे मिली है—पकायी हुई ईंटों पर भी और बिना पकायी (कच्ची) ईंटो पर भी
ग्रन्थ
ईंटो पर ग्रन्थ भी लिखे गए। गिलगेमश की गाथा ईंटो पर लिखी मिली, इसका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। भारत मे कुछ बौद्ध-ग्रंथ ईंटो पर उभारे गए मिले है। कुछ राजाओं ने अश्वमेध युद्ध किए, जैसे–दाममित्र एवं शीलवर्मन् ने। इनके अश्वमेध सम्बन्धी अभिलेख ईंटों पर लिखे मिले हैं।
अभिलेख
ईंटों पर अभिलेख तो अनगिनती मिले है।
2. धोंधे
कभी-कभी मिट्टी की ईंटे न बनाकर उसके धोंधे (मिट्टी को सानकर एक ढेर का आकार देकर ढीम के रूप मे) उस पर लेख अंकित कर उसे पका लिया जाता था। धार्मिक मनौतियो के लिए विशेषतः ऐसे धोंधो पर लेख लिखे गए।
3. मुहर-मुद्रा
ये मृण्मुद्राएँ भी बहुत संख्या में मिली हैं। मोहन-जोदड़ो एवं नालंदा से मिली मुद्राएँ प्रसिद्ध हैं।
4. घट
घड़ों या उनके ढक्कनों पर भी लेख उत्कीर्ण हुए मिले हैं।

नालन्दा की मृण्मय मुहर

मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहर

10. **सीप, शंख, दांत, काष्ठ आदि**—शंखो पर, हाथीदांत की बनी मुद्राग्रो पर, लकडी की लाटो या स्तम्भो पर भी अंकित लेख मिले है।

धातु-वस्तु—धातुग्रो में तांबा सबसे ग्रधिक प्रिय रहा है। इसके बने पत्रो पर उत्कीर्ण लेख पर्याप्त मात्रा मे मिलते है ग्रौर प्राचीन समय से मिलते हैं। कोई शासन ताम्र-पत्र के एक ग्रोर, कोई दोनों ग्रोर लिखा होता था। कोई शासन कई ताम्रपत्रो पर लिखा जाता था। इन पत्रो को तांबे के कडे मे पिरोकर एक घट या किसी पात्र मे बन्द करके सुरक्षित रखा जाता था। ताम्रपत्रो पर कई प्रकार के लेख मिलते है :

तेलुगु में रचित 'ताल्लपा कमबरी' कई ताम्रपत्रों पर लिखित तिरुपति में सुरक्षित है।

इसी तरह कास्य पीठिका (मूर्तिकी), कास्य पिटक, कास्य फलक, कास्य मुद्राएँ भी मिली हैं, जिन पर लेख अंकित है।

लौह तुपक, लौह स्तम्भ (दिल्ली), लौह त्रिशूल (अचलेश्वर मन्दिर, आबू) पर भी लेख मिले हैं।

पीतल के बहुत-से घण्टों पर, जो मन्दिरों मे टंगे हैं, लेख हैं।

संक्षेप में, लिप्यासन के आधार से उपर्युक्त भेदों का सर्वेक्षण किया गया है। इनके विस्तृत विवरण यहाँ दिये जाते हैं।

पांडुलिपियों के प्रकार :

लिप्यासन भेद से—लिप्यासन कितने ही प्रकार के मिलते हैं। वृक्षों की छाल, वृक्षों के पत्ते, धातुओं के पत्तर, चमड़े, कागज, कपडा आदि पर ग्रन्थ लिखे गये हैं। जिन वस्तुओं को ग्रन्थ-लेखन के लिए उपयोग में लाया जाता था, या लाया जा सकता है उन्हे 'लिप्यासन' (लिपि + आसन) कहा जा सकता है। ताडपत्र, कपडा, कागज आदि सभी लिप्यासन है : लिपि के आसन। लिपि-आसन के भेद से पुस्तक के प्रकार स्थापित किये जा सकते हैं। क्योंकि ग्रन्थ का प्रथम भेद लिप्यासन के आधार पर ही किया जा सकता है, जैसे ताड़पत्रीय ग्रन्थ, भोजपत्रीय ग्रन्थ आदि। ये ग्रन्थ प्रस्तर-शिलाओं पर भी लिखे जाते थे। ये वस्तुतः ग्रन्थ ही थे, अभिलेख-मात्र नहीं। इसमें सन्देह नही कि शिलाओं पर अभिलेख तो बहुत-से मिले हैं। पर चाहे बहुत ही कम संख्या में हों, ग्रन्थ भी शिलाओं पर खुदे मिले हैं।

पाषाणीय : प्रस्तर शिलाओं पर ग्रन्थ

हम समझते हैं कि पत्थर को लेखन-आधार के रूप में इतिहास के प्रस्तर-काल से ही प्रयोग में लाया जाता रहा है। मनुष्य ने जब सर्वप्रथम अपने भावों को इगित के अतिरिक्त अन्य प्रकार से व्यक्त करने का उपाय निकाला होगा, पत्थर से पत्थर पर चिह्न बना कर ही किया होगा। मूल रूप मे यह प्रवृत्ति अब भी मनुष्यों मे पाई जाती है। बिना पढ़े मजदूर आदि अपना हिसाब जमीन पर या पत्थर के टुकडो पर पत्थर के ही ढोंके से आड़ी-सीधी लकीरे खींचकर लगा लेते है। अत पत्थर-लेखन का आद्य आधार हो सकता है। बाद में तो पत्थर की शिलाओं को चिकनी बनाकर, स्तम्भाकार बनाकर, तथा उन पर हाशिया उभार कर सुन्दर अक्षरो को उत्कीर्ण करने की कला विकसित हुई है।

प्रस्तर शिलाओं पर किसी घटना की स्मृति, राजाज्ञा, प्रशस्ति आदि तो उन्हे चिरस्थायी बनाने के आशय से खोदे ही जाते थे परन्तु कतिपय काव्य एव अन्य रचनाएँ भी शिलोत्कीर्ण रूप मे पाई गई हैं। कोई-कोई प्रशस्ति भी इतनी विस्तृत और बडी होती है कि उसे विद्वानों ने ऐतिहासिक काव्य की ही सज्ञा दी है।

हनुमन्नाटक, (जिसको महानाटक भी कहते है) के टीकाकार बलभद्र ने लिखा है कि इसकी रचना वायुपुत्र हनुमान ने की और महर्षि वाल्मीकि को दिखाई। वाल्मीकि ने कहा कि उन्होने तो इस कथा को रामावतार से पूर्व ही कविताबद्ध कर दिया था; तब हनुमान ने जिन शिलाओ पर अपनी रचना अकित की थी उनको समुद्र-तल मे रख दिया। बाद में धारा के राजा भोज को जब इसका पता चला तो उसने कुछ गोताखोरो को उन शिलाओ को निकालने के लिए नियुक्त किया परन्तु वे इतनी भारी थी कि उनको ऊपर लाना शक्य नही हुआ। तब यह उपाय काम मे लाया गया कि गोताखोरो के सीने पर मधुमक्खियों का मल (अर्थात् शहद् निकालने के बाद बचा हुआ मोम) लेप दिया गया। वे सागरतल में जाकर निर्देशानुसार उन शिलाओं का आलिगन करते। इस प्रकार शिलाओं पर लिखित अश की छाप उन पर उभर आती। बुद्धिमान राजा भोज द्वारा इस क्रम से उद्धार किये जाने पर काशीनाथ मिश्र ने इस नाटक को ग्रथित किया। उसी के पुत्र बलभद्र ने इसकी टीका बनायी।

> रचितमनिलपुत्रेणाथ वाल्मीकिनाब्धौ
> निहितममृत बुद्धया प्राङ् महानाटकं यत्।

सुमति नृपति भोजेनोद्धृतं तत्क्रमेण
ग्रथितमवतु विश्वं मिश्रकाशीश्वरेण ।।

इससे पता चलता है कि रचनाम्रो को प्रस्तर-शिलाम्रो पर म्रंकित कराने की प्रथा बहुत पुरानी है । भोजराज से पूर्व महानाटक की रचना हो चुकी थी म्रतः इसका शिलांकन ईसा की दसवी शताब्दी मे हुम्रा होगा । सम्भव है, इससे भी पूर्व हुम्रा हो । दूसरी बात यह है कि यद्यपि इन शिलाम्रों को प्रत्यक्ष तो नही देखा जा सका परन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि किसी बड़ी रचना के शिलोत्कीर्ण होने की यही सबसे पुरानी सूचना है ।

राजस्थान मे मेवाड़ प्रदेश के बिजोलियाँ ग्राम के पास एक जैन मन्दिर है, उसके निकट ही एक चट्टान पर 'उन्नत-शिखर पुराण' खुदा हुम्रा है । यह पोखाड़ सेठ लोलार्क द्वारा संवत् 1226 में खुदवाया गया था । इस चट्टान के पास ही एक दूसरी चट्टान पर उक्त मन्दिर से ही सम्बद्ध एक म्रौर लेख खुदा हुम्रा है जिसमे चाहमान से लेकर पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर तक पूरी बंशावली उत्कीर्ण है म्रौर साथ ही लोलार्क सेठ के वंश का वर्णन भी दिया हुम्रा है ।

इसी प्रकार म्रजमेर के प्रसिद्ध म्रढ़ाई दिन के झौपड़े से कुछ शिलाएँ प्राप्त की गई थी जो म्रब म्रजमेर के संग्रहालय में रखी हुई हैं । यह 'म्रढ़ाई दिन का झोंपडा' नामक इमारत पहले बीसलदेव चौहान (विग्रहराज) द्वारा संस्थापित पाठशाला थी । इसमे उसी राजा के द्वारा रचित 'हरकेलि' नामक नाटक शिलोत्कीर्ण करके सुरक्षित किया गया था जिसकी दो शिलाएँ उक्त म्यूजियम मे विद्यमान है । सोमेश्वर कविरचित 'ललित विग्रहराज नाटक' की दो शिलाएँ तथा चौहानो से सम्बन्धित एक म्रौर काव्य की एक शिला भी उसी संग्रहालय मे मौजूद है ।

राजस्थान में ही मेवाड के महाराणा कुम्भकर्ण की रचनाएँ भी शिलाम्रो पर खुदवाई गयी थीं जिनका नमूना उदयपुर के म्यूजियम मे देखा जा सकता है । बाद में महाराणा राजसिंह (प्रथम) ने भी रणछोड भट्ट रचित 'राज-प्रशस्ति' नामक काव्य 24 शिलाम्रो पर खुदवाकर राजसमद सरोवर पर लगा कर चिरस्थायी बनाया ।

धाराधीश्वर सुप्रसिद्ध विद्वान् राजा भोज ने भी म्रपने नगर मे 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक पाठशाला स्थापित की थी । यह स्थान म्राजकल 'कमलमौला' नाम से जाना जाता है । उक्त पाठशाला मे राजा भोज ने स्वरचित 'कूर्मशतक (प्राकृत) काव्य' म्रौर राजकवि मदन विरचित 'पारिजातमंजरी' नामक नाटिका को शिलांकित करवाया था ।

ग्वालियर के पद्मनाथ देवालय (सास बहू का मन्दिर) में कछवाहा वंश का एक प्रशस्तिशतक शिलोत्खचित है जो एक उत्तम काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है । इस शतक में कच्छपघातवंशतिलक लक्ष्मण तत्पुत्र गोपगिरि (ग्वालियर) दुर्गाधीश्वर वज्रदामा से लेकर पद्मपाल नामक राजा तक का वर्णन है । इस राजा ने इस मन्दिर का निर्माण कराकर ब्राह्मणों को पुष्कल दान दिया था । शतक का कवि मणिकण्ठ था जो भारद्वाज गोत्रीय रामकवीन्द्र का पौत्र म्रौर गोविन्द कवि का पुत्र था । संवत् 1150 वि. मे मणिकंठ सूरि की इस रचना के वर्णों को यशोदेव दिगम्बरार्क ने लिखा । इसकी रचना के संवत् 1149 का निम्न श्लोक में उल्लेख किया गया है :

एकादशस्वतीतेषु संवत्सर शतेषु च ।
एकोनपंचाशति च गतेष्वदेषु विक्रमात् ॥107॥[1]

धातु-पत्रों पर ग्रन्थ

'वासुदेव हिंडि' मे प्रथम खण्ड मे ताम्रपत्रो पर पुस्तक लिखवाये जाने का उल्लेख मिलता है .

"इयरेण तबपत्तेसु तणुभेसु रायल क्खवण रएऊणं निहालारसेणं तिम्मेऊण तंबभायणे पोत्थाओ पाक्खितो, निक्खितो, नयरबाहि दुव्वावेढमजूके ।"[2]

पत्र 189

अन्य धातुओ, जैसे रौप्य, सुवर्ण, कास्य आदि के पत्रों पर लिखी गयी पुस्तकों का उल्लेख नही मिलता । हाँ, विविध यन्त्र-मन्त्र, विविध उद्देश्यों की पूर्ति निमित्त ऐसे धातु-पत्रो पर अवश्य लिखे जाते थे । पच धातु के मिश्रण से बने पत्रो पर भी ये लिखे जाते थे, इसी प्रकार 'अष्टधातु' के मिश्रण से बने पत्रो पर भी यन्त्र-मन्त्र लिखे जाते थे, पर इन्हें 'पुस्तक' या ग्रन्थ नही माना जा सकता ।[3]

मृण्मय

ईंट और मिट्टी (Clay) के पात्रों पर लेख

ईटो और मिट्टी के बरतनों पर भी लेख लिखवाये जाते थे । इसके प्रमाण ईसा से पूर्व के मिलते है । मोहनजोदडो और हडप्पा के उत्खननो में भी ऐसी ईटे और मृण्मय-पात्र पाये गए हैं जिन पर लेख खुदे हुए हैं । मिट्टी के ढेलों (या धोंधों) पर मुहरे लगी हुई हैं । मिट्टी पर मुहर अंकित करने का रिवाज तो अभी 20-25 वर्ष पहले तक (सन् 1950 तक) राजस्थान के गाँवो मे चालू था । जिन गाँवो मे राजस्व, उत्पन्न हुए अन्न का बाँटा या हिस्सा लेकर वसूल किया जाता था वहाँ पर किसान के खेत में पैदा हुए अनाज की राशि के किनारों पर और बीच मे भी मिट्टी को गीली करके उसके ढेले या धोघे बनाकर रख दिए जाते थे और उन पर लकडी मे खुदी हुई मुद्रा का ठप्पा लगा दिया जाता था । इसे 'चाँक' कहते थे । लकडी के ठप्पे मे प्राय. 'श्रीरामजी', ये चार अक्षर चार खानों मे उलटे खुदे होते थे जो मिट्टी के धोघे की परत पर सुलटे रूप मे उभर कर आते थे । इस चाँक को लगाने वालों के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं तोड़ता था । इसे 'कच्ची चाँक' कहते थे । यह प्राय. आज लगाकर कल तोड़ ली जाती थी क्योंकि अनाज घड़ो मे भर-भर कर बाँटा जाता था और पूरे गाँव का बाँटा

1 अन्य सूचना :

कि चित्रं यन्महीपालो भुनक्तिस्माखिलां महीम् ।
यस्य गीर्वाणमन्त्रीव मंत्री गौरोऽभवत् सुधीः ॥ 110 ॥
प्रशस्ति रियमुत्कीर्णा पद्मवर्णपद्मशिल्पिना ।
देवस्वामिसुतेन श्रीपद्मनाथ सुरालये ॥ 111 ॥
तथैव सिंहवाजेन माहुलेन च शिल्पिना ।
प्राप्नुवन्तु समुत्कीर्णान्यक्षराणियपार्थताम् ॥ 112 ॥

2. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 27 ।

3. वही, पृ० 27 ।

एकत्रित होने पर तौल लिया जाता था। यदि एक-दो दिन बाद में तौलने का कार्यक्रम होता तो पक्की चाँक लगाई जाती थी। पक्की चाँक लगाने के लिए गीली मिट्टी में गोबर मिला दिया जाता था और उस गीले मिश्रण को अन्न की राशि के घेरे पर छिड़क कर उस पर चाँक का ठप्पा लगाया जाता था।

सम्भवतः मिट्टी पर लेख अंकित करने का यह प्रारम्भिक तरीका था। बाद में कच्ची ईंटों पर लेख कोर कर उन्हें पकाया जाने लगा। लम्बा लेख कई ईंटों पर अंकित करके पकाया जाता और फिर उनको क्रमात् दीवार पर लगा दिया जाता था। यह प्रथा बौद्धकाल मे बहुत प्रचलित रही है। उनके धार्मिक सूत्र आदि ईंटो पर खुदे हुए मिले है। मथुरा के सग्रहालय मे ऐसे नमूने देखे जा सकते है।[1]

कुछ राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किए। इनके विवरण ईंटो पर अंकित[2] कराये गए। देवी मित्र, दाममित्र एवं शीलवर्मन् के अश्वमेध यज्ञो के उल्लेख के ईंटो के अभिलेख मिले हैं। ये अभिलेख ईंटो पर अकित कराने के बाद अश्वमेध के चत्वरो मे लगा दिए जाते थे। मृण्मय मुद्राएँ (Seal) बहुत मिली हैं। नालदा मे मृण्मय घट (घडे) विशेषत: मिले है। इन पर लेख अंकित है। इनका सम्बन्ध भी किसी धार्मिक कृत्य से रहा है।

लिपि विकास का अध्ययन करते हुए यह विदित होता है कि मेसोपोटामिया मे उरुक या वर्का में 'उरुक युग' में ईंटो पर पुस्तकें लिखी मिली है। एक हजार ईंटे, क्यूनीफार्म या सूच्याकार लिपि में लिखी मिली है।[3]

पेपीरस

ईसा से कोई पाँच शताब्दी पूर्व ग्रीक (यूनानी) लोगों ने मिस्र से पेपायरस[4] नामक

1. (अ) भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 151।
2. बौद्ध धर्म के ईंटों पर लिखे गए ग्रन्थों के विवरण के लिए देखें—कनिंघम, ASR, Vol. I, p. 47, Vol II, पृ० 124 आदि।
3. डिरिंजर महोदय के ये शब्द इस सम्बन्ध में ध्यातव्य हैं –
'The earliest extant written cuniform documents, consisting of over one thousand tablets and fragments, discovered mainly at Uruk or Warka, the Biblical Ereeh, and belonging to the 'Uruk period' of the Mesopotamian predynastic period, are c uched in a crude pictographic script and probably sumerian language'' – (Diringer, D —The Alphabet, p 41)
4. 'पेपायरस' एक बरु या सरकण्डे की जाति का पौधा होता है जो दलदली प्रदेश मे बहुतायत से पैदा होता है। मिस्र में नील नदी के किनारे व मुहाने पर इसकी खेती बहुत प्राचीन काल से होती थी। यह पौधा प्राय 5-6 फीट ऊँचा होता है और इसके डण्ठल साढे चार से नौ-साढे नौ इञ्च लम्बे होते हैं। इसकी छाल से पतली चिप्पियाँ निकाल कर लेई आदि से चिपका लेते थे उसी से लिखने के लिए पत्र बनाते थे। पहले इन पत्रो को दबाकर रखा जाता था फिर अच्छी तरह सुखाया जाता था। सूख जाने पर हाथी-दाँत या शख से घोटकर उन्हे चिकना बनाया जाता था, फिर विविध आकारो मे काट कर लिखने के काम मे लिया जाता था। इस तरह तैयार किये हुए लेखाधार लिप्यासन को योरोप वाले 'पेपायरस' कहते थे ओर इसी से पेपर शब्द बना हैं। पेपायरस के लम्बे-लम्बे लिखे हुए खरडे मिस्र की कब्रो मे बड़े-बड़े सन्दूकों में रखी लाशों के हाथों में या उनके शरीरो से लिपटे हुए मिलते हैं। जो लगभग ईसा से 2000 वर्ष तक पुराने हैं। इनके नष्ट न होने का कारण मिस्र की गरम और सूखी जलवायु है।
—भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 16

सरकंडे की छाल अपने यहाँ मँगाना शुरू किया था और उसी को लिखने के आसन के काम में लेते थे। फिर धीरे-धीरे योरोप में इसका व्यवसाय फैलने लगा और अरबों के शासनकाल में तो इटली आदि देशो मे पेपायरस की खेती भी होने लगी और उनसे छाल निकाल कर लिखने की सामग्री बनायी जाने लगी। 704 ई. मे अरबों ने समरकंद को जीत लिया और वहाँ पर ही सर्वप्रथम उन्होने रुई और चिथडों से कागज तैयार करने की कला सीखी। इसके बाद दमिश्क (Damuscus) मे भी कागज बनने लगा। ईसा की नवीं शताब्दी में सबसे पहले कागज पर अरबी मे ग्रंथ लिखे गए और अरबों द्वारा बारहवीं शताब्दी के आसपास योरोप मे कागज का प्रवेश हुआ और पेपायरस का प्रचलन बन्द हो गया।

चमड़े पर लेख

देवी पुराण मे पुस्तक दान का उल्लेख है। उसमे ताडपत्र पर पुस्तक लिखवाकर उसे चर्म से सम्पुटित करने का विधान है—

श्री ताडपत्र के सञ्चे समे पत्रसुसञ्चिते।
विचित्र काञ्चिकापार्श्वे चर्मणा सम्पुटीकृते।।

इससे ज्ञात होता है कि भारत में पुस्तक-लेखन के क्रम मे चर्म का भी उपयोग होता था परन्तु बहुत कम क्योंकि यहाँ ताडपत्र और भूर्जपत्र पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होते थे। वैसे ब्राह्मणो और जैनो मे चर्म का स्पर्श वर्जित भी माना गया है। बौद्ध ग्रन्थो मे अवश्य ही चमड़े को भी लेखन-सामग्री मे गिनाया गया है। जिस प्रकार कवि सम्राट कालीदास ने हिमालय के वर्णन मे (कु स) किन्नर सुन्दरियो द्वारा भूर्जत्वच पर धातुरस (गेरु) से लिखे गए प्रेमपत्रो की उपमा बिन्दु-मण्डित हाथी की सूंड से दी है उसी प्रकार सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता' नाम की आख्यायिका मे भी रात्रि मे काले आकाश में छिटके हुए चांद-तारों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आकाश अंधेरे रूपी काले रंग (मषी) से रँगे हुए चर्मपत्र के समान है जिस पर विधाता विश्व का हिसाब लगा रहा है और संसार की शून्यता के कारण चाँदरूपी खडिया के टुकड़े से उस पर ताराखूपी शून्य बिन्दुएँ अंकित कर रहा है।[1]

"विश्व गणयतो विधातुः शशिकाठिनीखण्डेन तमोमषीश्यामेऽजिन इव वियति ससारस्यातिशून्यत्वाच्छून्य बिन्दव इव।"

डॉक्टर बूलहर को भी जैसलमेर के वृहद् ज्ञान-भण्डार मे हस्तलिखित ग्रन्थों के साथ कुछ चर्मपत्र मिले थे जो पुस्तकें लिखने अथवा उनको आवेष्टित करने के लिए ही एकत्रित किये गए थे।[2]

परन्तु यह सब होते हुए भी भारत मे लेखन के लिए चर्मपत्र का प्रयोग स्वल्प मात्रा मे ही होता था। यूनान, अरब, योरोप और मध्य एशिया आदि स्थानो मे लिखने के लिए चर्मपत्र का प्रयोग बहुधा पाया जाता है।[3] सोक्रेटीज (सुकरात) से जब पूछा गया—"आप

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ॰ 147।
2. बूल्हर्स इन्सक्रिप्शन रिपोर्ट, पृ॰ 95।
3. पार्चमेण्ट चमड़े से ही बना होता है।

पुस्तकें क्यों नहीं लिखते ?" तो उस प्रसिद्ध दार्शनिक ने उत्तर दिया—"मैं ज्ञान को मनुष्य के सजीव हृदय से भेड़ों की निर्जीव खाल पर नहीं ले जाना चाहता हूँ।" इससे विदित होता है कि वहाँ भेड़ों का चमड़ा लिखने के काम मे लाया जाता था।

आरम्भिक इस्लामी काल में चमड़े पर लिखने की प्रथा थी। कुरान की प्रतियाँ शुरू मे अरबी मे मृगचर्म पर ही लिखी जाती थी। ग्यारहवीं शताब्दी तक इसका खूब चलन रहा। पैगम्बर और खैबर के यहूदियो का सन्धिपत्र और किसरा के नाम पैगम्बर का पत्र भी चमडे पर ही लिखे गए थे।

मिस्र मे किर्तास (छर्त्त) मे बाँस के डण्ठलों से कागज बनाया जाता था और इसी पर लिख कर खलीफा की आज्ञाएँ संसार-भर मे भेजी जाती थीं। कुरान में भी करातीस कागज बनाने का उल्लेख मिलता है (सूर : 6, 96)। मिस्र में बने इस बाँस के कागज में बछड़े की चमड़ी की झिल्ली लगाई जाती थी, इस विधि से बने कागज पर लिखे हुए अक्षर सहज मे मिटाये नहीं जा सकते थे।

ईरान मे भी चमडे पर ग्रन्थ लिखे जाते थे। इस चमड़े को अंग्रेजी में 'पार्चमैण्ट' कहते थे। पह्लवी भाषा मे खाल का वाचक 'पुस्त' शब्द है। ईरानियों के सम्पर्क से ही यह शब्द धीरे-धीरे भारत मे आ गया और यहाँ की भाषा में व्याप्त हो गया। परन्तु ईसा की पाँचवी शताब्दी से पहले इसका प्रयोग भारतीय भाषा में नहीं पाया जाता। पाणिनि, पतञ्जलि, कालीदास और अश्वघोष की कृतियों मे 'पुस्तक' शब्द नहीं पाया जाता। वैदिक साहित्य मे भी 'पुस्तक' का कही पता ही नही चलता। अमरकोष में भी यह शब्द नहीं आता। हाँ, बाद के कोषों मे 'पुस्त' शब्द लेप्यादि शिल्प कर्म का वाचक बताया गया है। 'पुस्त शोभाकर कर्म'—हलायुध कोष।

मृच्छकटिक मे पुस्तक शब्द का प्राकृत रूप 'पोत्थम या पोथा' मिलता है। इसी से पोथी शब्द भी बना है। बाणभट्ट ने हर्षचरित और कादम्बरी, दोनो ही रचनाओं में पुस्तक शब्द का प्रयोग किया है। कादम्बरी में चण्डिका देवी के मन्दिर के तमिल देशवासी पुजारी के वर्णन मे लिखा है—"धूमरक्तालक्तकाक्षरतालपत्रकुहकतन्त्रमन्त्रपुस्तिकासग्राहिणा" अर्थात् उस पुजारी के पास कज्जल और लाल अलक्तक से बनी स्याही से तालपत्र पर लिखी तन्त्र-मन्त्र की पुस्तकों का सग्रह था। इससे विदित होता है कि उस समय तक तालपत्रो पर रग-बिरगी स्याहियो से लिखने की प्रथा भी चल चुकी थी। इसी पुजारी के वर्णन में कपडे पर लिखित दुर्गा-स्तोत्र का भी उल्लेख है। हरे पत्तो के रस और कोयले से बनी स्याही को सीपी मे रखने का भी रिवाज उस समय था (हरित-पत्र-रसांगारमषीमलिनशम्बूकवाहिना)।

ताड़पत्रीय ग्रन्थ

भारत मे प्राचीन काल की अधिकतर हस्तलिपियाँ ताड़पत्रों पर ही मिलती हैं। ताड या ताल वृक्ष दो प्रकार के होते है. एक खरताड और दूसरा श्रीताड। गुजरात, सिंध और राजस्थान मे कहीं-कहीं खरताड के वृक्ष हैं। इनके पत्ते मोटे और कम लम्बे-चौड़े होते है। ये सूखकर तड़कने भी लग जाते हैं और कच्चे तोड़ लेने पर जल्दी ही सड़ या गल जाते हैं। इसलिए उनका उपयोग पोथी लिखने मे नहीं किया जाता। श्रीताड़ के पेड़ दक्षिण मे मद्रास और पूर्व में ब्रह्मा आदि देशों में उगते हैं। इन पेड़ों के पत्ते अधिक लम्बे, लचीले और कोमल हैं। ये पत्ते 37 इंच तक लम्बे होते हैं। कभी-कभी इससे भी अधिक परन्तु इनकी चौड़ाई 3 इंच या इसके लगभग ही होती है।

ताड़पत्रों को उबालकर उन्हें शंख या कौड़ी से रगडा या घोंटा जाता था जिससे वे चिकने हो जाते थे। फिर लोहे की कलम से उन पर कुरेदते हुए अक्षर लिखे जाते थे। तदन्तर उन पर स्याही लेप दी जाती थी जो कुरेदे हुए अक्षरों में भर जाती थी। यह तरीका दक्षिण भारत मे अधिक प्रचलित था। उत्तर भारत मे प्रायः ताड़पत्रों पर स्याही से लेखनी द्वारा लिखा जाता था। संस्कृत मे 'लिख्' धातु का अर्थ कुरेदना होता है। स्पष्ट है कि ताडपत्रों पर पहले कुरेदकर लिखा जाता था। अतः लिखने का अर्थ हुआ—कुरेदना। अतः इस क्रिया का नाम लेखन या लिखना हुआ है। 'लिप्' धातु का अर्थ है—लीपना। ताडपत्र पर अक्षर कुरेद कर उन पर 'स्याही लेपन' के कारण लिपि शब्द का प्रयोग भी चालू हुआ।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, ताडपत्रों की चौडाई प्राय 3 इञ्च की होती है। ऐसा लगता है कि बाद मे, जैसे बाँस से कागज बनाए जाते थे, वैसे ही तालपत्रों को भी भिगोकर या गलाकर उनकी लुगदी बना कर और बाद मे कूट-पीटकर अधिक चौडाई के पत्रों का निर्माण किया जाने लगा। ऐसा पूर्वीय देशों मे होता था। महाराजा जयपुर म्यूजियम मे महाभारत के कुछ पर्व ऐसे ही पत्रों पर बंग लिपि मे लिखे हुए हैं जिनका लिपि सवत् लक्ष्मण सेन वर्ष मे है। इसी प्रकार मोटाई अधिक करने के लिए तीन या चार पत्रों को एकसाथ सीकर उन पर लिखा जाता था। ऐसा करने से पुस्तक मे अधिक स्थिरता आ जाती थी। ऐसे ग्रन्थ बर्मा या ब्रह्मा देश मे अधिक पाए जाते है।

ताडपत्रों के लिए गर्म जलवायु हानिकारक है, इसीलिए अधिक मात्रा में लिखे जाने पर भी ताडपत्रीय ग्रंथ दक्षिण भारत मे कम मिलते है। काश्मीर, नेपाल, गुजरात व राजस्थान आदि ठण्डे और सूखे प्रदेशो में अधिक सख्या मे मिलते है। नेपाल की जलवायु को इन ग्रन्थो के लिए आदर्श बताया गया है।

कई बार ऐसा देखा गया है कि यदि किसी ताडपत्रीय प्रति के बीच मे से कोई पत्र जीर्ण हो गया या त्रुटित हो गया है तो उसी आकार-प्रकार के कागज पर उस पत्र पर लिखित अंश की प्रतिलिपि करके बीच मे रख दी गई है। परन्तु कालान्तर में आस-पास के ताडपत्र तो बचे रह गये और वह कागज जीर्णशीर्ण हो गया। कभी-कभी सुरक्षा की दृष्टि से ताडपत्रो के बीच-बीच मे हल्के पतले कपडे की परतें रखी गई—परन्तु उसको भी ताडपत्र खा गया, यही नहीं ताडपत्रीय प्रति पर बांधा हुआ कपड़ा भी विवर्ण और जीर्ण हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि कपडे, कागज और ताडपत्र का मेल नहीं बैठता। ताडपत्र कागज और कपड़े पर विनाशकारी प्रभाव ही पडता है। इसीलिए प्राय ताडपत्रीय प्रतियाँ वस्तों में न बाधकर मुक्त रूप मे ही रखी जाती है।

ताडपत्र पर लिखित जो प्राचीनतम प्रतियाँ मिली है वे पाशुपत मत के आचार्य रामेश्वरध्वज कृत 'कुसुमाञ्जलिटीका' और 'प्रबोधसिद्धि' है, इनका लिपिकाल ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी बताया जाता है।[1] इसी प्रकार डॉ० लूडर्स ने अपने (Kleinene Sanskrit Texte Panti) मे एक नाटक के त्रुटित अंश को छपवाया है जिसकी ताडपत्र पर दूसरी शताब्दी में लिखी प्रति का उल्लेख है। यह ताड़पत्र पर स्याही से लिखी प्रति है। जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल की संख्या 66 के पृ. 218

1. अक्षर अमर रहे, पृ० 4।

पर प्लेट 7, संख्या 1 में a से i तक एक संस्कृत ग्रंथ के टुकड़े छपे हैं जो श्री मकार्ट ने काशगर से भेजे थे। ये ईसा की चौथी शताब्दी मे लिखे हुए माने गये हैं। जापान के होरियूजि मठ मे दो बौद्ध ग्रंथ रखे हुए हैं जो मध्य भारत से ले जाये गये हैं। यह 'प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र' और 'उष्णीषविजयधारिणी' की पुस्तकें है, ये ईसा की छठी शताब्दी मे लिखी गयीं है। नेपाल के ताड़पत्रीय ग्रन्थ सग्रह में 'स्कन्दपुराण' (7 वी शताब्दी में लिखित) और 'लकावतार' (906–7 ई. में लिखित) की प्रतियाँ सुरक्षित हैं। कैम्ब्रिज के ग्रन्थ-संग्रह मे प्राप्त 'परमेश्वर तन्त्र' भी ताडपत्र पर ही लिखित है और यह प्रति हर्ष संवत् 252 (859 ई.) की है। राजस्थान मे जैसलमेर के ग्रन्थ-भण्डार अपने प्राचीन ग्रन्थ-संग्रह के लिए सर्वविदित हैं। इनमे से जिनराजसूरीश्वर के शिष्य जिनभद्रसूरि द्वारा सस्थापित बृहद्भण्डार का 1874 ई. में डॉ० ब्हूलर ने अवलोकन करके 1160 वि. की लिखी हुई ताडपत्रीय प्रति को उस सग्रह की प्राचीनतम प्रति बतलाया है। इसके पश्चात् 1904–5 ई. में हीरालाल हंसराज नामक जैन पण्डित ने दो हजार दो सौ ग्रन्थों का सूची-पत्र तैयार किया। उसी वर्ष अंग्रेज सरकार की ओर से प्रोफ़ेसर श्रीधर भाण्डारकर भी जैसलमेर गये। उन्होने अपनी विवरणी में जैन पण्डित की सूची के ही आधार पर संवत् 924 की लिखी तालपत्र प्रति को प्राचीनतम बताया। परन्तु बाद में सी. डी. दलाल द्वारा अनुसधान करने पर संवत् 1130 में लिखित 'तिलकमञ्जरी' और 1139 में लिपिकृत 'कुवलयमाला' की ही प्रतियाँ प्राचीनतम प्रमाणित हुईं। इस संग्रह में अर्वाचीनतम ताडपत्रीय प्रति 'सर्वसिद्धान्त विषमपदपर्याय' नामक प्रति संवत् 1439 वर्ष में लिखित है। परन्तु जैसलमेर के ही दूसरे तपागच्छ ग्रन्थ भण्डार मे 'पञ्चमीकहा' ग्रन्थ की प्रति 1109 वि. की लिखी हुई है जो वृहद् भण्डार की प्रति से भी प्राचीन है। इसी प्रकार हरिभद्रसूरि कृत 'पचाशको' की संवत् 1115 में लिखित प्रति भी इस भण्डार में विद्यमान है। जैसलमेर मे डूंगरजी-यति-संग्रह और थाहरूशाह भाण्डागार नामक दो संग्रह और हैं किन्तु इनमें उक्त भण्डारो की अपेक्षा अर्वाचीन ग्रन्थ हैं।[1]

गुजरात के खम्भात के शांतिनाथ ज्ञान भण्डार मे भी संवत् 1164 मे लिखित 'जीवसमासवृत्ति' और 1181 संवत् में लिखित मुनिचन्द्रसूरि रचित 'धर्मबिन्दुटीका' की प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रतियाँ उपलब्ध हैं।[2]

भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना में 'उपमिति भवप्रपञ्च कथा' नामक जैन ग्रन्थ की 178 पत्रों की ताड़पत्रीय प्रति उपलब्ध है जो विक्रम संवत् 962 (905–6 ई) मे लिखी गई है। इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है।

भूर्जपत्रीय (भोजपत्र पर लिखे ग्रन्थ)

भूर्जपत्र से तात्पर्य है भूर्ज नामक वृक्ष की छाल। यह वृक्ष हिमालय प्रदेश में बहुतायत से होता है। इसकी भीतरी छाल कागज की तरह होती है, उसी को निकालकर बहुत प्राचीन समय से लिखने के काम में लिया जाता था। भले ही लेखन का प्रथम अभ्यास पत्थरों पर हुआ हो पर अवश्य ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लिखने की प्रथा

1. जैसलमेर-भाण्डागारीय-ग्रन्थानां सूचीपत्रस्य प्रस्तावना—लालचन्द्र भगवानदास गांधी, 1923 ई०।
2. श्री खंभात, शान्तिनाथ · प्राचीन ताड़पत्रीय, जैन ज्ञान भण्डार नुं सूचीपत्र, सूचीकर्ता—श्री विजय-कुमुद सूरि।

का यह प्रचलन पहले पत्र या पत्तों पर ही लिखने से हुआ होगा, क्योंकि पत्ते से ही लिखित 'पत्र' शब्द की उत्पत्ति हुई और बाद मे जिस किसी आधार पर लिखा गया वह भी पत्र ही कहलाया। लिखी हुई भूर्ज की छाल, छाल होते हुए भी पत्र ही कहलाती है और फिर इसका नाम ही भूर्जपत्र पड़ गया। इसमे भी सन्देह नही कि भूर्जपत्र पर लिखने की प्रथा बहुत पुरानी है। यह छाल कभी-कभी 60 फुट तक लम्बी निकल आती है। इसको लेखक आवश्यकतानुसार टुकड़ों में काटकर विविध आकार प्रकार का कर लेते थे और फिर उस पर तरह-तरह की स्याही से लिखते थे। चिकना तो यह अपने आप ही होता है। मूल रूप में यह छाल एक ओर से अधिक चौड़ी और फिर क्रमशः सँकड़ी होती जाती है और हाथी की सूँड की तरह होती है। कवि कालिदास ने अपने 'कुमार सम्भव' काव्य के प्रथम सर्ग (श्लोक 7) मे हिमालय का वर्णन करते हुए लिखा है :

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र
भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणा
मनगंलेख क्रिययोपयोगम् ॥ (1.7)

इस श्लोक में 'भूर्जत्वक्', 'धातुरस' और 'कुञ्जरबिन्दुशोणाः' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। हिमालय मे उगने वाले वृक्ष की प्रधानता, उसकी त्वक् अर्थात् छाल का लेखक्रियोपयोग, धातुरस से शोण अर्थात् लाल स्याही का प्रयोग और उस मूल रूप मे भूर्ज की छाल का लिखे जाने के बाद अक्षरो से युक्त होकर बिन्दुयुक्त हाथी की सूँड के समान दिखाई देना—इसके मुख्य सूचक भाव हैं।[1]

कालिदास का समय यद्यपि पण्डितों में विवादास्पद है परन्तु ईसा की दूसरी शताब्दी से इधर वह नही आता, अतः यह तो मान ही लेना चाहिए कि लिखने की क्रिया का उस समय तक बहुत विकास हो चुका था और 'भूर्जत्वक्', जो पत्र लेखन के काम आने के कारण भूर्जपत्र कहलाने लगा था, काफी प्रचलित हो चुका था। अलबेरुनी ने भी अपनी भारत यात्रा विवरण मे 'तूज की छाल' पर लिखने की सूचना दी है।

भूर्जपत्र पर लिखी हुई पुस्तकें या ग्रन्थ अधिकतर उत्तरी भारत मे ही पाये गए है विशेषतः कश्मीर मे। भारत के विभिन्न ग्रथ सग्रहालयो मे तथा योरप के पुस्तकालयो मे जो प्राचीन भूर्जपत्र पर लिखित ग्रंथ सुरक्षित हैं वे प्राय काश्मीर से ही प्राप्त किये गए है। खोतान मे 'धम्मपद' (प्राकृत) का कुछ अश भूर्जपत्र पर लिखा हुआ मिला है, यही भूर्ज-पत्र का प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है। इसका लिपिकाल ईसा की दूसरी शती आँका गया है। दूसरा ग्रंथ 'सयुक्तागमसूत्र' बौद्ध-ग्रथ भी डॉ स्टाइन को खोतान मे खड्‌लिक स्थान मे मिला। यह ग्रथ ईसा की चौथी शताब्दी का लिखा हुआ है। मिस्टर बावर को मिली पुस्तको का उल्लेख बावर पाडुलिपियाँ (Bower Manuscripts) नामक पुस्तक मे है। वे पुस्तकें भी ईसा की छठी शताब्दी के लगभग की हैं और बख्शाली का अंकगणित 8वीं शताब्दी का है।[2] ये पुस्तकें स्तूपो और पत्थरों के बीच मे रखी होने से इतने दिन

1. शाकुन्तल नाटक में भी शकुन्तला दुष्यन्त को प्रेमपत्र लिखते समय कहती है—"लिखने के साधन नहीं हैं तो सखियाँ सुझाव देती हैं कमलिनी के पत्ते पर नखो से गड़ाकर शब्द बना दो।" यह लेखन का नियमित साधन नहीं अपितु, तात्कालिक साधन है।
2. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 144।

टिक सकी हैं अन्यथा खुले में रहने वाली पुस्तक तो 15वी या 16वीं शताब्दी से पहले की मिलती ही नहीं हैं। ताड़पत्र पर तो अब भी कोई-कोई ग्रंथ लिखा जाता है परन्तु भोजपत्र तो अब केवल यन्त्र-मन्त्र या ताबीज आदि लिखने की सामग्री होकर रह गया है। इस पर लिखे हुए जो कई ग्रंथ मिलते भी हैं वे भी प्रायः धार्मिक स्तोत्रादि ही हैं। राजस्थान-प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर के संग्रह में 'दुर्गासप्तशती' की एक प्रति सुरक्षित है। वह 16वी शताब्दी की (राजा मानसिंह, आमेर के समय की) है। इसी प्रकार महाराजा जयपुर के संग्रहालय में भी एक-दो पुस्तकें हैं जो 16वीं शती से पुरानी नहीं हैं। ताड़पत्र और कागज की अपेक्षा भूर्जपत्र कम टिकाऊ होता है।

सन् 1964 ई मे विश्व-प्राच्य-सम्मेलन के अवसर पर 'राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली' द्वारा आयोजित प्रदर्शनी में तक्षशिला से प्राप्त भूर्जपत्र पर ब्राह्मी-लिपि में लिखे कुछ पाडुलिपीय पत्र प्रदर्शित किये गए थे, जो 5वी–6ठी शताब्दी के थे। इसी प्रदर्शनी में 'राष्ट्रीय अभिलेखागार' (National Archives of India) से प्राप्त "भैषज्यगुरुवैदूर्य-प्रभासूत्र' नामक बौद्ध-धर्म-ग्रंथ की प्रति भी भूर्जपत्र पर गुप्तकालीन लिपि में लिखित देखी गई जो 5वी–6ठी शताब्दी की है।

सांचीपातीय

भूर्जपत्र की तरह आसाम मे अगरुवृक्ष की छाल भी ग्रंथ लिखने और चित्र बनाने के काम मे आती थी। महत्त्वपूर्ण ग्रंथों, विशेषत: राजाओं और सरदारों के लिए लिखे जाने वाले ग्रंथो के लिए इसका उपयोग मुख्यत: किया जाता था। इस छाल को तैयार करने का प्रकार श्रम-साध्य और जटिल-सा होता है। पहले, कोई 15–16 वर्ष पुराने अगरुवृक्ष को चुन लेते है। इसके तने की परिधि 30 से 35 इंच तक होती है। जमीन से कोई 4 फीट की ऊँचाई पर स छाल की पट्टियाँ उतार लेते हैं जो कभी-कभी 6 से 18 फीट लम्बी और 3 से 27 इंच तक चौडी होती हैं। इन पट्टियों का भीतरी अर्थात् सफेद भाग ऊपर रख कर तथा बाहरी अर्थात् हरे भाग को अन्दर की तरफ रखकर गुलिया लेते हैं। फिर इनको सात-आठ दिन तक धूप मे सुखाते हैं। इसके पश्चात् इनको किसी लकड़ी के पट्टे अथवा अन्य दृढ आधार पर फैलाकर हाथ से रगडते हैं जिससे इनका खुरदरापन दूर हो जाता है। तदुपरान्त इनको रात भर ओस मे रखते हैं और प्रातः छाल की ऊपरी सतह (निगारी) को बहुत सावधानी से उतार लेते हैं। इस शुद्ध छाल के 9 से 27 इंच लबे और 3 से 18 इंच चौड़े टुकडे सुविधानुसार काट लिए जाते हैं। कोई एक घण्टे तक ठण्डे पानी मे रखकर इन पर क्षार (Alkali) छिड़कते हैं, फिर चाकू से इनकी सतह को खुरचते हैं। इसके बाद इस नरम सतह पर पकी हुई ईंट घिसते हैं जिससे रहा-सहा खुरदरापन भी दूर हो जाता है। अब इन टुकड़ों पर माटीमह (मॉटीमाता) से तैयार किया हुआ लेप लगाते हैं और फिर हरताल (पीले रंग) से रंग लेते हैं। धूप मे सुखाने के बाद ये अगर की छाल के पत्र सगमरमर की तरह चिकने हो जाते हैं और लेखन तथा चित्रण के योग्य बन जाते हैं।

इन पत्रो की लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई विभिन्न प्रकार की होती हैं। दो फीट लम्बे और लगभग 6 इंच चौडे टुकड़े पवित्र धार्मिक ग्रंथों की प्रतियाँ तैयार करने के लिए सुरक्षित रखे जाते थे। ऐसी प्रतियाँ प्रायः राजाओं और सरदारों के लिए निर्मित होती थी। लिखित पत्रो पर संख्यासूचक अंक दूसरी ओर 'श्री:' अक्षर लिखकर अंकित किया

जाता था। प्रत्येक पत्र के मध्य में बाँधने की डोरी पिराने के लिए एक छिद्र बनाया जाता था। लिखित पत्रो से अपेक्षाकृत मोटे पत्र सुरक्षा के लिए प्रति के ऊपर-नीचे लगाए जाते थे। कभी-कभी लकडी के पटरे भी इस कार्य के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। इन मोटे पत्रों पर ग्रंथ के स्वामी और उसके उत्तराधिकारियो के नाम लिखे जाते थे अथवा उनके जीवन में अथवा परिवार मे हुई महत्वपूर्ण घटनाओं का भी लेख कभी-कभी अंकित किया जाता था। इन अतिरिक्त पत्रो को 'बेटी पत्र' कहते हैं (आसाम में 'बेटी' शब्द दासी-पुत्री के रूप मे प्रयुक्त होता है)। बाँधने का छिद्र प्राय: दाएँ हाथ की ओर मध्य मे बनाया जाता था और इसमे बहुत बढिया मुगा अथवा एण्डी का धागा पिरोया जाता था जिसको 'नाडी' कहते थे। 18वीं शताब्दी मे लिखे गए शाही ग्रंथो मे ऐसे छिद्रो के चारो ओर बेल-बूटे और फारसी ढंग की सजावट तथा कभी-कभी सोने का काम भी दिखाई देता है।

लिखने तथा चित्रित करने से पूर्व इन पत्रों को चिकना और मुलायम बनाने के लिए प्राय: 'माटीमाह' का ही लेप किया जाता है परन्तु कभी-कभी बतख के अण्डे भी काम मे लाये जाते हैं। हरताल का प्रयोग पत्रो को पीला रंगने के लिए तो करने ही है, साथ ही यह कृमि नाशक भी है। जब प्रति तैयार हो जाती है तो वह गन्धक के धुए मे रखी जाती है, इससे यह विनाशक कृमियो से मुक्त हो जाती है। आहोम के दरबार मे हस्तप्रतियो दस्तावेजों, मानचित्रों और निर्माण सम्बन्धी आलेखों की सुरक्षा के लिए एक विशेष अधिकारी रहता था जो 'गन्धइया बरुआ' कहलाता था।

इस प्रकार तैयार किये हुए पत्रो को आसाम मे 'सांचीपात' कहते हैं। कोमलता और चिक्कणता के कारण ये पत्र दीर्घायुषी होते हैं और कितने ही स्थानों पर बहुत सुन्दर रूप मे इनके नमूने अब तक सुरक्षित पाये जाते है। परन्तु, ये सब 15वी–16वी शताब्दी से पुराने नही है, हाँ अगरु-पत्रो का सन्दर्भ बाणकृत 'हर्षचरित' के सप्तम उच्छ्वास मे मिलता है। बाण महाकवि हर्षवर्द्धन का समकालीन था और इसलिए उसका समय 7 वी शताब्दी का था। कामरूप का राजा भास्कर वर्मा भी हर्ष का समकालीन, मित्र और सहायक था। उसने सम्राट के दरबार में भेटस्वरूप कुछ पुस्तकें भेजी थी जो अगरु की छाल पर लिखे हुए सुभाषित ग्रन्थ थे।

"अगरुवल्कल-कल्पित-सञ्चयानि च सुभाषितभाञ्जि पुस्तकानि, परिणतपाटल-पटोलत्विषि....''[1]

बौद्धो के तान्त्रिक ग्रंथ 'आर्यमञ्जुश्रीकल्प'[2] मे भी अगरुवल्कल पर यन्त्र-मन्त्र लिखने का उल्लेख मिलता है और इस प्रकार इसके लेखाधार बनने का इतिहास और भी पीछे चला जाता है।

महाराजा जयपुर के संग्रहालय में प्रदर्शित महाभारत के कुछ पर्व भी सांचीपात पर लिखे हुए है।

कागजीय

यो तो लेख और लेखाधार दोनों के लिए संस्कृत मे 'पत्र' शब्द का ही प्रयोग अधिकतर पाया जाता है परन्तु बाद के साहित्य में और प्राय: तन्त्र साहित्य में 'कागद'

1 हर्षचरित (सप्तम उच्छ्वास)।

2. त्रिवेन्द्रम सीरीज, भाग 1, पृ० 131।

शब्द भी खूब प्रयुक्त किया गया है। भूर्जपत्र, रेशम, लाल कपड़ा और तालपत्र के समान 'कागद' भी यन्त्र-मन्त्र और पताकाएँ आदि लिखने के काम में आता था। ग्रन्थ तो इस पर लिखे ही जाते थे। इसे 'शण पत्र' भी कहा गया है।[1]

प्रायः कहा जाता है कि सर्वप्रथम ईस्वी सन् 105 में चीन के लोगों ने कागज बनाया। परन्तु, ईसा से 327 वर्ष पूर्व जब यूनान के बादशाह सिकन्दर ने भारत पर हमला किया तब उसके साथ निआर्कस नामक सेनापति आया था। उसने अपने व्यक्तिगत अनुभव से लिखा है कि उस समय भारत के लोग रूई से कागज बनाते थे। निआर्कस सिकन्दर की इस चढ़ाई के समय कुछ समय तक पंजाब में रहा था और उसने यहाँ के हालचाल का अध्ययन करके भारत के लोगों का विस्तृत वर्णन लिखा था, इसका संक्षिप्त रूप एरिअन ने अपनी 'इंडिका' नामक पुस्तक मे उद्धृत किया है। मैक्समूलर ने भी 'हिस्ट्री ऑफ एशियेण्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक पुस्तक मे इसी आधार पर भारतीयो के रूई को कूटकर कागज बनाने की कला से अवगत होने का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि रूई व चिथड़ों आदि को भिगो कर लुगदी बनाने तथा उसको कूटकर कागज बनाने की विधि से भारतवासी ईसा से चार शताब्दी पूर्व भी अच्छी तरह परिचित थे। परन्तु किसी भी प्रकार ऐसा कागज ताड़पत्र और भूर्जपत्र की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और सुलभ नही था इसीलिए इस पर लिखे ग्रन्थ कम मिलते है और उतने पुराने भी नहीं हैं।

फिर भी, यह अवश्य कहा जा सकता है कि एशिया और योरोप के अन्य देशों के मुकाबले में भारत ने कागज बनाने की कला पहले ही जान ली थी।

भारत में बहुत प्राचीनकाल से कागज बनता रहा है। यहाँ विविध स्थानो पर कागज बनाने के उद्योग स्थापित थे जिनके यत्किंचित् परिवर्तित रूप अब भी पाये जाते हैं। कागज बनाना एक गृह उद्योग भी रहा है। काश्मीर, दिल्ली, पटना, शाहाबाद, कानपुर, अहमदाबाद, खभात, कागजपुरा (अर्थात् दौलताबाद), घोसुण्डा और सागानेर[2] आदि स्थान कागज बनाने के केन्द्र रहे हैं और इनमे से कई स्थान तो इसी उद्योग के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। दौलताबाद का एक बड़ा भाग तो कागजपुरा ही कहलाता था। अहमदाबाद, घोसुण्डा और सांगानेर मे तो कई परिवार कागज का ही उद्योग करते थे और अब भी करते हैं। इन लोगों की बस्तियो मे जाकर देखने पर कई मकानो की दीवारों पर रूई,

1. वाचस्पत्यम् पृ० 1855-56, Sanskrit English Dictionary–by M.M. Williams, P. 268., सुखानन्द कृत शब्दार्थ चिन्तामणि।
2. सांगानेर कस्बा जयपुर से 8 मील दक्षिण में है। वहाँ का कागज उद्योग प्रसिद्ध है। सवाई जयसिंह के पुत्र सवाई ईश्वरीसिंह के समय में इस उद्योग को विशेष प्रोत्साहन मिला था। उनके समय में कागज की किस्म और माप कायम की गई और वह कागज 'ईश्वरसाही' कागज कहलाता था। कागज की चिकनाई के अनुसार उस पर राज्य की मोहर लगा दी जाती थी। तद्नुसार वह कागज 'दो मोहरिया' या 'डेढ़ मोहरिया' या 'मोहरिया' कहलाता था। इस व्यवसाय को करने वाले परिवार 'कागदी' या 'कागजी' नाम से प्रसिद्ध हैं। सागानेरी कागज बहुत टिकाऊ होता है। भूतपूर्व जयपुर राज्य के बहीखाते, स्टाम्प पेपर और अन्य अभिलेख इसी कागज पर पाये जाते है। सामान्य रूप से सुरक्षित रखने योग्य सभी तहरीरें लिखने के लिए इसी का प्रयोग होता था। सत्रहवी शताब्दी या इसके बाद में लिखे हुए बहुत-से ग्रन्थ भी सांगानेरी कागज पर लिखे पाये जाते हैं।

रद्दी कागज और चिथड़ों को भिगोकर गलाने के बाद लुगदी बनाकर कूट कर बनाए हुए कागज चिपके हुए मिलेंगे, जो सूखने के लिए लगाये जाते हैं। सूखने पर इनको शंख या कौड़ी अथवा हाथीदाँत के गोल टुकड़ों से घोंटकर चिकना बनाया जाता है जिससे स्याही इधर-उधर नहीं फैलती।

इसी प्रकार देश में काश्मीरी, मुगलिया, अरवाल, साहबखानी, खम्भाती, शणिया, अहमदाबादी, दौलताबादी आदि बहुत प्रकार के कागज प्रसिद्ध हैं और इन पर लिखी हुई पुस्तकें विविध ग्रन्थ-भण्डारों में प्राप्त होती हैं। बिलायती कागज का प्रचार होने के बाद भी ग्रन्थो और दस्तावेजों को देशी हाथ के बने कागजों पर लिखने की परम्परा चालू रही है। वास्तव मे, अब तो हाथ का बना कागज हाथ के बने कपड़े के साथ संलग्न हो गया है और यत्र-तत्र खादी भण्डारों मे हाथ के बने देशी कागज बेचने के कक्ष भी दिखाई देते हैं। देशी कागजो का टिकाऊपन इसी बात से जाना जा सकता है कि सरकारी या गैर-सरकारी अभिलेखागारों मे जो कागज-पत्र रखे हुए हैं उनमे से विलायती कागज (चाहे पार्चमैण्ट ही क्यो न हो) पर लिखे हुए लेख देशी कागज पर लिखी सामग्री के आगे फीके और जीर्ण लगते हैं। ग्रन्थागारो मे भी देशी कागज पर लिखी प्राचीन पाडुलिपियाँ ऐसी निकलती हैं मानो अभी-अभी की लिखी हुई हो। इन कागजो के नामकरण के विषय मे यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कोई कागज अपने निर्माण-स्थान के नाम से जाना जाता है, तो कोई अपने निर्माता के नाम से। किसी-किसी का नाम उसमे प्रयुक्त सामग्री से भी प्रसिद्ध हुआ है, जैसे—शणिया, मोमिया, बाँसी, भोगलिया इत्यादि।

मध्य एशिया मे यारकंद नामक नगर से 60 मील दक्षिण मे 'कुगिअर' नामक स्थान है। वहाँ मिस्टर बेबर को जमीन में गड़े हुए चार ग्रन्थ मिले जो कागज पर सस्कृत भाषा मे गुप्त लिपि के लिखे हुए बताय जाते है। डॉ० हार्नली का अनुमान है कि ये ग्रन्थ ईसा की पाँचवी शताब्दी के होने चाहिए। इसी प्रकार मध्य एशिया क ही काशगर आदि स्थानों पर जो पुराने संस्कृत ग्रन्थ मिले हैं वे भी उतने ही पुराने लगते है।[1]

भारत मे प्राप्त कागज पर लिखित प्रतियो मे वाराणसी के सस्कृत विश्वविद्यालय मे सरस्वती भवन पुस्तकालय स्थित भागवत पुराण की एक मिश्रित प्रति का उल्लेख मिलता है। इसकी मूल पुष्पिका का सवत् 1181 (1134 ई०) बताया गया है।[2]

राजस्थान-प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर के संग्रह मे आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त विरचित ध्वन्यालोकलोचन टीका की प्राचीनतम प्रति सवत् 1204 (1146 ई०) की है। इसके पत्र बहुत जीर्ण हो गए है, पुष्पिका की अन्तिम पंक्तियाँ भी झड़ गई हैं परन्तु उसकी फोटो प्रति संग्रह मे सुरक्षित है।

महाराजा जयपुर के निजी सग्रह 'पोथीखाना' मे पद्मप्रभ सूरि रचित 'भुवनदीपक' पर उन्ही के शिष्य सिंह तिलक कृत वृत्ति की सवत् 1326 वि. की प्रति विद्यमान है। इस वृत्ति का रचना काल भी संवत् 1326 ही है और यह बीजापुर नामक स्थान पर

1. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ० 145। बूलर द्वारा संग्रहीत गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिन्ध और खानदेश के खानगी पुस्तक संग्रहालयो की सूची, भाग 1, पृ० 238 पर इन ग्रन्थों का उल्लेख देखना चाहिए।
2. *मैन्युस्क्रिप्ट्स फ्रॉम इण्डियन कलेक्शन्स, नेशनल म्यूजियम, 1964,* पृ० 8।

लिखी हुई है। इस प्रति के पत्र जीर्णता के कारण अब शीर्ण होने लगे हैं परन्तु प्रत्येक सम्भव उपाय से इसकी सुरक्षा के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

तूलीपातीय

आसाम में चित्रण व लेखन के लिए 'तूलीपात' का प्रयोग भी बहुत प्राचीन काल से होता आया है। इसके निर्माण की कला इन लोगों ने सम्भवतः 'ताइ' और 'शान' लोगों से सीखी थी जो 13वीं शताब्दी में अहोम के साथ यहाँ आये थे।

वास्तव में 'तूलिपात' एक प्रकार का कागज ही होता है जो लकड़ी के गूदे या वल्क से बनाया जाता है। यह तीन रंग का होता है—सफेद, भूरा और लाल। सफेद 'तूलिपात' बनाने के लिए महाइ (Mahai) नामक वृक्ष को चुना जाता है, गहरे भूरे रंग के तूलिपात के लिए यामोन (जामुन) वृक्ष का प्रयोग होता है और लाल 'तूलिपात' जिस वृक्ष के गूदे से बनता है उसका नाम अज्ञात है।

उपर्युक्त वृक्षों की छाल उपयुक्त परिमाण मे निकाल ली जाती हैं और फिर उसे खूब कूटते हैं। इससे उनके रेशे ढीले होकर अलग-अलग हो जाते हैं। फिर इनको पानी में इतना उबालते हैं कि एक-एक कण अलग होकर उनका सब कूड़ा-करकट साफ हो जाता है। इन कणों का फिर कल्क बना लेते हैं। इसके बाद अलग-अलग माप वाली आयताकार तश्तरियों में पानी भरकर उस पर उस कल्क को समान रूप से फैला देते हैं और ठण्डा होने को रख देते हैं। ठण्डा होने पर पानी की सतह के ऊपर कल्क एक सख्त और मजबूत कागज के रूप में जम जाता है। साधारणतया तूलिपात पत्र दो पाठों को सीकर तैयार किया जाता है अथवा एक ही लम्बे पाठे को दोहरा करके सी लेते हैं। इससे वह पत्र और भी मजबूत हो जाता है। कागज बनाने का यह प्रकार विशुद्ध भारतीय अतिरिक्त प्रकार है। इस उद्योग के केन्द्र नम्फकिआल, मंगलोग और नारायणपुर मे स्थित थे जो आसाम के लखीमपुर जिले के अन्तर्गत हैं। नेफा में कामेंग सीमा क्षेत्र के मोंपा बौद्ध भी इसी प्रकार के कागज का निर्माण करते हैं जो स्थानीय 'सुक्सो' नामक वृक्ष की छाल से बनाया जाता है।

पटीय अथवा (सूती कपड़ों पर लिखे) ग्रन्थ

ग्रन्थ लिखने, चित्र आलेखित करने तथा यन्त्र-मन्त्रादि लिखने के लिए रूई से बना सूती कपड़ा भी प्रयोग में लाया जाता है। लेखन क्रिया से पहले इसके छिद्रों को बन्द करने हेतु आटा, चावल का मांड या लेई अथवा पिघला हुआ मोम लगाकर परत सुखा लेते हैं और फिर अकीक, पत्थर, शंख, कौड़ी या कसौटी के पत्थर आदि से घोंटकर उसको चिकना बनाते हैं। इसके पश्चात् उस पर लेखन कार्य होता है। ऐसे आधार पर लिखे हुए चित्र पट-चित्र कहलाते हैं और ग्रन्थ को पट-ग्रन्थ कहते है।

सामान्यतः पटों पर पूजा-पाठ के यन्त्र-मन्त्र ही अधिक लिखे जाते थे—जैसे, सर्वतोभद्र यन्त्र, लिंगतो-भद्र-यन्त्र, मातृका-स्थापन-मण्डल, ग्रह-स्थापन-मण्डल, हनुमत्पताका, सूर्यपताका, सरस्वती पताकादि चित्र, स्वर्ग-नरक-चित्र, सांपनसेनी-ज्ञान चित्र और जैनों के अढाई द्वीप, तीन द्वीप, तेरह द्वीप और जम्बू द्वीप एवं सोलह स्वप्न आदि के नक्शे व चित्र भी ऐसे ही पटों पर बनाए जाते हैं। बाद में मन्दिरों में प्रयुक्त होने वाले पर्दे अर्थात्

प्रतिमा के पीछे वाली दीवार पर लटकाने के सचित्र पट भी इसी प्रकार से बनाने का रिवाज है। इनको पिछवाई कहते हैं। नाथद्वारा में श्रीनाथजी की पिछवाइयाँ बहुमूल्य होती हैं। राजस्थान मे बहुत-से कथानकों को भी पटों पर चित्रित कर लेते है जो 'पड़' कहलाते हैं। ऐसे चित्रों को फैलाकर लोकगायक उनके संगीतबद्ध कथानकों का गान करते हैं। पाबूजी की पड़, रामदेवजी की पड़, आदि का प्रयोग इस प्रदेश मे सर्वत्र देखा जा सकता है।

महाराजा जयपुर के संग्रह में अनेक तान्त्रिक नक्शे, देवचित्र एवं इमारती खाके विद्यमान हैं जो 17वीं एवं 18वी शताब्दी के हैं। कोई-कोई और भी प्राचीन हैं परन्तु वे जीर्ण हो चले हैं। इनमे महाराजा सवाई जयसिंह द्वारा सम्पन्न यज्ञों के समय स्थापित मण्डलों के चित्र तथा जयपुर नगर संस्थापन के समय तैयार किए गये प्रारूप-चित्र दर्शनीय हैं। इसी प्रकार संग्रहालय में प्रदर्शित राधाकृष्ण की होली के चित्र भी पट पर ही अंकित है और उत्तर 17 वी शती के हैं। दक्षिण से प्राप्त किए हुए छः अनुभों के विशाल पट चित्रो पर विविध अवस्थाओं में नायिकायें निरूपित हैं। ये चित्र भी कपडे पर ही बने है और बहुत सुन्दर हैं।

जिस कपडे पर मोम लगाकर उसे चिकना बनाया जाता था उसे मोमिया कपडा या पट कहते थे। ऐसे कपडों पर प्रायः जन्म-पत्रियाँ लिखी जाती थी। ये जन्म-पत्रियाँ पट्टियो को चिपका कर बहुत लम्बे-लम्बे आकार में बनाई जाती थी। उन पर लिखी हुई सामग्री इतनी विशद और विशाल होती थी कि उन्हे एक ग्रन्थ ही मान लिया जा सकता है। जिसकी जन्म पत्री होती है उसके वंश का इतिहास, वंश-वृक्ष, स्थान, प्रदेश और उत्सवादि वर्णन, नागरिक वर्णन, ग्रह स्थिति, ग्रह भावफल, दशा-निरूपण आदि का सचित्र सोदाहरण निरूपण किया जाता है। इनमे अनेक ऐसे ग्रंथों के सन्दर्भ भी उद्धृत मिल जाते हैं जो अब नाम शेष ही रह गये है। जयपुर नरेश के संग्रह मे महाराजा रामसिंह प्रथम के कुमार कृष्णसिंह की जन्म-पत्री 456 फीट लम्बी और 13 इंच चौडाई की है जो अनेक भव्य चित्रो से सुसज्जित और विविध ज्योतिष ग्रथों से सन्दर्भित है। यह जन्म-पत्री संवत् 1711 से 1736 तक लिखी गई थी। इसी प्रकार महाराजा माधवसिंह प्रथम की जन्म-पत्री भी है। इसमें यद्यपि चित्र नही है परन्तु कछवाहा वंश का इतिहास, जयपुर नगर वर्णन और सवाई जयसिंह की प्रशस्तियाँ आदि अनेक उपयोगी सूचनाएँ लिखित है।

भाद्रपद मास मे (वदि 12 से सुदि 4 तक) जैन लोग आठ दिन का पर्यूषण पर्व मनाते है। आठवे दिन निराहार व्रत रखते है। इसकी समाप्ति पर ये लोग एक-दूसरे से वर्ष भर मे किए हुए किसी भी प्रकार के बुरे व्यवहार के लिए क्षमा माँगते हैं। ऐसे क्षमावाणी के अवसर पर एक गाँव अथवा स्थान के समस्त संघ की ओर से दूसरे परिचित गाँव के प्रति 'क्षमापन पत्र' लिखे जाते थे। संघ का मुखिया आचार्य कहलाता है अत. वह पत्र आचार्य के नाम से ही सम्बोधित होता है। इन पत्रों में सांवत्सरिक-क्षमापना के अतिरिक्त पर्यूषण-पर्व के दिनों में अपने गाँव में जो धार्मिक कृत्य होते हैं उनकी सूचना आचार्य को दी जाती थी तथा यह भी प्रार्थना की जाती थी कि वे उस ग्राम में आकर संघ को दर्शन दें। ऐसे पत्र 'विज्ञप्ति-पत्र' कहलाते हैं। इनके लिखने में गाँव की ओर से पर्याप्त धन एवं समय व्यय किया जाता था। इनका आकार-प्रकार भी प्रायः जन्म-पत्री के खरड़ों जैसा ही होता है तथा ये कागज के अतिरिक्त ताड़पत्रादि पर भी लिखे मिलते

हैं। कभी-कभी कोई जैन विद्वान मुनि इनमें अपने काव्य भी लिखकर आचार्य की सेवा मे प्रेषित करते थे। महामहोपाध्याय विनयविजय रचित 'इन्दुदूत', मेघविजय विरचित 'मेघदूत', समस्या-लेख और एक अन्य विद्वान द्वारा प्रणीत चेतोदूत काव्य ऐसे ही विज्ञप्ति पत्रों में पाये गये है। सबसे पुराने एक विज्ञप्ति-पत्र का एक ही त्रुटित ताडपत्रीय-पत्र पाटन के प्राचीन ग्रन्थ भण्डार मे मिला है जो विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का बताया जाता है।[1]

यद्यपि कागज पर लिखे विज्ञप्ति पत्र 100 हाथ (50 गज=150 फीट) तक लम्बे और 12-13 इंच चौडे 15वीं शती के जितने पुराने मिले हैं परन्तु कपड़े पर लिखित ऐसा कोई पत्र नहीं मिला। किन्तु जब इन विज्ञप्ति-पत्रों को जन्म-पत्री जैसे खरड़ों मे लिखने का रिवाज था तो अवश्य ही इनके लिए रेजी, तूलिपात या अन्य प्रकार के कपड़े अथवा पट का भी प्रयोग किया ही गया होगा। ऐसे पत्रों का प्राचीन जैन-ग्रन्थ-भण्डारो में अन्वेषण होना आवश्यक है।

प्राचीन समय मे पञ्चांग (ज्योतिष) भी कपड़े पर लिखे जाते थे। इनमें देवी-देवता और ग्रह-नक्षत्रादि के चित्र भी होते थे। महाराजा जयपुर के संग्रह मे 17वी शताब्दी के कुछ बहुत जीर्ण पंचांग मिलते है। 'राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान' जोधपुर मे भी कतिपय इसी तरह के प्राचीन पंचांग विद्यमान है।

दक्षिण आन्ध्र प्रदेश आदि स्थानों में इमली खाने का बहुत रिवाज है। इमली के बीज या 'चीयाँ' का आग मे सेंक कर सुपारी की तरह तो खाते ही है परन्तु इसका एक और भी महत्त्वपूर्ण उपयोग किया जाता था। वहाँ पर इस 'चीयाँ' से लेई बनाई जाती थी। उस लेई को कपड़े पर लगाकर कालापट तैयार किया जाता था। उसकी बही बनाकर व्यापारी लोग उस पर सफेद खड़िया से अपना हिसाब-किताब लिखते थे। ऐसी बहियाँ 'कडितम्' कहलाती थी। श्रृंगेरी मठ में ऐसी सैकड़ों बहियाँ मौजूद हैं जो 300 वर्ष तक पुरानी है। पाटण के प्राचीन ग्रन्थ-भण्डार मे श्री प्रभसूरि रचित 'धर्म विधि' नामक कृति उदयसिंह कृत टीका सहित पाई गयी है जो 13 इंच लम्बे और 5 इंच चौड़े कपडे के 93 पत्रो पर लिखित है। कपडे के पत्रों पर लिखित अभी तक यही एक पुस्तक उपलब्ध हुई है।[2]

कपड़े पर लेई लगाकर कालापट् तैयार करके सफेद खड़िया से लिखने के अनुकरण मे कई ऐसी पुस्तके भी मिलती है जो कागज पर काला रंग पोत कर सफेद स्याही से लिखी गयी है।

इमली के बीज से चित्रकार भी कई प्रकार के रंग बनाते थे।

रेशमी कपड़े की

अलबेरूनी ने अपने भारत यात्रा विवरण मे लिखा है कि उसको नगरकोट के किले मे एक राजवंशावली का पता था जो रेशम के कपड़े पर लिखी हुई बताई जाती है। यह वंशावली काबुल के शाहियावशी हिन्दू राजाओ की थी। इसी प्रकार डॉ॰ ब्यूहलर ने

1. मुनि जिनविजय सं॰ 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' पृ॰ 32।
2. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ॰ 146।

अपने ग्रन्थ निरीक्षण विवरण (पृ० 30) में लिखा है कि उन्होंने जैसलमेर के वृहद्-ग्रन्थ-भण्डार में जैन सूत्रों की सूची देखी जो रेशम की पट्टी पर लिखी थी ।

काष्ठपट्टीय

लिखने के लिए लकड़ी के फलकों के उपयोग का रिवाज भी बहुत पुराना है । कोई 40–45 वर्ष पूर्व सर्वत्र और कहीं-कहीं पर अब भी बालको को सुलेख लिखाने के लिए लकड़ी की पाटी काम में लाई जाती हैं । यह पाटी लगभग डेढ़ फुट लम्बी और एक फुट चौड़ी होती है । इसके सिरे पर एक मुकुटाकार भाग काट दिया जाता है जिसमें छिद्र होता है । बालक इस छिद्र में डोरा पिरोकर लटका लेते हैं । इसकी सहायता से घर पर भी इसे खूंटी पर टाँग देते हैं : क्योंकि विद्या को पैरों में नहीं रखना चाहिये । इसी पाटी पर मुलतानी या खड़िया पोतते हैं । यह लेप इतना साफ और स्वच्छ करके लगाया जाता है कि पाटी के दोनो ओर की सतह समान रूप से स्वच्छ हो जाती है । पाटी पोतने और उसको सुखाने की कला में बालकों की चतुराई आँकी जाती थी । चटशाला में बच्चे सामूहिक रूप से पाटी पोतने बैठते और फिर 'सूख-सूख पाटी, विद्या आवें'[1] की रट लगाते हुए पट्टी हवा में हिलाते थे । पाटी सूख जाने पर वे इसे अपने दोनों घुटनों पर रखकर नेजे या सरकडे की कलम और काली स्याही से सुन्दर अक्षर लिखने का अभ्यास करते थे । प्रारम्भ में गुरूजी कलम के उल्टे सिरे से बिना स्याही के उस पाटी पर अक्षरों के आकार (किटकिश) बना देते थे और फिर बालक उस आकार पर स्याही फेरकर सुलेखन का अभ्यास करते थे ।

पाटी पर जो खड़िया या मुलतानी पोती जाती थी वह पाण्डु कहलाती थी और इसीलिए प्रारम्भिक मूल लेख को पाण्डुलिपि कहते हैं जो अब प्रारूप, मूल हस्तलेख और हस्तलिखित ग्रन्थ का वाचक शब्द बन गया है । पाटी लिखने से पहले बच्चों को 'खोर-पाटा' देते थे । एक लकड़ी का आयताकार पाटा, जिसके छोटे-छोटे चार पाये होते थे या दोनों ओर नीचे की तरफ डाट होती थी, यह बालक के सामने बिछा दिया जाता था । इस पर लाल चूने या स्वच्छ भूरी मिट्टी बिछाकर इस तरह हाथ फेरा जाता कि उसकी सतह समतल हो जाती थी । फिर लकड़ी की तीखी नोकदार कलम से उस सतह पर लिखना सिखाते थे । इस कलम को 'बरता' या 'बरतना' कहते थे । जब पाटा भर जाता तो लेख गुरूजी को जँचवा कर फिर उस मिट्टी पर हाथ फेरा जाता और पुनः लेखन चालू हो जाता ।

आजकल जैसे स्कूलो में कक्षाएँ होती हैं उसी प्रकार पहले पढ़ने वाले छात्रों की श्रेणी-विभाजन इस प्रकार होता था कि प्रारम्भ में 'खोरा-पाटा' की कक्षा फिर 'पाटी' कक्षा । दिन में विद्यार्थी कितनी पट्टियाँ लिख लेता था, इसके आधार पर भी उसकी वरिष्ठता कायम की जाती थी । इस प्रकार पाटी या फलक पर लिखने की परम्परा बहुत पुरानी है । बौद्धों की जातक-कथाओं मे भी विद्यार्थियों द्वारा काष्ठ-फलकों पर लिखने का उल्लेख मिलता है ।

1 इसका एक रूप व्रज में यों मिलता है —
सुख-सुख पट्टी चन्दन गट्टी, राजा आये महल चिनाये, महल गये टूट पट्टी गई सूख ।
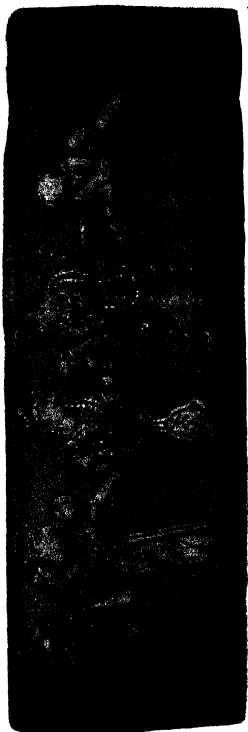
सुलेख सिखाने के लिए आगे का क्रम यह होता था कि पाटियों के एक ओर लाल लाख का रोगन लगा दिया जाता और दूसरी ओर काला या हरा रोगन लेपा जाता था।[1] फिर इन पर हरताल की पीली-सी स्याही या खड़िया या पाण्डु की सफेद सी स्याही से लिखाया जाता था।

दैनिक प्रयोग में बहुत से दूकानदार पहले लकड़ी की पाटी पर कच्चा हिसाब टीप लेते थे (आजकल स्लेट पर लिख लेते हैं) और फिर यथावकाश उसे स्याही से पक्की बही में उतारते थे। इसी तरह ज्योतिषी लोग भी पहले खोर पाटे पर कुण्डलियाँ आदि खींच कर गणित करते थे, पुती हुई पाटियो पर भी जन्म, लग्न, विवाह लग्न आदि टीप लेते थे और फिर उनके आधार पर हस्तलेख तैयार कर देते थे। खोर-पाटे पर लिखने की ज्योतिष-शास्त्र में 'धूलीकर्म' कहते हैं।

विद्वान भी ग्रन्थ रचना करते समय जैसे आजकल पहले रूल पेंसिल से कच्चा मसविदा कागज पर लिख लेते हैं अथवा किसी पद्य का स्फुरण होने पर स्लेट पर जमा लेते हैं और बाद मे उसको निर्णीत करके स्थायी रूप से लिखते या लिखवा लेते हैं। उसी तरह पुराने समय में ऐसे प्रारूप काष्ठपट्टिकाओं पर लिखने का रिवाज था। जैनो के 'उत्तराध्ययन सूत्र' की टीका की रचना नेमिचन्द्र नामक विद्वान ने सवत् 1129 मे की थी। उसमे इस प्रकार पाटी से नकल करके सर्वदेव नामक गणि द्वारा ग्रंथ लिखने का उल्लेख है—

पट्टिका तो ऽलिखच्चेमां सर्वदेवाभिधो गणिः।
आत्मकर्मक्षयायाथ परोपकृति हेतवे ।। 14 ।।

खोतान से भी कुछ प्राचीन काष्ठपट्टिओं के मिलने का उल्लेख है। इन पर खरोष्ठी लिपि मे लेख लिखे है।

बर्मा मे रोगनदार फलकों पर पाण्डुलिपि लिखी जाती है। ऑक्सफोर्ड की बोडले-यन पुस्तकालय मे एक आसाम से प्राप्त काष्ठ-फलकों पर लिखी एक पाण्डुलिपि बतायी जाती है।

कात्यायन और दण्डी ने बताया है कि वाद-पत्र फलकों पर पाण्डु (खड़िया) से लिखे जाते थे और रोगन वाले फलकों पर शाही शासन लिखे जाते थे।

ग्रन्थो के दोनों ओर जो काष्ठफलक (या पटरी) लगाकर ग्रथ बांधे जाते हैं, उन पर भी स्याही से लिखी सूक्तियाँ अथवा मूल ग्रथ का कोई अश उद्धृत मिल जाता है जो स्वय रचनाकार अथवा लेखक (प्रतिलिपिकर्त्ता) द्वारा लिखा हुआ होता है।

कभी-कभी काष्ठ स्तम्भो पर लेख खोदे गये, जैसे किरारी से प्राप्त स्तम्भ पर मिले हैं। भज की गुफा की छतों की काष्ठ महराबों पर भी लेख उत्कीर्ण मिले है।

1. ब्रज मे 'हिरमिच' पोती जाती थी जिससे पट्टी लाल हो जाती थी। फिर उस पर घोटा किया जाता था। 'घोटा' शीशे के बड़े गोल छल्ले के आकार का लगभग तीन अगुल चौड़ाई का होता था। उससे घोटने पर पट्टी चिकनी हो जाती थी। उस पर खड़िया के घोल से लिखा जाता था

ग्रन्थों के अन्य प्रकार

आकार के आधार पर :

यहाँ तक हमने ग्रंथ लिखने के साधन या आधार की दृष्टि से ग्रंथों के प्रकार बताये। प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियाँ प्रायः लम्बी और पतली पट्टियों के रूप में ही प्राप्त होती हैं। जिनको एक के ऊपर एक रखकर गड्डी बनाकर रखा जाता है। एक-एक पट्टी को पत्र कहते हैं। 'पत्र' नाम इसलिए दिया कि ये पोथियाँ ताड़पत्रों या भूर्जपत्रों पर लिखी जाती थी। बाद मे तत्समान आकार के मांडपत्र या कागज बनाए जाने लगे। अब वह 'पत्र' शब्द चिट्ठी के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा है। 'पता' भी पत्र से ही निकला है। अतः प्राचीन पुस्तके छूटे या खुले पत्राकार रूप में ही होती थीं। इनके छोटे-बड़े प्रकार का भेद बताने के लिए जो शब्द प्रयुक्त हैं उनसे पता चलता है कि पोथियाँ पाँच प्रकार की होती थीं। दशवैकालिक सूत्र की हरिभद्रकृत टीका में एवं निशीथचूर्णी आदि में पुस्तकों के 5 प्रकार इस तरह गिनाये गये हैं[1] (1) गण्डी (2) कच्छपी, (3) मुष्टी (4) सम्पुटफलक और (5) छेदपाटी, छिवाडी या सृपाटिका।[2]

गण्डी

जो पुस्तक मोटाई और चौड़ाई में समान होकर लम्बी (Rectangular) होती है वह 'गण्डी' कहलाती है। जैसे पत्थर की 'कतली' होती है उसी आकार की यह पुस्तक होती है। ताड़पत्र पर या ताड़पत्रीय आकार के कागजों पर लिखी हुई पुस्तकें 'गण्डी' प्रकार की होती हैं।

कच्छपी

कच्छप या कछुए के आकार की अर्थात् किनारों पर सँकरी और बीच मे चौड़ी पुस्तके कच्छपी कहलाती हैं। इनके किनारे या छोर या तो त्रिकोण होते है अथवा गोलाकार।

1 'गडी कच्छवि मुटठी संपुडफलए छिवाडीय'
एय पुत्ययपणयं, वक्खाण मिणं भवेतस्य ॥
वाहल्ल पुहत्तेहिं, गण्डी पुत्थो उ तुल्लगो दीहो।
कच्छवि अते तणुओ, मज्झे पिहुलो मुणेयव्वो
चउरं गुलदी हो वा, वट्टागिह मुट्ठि पुत्यगो अहवा।
चउर गुलदीहोच्चिय, चउरसो होइ विन्नेओ ॥
संपुडगो दुगमाई फलगावोच्छं भेत्ता है।
तणुपत्तूसियरुवो, होइ छिवाडी बुहा बेंति ॥
दी होवा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो।
त मुणियसमयसारा, छिवाडियोत्थ भणंतीह ॥

—दश वैकालिक हरिभद्री टीका, पत्र 25

'मुनि पुण्य विजय जी भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला में पृ० 22 पर 25 की पाद टिप्पणी से उद्धृत।

2. मुनि पुण्य विजयजी ने भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला मे पृ० 22 की 26 वी पाद टिप्पणी में बताया है कि कुछ विद्वान छिवाडी को सृपटिक मानते हैं। किन्तु मुनिजी बृहत्कल्पसूत्र वृत्ति तथा स्थानांग सूत्र टीका आदि मान्य ग्रन्थो के आधार पर छिवाड़ी को 'छेदपाटी' ही मानते हैं।

मुष्टी
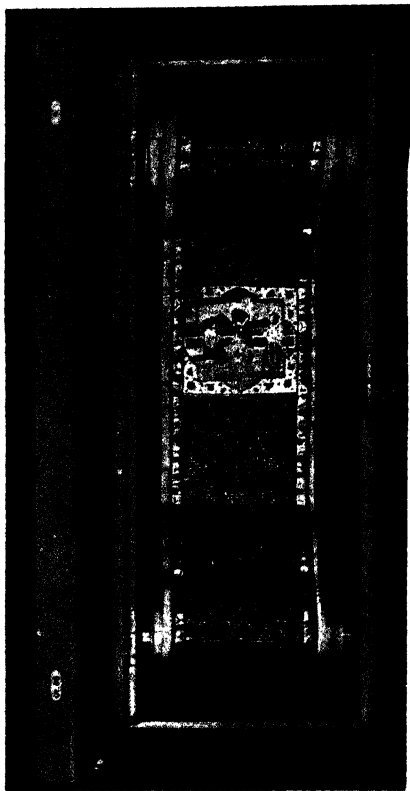
छोटे आकार की मुष्टिग्राह्य पुस्तक को मुष्टी कहते हैं। इसकी लम्बाई चार अंगुल कही गई है। इस रूप में बाद के लिखे हुए छोटे-छोटे गुटके भी सम्मिलित किए जा सकते हैं। हैदराबाद सालारजंग-संग्रहालय में एक इंच परिमाण वाली पुस्तकें हैं। वे मुष्टी ही मानी जायेंगी।

संपुट-फलक

सचित्र काष्ठपट्टिकाओं अथवा लकडी की पट्टियों पर लिखित पुस्तकों को सम्पुट-फलक कहा जाता है। वास्तव में, जिन पुस्तकों पर सुरक्षा के लिए ऊपर और नीचे काष्ठ-फलक लगे होते हैं, उनको ही 'सम्पुट फलक' पुस्तक कहते हैं।

छेद पाटी

जिस पुस्तक के पत्र लम्बे और चौड़े तो कितने ही हों परन्तु संख्या कम होने के कारण उसकी मोटाई (या ऊँचाई) कम होती है उसको छेदपाटी छिवाड़ी या सृपाटिका कहते हैं।

पुस्त१ों की लेखन शैली से पुस्तक-प्रकार

लेखन शैली के आधार पर पुस्तकों के निम्न प्रकार 'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला' में बताये गये हैं :

1. त्रिपाट या त्रिपाठ) ये तीन भेद पुस्तक के पृष्ठ के रूप-विधान पर
2. पंचपाट या पंचपाठ) निर्भर हैं
3. शूंड या शुंड)
4. चित्र पुस्तक-यह उपयोगी सजावट पर निर्भर है।
5. स्वर्णाक्षरी) यह लेखाक्षर लिखने के माध्यम (स्याही) के विकल्प के
6. रौप्याक्षरी) प्रकार पर निर्भर है।
7. सूक्ष्माक्षरी) ये अक्षरों के आकार के परिमाण पर निर्भर है।
8. स्थूलाक्षरी आदि)

उक्त प्रकारो के स्थापित करने के चार आधार अलग-अलग है। ये आधार हैं .

1. पृष्ठ का रूप-विधान।
2. पुस्तक को सचित्र करने से भी पुस्तक का एक अलग प्रकार प्रस्तुत होता है।
3. सामान्य स्याही से भिन्न स्वर्ण या रजत से लिखी पुस्तकें एक अलग वर्ग की हो जाती हैं :
4. फिर अक्षरों के सूक्ष्म अथवा स्थूल परिमाण से पुस्तक का अलग प्रकार हो जाता है।

कुंडलित, वलयित या खरड़ा

ऊपर जो प्रकार बताये गये हैं, उनमें एक महत्त्वपूर्ण प्रकार छूट गया है। वह कुण्डली प्रकार है जिसे अंग्रेजी में स्क्राल (Scroll) कहा जाता है। प्राचीन काल में फराऊनों के

युग में 'मिस्र' में पेपीरस पर कुंडली ग्रंथ ही लिखे गये। भारत में कम ही सही कुंडली ग्रंथ लिखे जाते थे। 'भागवत पुराण' कुंडली ग्रंथ ब्रिटिश म्यूजियम में रखा हुआ है।[1] जैनियों के 'विज्ञप्ति पत्र' भी कुण्डली-ग्रंथ का रूप ग्रहण कर लेते थे। बड़ौदा के प्राच्य-विद्यामंदिर मे हस्तलिखित सचित्र सम्पूर्ण महाभारत कुंडली ग्रंथ के रूप मे सुरक्षित है— यह 228 फीट लम्बी और $5\frac{1}{2}'$ चौडी कुण्डली है जिसमे एक लाख श्लोक हैं। तेनह्वांग से डॉ० रघुवीर 8000 वलयिताओं की प्रतिलिपियाँ लाये थे।
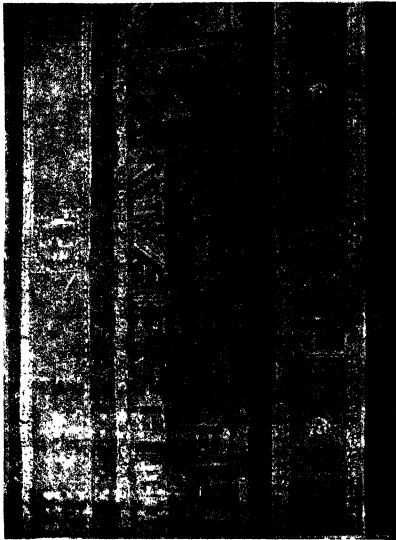
'कुंडली ग्रंथ' रखने के पिटक के साथ

1. यह पुराण 5 इंच चौड़ी और 65 फुट लम्बी कुण्डली मे है, सचित्र है।

पृष्ठ के रूप-विधान से प्रकार-भेद

सामान्य ग्रंथों में पाट या पाठ का भेद नहीं होता है। ग्रादि से ग्रन्त तक पृष्ठ एक ही रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

किन्तु जब पृष्ठ का रूप-विधान विशेष ग्रभिप्राय: से बदला जाय तो वे तीन प्रकार के रूप ग्रहण करते मिलते हैं :

त्रिपाट या त्रिपाठ

इस पाट या पाठ मे यह दिखाई पड़ता है कि पृष्ठ तीन हिस्सों में बाँट दिया गया है। बीच मे मोटे ग्रक्षरो मे मूल ग्रथ के श्लोक, उसके ऊपर ग्रौर नीचे छोटे ग्रक्षरो मे टीका, टीबा या व्याख्या दी जाती है। इस प्रकार एक पृष्ठ तीन भागो में या पाटो या पाठों मे बँट जाता है। इसलिए इसे त्रिपाट या त्रिपाठ कहते है।

पंचपाट या पाठ

जब किसी पृष्ठ को पाँच भागों में बाँटकर लिखा जाय तो पंचपाट या पाठ कहलाएगा। त्रिपाट की तरह इसमें भी बीच में कुछ मोटे ग्रक्षरों मे मूल ग्रंथ रहता है, यह एक पाट हुग्रा। ऊपर ग्रौर नीचे टीका या व्याख्या लिखी गई यह तीन पाट हुए फिर दाईं ग्रौर बाईं ग्रोर हाशिये में भी जब लिखा जाय तो पृष्ठ का इस प्रकार का रूप-विधान पचपाठ कहा जाता है।

शूंड या शुंड

जिस पुस्तक का पृष्ठ लिखे जाने पर हाथी की सूंड की भाँति दिखलाई पड़े वह 'सूंड पाठ' कहलाएगा। इसमे ऊपर की पंक्ति सबसे बड़ी, उसके बाद की पंक्तियाँ प्राय: छोटी होती जाती हैं, दोनो ग्रोर से छोटी होती जाती हैं। ग्रन्तिम पक्ति सबसे छोटी होती है ग्रौर पृष्ठ का स्वरूप हाथी की सूंड का ग्राधार ग्रहण कर लेता है। यह केवल लेखक की या लिपिकार की ग्रपनी रुचि को प्रगट करता है। किन्तु इस प्रकार के ग्रंथ दिखाई नही पडते। हाँ, किसी लेखक के ग्रपने निजी लेखों मे इस प्रकार की पृष्ठ रचना मिल सकती है। किन्तु 'कुमार सम्भव' में कालिदास ने श्लोक 1 7 में 'कुंजर बिदुशोण.' से ऐसी ही पुस्तक की ग्रोर सकेत किया है। इसी ग्रध्याय मे भूर्जपत्र शीर्षक देखिए।

ग्रन्य

इस दृष्टि से देखा जाय तो लेखक की निजी पृष्ठ-रचना में त्रिकोण पाठ भी मिल सकता है। ऊपर की पंक्ति पूरी एक ग्रोर हाशिये की रेखा के साथ प्रत्येक पक्ति लगी हुई किन्तु दूसरी ग्रोर थोडा-थोडा कम होती हुई ग्रन्त मे सबसे छोटी पक्ति। इस प्रकार पृष्ठ में त्रिकोण पाठ प्रस्तुत हो जाता है। ग्रत: ऐसे ही ग्रन्य पृष्ठ सम्बन्धी रचना-प्रयोग भी लेखक की ग्रपनी रुचि के द्योतक हैं। इनका कोई विशेष ग्रर्थ नही। त्रिपाट ग्रौर पंचपाठ इन दो का महत्त्व ग्रवश्य है क्योंकि ये विशेष ग्रभिप्राय: से ही पाठों में विभक्त होती हैं।

सजावट के ग्राधार पर पुस्तक-प्रकार

जिस प्रकार से कि ऊपर पृष्ठ-रचना की दृष्टि से प्रकार-भेद किये गये हैं उसी प्रकार से सजावट के ग्राधार पर भी पुस्तक का प्रकार ग्रलग किया जा सकता है। यह

सजावट चित्रों के माध्यम से होती है। एक हस्तलेख में चित्रों का उपयोग दो दृष्टियों से हो सकता है। एक-केवल सजावट के लिए और दूसरे संदर्भगत उपयोग के लिए। ये दोनो ही सादा एक स्याही मे भी हो सकते हैं और विविध रगो मे भी।

ग्रंथ में चित्र

ग्रंथों में चित्रांकन की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। 11 वी शती से 16 वीं शती के बीच एक चित्रशैली प्रचलित हुई जिसे 'अपभ्रंश-शैली' नाम दिया गया है।

इनके सम्बन्ध मे 'मध्यकालीन-भारतीय कलाओ एव उनका विकास' नामक ग्रथ का यह अवतरण द्रष्टव्य है—

''मुख्यत: ये चित्र जैन संबंधी पोथियों (पाण्डुलिपियों) मे बीच-बीच मे छोड़े हुए चौकोर स्थानों में बने हुए मिलते हैं।[1]''

इसका अर्थ है कि यह 'अपभ्रंश-कला' ग्रथ-चित्रो के रूप में पनपी और विकसित हुई। यह भी स्पष्ट है कि इसमे जैन धर्म-ग्रंथो का ही विशुद्ध योगदान रहा। हाँ, अकबर के समय मे साम्राज्य का प्रश्रय चित्रकारों को मिला। इस प्रश्रय के कारण कलाकारो ने अन्य ग्रंथों को भी चित्रित किया। राजस्थान-शैली में भी चित्रण हुआ। इस प्रकार हस्त-लिखित ग्रथों में चित्रों की तीन शैलियाँ पनपती मिलती हैं। एक अपभ्रंश-शैली जैन-धर्म ग्रंथो में पनपी। इसके दो रूप मिलते हैं। एकमात्र अलकरण सम्बन्धी। 1062 ई. के 'भगवती-सूत्र' मे अलकरण मात्र हैं। अलंकरण शैली मे विकास की दूसरी स्थिति का पता हमे 1100 ई० की 'निशीथ-चूर्णि' से होता है। इस पाण्डुलिपि मे अलंकरण के लिए बेलबूटो के साथ पशुओ की आकृतियाँ भी चित्रित हैं। 13 वी शती मे देवी-देवताओ का चित्रण बाहुल्य से होने लगा।

ये सभी प्रतियाँ ताडपत्र पर हैं। चित्र भी ताड़पत्र पर ही बनाये गये हैं।

''1100 से 1400 ई के मध्य जो चित्रित ताडपत्र तथा पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं उनमे 'अगसूत्र', 'कथा सरित्सागर', 'त्रिषष्ठि-शालाका-पुरुष-चरित', 'श्री नेमिनाथ चरित', 'श्रावक-प्रतिक्रमण-चूर्णि' आदि मुख्य हैं।[2]

1400 से ताडपत्र के स्थान पर कागज का उपयोग होने लगा।

1400 से 1500 के बीच की चित्रित पाडुलिपियो मे कल्पसूत्र, कालकाचार्य-कथा, सिद्धसेन आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।[3]

पंद्रहवी-सोलहवी शती मे कागज की पाडुलिपि मे कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा की अनेको प्रतियाँ चित्रित की गयी। हिन्दी मे कामशास्त्र के कई ग्रथ इसी काल मे सचित्र लिखे गये। 1451 की कृति वसंत-विलास में 79 चित्र हैं।[4]

1. नाथ, आर० (डॉ०)–मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास, पृ० 43।
2. वही, पृ० 4
3. वही, पृ० 4
4. लखनऊ संग्रहालय में हैं : 1547 ई० में चित्रित 23 चित्रों से युक्त फिरदोसी का 'शहनामा;' अकबर के समय में चित्रित छ: चित्रों वाली पोथी हरिवंश पुराण' के अंशो के फारसी अनुवाद वाली; 17 वी शताब्दी की काश्मीर शैली के 12 चित्रो वाली कुण्डली (Scroll) के रूप मे 'भागवत'। क्रमश.

अब यह कला प्राणवान हो चली थी और धर्म के क्षेत्र से भी बँधी हुई नहीं रही।

सजावटी पुस्तकें

सजावटी चित्र-पुस्तकों को कई प्रकार से सजाया जा सकता है। एक तो ग्रंथ के प्रत्येक पृष्ठ पर चारों ओर के हाशियों को फूल पत्तियों से या ज्यामितिक आकृतियों से या पशु-पक्षियों की आकृतियों से सजाया जा सकता है। दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि आरम्भ में जहाँ पुष्पिका दी गयी हो या अध्याय का अन्त हुआ हो, वहाँ इस प्रकार का कोई सजावटी चित्र बना दिया जाय (जैसे राउलवेल मे)। फूल पत्तियों वाला, अशोक चक्र जैसा तथा अनेक प्रकार के ज्यामितिक आकृतियों वाला अथवा पशु पक्षियों वाला कोई चित्र बनाकर पृष्ठ को तथा पुस्तक को सजाया जा सकता है। पृष्ठों के मध्य में भी विशिष्ट प्रकार की आकृतियाँ लिपिकार इस रूप में प्रस्तुत कर सकता है कि लेख की पक्तियों को इस प्रकार व्यवस्थित करे कि पृष्ठ में स्वस्तिक या स्तम्भ या डमरू या इसी प्रकार का अन्य चित्र उभर आये। पृष्ठ के बीच में स्थान छोड़कर अन्य कोई चित्र, मनुष्य की या पशु की आकृति के चित्र बनाये जा सकते हैं। ये सभी चित्र सजावट या लिपिकार के लेखन-कौशल के प्रदर्शन के लिए होते हैं। पांडुलिपियों में ताडपत्रों के ग्रंथों के पत्रों के बीच मे डोरी या सूत्र डालने के लिए गोल छिद्र किए जाते थे और लिखने मे बीच में इसी निमित्त लेखक गोलाकार स्थान छोड़ देता था। यह अनुकरण कागज की पाण्डुलिपियों मे भी किया जाने लगा। इस गोलाकार स्थान को विविध प्रकार से सजाया भी जाने लगा।

उपयोगी चित्रों वाली पुस्तकें

सजावट वाले चित्रों से भिन्न जब ग्रंथ के विषय के प्रतिपादन के लिए या उसे दृश्य बनाने के लिए भी चित्र पुस्तक में दिये जाते हैं, तब ये चित्र पूरे पृष्ठ के हो सकते हैं और ग्रंथ मे आने वाली किसी घटना का एव दृश्य का चित्रण भी इनमे हो सकता है। कभी-कभी इन चित्रों मे स्वयं लेखक को भी हम चित्रित देख सकते हैं। पूरे पृष्ठों के चित्रों के अतिरिक्त ऐसी चित्रित पुस्तकों में पृष्ठ के ऊपरी आधे भाग में, नीचे आधे भाग में, पृष्ठ के बाईं ओर के ऊपरी चौथाई भाग मे या बाईं ओर के नीचे के चौथाई भाग में, या नीचे के चौथाई भाग मे चित्र बन सकते है या बीच मे भी बनाए जा सकते हैं। ऊपर नीचे लेख और बीच मे चित्र हो सकते हैं। जब कभी किसी काव्य के भाव को प्रगट करने के लिए

1 कोटा-संग्रहालय मे श्रीमद्भागवत की एक ऐसी पाण्डुलिपि है जिसका प्रत्येक पृष्ठ रंगीन चित्रों से चित्रित है।

कलकत्ता आशुतोष-कला-संग्रहालय मे एक कागज पर लिखी 1105 ई० की बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय की पाण्डुलिपि है, इसमे बौद्ध देवताओ के आठ चित्र हैं। इस प्रति का महत्त्व इसलिए भी है कि यह कागज पर लिखे प्राचीनतम ग्रंथो मे से है।

अलवर संग्रहालय मे महत्त्वपूर्ण चित्रित पाण्डुलिपियाँ इस प्रकार है—(1) भागवत—कुंडली रूप मे चित्रित, चित्रयुक्त 18 फुट लम्बा है। (2) गीत गोविन्द, अलवर शैली के चित्रों से युक्त है, (3) वाकयातेबाबरी हुमायू के समय में तुर्की से फारसी मे अनूदित हुई। इसमें चित्र भारतीय-ईरानी शैली के हैं। शाहनामा'—इसके चित्र उत्तर-मुगल-काल की शैली के हैं। 'गुलिस्तां'—इसकी वह प्रति यहाँ सुरक्षित है जिसे महाराज विनयसिंह ने पौने दो लाख रुपये व्यय करके तैयार कराया था और इसको तैयार करने मे 15 वर्ष लगे थे।

चित्र दिए जाते हैं तो काव्य का कोई ग्रंश चित्र के ऊपर या नीचे ग्रंकित कर दिया जाता है। इस प्रकार ग्रंथ ग्रनेक प्रकार से चित्रित किए जा सकते हैं। ये चित्र सजावट वाली चित्रशैली से भी युक्त बनाए जा सकते हैं। ऐसे चित्रो मे हाशिए को विविध प्रकार की सुन्दर ग्राकृतियों से सजाया जाता है तब चित्र बनाया जाता है।

इन चित्रो में ग्रपने काल की चित्र-कला का रूप उभर कर ग्राता है। इनके कारण ऐसी पुस्तको का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

सामान्य स्याही से भिन्न माध्यम में लिखी पुस्तक

सामान्यतः पुस्तक लेखन मे ताडपत्रो को छोड़कर काली पक्की स्याही से ग्रंथ लिखे जाते रहे हैं। लाल स्याही को भी हम सामान्य ही कहेंगे किन्तु इस प्रकार की सामान्य स्याही से भिन्न कीमती स्वर्ण या रजत ग्रक्षरो मे लिखे हुए ग्रंथ भी मिलते है। ग्रतः इनका एक ग्रलग वर्ग हो जाता है। ये स्वर्णाक्षर ग्रथवा रजताक्षर हस्तलेखो के महत्त्व ग्रौर मूल्य को बढ़ा देते हैं। साथ ही ये लिखवाने वाले की रुचि ग्रौर समृद्धि के भी द्योतक होते हैं। स्वर्णाक्षर ग्रौर रजताक्षरो मे लिखे हुए ग्रंथो को विशेष सावधानी से रखा जायेगा ग्रौर, उनके रखने के लिए भी विशेष प्रकार का प्रबन्ध किया जायेगा। स्पष्ट है कि स्वर्णाक्षरी ग्रौर रजताक्षरी पुस्तके सामान्य परिपाटी की पुस्तके नही मानी जा सकती। ऐसी पुस्तकें बहुत कम मिलती हैं।

अक्षरों के ग्राकार पर आधारित प्रकार

ग्रक्षर सूक्ष्म या ग्रत्यन्त छोटे भी हो सकते है ग्रौर बहुत बडे भी। इसी ग्राधार पर सूक्ष्माक्षरी पुस्तको ग्रौर स्थूलाक्षरी पुस्तको के भेद हो जाते हैं। सूक्ष्माक्षरी पुस्तक के कई उपयोग है। पचपाट मे बीच के पाट को छोडकर सभी पाट सूक्ष्माक्षर मे लिखने होते है, तभी पचपाट एक पन्ने मे ग्रा सकते है। इसी प्रकार से एक ही पन्ने म 'मूल' के ग्रंश के साथ विविध टीका टिप्पणियाँ भी ग्रा सकती हैं।

सूक्ष्माक्षरी सूक्ष्माक्षरो मे लिखी पुस्तक छोटी होगी, ग्रौर सरलता से यात्रा मे साथ ले जाई जा सकती है। वस्तुतः जैन-मुनि यात्राग्रो मे सूक्ष्माक्षरी पुस्तके ही रखते थे।

ग्रक्षरो का ग्राकार छोटे-से-छोटा इतना छोटा हो सकता है कि उसे देखने के लिए ग्रातिशी-शीशा ग्रावश्यक हो जाता है। सूक्ष्माक्षर मे लिखने की कला तब चमत्कारक रूप ले लेती है जब एक चावल पर 'गीता' के सभी ग्रध्याय ग्रंकित कर दिये जायँ।

स्थूलाक्षरी

पुस्तक बडे-बडे ग्रक्षरो मे भी लिखी जाती हैं। ये मंद-दृष्टि पाठकों को सुविधा प्रदान करने के लिए मोटे ग्रक्षरो मे लिखी जाती हैं ग्रथवा इसलिये कि इन्हे पोथी की भाँति पढ़ने में सुविधा होती है।

कुछ ग्रौर प्रकार

ग्रब जो प्रकार यहाँ दिए जा रहे हैं, वे ग्राजकल प्रचलित प्रकार हैं। इन्हीं के ग्राधार पर ग्राज खोज रिपोर्टों में ग्रन्य प्रकार दिए जाते हैं।

पांडुलिपियाँ इतने प्रकार की मिलती हैं :—

(1) खुले पत्रों के रूप में। पत्राकार।
(2) पोथी। कागज को बीच से मोड़कर बीच से सिली हुई।
(3) गुटका। बीच से या ऊपर से (पुस्तक की भाँति) सिला हुआ। इसके पत्र अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। पत्रों का आकार प्रायः 6 × 4 इंच तक होता है।
(4) पोथो। बीच से सिली हुई।

पोथी और पोथो में अन्तर है। पोथी के पन्ने अपेक्षाकृत आकार में छोटे और संख्या में कम होते हैं। पोथो में इससे विपरीत बात है।

(5) पानावली। यह बहीनुमा होती है। लम्बाई अधिक और चौड़ाई कम। चौड़ाई वाले सिरे से सिलाई की गई होती है। इसे बहीनुमा पोथी भी कभी-कभी कह दिया जाता है।
(6) पोथियाँ। पुस्तक की भाँति लम्बाई या चौड़ाई की ओर से सिला हुआ।

इसमे और पोथी में सिलाई का अन्तर है। पोथियाँ प्रायः संकलन ग्रन्थ होते हैं, अथवा अनेक रचनाओं को एकत्र कर लिया जाता है, बाद मे उन सबको एकसाथ बड़े ग्रन्थ के रूप मे सिलवा लिया जाता है। इन सिले ग्रन्थों का लिपिकाल प्रायः भिन्न-भिन्न ही होता है।

कौनसा प्रकार कितना उपयोगी है, इसको समझने के लिए उसका उद्देश्य जानना जरूरी है।

ऊपर जो प्रकार बताये गये हैं, उन्हें वस्तुतः दो बड़े वर्गों मे रखा जा सकता है।

(क) ग्रन्थ प्रकार

(1)

पत्रों के रूप में

1–खुले पत्रों के रूप में
2–बीच मे छेद वाले डोरी-ग्रंथि युक्त
1–इनका प्रचलन सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से विशेष हुआ लगता है। जैनों के अतिरिक्त इसके पश्चात् जन-साधारण मे और अन्यत्र यही रूप विशेष प्रचलित रहा। संख्या में सर्वाधिक यही मिलते हैं।

विशेषताएँ :

(1) इनमें पृष्ठ-संख्या लगाने की पद्धति :

(क) बायें हाथ की ओर हाशिये में सबसे ऊपर किन्तु 'श्री गणेश' भाग से हटकर कुछ नीचे, तथा
(ख) उसी पन्ने के द्वितीय भाग (पृष्ठ 2) में दाये हाथ की ओर नीचे।

(2)

जिल्द के रूप में

पोथो	पोथी	गुटका
	|	|
	लम्बाई-चौड़ाई बराबर	लम्बाई-चौड़ाई में लम्बाई अपेक्षाकृत अधिक

इसका विशेष उद्देश्य—

पोथी : 1–घरू
2–सम्प्रदाय–पीठ, मन्दिर (एक शब्द मे धार्मिक सस्था विशेष) के लिए
3–पीढी के लिए–सामूहिक रूप से भविष्य की पीढ़ियों के लिए

पोथी : ऊपर दी गयी बातों के अतिरिक्त
(i) भेंटस्वरूप देने के लिए

(2) **नाम लिखने की पद्धति :**

(क) जहाँ पृष्ठ-सख्या लिखते थे उसके ठीक नीचे या ऊपर (सामान्यतः) रचना के नाम का प्रथम अक्षर (अपवादस्वरूप दो अक्षर भी) लिखते थे। ऐसा साधारणत प्रथम पृष्ठ के बायें हाथ वाले अक के साथ ही किया जाता था। दूसरे पृष्ठ के बाये हाशिये या दायें हाशिये मे लिखी पृष्ठ-सख्या के पास भी। यो रचना नाम हाशियो (केवल बाये ही) के बीच मे भी लिखे मिलते हैं।

(3) **विशेष**

(क) एक पन्ने की सख्या एक ही मानी जाती थी, आधुनिक पुस्तको मे लिखी पृष्ठ-सख्या की भाँति दो नही।

(ख) पाथा, पोथी और गुटके मे काम आने वाली पद्धति नीचे दी जा रही है।

(ii) बेचने के लिए

(iii) किसी के कहने पर दान मे देने के लिए। किसी के कहने पर लिखी गयी या बनायी गयी पोथी भी इसी वर्ग मे आयेगी

(iv) अपने लिए

गुटका : उपर्युक्त बातो के अतिरिक्त निम्न-लिखित और

(i) पाठ के लिए

(ii) स्वाध्याय हेतु

कुछ ऐसी प्रथा थी कि गुटके को सामान्यत किसी को दिखाया या दिया नही जाता था। किन्तु ऐसी वर्जना उसी गुटके के लिए होती थी जिसमे धार्मिक भावना निहित होती थी वैसे उसका खूब उपयोग होता था।

विशेष · इन सबमे गुटके के दोनो रूप विशेष प्रचलित रहे।

कारण (1) सुविधा, (2) मजबूती एव (3) सक्षेप लघु आकार। फलत सैकडो गुटके मिलते है। शेष दो रूप (पोथा एव पोथी) भी मिलते हैं, पर अपेक्षाकृत कम।

विशेष उपयोगिता :

इन सब कारणों के अतिरिक्त इनकी कुछ और उपयोगिताएँ भी थी, यथा—

1—राजस्थान के राजघराने मे पठन-पाठन के लिए, सग्रह के लिए।

2—राजपूत राजघराने से विशेष रूप से सम्बन्धित चारण आदि जातियो मे परम्परा सुरक्षित रखना और व्यवसाय की प्रतिष्ठा के लिए।

3—भाटो मे······हेज म, गोद लेने पर, विशेष अवसर पर भेंट या प्रसन्नता के प्रतीक के रूप मे दिये जाने के लिए।

4- नाथो मे

5—जैनो मे—तथा,

6–घनिष्ठ मित्रों आदि में आपस में
दिये जाते थे–उदाहरणार्थ—
(धर्म–भाई बनाते समय, धर्म–बहिन
बनाते समय, पवित्र स्थानो में)

पोथो, पोथी, गुटका

इनमे भी पृष्ठ सख्या लगाने की पद्धति भी उपरिवत् है, प्रकार में यत्किचत् भेद है। इन तीनो मे ही 'लेजर' की भाति 'फोलियो' सख्या रहती है। हमे 'फोलिया' शब्द ग्रहण कर लेना चाहिए।

पृष्ठ सख्या की पद्धति।

1. बायें पन्ने के ऊपर प्रारम्भिक पक्ति के बराबर या उससे कुछ नीचे संख्या दी जाती है। यही संख्या दायें पन्ने के दायें हाशिये के ऊपर इसी प्रकार लगाई जाती है। इनमे संख्या सामान्यत: ऊपर की ओर ही देने की परिपाटी रही है।
2. दूसरा रूप इस प्रकार है : बायें पन्ने के ऊपर (उपरिवत्) तथा दाये पन्ने के दायें हाशिये में नीचे की ओर। यह पद्धति विशेष सुविधाजनक रहती है। एक ओर के किनारे नष्ट होने पर भी शेषाश बचा रहने पर इस सख्या का पता लगाया जा सकता है।
3. पृष्ठ सख्या (फोलियो सख्या से तात्पर्य है) पोथो, पोथी, गुटका आदि में कहाँ तक दी जाय, इसके लिए दो परिपाटियाँ रही है—
   (क) आदि से लेकर बीच की सिलाई के दायें पन्ने तक।
   (ख) आदि से लेकर अन्तिम पन्ने तक।

   विशेष : (ख) में दी गयी स्थिति में यदि अन्त में एक ही पन्ना हो और वह बायाँ हो सकता है, तो भी उसी ढग से सख्या दी जाती थी। इसकी गणना ठीक उसी रूप मे की जाती थी जिसमे शेष 'फोलियो' की।
4. इनमें भी रचना का प्रथम अक्षर संख्या के नीचे लिखा रहता है किन्तु केवल बायें पन्ने की सख्या के नीचे ही।

   इन तीनो के विषय मे ये बातें विशेष रूप से लागू होती है :—
   (क) यदि सकलन-ग्रन्थ है, तो भिन्न रचना का नाम (उसका प्रथम अक्षर लिखा जायगा)।
   (ख) यदि हरजस, पद आदि विषयक ग्रन्थ है (जो संकलन ही है) तो उसमें 'ह०' या 'भ०' (भजन), गी० (गीत) आदि लिखा मिलता है।
   (ग) यदि एक ही रचना है, तो स्वभावत: उसी के नाम का प्रथम अक्षर लिखा जायगा।

सिलाई

1. पत्राकार पुस्तकों में
   (क) खुले पत्रों के रूप में
   (ख) बीच में छेद वाले रूप में

(क) खुले पन्नो वाली पुस्तको की तो सिलाई का प्रश्न नहीं उठता । पन्ने क्रमानुसार सजाकर किसी बस्ते मे बाँधे जाते थे । पुस्तक के ऊपर-नीचे विशेषतः लकड़ी की और गौणतः पत्तों के उसके पन्नो से कुछ बड़ी आकार की पटरियाँ लगा दी जाती थी । इससे पन्नो की सुरक्षा होती थी । इसको भगवे, पीले या लाल रंग के वस्त्र से लपेट कर रखते थे । यह वस्त्र दो प्रकार का होता था :—

(1) बुगचा—यह तीन ओर से सिला हुआ होता था, चौथे कोने में एक मजबूत डोरी भी लगी रहती थी । पटरियों सहित पुस्तक को इसमें रखकर डोरी से लपेट कर बांध दिया जाता था ।

(2) चौकोर वस्त्र—इस कपड़े से बाँध दिया जाता था ।

(ख) बीच मे छेद वाली खुले पन्नो की पुस्तके अपेक्षाकृत कम मिलती है । प्रतीत होता है ताडपत्र-ग्रन्थो की यह नकले हैं । इस प्रकार की हस्तप्रति मे प्रत्येक पन्ने के दोनो ओर ठीक बीच मे एक ही आकार-प्रकार का फूल बना दिया जाता था । अनेक मे केवल एक पैसे (पुराने ताँबे के पैसे) के बराबर रगीन गोला बना रहता था । इन ग्रथो मे पन्नो की लम्बाई-चौडाई सावधानीपूर्वक एकसी रखी जाती थी । सब ग्रन्थ लिखे जाने के बाद उसके पन्नो मे छेद करके रेशमी या ऊन की डोरी उनमे पिरो दी जाती थी । इस प्रकार इन्हे बाँध कर रखा जाता था । ऐसे ग्रन्थ सामान्यत दूसरो को देने के लिए न होकर धर्म के स्थान-विशेष अथवा परिवार या व्यक्ति-विशेष के निजी सग्रह के लिए होते थे । इनके लिखने और रखने तथा प्रयुक्त करने मे सावधानी और सतर्कता बरतनी पड़ती थी । व्यय भी अधिक होता था । यही कारण है कि ऐसे ग्रन्थ कम मिलते हैं ।

2. **पोथो, पोथी, गुटका**

पुराने समय के जितने भी ऐसे ग्रन्थ देखने मे आये है (डॉ० हीरा लाल माहेश्वरी ने बीस हजार के लगभग ग्रन्थ देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि) वे सभी बीच से सिले हुए मिलते है । इनके दो रूप हैं :—

1– एक-जैसे आकार के पन्नों को लेकर, उन्हे बीच से मोडकर बीच से सिलाई की जाती थी,

2– क्रमशः (चौडाई की ओर से) घटते हुए आकार के पन्ने लगाना ।
(1) ग्रन्थ के बड़ा होने के कारण या/तथा (2) लम्बाई अधिक होने के कारण ऐसा किया जाता था । उदाहरणार्थ—

पहले 100 पन्ने 1 फुट के
दूसरे 100 पन्ने 10 इच (या 10" या 11") के
तीसरे 100 पन्ने 8 इच के

ऐसे ग्रन्थ अपेक्षाकृत कम मिलते हैं, किन्तु यह पद्धति वैज्ञानिक है । ऐसे एक ग्रन्थ का उपयोग डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने डी० लिट्० की थीसिस मे किया है ।

(3) सिलाई मजबूत रेशमी या बहुधा सूत की बटी हुई डोरी से होती थी । गाँठ वाला अंश प्राय इनके बीच में लिया जाता था । यदि ग्रन्थ बडा हुआ तो मजबूती

के लिए सिलाई के प्रत्येक छेद पर धागा पिरोने से पूर्व कागजों, गत्तों या चमड़ों का एक गोल आकार का अंश काटकर लगाते थे। ऐसा दोनों ओर भी किया जाता था और एक ओर भी किया जाता था। इसी को 'ग्रंथि' कहते हैं। ज्ञातव्य है कि जिन ग्रन्थों मे लिपिकार की (या जिनके लिए वह तैयार किया गया है—उनकी) किसी प्रकार की धर्मभावना निहित होती थी तो चमड़े का उपयोग कभी नहीं किया जाता था।

ऐसे ग्रन्थो की सिलाई के सम्बन्ध में दो बातें हैं :

(क) पहले सिलाई करके फिर ग्रन्थ लेखन करना,

(ख) पहले लिखकर फिर सिलाई करना। दूसरे के सम्बन्ध में एक बात और है। मान लीजिए कभी-कभी आरम्भ के 10 बड़े पन्नो पर रचना लिख ली गई। तत्पश्चात् और अधिक रचनाओ के लिखने का विचार हुआ और उनको भी लिखा गया। अब सिलाई मे आरम्भ के 10 बड़े पन्ने दो भागो में विभक्त होंगे। प्रथम 5 का अंश आदि मे रहेगा और शेषांश सिलाई के मध्यभाग के पश्चात्। अतः यदि किसी ग्रन्थ के आदि भाग मे कोई रचना अपूर्ण हो, और बाद में उसी ग्रन्थ में उसकी पूर्ति इस रूप मे मिल जाय तो प्रक्षिप्त नहीं मानना चाहिए।

3– आदि और अन्त के भाग मे (प्रायः विषम सख्या के – 5, 7, 9, 11) पन्ने अतिरिक्त लगा दिये जाते थे। इसके ये कारण थे :—

(क) मजबूती के लिए आदि और अन्त मे कुछ कोरे पन्ने रहने से लिखित पन्ने सुरक्षित रहते हैं।

(ख) यदि रचना पूरी न लिखी जा सकी हो तो सम्भावित छूटे हुए अश को लिखने के लिए।

(ग) लिपिकार, स्वामी, उद्देश्य आदि से सम्बन्धित बातें लिखने के लिए, उदाहरणार्थ :—

(अ) कभी-कभी कोई ग्रन्थ बेचा भी जाता था। अन्त के पन्नों में या कभी आदि के पन्नो मे भी उसका सन्दर्भ रहता था। गवाहों के भी नाम दिये जाते थे। बेचने की कीमत, मिति और सवत् का उल्लेख होता था।

(ब) यदि भेंटस्वरूप दिया गया, तो अवसर का, स्थान का, कारण का उल्लेख रहता था।

इन व्यवहारों को सूचित करने के लिए भी कुछ पन्ने कोरे छोड़े जाते थे।

इन छूटे हुए या अतिरिक्त कोरे पन्नों के सम्बन्ध मे ये बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(क) यदि कोई रचना अधूरी रह गई, तो प्रायः उसकी पूर्ति आरम्भ के पन्नो से की जाती थी। ऐसा करने मे कभी-कभी आदि के भी तीन-चार या कम-बेशी पन्ने खाली रह जाते थे। हस्त-ग्रन्थो के विद्यार्थी और पाठक को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

(ख) किसी रचना का बाद मे मिला हुआ कोई अंश भी इनमें लिखा जाता था, भले ही ऐसा कम ही किया जाता था ।

(ग) ग्रन्थ मे जिस कवि/लेखक की रचना लिपिबद्ध होती थी, प्राय. उसकी कोई अन्य रचना बाद में मिलती थी तो वह भी इन पन्नो में लिखी जाती थी ।

शिलालेख : प्रकार

ग्रन्थों के बाद हस्तलेखो की दृष्टि से शिलालेखो का स्थान आता है । शिलालेख भी कितने ही प्रकार के माने जा सकते हैं :—

1. पर्वतांश पर लेख (पर्वत मे लेखन-योग्य स्थान देखकर उसे ही लेखन-योग्य बनाकर शिला-लेख प्रस्तुत किया जाता है ।) ये शिला-लेख एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाये जा सकते ।
2. गुफाओ मे पर्वतांश पर खुदे शिला-लेख । ये भी अन्यत्र नही ले जाये जा सकते ।
3. पर्वत से शिलाएँ काटकर उन पर अंकित लेख । ये शिलाएँ एक स्थान से दूसरे पर ले जायी जा सकती है ।
4. स्तम्भो या लाटो पर लेख ।

वर्णित विषय के आधार पर इन लेखो के कई भेद किए जा सकते है

1. राजकीय आदेश विषयक शिला-लेख ।
2. दान विषयक शिला-लेख ।
3. किसी स्थान निर्माण के अभिप्राय तथा काल के द्योतक शिला-लेख, तथा
4. किसी विशेष घटना के स्मरण-लेख ।

शिला-लेख सभी खुदे हुए होते है, किन्तु कुछ मे खुदे अक्षरो मे कोई काला पत्थर या सीसा (lead) या अन्य कोई पदार्थ--मसाला भरकर लेख प्रस्तुत किये जाते है । ऐसा विशेषत' संगमरमर पर खुदे अक्षरो मे किया जाता है ।

ये सभी इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते है । पर्वतीय शिला-लेख अचल होते हैं, अत: इन शिला-लेखो की छापे पांडुलिपि-आलय मे रखी जाती है । जो शिला-लेख उठाये जा सकते है वे मूल मे ही ले जाकर हस्तलेखागार या पांडुलिपि-आलय मे रखे जाते हैं ।

छाप लेना : इनकी छाप लेने की प्रक्रिया यहां दी जाती है । यह प० उदयशंकर शास्त्री के लेख से उद्धृत की जा रही है ।

आरम्भ मे इन शिलालेखों को पढ़ने के लिये अक्षरो को देखकर उनकी नकले तैयार की जाती थी और फिर उन्हे पढने का कार्य किया जाता था । इस पद्धति से अक्षर का पूरा स्वरूप पाठक के सामने नही आ पाता था, और इसीलिये कभी-कभी भ्रम भी हो जाया करता था । कभी-कभी पैरिस प्लास्टर की सहायता से भी छापे (Estampage) तैयार की गई, पर उनमें अक्षर की पूरी आकृति उभर नही पाती थी । अक्षर की पूरी गोलाई, मोटाई, उसके घुमाव, फिराव के लिये यह आवश्यक है कि जिस स्थान (शिला अथवा ताम्रपट्ट) पर वह उत्कीर्ण हो उस पर छाप ली जाने वाली चीज पूरी तरह से

चिपक सके । इसके लिये अब सबसे सुविधाजनक कागज उपलब्ध है, जिसे भारत सरकार जूनागढ से मँगवाती है । लेख वाले स्थान को पहिले साफ पानी से अच्छी तरह धोकर साफ कर लेना चाहिये ताकि अक्षरो मे धूल, मिट्टी या और किसी तरह की कोई चीज भरी न रह जाय । फिर कागज को पानी मे अच्छी तरह भिगोकर चिपका देना चाहिये, फिर उसे मुलायम ब्रुश से पीटना चाहिये, जिससे अक्षरो मे कागज अच्छी तरह चिपक जाये । उसके बाद एक कपडा भिगोकर कागज के ऊपर लगादें और उसे कडे ब्रुश से पीट-पीट कर कागज को और चिपका दें । इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि लेख पर कागज चिपकाते समय लेख और कागज के बीच मे बुलबुले (Bubbles) न उठने पावे, और यदि उठ जाये तो उन्हे ब्रुश से पीट-पीटकर किनारे पर कर देना चाहिए अन्यथा अक्षर पर कागज ठीक चिपक न सकेगा । पीटते समय यदि कही मे कागज फट जाये तो उसके ऊपर तुरन्त ही कागज का दूसरा टुकड़ा भिगोकर लगा देना चाहिये । थोडा पीट देने से कागज पहले वाले कागज मे अच्छी तरह चिपक जायेगा । जब कागज अच्छी तरह से अक्षरो में घुस जाये तब ऊपर का कपड़ा उतार कर मुलायम ब्रुश से फिर इधर-उधर उठ गई फुटकियो को सुधार लेना चाहिये । अब थोड़ी देर तक कागज को हवा लगने छोड देना चाहिये जिससे कि कागज सूख जाये । फिर एक तश्तरी मे कालिख (Black Japan) घोल कर डॅबर की सहायता से लेख की पंक्तियो पर क्रमश लगा देना चाहिये । यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी पक्ति पर धब्बा न आने पाये अन्यथा अक्षर धुँधला पड जायेगा और उसकी आकृति स्पष्ट न हो सकेगी, कागज पर जब रोशनाई ठीक से लग जाये तब उसे सावधानी से उतार कर सुखा लेना चाहिये । आजकल कालिख को घोल कर लगाने के बजाय कोई-कोई सूखा ही लगाते है । पर उससे छाप (Estampage) में वह चमक नही आ पाती जो गीले काजल मे आती है ।

यह पद्धति उन लेखों के लिए है जो गहरे खोदे हुए होते है, पर उर्दू आदि के उभरे हुए लेखो के लिए अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है अन्यथा कागज फट जाने की बहुत सम्भावना रहती है ।

साधारणतया छाप तैयार करने के लिए यह सामग्री अपेक्षित होती है—

1. निरछे लम्बे ब्रुश (Bent bar Brush) 2 ।
2 एक गज सफेद हलका कपडा ।
3. स्याही घोलन के लिये तश्तरी ।
4. एक डॅबर (Dabbar) स्याही मिलाने के लिये ।
5 एक डॅबर बडा (लेख पर स्याही लगाने के लिये) ।
6 जूनागढी कागज (इसके अभाव मे भी छाप लेने का काम मामूली कागज से लिया जा सकता है, पर कागज चिकना कम होना चाहिये) ।
7. चाकू ।
8. नापने के लिये कपड़े का फीता या लोहे का फुटा (यदि यह सब सामान एक छोटे सन्दूक में रखा जा सके तो यात्रा में सुविधा रहेगी)

भारतीय लिपियो व शिला-लेखो का अनुसन्धान करने वालो को अग्रलिखित साहित्य देखना चाहिये—

एपिग्राफिया इंडिका ।

एपिग्राफिया इंडोमुसोलोमिका ।

एपिग्राफिया करनाटिका ।

इंडिशेपॅलियोग्राफी, जार्ज ब्यूलर ।

इडियन एण्टिक्वेरी ।

'ए थ्योरी ऑफ ओरिजिन ऑव दी नागरी अल्फाबेट' शामा शास्त्री का लेख, इंडियन एण्टीक्वेरी, भा० 25, पृ० 253–321 ।

पेलियोग्राफिक नोट्स, भडारकर अभिनन्दन ग्रन्थ में विष्णु सीताराम सुकथनकर का लेख पृ० 309–322 ।

आउटलाइन्स ऑव पॅलियोग्राफी, एच० आर० कापडिया का लेख, जर्नल ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव बाम्बे, आर्ट एण्ड लेटर्स स० 12, जि० 6 सन् 1938, पृ० 87–110 ।

ए डिटेल्ड एक्सपोजिशन ऑफ दी नागरी, गुजराती एण्ड मोडी स्क्रिप्टस, एच० आर० कापडिया का लेख, भडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट की पत्रिका भा० 19, 3 (1938) पृ० 386–418 ।

जैन-चित्र-कल्पद्रुम भूमिका, मुनि पुण्य विजयजी	अहमदाबाद ।
भारतीय प्राचीन लिपिमाला, म० म० पडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	अजमेर ।
ओरिजन ऑव दी बंगाली स्क्रिप्ट, राखालदास बन्द्योपाध्याय	कलकत्ता ।
इडियन पेलियोग्राफी, भाग-1, डॉ० राजबली पाण्डेय	काशी ।
दी अल्फाबेट, डी० डिरिंगर	लडन ।
हिन्दी विश्व कोश (श्री नगेन्द्रनाथ वसु रचित) का 'अक्षर' शब्द	कलकत्ता ।
अशोक इस्क्रप्शनम इडिकेरूम, हुल्श,	लंडन ।
अशोक इस्क्रप्शनम इडिकेरूम, कनिंघम	कलकत्ता ।
गुप्त इंस्क्रप्शनम, जे० एफ० फ्लीट०	कलकत्ता ।
अशोक की धर्मलिपियाँ, ओझा, श्यामसुन्दर दास	काशी ।
प्रियदर्शी प्रशस्तय, म०म० रामावतार शर्मा	पटना ।
सेलेक्ट इस्क्रप्शन्स, डी०सी० सरकार	कलकत्ता ।
कलचुरी इंस्क्रप्शन्स, वी०वी० मिराशी	उटकमण्ड ।[1]

धातुपत्र : अन्य प्रकार के लेख :

ताम्र, रौप्य, सुवर्ण, कास्य आदि के पत्र भी ऐसे ही कामो मे आते है जैसे शिलालेख आते है । ये धातुपत्र एक विशेष उपयोग मे भी लाये जाते हैं । वह है किसी के सम्मान मे 'प्रशस्ति' लेखन । यह प्रथा तो आधुनिक युग मे भी प्रचलित है । कई सस्थाओं ने विशिष्ट व्यक्तियों के सम्मान मे उनकी यशःप्रशस्ति खुदवाकर ताम्रपत्रादि भेंट किये हैं ।

1. शास्त्री, उदयशंकर (पं०)—शिला-लेख और उनका वाचन, भारतीय साहित्य (जनवरी, 1959), पृ० 132-134 ।

पत्र-चिट्ठी पत्री :

यों तो सभी व्यक्तियों की लिखी चिट्ठी-पत्री को पाडुलिपि या हस्तलेख माना जा सकता है, पर पांडुलिपिकारो की दृष्टि से किसी न किसी ऐतिहासिक महत्त्व की चिट्ठी-पत्री को ही पांडुलिप्यागारों में स्थान दिया जा सकता है—ये पत्र कई प्रकार के हो सकते हैं, यथा,

राजकीय व्यवहार के पत्र : ये पत्र परस्पर राजकीय उद्देश्य से लिखे जाते है। इनसे तत्कालीन राजकीय दृष्टि और मनोवृत्ति पर प्रभाव पड़ता है, और ऐतिहासिक घटनाम्रो का भी इनमे उल्लेख रह सकता है, तथा ये स्वय किन्हीं राजकीय घटनाओं का कारण बन सकते है।

राजकीय व्यक्तियों के निजी और घरेलू पत्र इन पत्रो से उन व्यक्तियो की निजी और स्वयं तथा नाते-रिश्ते सम्बन्धी वार्ता पर प्रकाश पड़ता है। कभी-कभी ये राजकीय घटनाओ की महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि या भूमिका भी प्रस्तुत कर सकते है। इन पत्रो का एक वर्ग अपनी पत्नी या प्रेमिका को लिखे गये या उनसे मिले पत्रो का भी हो सकता है। इनमें एक वर्ग उन पत्रो का हो सकता है जिनसे घरेलू समस्याओ पर प्रकाश पड़ता हो।

निम्नलिखित प्रकार के पत्र भी सग्रहणीय हो सकते है।

साहित्यकारों–कलाकारो के पत्र

बड़ी-बड़ी फर्मों के पत्र

सफल व्यापारियो के व्यावसायिक पत्र

सफल व्यापारियो के निजी पत्र

राजनेताओ तथा अन्य महान आत्माओ के पत्र, सार्वजनिक व निजी

इसी प्रकार अन्य कोटि के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक-पत्र भी पाडुलिपि की कोटि मे रखे जा सकते है।

कुछ अद्‌भुत लेख

कौशल दिखाने के लिए ऐसे लेख भी लिखे गये है जो सीप, हाथीदांत, चावल तथा अन्य ऐसे ही पदार्थों पर हो। वस्तुतः ये 'अद्‌भुतालय' (Museum) मे रखने की वस्तुएँ है। पर पाडुलिपि के क्षेत्र मे तो परिगणनीय हैं ही।

मिट्टी, चीनी या धातुओ के विविध पत्रो पर अकित कोई लेख जो छोटा या 2–4 अक्षरो का ही क्यो न हो, पांडुलिपि माना जायगा।

इसी प्रकार विविध सिक्के भी जिन पर कोई अभिप्राय या लेख या वृत्त (Legend) अकित है, पांडुलिपि है।

मिट्टी के खिलौने या साँचे भी जिनमे कोई वृत्त अंकित हो पांडुलिपि है।

पत्थर, धातु या अन्य प्रकार की वे मूर्तियाँ जिन पर लेख हैं, पाडुलिपि मानी जायेंगे।

ऐसे ही वस्त्राभूषण, अँगूठियाँ, पर्दे, पट-कथा के पट, जिन पर लिपि मे कुछ हो।

इस प्रकार हम देखते है कि किसी भी प्रकार के 'लिप्यासन' (लिपि का आसन) पर लिपि-रचना पाडुलिपि की कोटि में आयेगी।

उपसंहार

पांडुलिपि के कितने ही प्रकारो की विस्तृत चर्चा ऊपर की गयी है। इनमें नत्थियो एवं चिट्ठी पत्रियों का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया। इनका विवेचन आधुनिक पांडुलिपि पुस्तकालयों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह विषय इतना विशद् भी है कि प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे खण्ड को जन्म दे सकता है।

यहाँ तक जितना विषय चर्चित हुआ है उतना स्वयमेव एक पूरे विज्ञान का एक पूरा पक्ष प्रस्तुत कर देता है। अत. इतनी चर्चा ही इस अध्याय के लिए पर्याप्त प्रतीत होती है।

अध्याय **5**

लिपि - समस्या

महत्त्व :

पाडुलिपि-विज्ञान मे लिपि का बहुत महत्त्व है। लिपि के कारण ही कोई चिह्नित वस्तु हस्तलेख या पांडुलिपि कहलाती है। 'लिपि' किसी भाषा को चिह्नों मे बाँधकर दृश्य और पाठ्य बना देती है। इससे भाषा का वह रूप सुरक्षित होकर सहस्राब्दियो बाद तक पहुँचता है जो उस दिन था जिस दिन वह लिपिबद्ध किया गया। विश्व मे कितनी ही भाषाएँ हैं, और कितनी ही लिपियाँ हैं। पांडुलिपि विज्ञान के अध्येता के लिए और पांडुलिपि-विज्ञान-विद् बनने वालो के समक्ष कितनी ही लिपियो मे लिखी गयी पांडुलिपियाँ प्रस्तुत हो सकती हैं। पुस्तक की अन्तरंग जानकारी के लिए उन पुस्तको की लिपियों का कुछ ज्ञान अपेक्षित है। वस्तुत विशिष्ट लिपि का ज्ञान उतना आवश्यक नही जितना उस वैज्ञानिक विधि का ज्ञान अपेक्षित है जिससे किसी भी लिपि की प्रकृति और प्रवृत्ति का पता चलता है। इस ज्ञान से हम विशिष्ट लिपि की प्रकृति और प्रवृत्ति जानकर अध्येता के लिए अपेक्षित पाडुलिपि का अन्तरंग परिचय दे सकते हैं। अतः लिपि का महत्त्व है, किसी विशेष युग या काल के विशेष दिन की भाषा के रूप को पाठ्य बनाने के लिए सुरक्षित करने की दृष्टि से एवं इसलिए भी कि इसी के माध्यम से पांडुलिपि-विज्ञानार्थी वैज्ञानिक विधि से पुस्तक के अन्तरंग का अपेक्षित परिचय निकाल सकता है, अत. आज भी लिपि का महत्त्व निर्विवाद है, वह चाहे पुरानी से पुरानी हो या अर्वाचीन ।

लिपियाँ :

विश्व मे कितनी ही भाषाएँ हैं और कितनी ही लिपियाँ हैं। भाषा का जन्म लिपि से पहले होता है, लिपि का जन्म बहुत बाद में होता है। क्योंकि लिपि का सम्बन्ध चिह्नों से है, चिह्न 'अक्षर' या 'अल्फाबेट' कहे जाते हैं। ये भाषा की किसी ध्वनि के चिह्न होते हैं। अत लिपि के जन्म से पूर्व भाषा भाषियो को भाषा के विश्लेषण में यह योग्यता प्राप्त हो जानी चाहिये कि वे जान सके कि भाषा मे ऐसी कुल ध्वनियाँ कितनी हैं जिनसे भाषा के सभी शब्दो का निर्माण हो सकता है। भाषा का जन्म वाक्य रूप मे होता है। विश्लेषक बुद्धि का विकास होने पर भाषा को अलग-अलग अवयवो मे बाँटा जाता है। उन अवयवों से फिर शब्दो को पहचाना जाता है। शब्दो को पहचान सकने की क्षमता विश्लेषक-बुद्धि के और अधिक विकसित होने का परिणाम होती है। 'शब्द' अर्थ से जुड़े रहकर ही भाषा का अवयव बनते है। सस्कृति और सभ्यता के विकास से 'भाषा' नये अर्थ, नयी शक्ति और क्षमता तथा नया रूपान्तरण भी प्राप्त करती है। सशोधन, परिवर्द्धन, आगम, लोप और विपर्यय की सहज प्रक्रियाओ से भाषा दिन-ब-दिन कुछ से कुछ होती चलती है। इस प्रक्रिया मे उसके शब्दो मे भी परिवर्तन आते है तदनुकूल अर्थ-विकार भी प्रस्तुत होते हैं। अब 'शब्द' का महत्त्व हो उठता है। शब्द की इकाइयों से उनके 'ध्वनि-तत्त्व' तक सहज ही पहुँचा जा सकता है। यह आगे का विकास है। ध्वनियो के विश्लेषण से किसी भाषा की आधारभूत ध्वनियों का ज्ञान मिल सकता है। इस चरण पर आकर ही 'ध्वनि' (श्रव्य) को दृश्य बनाने के लिए चिह्न की परिकल्पना की जा सकती है।

भाषा बोलना आने पर अपने समस्त अभिप्राय को व्यक्ति एक ऐसे वाक्य में बोलता

है जिसके अवयवों में वह अन्तर नहीं करता होता है- यथा, वह कहता है—

(i) "मैंखानाखाताहूँ"

यह पूरा वाक्य उसके लिए एक इकाई है। फिर उसे ज्ञान होता है अवयवों का। यहाँ पहले विकास के इस स्तर पर दो अवयव ही हो सकते हैं, (i) 'मैं' तथा (ii) खाना खाता हूँ'। इस प्रकार उसे भाषा में दो अवयव मिलते हैं—अब वह अन्य अवयवों को भी पहचान सकता है। इन अवयवों के बाद वह शब्दो पर पहुँचता है, क्योंकि जैसे वह अपने लिए 'मैं' को अलग कर सका वैसे ही वह खाद्य पदार्थ के लिए 'खाना' शब्द को भी अलग कर सका–अब वह जान गया कि मैंने चार शब्दों से यह वाक्य बनाया था—

	1	2	3	4
(iii)	मैं	खाना	खाता	हूँ

सांस्कृतिक विकास से उसमें यह चेतना आती है कि ये शब्द ध्वनि-समुच्चय से बने हैं। इनमे ध्वनि-इकाइयों को अलग किया जा सकता है–यहीं ध्वनि मे स्वर और व्यंजन का भेद भी समझ में आता है। अब वह विकास के उस चरण पर पहुँच गया है जहाँ अपनी एक-एक ध्वनि के लिए एक-एक चिह्न निर्धारित कर वर्णमाला खडी कर सकता है। यही लिपि का जन्म होता है : हमारी लिपि मे उक्त वाक्य के लिपि चिह्न ये होंगे :—मैं=म+ े+ ँ/खाना=ख+ा+न+ा/खाता=ख+ा+त+ा/हूँ=ह+ ू+ ँ।

ये लिपि चिह्न भी हमे लिपि विकास के कारण इस रूप मे मिले हैं।

चित्र-लिपि

किन्तु वर्णमाला से भी पहले लेखन या लिपि का आधार चित्र थे। चित्रों के माध्यम से मनुष्य अपनी बात ध्वनि-निर्भर वर्णमाला से पहले से कहने लगा था। चित्रो का सबंध ध्वनि या शब्दो से नही वरन् वस्तु से होता है। चित्र वस्तु की प्रतिकृति होते हैं। भाषा–वह भाषा जिसका मूल भाषण या वाणी है, इस भाषा से पूर्व मनुष्य 'सकेतो' से काम लेता था। संकेत का अर्थ है कि मनुष्य जिस वस्तु को चाहता है उसका सकेत कर उसके उपयोग को भी संकेत से बताता है–यदि वह लड्डू खाना चाहता है तो एक हाथ की पाँचों उंगलियो के पोरों को ऊपर ऐसे मिलायेगा कि हथेली और अगुलियों के बीच ऐसा गोल स्थान हो जाय कि उसमें एक लड्डू समा सके, फिर उसे वह मुँह से लगायेगा—इसका अर्थ होगा–'मैं लड्डू खाऊगा'। इसमे एक प्रकार से चित्र प्रक्रिया ही कार्य कर रही है। हाथ की आकृति लड्डू का चित्र है, उसे मुख से लगाना लड्डू को मुँह मे रखने का चित्र है। गूँगो की भाषा चित्र-संकेत-भाषा है।

मनुष्य ने चित्र बनाना तो आदिम से आदिम स्थिति में ही सीख लिया था। प्रतीत यह होता है कि उन चित्रों का वह आनुष्ठानिक टोने के रूप मे प्रयोग करता था।

फिर वह चित्र बनाकर अन्य बातें भी वर्णित करने लगा। इस प्रयत्न से चित्र-लिपि का आरम्भ हुआ। इस प्रकार से देखा जाय तो चित्रलिपि का आधार वाणी, बोली या भाषा नही, वस्तुबिम्ब ही है। वस्तुबिम्ब को रेखाओं में अनुकृत करने से चित्र बनता है। आदिम अवस्था में ये रेखाचित्र स्थूल प्रतीक के रूप में थे। उसने देखा कि मनुष्य के सबसे ऊपर गोल सिर है, अतएव उसकी अनुकृति के लिए उसकी दृष्टि से चिह्न एक वृत्त ○ होगा। यह सिर गरदन से जुडा हुआ है, गरदन कन्धे से जुडी है। यह उसे एक '⊥' छोटी सीधी खड़ी रेखा-सी लगी। कन्धा भी उसे पड़ी सीधी रेखा के समान दिखायी दिया

'—' । इसके दोनों छोरों पर दो हाथ जो कुहनी से मुड़ सकते हैं और छोर पर पाँच अँगुलियाँ अर्थात् प्रस्तुत चित्र। धड़ को उसने दो रेखाओं से बने डमरू के रूप मे समझा क्योंकि कमर पतली, वक्ष और उरु चौड़े ⧗ = धड़ । कभी-कभी धड़ को वर्गाकार या आयताकार भी बनाया । नीचे पैर और टांगे । इन्हे बनाने के लिए दो आड़ी खडी रेखाएँ '//' और एक दिशा में मुडे पैर की द्योतक दो पड़ी रेखाएँ '—' '—' । मानव के बिम्ब की रेखानुकृति ने यह रूप लिया :

(चित्र–1)
यह रेखा-चित्र तो प्रक्रिया को समझाने के लिए है

यह रेखांकन की प्रक्रिया है जिसमे चित्र बनाने वाले की कुशलता से रूप मे भिन्नता आ सकती है पर जो भी रूप होगा, वह स्पष्टतः से उस वस्तु का बिम्ब प्रस्तुत करेगा, यथा–

(चित्र–2)
आदिम मानव के बनाये चित्र है। वर्गाकार धड़ दृष्टव्य है।

(चित्र-3)
चित्रलिपि में मनुष्य के विविध रेखांकन सिन्धुघाटी की मुहरों की छापों से नीचे दिये गए हैं। ये वास्तविक लिपि-चिह्न हैं।

भागते कुत्ते को बताने के लिए वह कुत्ते को भागने की मुद्रा में रेखांकित करने का प्रयत्न करेगा। भले ही उसके पास अभी कुत्ते के लिए वाणी या भाषा मे कोई शब्द न हो, न भागने के लिए ही कोई शब्द हो। चित्रलिपि इस प्रकार भाषा के जन्म से पूर्व की संकेत लिपि की स्थानापन्न हो सकती थी। चित्रलिपि के लिए केवल वस्तुबिम्ब अपेक्षित था।

इतिहास से भी हमे यही विदित होता है कि चित्रलिपि ही सबसे प्राचीन लिपि है। आनुष्ठानिक टोने के चित्रो से आगे बढकर उसने चित्रलिपि के माध्यम से वस्तुबिम्बो की रेखाकृतियाँ पैदा की तथा आनुष्ठानिक उत्तराधिकार मे देवी-देवताओ के काल्पनिक मूर्तरूपो या बिम्बो की अनुकृतियो का उपयोग भी किया। मिस्र की चित्रलिपि इसका एक अच्छा उदाहरण है। इसके सम्बन्ध मे "एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स" मे उल्लेख है कि चित्रमय प्रत्याभिव्यक्ति अपने आप मे अभिव्यक्ति की समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति करने में असमर्थ थी। अभिव्यक्ति की यह प्रतिबन्धता विचार और भाषा के द्वारा प्रस्तुत की गई थी। इन प्रतिबन्धताओ के कारण बहुत पहले ही चित्रमय प्रत्याभिव्यक्ति दो भिन्न शाखाओ मे बँट गयी। एक सजावटी कला और दूसरी चित्राक्षरिक लेखन (जर्नल ऑव ईजिप्ट, आर्क्योलाजी, ii [1915], 71–75)। इन दोनो शाखाओ का विकास साथ-साथ होता गया और एक-दूसरे मे मिलकर भी निरन्तर विकास मे सहायक होती गई। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि एक ने दूसरे के क्षेत्र मे भी हस्तक्षेप किया।[1]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दो प्रक्रियाओं के योग से मिस्र की प्राचीन लिपि अपना रूप ग्रहण कर रही थी। चित्रो से विकसित होकर ध्वनि के प्रतीक के रूप मे लिपि का विकास एक जटिल प्रक्रिया का ही परिणाम हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि 'चित्र' दृश्य वस्तुबिम्ब से जुडे होते हैं। इन वस्तुबिम्बों का ध्वनि से सीधा सम्बन्ध नही होता है। वस्तु को नाम देने पर चित्र ध्वनि से जुडता है। पर नाम कई ध्वनियो से युक्त होता है, इधर ध्वनि-समुच्चय मे से एक ध्वनि-विशेष को उस वस्तुबिम्ब के चित्र मे जोडना और चित्र का विकास वर्ण (letter) के रूप मे होना, – इतना हो चुकने पर ही ध्वनि और लिपि-वर्ण परस्पर सम्बद्ध हो सकेंगे और 'लिपि-वर्ण' आगे चलकर मात्र एक ध्वनि का प्रतीक हो सकेगा। यह तो इस विकास का बहुत स्थूल विवरण है। वस्तुत इन प्रक्रियाओ के अन्तराल मे कितनी ही जटिलताएँ गुँथी रहती है।

पर आज तो सभी भाषाएँ 'ध्वनि मूलक' हैं किन्तु पाडुलिपि वैज्ञानिक को तो कभी प्राचीनतम लिपि का या किसी लिपि के पूर्व रूप का सामना करना पड सकता है। उसके सामने मिस्र के पेपीरस आ सकते है। साथ ही भारत मे 'सिन्धु-लिपि' के लेख आना तो बडी बात नही। सिन्धु की एक विशेष सभ्यता और संस्कृति स्वीकार की गयी है। नये अनुसन्धानो मे 'सिन्धु-सभ्यता' के स्थल राजस्थान एव मध्य भारत तथा अन्यत्र भी मिल रहे है और उनकी लिपि के लेख भी मिल रहे हैं। तो ये लेख कभी भी पाडुलिपि-वैज्ञानिक

1. The inablity of pictorial representation, as such, to meet all the exigencies of expressibn imposed by thought and language early led to its bifurcation into the two separate branches of illustrative art and hieroglyphic writing (Journal of Egypt Arecheology, ii [1915] 71–75) There two branches persued their development *pari passu* and in constant combination with one another, and it not seldom happened that one of them encroached upon the domain of its fellow. —Encyclopaedia of Religion and Ethics (Vol IX), p. 787.

के सामने आ सकते हैं। अतः यह अपेक्षित है कि वह विश्व में लिपियों के उद्भव व विकास के सिद्धान्तों से परिचित हो।

चित्र

आदिम मानव ने पहले चित्र बनाए। चित्र उसने गुफाओं में बनाए। गुफाओं में ये चित्र अँधेरे स्थान में गुफा की भित्ति पर बनाये हुए मिलते हैं। इन चित्रों में वस्तु-बिम्ब को रेखाओं के द्वारा अंकित किया गया है। आदिम मानव के ये चित्र 20,0000 ई. पू. से 4000 ई. पू. के बीच के मिलते हैं।

इन चित्रों को बनाते-बनाते उसमें यह भाव विकसित हुआ होगा कि इन चित्रों से वह अपनी किसी बात को सुरक्षित रख सकता है और ये चित्र परस्पर किसी बात के सम्प्रेषण के उपयोग में लिए जा सकते हैं। इस बोध के साथ चित्रों का उपयोग करने से ही वे चित्र 'लिपि' का काम देने लगे। यह लिपि 'बिम्ब-लिपि' थी। कई वस्तु-बिम्बों को एक क्रम में प्रस्तुत कर, उनसे उनमें निहित गति या कार्य से भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया। यह बिम्ब-लिपि चित्रलिपि की आधारभूमि मानी जा सकती है।

जब मानव बहुत-सी बातें कहना चाहता था, वह उन्हें उस माध्यम से प्रस्तुत करना चाहता था, जो चित्रों के आभास से उसे मिल गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि वस्तु-बिम्ब छोटे बनाए जाने लगे, जिससे बहुत-से बिम्ब-चित्र सीमित स्थान में आ सकें और उसकी विस्तृत बात को प्रस्तुत कर सकें।

अतः लेखन और लिपि के लिए प्रथम चरण है 1. **बिम्ब-अंकन**

देखिए—ये चित्र[1]

द ला ग्रेज : जंगली बैल (प्रस्तर युग)

1. यह चित्र 30,000 से 10,000 ई० पू० के हैं। Much research in this field has been done in recent years, and we now have a fairly definite knowledge of the art of some of the most primitive of men known to the anthropologist (from 30,000 to 10,000 B. C.). —The Meaning of Art, p. 53.
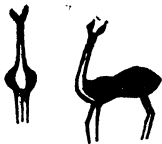
बुशमैन–चित्र, दो शैलीबद्ध हिरण, ऑरेण्डवर्ग, दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका

'बनियाबेरी गुफा' (पचमढ़ी–क्षेत्र) में गो-पंक्ति के ऊपर अंकित स्वास्तिक पूजा

और दूसरा चरण है उससे संप्रेषण का काम लेना। इसे हम—

2. बिंब-लिपि का नाम दे सकते हैं।

इस चित्र से स्पष्ट है कि स्वस्तिक पूजा और छत्र-अर्पण के पूरे शान्तिमय भाव को प्रेषित करने के लिए, पूजा-भाव में पशुओं के आदर के समावेश की कथा को और पूजा-विधान को हृदयंगम कराने के लिए चित्र-लेखक इस चित्र के द्वारा बिम्बों से संप्रेषित करना चाहता है। अतः यह लिपि का काम कर उठा है। यह लिपि ध्वनियों की नहीं, बिम्बों की है। छत्रधारी मनुष्य कितने ही हैं, अतः वे लघु आकृतियों में हैं।

'बिम्ब' धीरे-धीरे रेखाकारों के रूप में परिवर्तित हो उठता है। तब हम इसे

3. रेखाकार चित्र-लिपि कह सकते हैं।
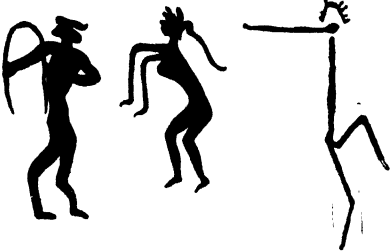
सहनर्तन, जम्बूद्वीप (पचमढ़ी) आरोही नर्तक, कुप्पगल्लु (बेलारी, रायचूर, द०भा०)

4—तब, आगे बिम्ब-लिपि और रेखाचित्र-लिपि के संयोग से 'चित्रलिपि' प्रस्तुत हुई।
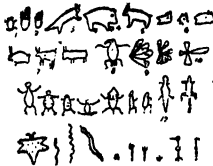
[ऐरिजोना (अमेरिका) में प्राप्त चित्र लिपि, जो प्राचीनतम लिपियों में से एक है]

'चित्रलिपि' में प्रायः रेखाकारों में छोटे-छोटे चित्रों द्वारा संप्रेषण सिद्ध होता था। इसी लिपि का नाम 'हिप्ररोग्लाफिक' लिपि है। यह मिस्र की पुरातन लिपि है। कैलीफोर्निया और एरिजोना मे भी चित्र लिपि मिली है। ये भी प्राचीनतम लिपियाँ मानी जाती हैं। ऐस्किमो जाति और अमेरिकन इण्डियनों की चित्र-लिपि को ही सबसे प्राचीन माना जाता है।

मिस्र के अलावा हिट्टाइट, माया (मय ?) और प्राचीन क्रीट मे भी चित्रलिपि या हिप्ररोग्लाफ मिले हैं।

हिप्ररोग्लाफ का अर्थ मिस्री-भाषा में होता है, 'पवित्र अंकन', इसे यूनानियों ने 'देवी शब्द' (Gods Words) भी कहा है। स्पष्ट है कि इस लिपि का उपयोग मिस्र में धार्मिक अनुष्ठानों में होता रहा होगा।

इस चित्रलिपि का मिस्र में उदय 3100 ई० पू० से पहले हुआ होगा।

पहले विविध वस्तु-बिम्बों के रेखाकारों को एकसाथ ऐसे सजोया गया कि उसका 'कथ्य-दृश्य' पाठक की समझ में आ जाय। इसमें जन-जन द्वारा मान्य बिम्ब लिए गये। ये चित्रलिपि कभी-कभी बहुत निजी उद्भावना भी हो सकती है, इस स्थिति में ऐसे चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं जिनकी आकृतियाँ सर्वमान्य नहीं होती।

फिर भी, इस भाषा में अधिकांश बहुमान्य बिम्ब आकृतियो का उपयोग ही होता है। इन्हीं के कारण यह लिपि इस रूप मे आगे विकास कर सकी।

पहली स्थिति मे एक बिम्ब-चित्र उस वस्तु का ही ज्ञान कराता था, जैसे '⊙' यह बिम्बाकार सूर्य के लिए गृहीत हुआ। मनुष्य एक घुटने पर बैठा, एक घुटना ऊपर उठा हुआ और मुँह पर लगा हुआ हाथ—इस आकृति का अर्थ था 'भोजन करना'।

इसका विकास इस रूप मे हुआ कि वही पहला चित्र एक वस्तु-बिम्ब का अर्थ न देकर उसी से सम्बद्ध अन्य अर्थ भी देने लगा—जैसे ⊙ इसका अर्थ केवल सूर्य नहीं रहा, वरन् सूर्य का 'देवता' रे (Re) या रा (Ra) भी हो गया और 'दिन' भी। इसी प्रकार 'मुख पर हाथ' वाली मानवाकृति का एक अर्थ 'चुप' भी हुआ। स्पष्ट है कि इस विकास मे पूर्वाकृति वस्तुबिम्ब के यथार्थ से हटकर प्रतीक का रूप ग्रहण कर रहे विदित होते हैं।

वे बाद मे इस चित्रलिपि के चित्राकार ध्वनि-प्रतीको का काम देने लगे।

इस अवस्था में चित्रो के माध्यम से मनुष्य जो भी अभिव्यक्त कर रहा था, वह भाषा का ही प्रतिरूप था। प्रत्येक चित्रकार के लिए एक बिम्ब-चित्र एक शब्द था। कुछ चित्राकार जब व्यंजन-ध्वनियों के प्रतीक बने तो वे उस शब्द के प्रथमाक्षर की ध्वनि मे जुड़े रहे। जैसे 'शृङ्गीसर्प'[1] के लिए शब्द था 'फत' (fi)। इसकी प्रथम ध्वनि 'फ्' से यह 'शृङ्गीसर्प' जुडा रहा। अर्थात् 'शृङ्गीसर्प' अब 'फ' व्यंजन की ध्वनि के लिए 'वर्ण' का काम कर उठा था।

इस प्रकार हमने देखा कि हम विकास मे 'लिपि', जिसका अर्थ है 'ध्वनि-प्रतीक' वाली वर्णमाला, ऐसी लिपि की ओर हम दो कदम आगे बढ़े।

5. **प्रतीक चित्राकृति**—चित्रलिपि मे आये स्थूल चित्र जब प्रतीक होकर उस मूल बिम्बाकृति द्वारा उससे सम्बन्धित दूसरे अर्थ भी देने लगे तब वह प्रतीक अवस्था मे पहुँची।

1. शृंगीसर्प=सींग वाला साँप।

अब चित्रलिपि के चित्र केवल चित्र ही नहीं रहे, वे प्रतीक हो गए। इसे भावमूलक या (diographic) भी कहा जाता है। ये ही आगे विकसित होकर —

6. ध्वनि प्रतीक हो गए। अब 'भृङ्गीसर्प', भृङ्गीसर्प नहीं रहा वह वर्णमाला की व्यंजन ध्वनि 'फ' का चिह्न हो गया। इस प्रकार चित्रलिपि ध्वनि की वर्णमाला की ओर अग्रसर हुई। किन्तु, चित्र ध्वनि-प्रतीक बने, अपने चित्र रूप को उसने फिर भी कुछ काल तक सुरक्षित रखा, पर अब तो वे लिपि का रूप ग्रहण कर रहे थे। अतएव अधिकाधिक उपयोग मे आने के कारण उनकी आकृति में भी विकास हुआ। अब एक मध्यावस्था आयी। इसमें चित्र भी रहे, और चित्रों से विकसित वे ध्वनि-प्रतीक भी सम्मिलित हुए जो चित्रों से वर्ण-चिह्नों के रूप में परिणत हो रहे थे।

इसी वर्ग मे वह भाषा भी आती है जिसमे वर्णमाला न होकर शब्द-माला होती है, और उन्ही से अपने विविध भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द-रूप बनाये जाते हैं।

7. अब वह विकसित स्थिति आयी जहाँ 'चित्र' पीछे छूट गये, ध्वनि-चिह्न मात्र काम मे आने लगे। अब लिपि पूर्णतः ध्वनि-मूलक हो गयी।

ध्वनिमूलक वर्णमाला के दो भेद होते हैं :

एक—अक्षरात्मक (Syllable)

दूसरी—वर्णात्मक (alphabetic)

देवनागरी वर्णमाला अक्षरात्मक है क्योंकि 'क'='क्+अ', अतः यह अक्षर या Syllabic है। रोमन वर्णमाला वर्णात्मक है क्योंकि K=क् जो वर्ण या (alphabet) है। हिन्दी की 'क' ध्वनि के लिए रोमन वर्ण K में a मिलाना होता है : क=Ka। इसमें 'a'=अ।

आज विश्व मे हमे तीन प्रकार की लिपियाँ मिलती हैं —

एक—वे जिनमे एक लिपि-चिह्न एक शब्द का द्योतक होता है। यह चित्र लिपि का अवशेष है या प्रतिस्थानापन्न है।

दूसरी—वे, जो अक्षरात्मक हैं, तथा

तीसरी—वे जो वर्णात्मक हैं।

पर, ऐसा नही मान लेना चाहिये कि चित्रलिपि का उपयोग अब नहीं होता। अमरीका की एक आदिम जाति की चित्रलिपि का एक उदाहरण डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने अपने ग्रन्थ में दिया है—

चित्र लिपि (रेड इंडियन सरदार का संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति के नाम पत्र)

हमने यहाँ चित्र से चलकर ध्वनि-मूलक लिपियों तक के विकास की चर्चा अत्यंत संक्षेप में और अत्यन्त स्थूल रूप में की है, ऐसा हमने यह जानने के लिए किया है कि लिपि-विकास की कौन-कौनसी स्थितियाँ रही हैं और उनसे लिपि विकास के कौन-कौनसे स्थूल सिद्धान्तों का ज्ञान होता है। वस्तुत: पांडुलिपि-वैज्ञानिक के लिए लिपि-विकास को जानना केवल इसीलिए अपेक्षित है कि इससे विविध लिपियों से परिचित होने में और किसी भी लिपि के उद्घाटन में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सहायता मिल सकती है।

इस दृष्टि से कुछ और बातें भी जानने योग्य हैं। यथा, एक यह कि लिपियाँ सामान्यत: तीन रूपों में लिखी जाती हैं—(1) दायें से बायीं ओर-जैसे फारसी लिपि (2) बायें से दायी ओर जैसे, देवनागरी या रोमन, और (3) ऊपर से नीचे की ओर-यथा, 'चीनी' लिपि। किसी भी अज्ञात लिपि के उद्घाटन (decipher) या पठन के लिए यह जानना प्रथम आवश्यकता है कि वह लिपि दायें से बाये, बायें से दाये या ऊपर से नीचे की ओर लिखी गयी है। वस्तुत यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन काल मे मिस्र की चित्रलिपि में, और भारत की प्राचीन देवनागरी में हमे दाये से बाये और बायें से दायें दोनों रूपों मे लिखने के उदाहरण मिल जाते हैं, और एकाध ऐसे भी कि एक पंक्ति बायें से दायें और दूसरी दाये से बायें हो, पर आज यह द्वैत किसी भी लिपि मे शेष नही रह गया। हाँ, प्राचीनकाल की लिपि को पढ़ने के लिए लिपि के इस रूप को भी ध्यान मे रखना होगा।

अज्ञात लिपियों को पढ़ने (उद्घाटन) के प्रयास :

हम यह जानते हैं कि हिन्दी की वर्णमाला या लिपि का विकास अशोक कालीन लिपि से हुआ। आज भारत के पुरातत्त्व-वेत्ताओं में ऐसे लिपि-ज्ञाता है जो भारत मे प्राप्त सभी लिपियो को पढ़ सकते हैं। हाँ, 'सिन्धु-लिपि' अब भी अपवाद है। इसे पढ़ने के कितने ही प्रयत्न हुए हैं पर सभी सुझाव के या प्रस्ताव के रूप मे ही हैं। किन्तु एक समय ऐसा भी था कि प्राचीन लिपियो को पढ़ने वाला कोई था ही नही। फिरोजशाह तुगलक ने एक विशाल अशोक-स्तम्भ मेरठ से दिल्ली मगवाया कि उस पर खुदा लेख पढ़वाया जा सके। पर कोई उसे नही पढ़ सका। वह उसने एक भवन पर खडा कर दिया। इन स्तम्भो को कही-कही लालबुझक्कड़ लोग भीम का गिल्ली-डण्डा आदि भी बता देते थे। लिपियों के सम्बन्ध मे यह अन्धकार-युग था। फिर आधुनिक युग मे भारत की लिपियो को कैसे पढ़ा जा सका। इसका रोचक विवरण मुनि जिनविजय जी के शब्दो मे पढ़िये—

"इस प्रकार विभिन्न विद्वानों द्वारा भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तो विषयक ज्ञान प्राप्त हुआ और बहुत-सी वस्तुएं जानकारी मे आई परन्तु प्राचीन लिपियो का स्पष्ट ज्ञान अभी तक नही हो पाया था। अतः भारत के प्राचीन ऐतिहासिक ज्ञान पर अभी भी अन्धकार का आवरण ज्यों का त्यों पडा हुआ था। बहुत-से विद्वानों ने अनेक पुरातन सिक्कों और शिलालेखों का संग्रह तो अवश्य कर लिया था परन्तु प्राचीन लिपि-ज्ञान के अभाव में वे उस समय तक उसका कोई उपयोग न कर सके थे।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के प्रथम अध्याय का वास्तविक रूप मे आरम्भ 1837 ई० मे होता है। इस वर्ष मे एक नवीन नक्षत्र का उदय हुआ जिससे भारतीय पुरातत्त्व विद्या पर पड़ा हुआ पर्दा दूर हुआ। ऐशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के दिन से

1834 ई० तक पुरातत्त्व सम्बन्धी वास्तविक काम बहुत थोड़ा हो पाया था, उस समय तक केवल कुछ प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद ही होता रहा था। भारतीय इतिहास के एक मात्र सच्चे साधन रूप शिलालेखों सम्बन्धी कार्य तो उस समय तक नहीं के बराबर ही हुआ था। इसका कारण यह था कि प्राचीन लिपि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना अभी बाकी था।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि संस्कृत भाषा सीखने वाला पहला अंग्रेज चार्ल्स विल्किन्स् था और सबसे पहले शिलालेख की ओर ध्यान देने वाला भी वही था। उसी ने 1785 ई० मे दीनाजपुर जिले मे बदाल नामक स्थान के पास प्राप्त होने वाले स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख को पढ़ा था। यह लेख बगाल के राजा नारायणलाल के समय में लिखा गया था। उसी वर्ष मे, राधाकाँत शर्मा नामक एक भारतीय पण्डित ने टोमरा वाले दिल्ली के अशोक स्तम्भ पर खुदे हुए अजमेर के चौहान राजा अनलदेव के पुत्र बीसलदेव के तीन लेखों को पढ़ा। इनमें से एक लेख की भित्ति 'संवत् 1220 बैशाख सुदी 5' है। इन लेखों की लिपि बहुत पुरानी न होने के कारण सरलता से पढ़ी जा सकी थी। परन्तु उसी वर्ष जे० एच० हेरिंग्टन ने बुद्धगया के पास वाली नागार्जुनी और बराबर की गुफाओं में से मौखरी वंश के राजा अनन्त वर्मा के तीन लेख निकलवाये जो ऊपर वर्णित लेखों की अपेक्षा बहुत प्राचीन थे। इनकी लिपि बहुत अशो मे गुप्तकालीन लिपि से मिलती हुई होने के कारण उनका पढा जाना अति कठिन था। परन्तु, चार्ल्स विल्किन्स् ने चार वर्ष तक कठिन परिश्रम करके उन तीनों लेखो को पढ लिया और साथ ही उसने गुप्त लिपि की लगभग आधी वर्णमाला का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया।

गुप्तलिपि क्या है, इसका थोडा सा परिचय यहाँ करा देता हूँ। आजकल जिस लिपि को हम देवनागरी (अथवा बालबोध) लिपि कहते है उसका साधारणतया तीन अवस्थाओं मे से प्रसार हुआ है। वर्तमान काल मे प्रचलित आकृति से पहले की आकृति कुटिल लिपि के नाम से कही जाती थी। इस आकृति का समय साधारणतया ईस्वीय सन् की छठी शताब्दी से 10 वी शताब्दी तक माना जाता है। इससे पूर्व की आकृति गुप्त-लिपि के नाम से कही जाती है। सामान्यत. इसका समय गुप्त-वंश का राजत्वकाल गिना जाता है। अशोक के लेख इसी लिपि मे लिखे गये है। इसका समय ईसा पूर्व 500 से 350 ई० तक माना जाता है।

सन् 1818 ई० से 1823 ई० तक कर्नल जेम्स टॉड ने राजपूताना के इतिहास की शोध-खोज करते हुए राजपूताना और काठियावाड मे बहुत-से प्राचीन लेखो का पता लगाया। इनमे से सातवी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक के अनेक लेखो को तो उक्त कर्नल साहब के गुरु यति ज्ञानचन्द्र ने पढा था। इन लेखो का साराश अथवा अनुवाद टॉड साहब ने अपने 'राजस्थान'[1] नामक प्रसिद्ध इतिहास मे दिया है।

सन् 1828 ई० मे बी० जी० बेबिंग्टन ने मागलपुर के कितने ही संस्कृत और तामिल लेखों को पढ़कर उनकी वर्णमाला तैयार की। इसी प्रकार वाल्टर इलियट ने प्राचीन कनाडी अक्षरों का ज्ञान प्राप्त करके उसकी विस्तृत वर्णमाला प्रकाशित की।

ईस्वी सन् 1834 मे केप्टेन ट्रॉयर ने प्रयाग के अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण गुप्त-वंशी राजा समुद्रगुप्त के लेख का बहुत-सा अश पढ़ा और फिर उसी वश मे डॉ० मिले ने

1. इसका वास्तविक नाम है—एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान।

उस सम्पूर्ण लेख को पढ़कर 1837 ई० में भिटारी के स्तम्भ वाला स्कन्दगुप्त का लेख भी पढ़ लिया।

1835 ई० मे डब्ल्यू. एम. वॉथ ने वलभी के कितने ही दानपत्रों को पढ़ा।

1837-38 ई० मे जेम्स प्रिंसेप ने दिल्ली, कुमाऊँ और ऐरन के स्तम्भों एव अमरावती के स्तूपों तथा गिरनार के दरवाजो पर खुदे हुए गुप्तलिपि के बहुत-से लेखों को पढ़ा।

साँची-स्तूप के चन्द्रगुप्त वाले जिस महत्त्वपूर्ण लेख के सम्बन्ध मे प्रिंसेप ने 1834 ई० मे लिखा था कि ,'पुरातत्त्व के अभ्यासियो को अभी तक भी इस बात का पता नहीं चला है कि साँची के शिलालेखो मे क्या लिखा है।" उसी विशिष्ट लेख को यथार्थ अनुवाद सहित 1837 ई० में प्रयुक्त करने मे वही प्रिंसेप साहब सम्पूर्णतः सफल हुए।

अब, बहुत-सी लिपियों की आदि जननी ब्राह्मी-लिपि की बारी आयी। गुप्तलिपि से भी अधिक प्राचीन होने के कारण इस लिपि को एकदम समझ लेना कठिन था। इस लिपि के दर्शन तो शोधकर्त्ताओं को 1795 ई० मे ही हो गये थे। उसी वर्ष सर चार्ल्स मैलेट ने एलोरा की गुफाओं के कितने ही ब्राह्मी लेखो की नकले सर विलियम जेम्स के पास भेजी। उन्होंने इन नकलो को मेजर विल्फोर्ड के पास, जो उस समय काशी मे थे, इसलिए भेजा कि वे इनको अपनी तरफ से किसी पण्डित द्वारा पढवावे। पहले तो उनको पढने वाला कोई पण्डित नही मिला, परन्तु फिर एक चालाक ब्राह्मण ने कितनी ही प्राचीन लिपियों की एक कृत्रिम पुस्तक बेचारे जिज्ञासु मेजर साहब को दिखलाई और उन्ही के आधार पर उन लेखो को गलत-सलत पढ़कर खूब दक्षिणा प्राप्त की। विल्फोर्ड साहब ने उस ब्राह्मण द्वारा कल्पित रीति से पढे हुए उन लेखो पर पूर्ण विश्वास किया और उसके समझाने के अनुसार ही उनका अंग्रेजी मे भाषान्तर करके सर जेम्स के पास भेज दिया। इस सम्बन्ध मे मेजर विल्फोर्ड ने सर जेम्स को जो पत्र भेजा उसमे बहुत उत्सुकतापूर्वक लिखा है कि "इस पत्र के साथ कुछ लेखो की नकलें उनके साराश सहित भेज रहा हूँ। पहले तो मैंने इन लेखो के पढ़े जाने की आशा बिल्कुल ही छोड दी थी, क्योकि हिन्दुस्तान के इस भाग मे (बनारस की तरफ) पुराने लेख नही मिलते है, इसलिए उनके पढ़ने की कला मे बुद्धि का प्रयोग करने अथवा उनकी शोध-खोज करने की आवश्यकता ही नही पडती। यह सबकुछ होते हुए भी और मेरे बहुत-से प्रयत्न निष्फल चले जाने पर भी अन्त मे सौभाग्य से मुझे एक वृद्ध गुरु मिल गया जिसने इन लेखो को पढ़ने की कुञ्जी बताई और प्राचीनकाल मे भारत के विभिन्न भागो मे जो लिपियाँ प्रचलित थी उनके विषय मे एक सस्कृत पुस्तक मेरे पास लाया। निस्सन्देह, यह एक सौभाग्य सूचक शोध हुई है जो हमारे लिए भविष्य मे बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।" मेजर विल्फोर्ड की इस 'शोध' के विषय मे बहुत वर्षों तक किसी को कोई सन्देह नही हुआ क्योंकि सन् 1820 ई० में खंडगिरि के द्वार पर इसी लिपि मे लिखे हुए लेख के सम्बन्ध मे स्टर्लिंग ने लिखा है कि "मेजर विल्फोर्ड ने प्राचीन लेखो को पढने की कुञ्जी एक विद्वान ब्राह्मण से प्राप्त की और उनकी विद्वत्ता एव बुद्धि से इलोरा व शालेसेट के इसी लिपि मे लिखे हुए लेखों के कुछ भाग पढ़े गये। इसके पश्चात् दिल्ली तथा अन्य स्थानो के ऐसे ही लेखो को पढ़ने में उस कुञ्जी का कोई उपयोग नहीं हुआ, यह शोचनीय है।"

सन् 1833 ई० मे मि० प्रिन्सेप ने सही कुञ्जी निकाली। इससे लगभग एक वर्ष

पूर्व उन्होंने भी मेजर विल्फोर्ड की कुञ्जी का उपयोग न करने की बाबत दुःख प्रकट किया था। एक शोधकर्त्ता जिज्ञासु विद्वान को ऐसी बात पर दुःख होना स्वाभाविक भी है। परन्तु उस विद्वान ब्राह्मण की बताई हुई कुञ्जी का अधिक उपयोग नहीं हुआ, इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योंकि जिस प्रकार शोध-खोज के दूसरे कामों मे मेजर विल्फोर्ड की श्रद्धा का श्राद्ध करने वाले चालाक ब्राह्मण के धोखे मे वे आ गये इसी प्रकार इस विषय मे भी वही बात हुई। कुछ भी हुआ हो, यह तो निश्चित है कि मेजर विल्फोर्ड के नाम से कहलाने वाली सम्पूर्ण खोज भ्रमपूर्ण थी। क्योंकि उनका पढ़ा हुआ लेख-पाठ कल्पित था और तदनुसार उसका अनुवाद भी वैसा ही निर्मूल था—युधिष्ठिर और पाण्डवो के वनवास एवं निर्जन जंगलो मे परिभ्रमण की गाथाओ को लेकर ऐसा गडबड़-घोटाला किया गया है कि कुछ समझ मे नही आता। उस धूर्त ब्राह्मण के बताए हुए ऊटपटाँग अर्थ का अनुसधान करने के लिए विल्फोर्ड ने ऐसी कल्पना कर ली थी कि पाण्डव अपने वनवासकाल मे किसी भी मनुष्य के संसर्ग मे न आने के लिए वचनबद्ध थे। इसलिए विदुर, व्यास आदि उनके स्नेही सम्बन्धियों ने उनको सावधान करने की सूचना देते रहने के लिए ऐसी योजना की थी कि वे जंगलों में, पत्थरों और शिलाओं (चट्टानो) पर थोड़े-थोड़े और साधारणतया समझ मे न आने योग्य वाक्य पहले ही से निश्चित की हुई लिपि मे संकेत रूप से लिख-लिख कर अपना उद्देश्य पूरा करते रहते थे। अंग्रेज लोग अपने को बहुत बुद्धिमान मानते है और हसते-हंसते दुनियाँ के दूसरे लोगों को ठगने की कला उनको याद है परन्तु वे भी एक बार तो भारतवर्ष की स्वर्गपुरी मानी जाने वाली काशी के 'वृद्ध गुरु' के जाल मे फँस ही गये, अस्तु।[1]

एशियाटिक सोसाइटी के पास दिल्लो और इलाहाबाद के स्तम्भो तथा खण्डगिरी के दरवाजो पर के लेखो की नकले एकत्रित थीं, परन्तु विल्फोर्ड साहब की 'शोध' निष्फल चली जाने के कारण कितने ही वर्षों तक उनके पढ़ने का कोई प्रयत्न नही हुआ। इन लेखो के मर्म को जानने की उत्कट जिज्ञासा को लिए हुए मिस्टर जेम्स प्रिंसेप ने 1834-45 ई० मे इलाहाबाद, रधिया और मथिआ के स्तम्भो पर उत्कीर्ण लेखो की छापे मगवायी और उनको दिल्ली के लेख के साथ रखकर यह जानने का प्रयत्न किया कि उनमे कोई शब्द एक सरीखा है या नही। इस प्रकार उन चारो लेखों को पास-पास रखने से उनको तुरन्त ज्ञात हो गया कि ये चारों लेख एक ही प्रकार के हैं। इससे प्रिंसेप का उत्साह बढ़ा और उनकी जिज्ञासा पूर्ण होने की आशा बँध गई। इसके पश्चात् उन्होंने इलाहाबाद स्तम्भ के लेख के भिन्न-भिन्न आकृति वाले अक्षरो को अलग-अलग छाँट लिया। इससे उनको यह बात मालूम हो गयी कि गुप्त लिपि के अक्षरो की भाँति इसमे भी कितने ही अक्षरो के साथ स्वरों की मात्राओ के भिन्न-भिन्न पाँच चिह्न लगे हुए हैं। इसके बाद उन्होने पाँचो चिह्नों को

1 ऐसी ही एक घटना इतिहास में नैपोलियन के समय मे हुई थी। उस समय मिस्री फराऊनो की लिपि पढ़ने के प्रयास हो रहे थे। फ्रान्स में शापोंलियो नाम का विद्वान इस लिपि के 'उद्घाटन मे संलग्न थे। इसी समय शापोलियो की एक पुस्तक मिली जिसके लेखक ने यह दावा किया था कि उसने लिपि पढ़ने की कुञ्जी ढूंढ ली है। पर वह कुञ्जी भी ठीक ऐसी ही काल्पनिक और निराधार थी जैसी काशी में 'वृद्ध गुरु' ने भारतीय लिपियो के लिए निकाली थी। शापोलियो ने उसकी पोल तत्काल खोल दी थी अतः वहाँ वह छल इतने समय तक नही चल सका जितने समय तक भारत में चला।

एकत्रित करके प्रकट किया। इससे कितने ही विद्वानो का इन अक्षरो के यूनानी अक्षर होने सम्बन्धी भ्रम दूर हो गया।

अशोक के लेखो की लिपि को देखकर साधारणतया अंग्रेजी अथवा ग्रीक लिपि की भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। टॉम कोरिएट नामक यात्री ने अशोक के दिल्ली वाले स्तम्भ-लेख को देखकर एल. व्हीटर को एक पत्र मे लिखा था कि "मैं इस देश के दिल्ली नामक नगर में आया हूँ कि जहाँ पहले अलेक्जेण्डर ने हिन्दुस्तान के पोरस नामक राजा को हराया था और अपनी विजय की स्मृति मे एक विशाल स्तम्भ खडा किया था जो आज भी यहाँ पर मौजूद है।" पादरी एडवर्ड टेरी ने लिखा है कि "टॉम कोरिएट ने मुझे कहा था कि उसने दिल्ली मे ग्रीक लेख वाला एक स्तम्भ देखा था जो अलेक्जेण्डर महान् की स्मृति में वहाँ पर खडा किया गया था।" इस प्रकार दूसरे भी कितने ही लेखकों ने इस लेख को ग्रीक लेख ही माना था।

उपर्युक्त प्रकार से स्वर-चिह्नो को पहचान लेने के बाद मि० जेम्स प्रिंसेप ने अक्षरो के पहचानने का उद्योग आरम्भ किया। उन्होंने पहले प्रत्येक अक्षर को गुप्त लिपि के अक्षरो के साथ मिलाने और मिलते हुए अक्षरो को वर्णमाला मे शामिल करने का क्रम अपनाया। इस रीति से बहुत-से अक्षर उनकी जानकारी मे आ गये।

पादरी जेम्स स्टीवेन्सन् ने भी प्रिंसेप साहब की तरह इसी शोधन में अनुरक्त होकर 'क' 'ज' 'थ' 'प' और 'व' अक्षरो को पहचाना और इन्ही अक्षरो की सहायता से पूरे लेखो को पढकर उनका अनुवाद करने का मनोरथ किया, परन्तु कुछ तो अक्षरो की पहचान मे भूल होने के कारण, कुछ वर्णमाला की अपूर्णता के कारण और कुछ इन लेखो की भाषा को संस्कृत समझ लेने के कारण यह उद्योग पूरा-पूरा सफल नही हुआ। फिर भी प्रिंसेप को इससे कोई निराशा नही हुई। सन् 1835 ई० मे प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ प्रो० लॉसेन ने एक ऑस्ट्रियन ग्रीक सिक्के पर इन्ही अक्षरों में लिखा हुआ अँ गँ थाँ किलस का नाम पढ़ा। परन्तु 1837 ई० के आरम्भ में मि० प्रिंसेप ने अपनी अलौकिक स्फुरणा द्वारा एक छोटा-सा 'दान' शब्द-शोध निकाला जिससे इस विषय की बहुत-सी ग्रन्थियाँ एकदम सुलझ गई। इसका विवरण इस प्रकार है। ई० स० 1837 मे प्रिंसेप ने साँची स्तूप आदि पर खुदे हुए कितने ही छोटे-छोटे लेखों की छापों को एकत्रित करके देखा तो बहुत-से लेखो के अन्त मे दो अक्षर एक ही सरीखे जान पडे और उनके पहले 'स' अक्षर दिखाई पडा जिसको प्राकृत भाषा की छठी विभक्ति का प्रत्यय (सम्कृत 'स्य' के बदले) मानकर यह अनुमान किया कि भिन्न-भिन्न लेख भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा किये हुए दानो के सूचक जान पडते है। फिर उन एक सरीखे दिखने वाले और पहचान मे न आने वाले दो अक्षरों मे से पहले के साथ 'ा' (आ की मात्रा) और दूसरे के साथ '˚' (अनुस्वार चिह्न) लगा हुआ होने से उन्होने निश्चय किया कि यह शब्द 'दान' होना चाहिये। इस अनुमान के अनुसार 'द' और 'न' की पहचान होने से ब्राह्मी वर्णमाला पूरी हो गयी और उसके आधार पर दिल्ली, इलाहाबाद, साँची, मेथिया, रधिया, गिरनार, धौरमी आदि स्थानो से प्राप्त अशोक के विशिष्ट लेख सरलतापूर्वक पढ लिये गये। इससे यह भी निश्चित हो गया कि इन लेखों की भाषा, जैसा कि अब तक बहुत-से लोग मान रहे थे, संस्कृत नहीं है वरन् तत्स्थानो मे प्रचलित देश-भाषा थी (जो साधारणतया उस समय प्राकृत नाम से विख्यात थी)।

इस प्रकार ब्राह्मी लिपि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ और उसके योग से भारत के

प्राचीन से प्राचीनतम लेखों को पढ़ने में पूरी सफलता मिली ।

अब, उतनी ही पुरानी दूसरी लिपि की शोध का विवरण दिया जाता है। इस लिपि का ज्ञान भी प्रायः उसी समय में प्राप्त हुआ था। इसका नाम खरोष्ठी लिपि है। खरोष्ठी लिपि आर्य लिपि नहीं है अर्थात् अनार्य लिपि है यह। सेमेटिक लिपि के कुटुम्ब की अरमेइक् लिपि से निकली हुई मानी जाती है। इस लिपि को लिखने की पद्धति फारसी लिपि के समान है अर्थात् यह दाँयें हाथ से बाँयी ओर को लिखी जाती है। यह लिपि ईसा से पूर्व तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में केवल पंजाब के कुछ भागो मे ही प्रचलित थी। शहाबाजगढ़ी और मन्सोरा के दरवाजों पर अशोक के लेख इसी लिपि मे उत्कीर्ण हुए हैं। इसके अतिरिक्त शक, क्षत्रप, पार्थिअन् और कुषाणवंशी राजाओ के समय के कितने बौद्ध लेखों तथा बाक्ट्रिअन, ग्रीक, शक, क्षत्रप आदि राजवंशों के कितने ही सिक्कों मे यही लिपि उत्कीर्ण हुई मिलती है। इसलिए भारतीय पुरातत्त्वज्ञों को इस लिपि के ज्ञान की विशेष आवश्यकता थी।

कर्नल जेम्स टॉड ने बाक्ट्रिअन्, ग्रीक, शक, पार्थिअन् और कुषाणवंशी राजाओ के सिक्को का एक बडा सग्रह किया था। इन सिक्कों पर एक ओर ग्रीक और दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षर लिखे हुए थे। सन् 1830 ई० मे जनरल वेंटुरॉ ने मानिकिआल स्तूप को खुदवाया तो उसमे से खरोष्ठी लिपि के कितने ही सिक्के और दो लेख प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त अलेक्जेण्डर, बर्न्स आदि प्राचीन शोधको ने भी ऐसे अनेक सिक्के इकट्ठे किये थे जिनमें एक ओर के ग्रीक अक्षर तो पढ़े जा सकते थे परन्तु दूसरी ओर के खरोष्ठी अक्षरों के पढे जाने का कोई साधन नहीं था। इन अक्षरो के विषय मे भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ होने लगी। सन् 1824 ई० मे कर्नल टॉड ने कड्फिसेस् के सिक्के पर खुदे इन अक्षरो को ससेनिअन्' अक्षर बतलाया। 1833 ई० मे अपोलोडोट्स के सिक्के पर इन्ही अक्षरो को प्रिंसेप ने 'पहलवी' अक्षर माना। इसी प्रकार एक दूसरे सिक्के की इसी लिपि तथा मानिकिआल के लेख की लिपि को उन्होंने ब्राह्मी लिपि मान लिया और इसकी आकृति कुछ टेढ़ी होने के कारण अनुमान लगाया कि जिस प्रकार छपी हुई और बही मे लिखी हुई गुजराती लिपि मे अन्तर है उसी प्रकार अशोक के दिल्ली आदि के स्तम्भो वाली और इस लिपि मे अन्तर है। परन्तु बाद मे स्वय प्रिंसेप ही इस अनुमान को अनुचित मानने लगे। सन् 1834 ई० मे केप्टन कोर्ट को एक स्तूप मे से इसी लिपि का एक लेख मिला जिसको देखकर प्रिंसेप ने फिर इन अक्षरों के विषय मे 'पहलवी' होने की कल्पना की। परन्तु उसी वर्ष मे मिस्टर मेसन नामक शोधकर्त्ता विद्वान ने अनेक ऐसे सिक्के प्राप्त किये जिन पर खरोष्ठी और ग्रीक दोनों लिपियो मे राजाओ के नाम अंकित थे। मेसन साहब ने ही सबसे पहले मिनेन्ड्रो, अपोलडोटो, अरमाइओ, वासिलिओ और सोट्रो आदि नामो को पढा था, परन्तु, यह उनकी कल्पना मात्र थी। उन्होने इन नामो को प्रिंसेप साहब के पास भेजा। इस कल्पना को सत्य का रूप देने का यश प्रिंसेप के ही भाग्य मे लिखा था। उन्होंने मेसन साहब के सकेतो के अनुसार सिक्को को बाँचना आरम्भ किया तो उनमें से बारह राजाओ और सात पदवियों के नाम पढ़ निकाले।

इस प्रकार खरोष्ठी लिपि के बहुत-से अक्षरों का बोध हुआ और साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि यह लिपि दाहिनी ओर से बायी ओर पढ़ी जाती है। इससे यह भी निश्चय हुआ कि यह लिपि सेमेटिक वर्ग की है, परन्तु इसके साथ ही इसकी भाषा को, जो वास्तव

मे ब्राह्मी लेखों की भाषा के समान प्राकृत है, पहलवी मान लेने की भूल हुई। इस प्रकार ग्रीक लेखों की सहायता से खरोष्ठी लिपि के बहुत-से अक्षरो की तो जानकारी हुई परन्तु भाषा के विषय में भ्रान्ति होने के कारण पहलवी के नियमों को ध्यान मे रखकर पढ़ने से अक्षरो का पहचानने मे अशुद्धता आने लगी जिससे थोड़े समय तक इस कार्य मे अड़चन पड़ती रही। परन्तु 1838 ई० मे दो बाक्ट्रिअन् ग्रीक सिक्को पर पालि लेखो को देखकर दूसरे सिक्को की भाषा भी यही होगी, यह मानते हुए उसी के नियमानुसार उन लेखों को पढ़ने से प्रिंसेप का काम आगे चला और उन्होने एकसाथ 17 अक्षरो को खोज निकाला। प्रिंसेप की तरह मिस्टर नॉरिस ने भी इस विषय मे कितना ही काम किया और इस लिपि के 7 नये अक्षरो की शोध की। बाकी के थोडे से अक्षरो को जनरल कनिंघम ने पहचान लिया और इस प्रकार खरोष्ठी की सम्पूर्ण वर्णमाला तैयार हो गई।

यह भारतवर्ष की पुरानी से पुरानी लिपियो के ज्ञान प्राप्त करने का संक्षिप्त इतिहास है। उपर्युक्त वर्णन से विदित होगा कि लिपि-विषयक शोध मे मिस्टर प्रिंसेप ने बहुत काम किया है। एशियाटिक सोसाइटी की ओर से प्रकाशित 'सैन्टनरी रिव्यू' नामक पुस्तक मे 'एन्श्यण्ट इण्डिअन अलफाबेट' शीर्षक लेख के आरम्भ मे इस विषय पर डॉ० हॉर्नली लिखते है कि—

"सोसाइटी का प्राचीन शिलालेखो को पढ़ने और उनका भाषान्तर करने का अत्युपयोगी कार्य 1834 ई० से 1839 ई० तक चला। इस कार्य के साथ सोसाइटी के तत्कालीन सेक्रेटरी, मि० प्रिंसेप का नाम, सदा के लिए संलग्न रहेगा, क्योंकि भारत-विषसक प्राचीन-लेखनकला, भाषा और इतिहास सम्बन्धी हमारे अर्वाचीन ज्ञान की आधारभूत इतनी बडी शोध-खोज इसी एक व्यक्ति के पुरुषार्थ से इतने थोडे समय में हो सकी।"

प्रिंसेप के बाद लगभग तीस वर्ष तक पुरातत्व सशोधन का सूत्र जेम्स फर्ग्युसन, मॉर्खम किट्टो, एडवर्ड टॉमस, अलेक्जेण्डर कनिंघम, वाल्टर इलियट, मेडोज टेलर, स्टीवेन्सन्, डॉ० भाउदाजी आदि के हाथो मे रहा। इनमे से पहले चार विद्वानो ने उत्तर हिन्दुस्तान मे, इलियट साहब ने दक्षिण भारत मे और पिछले तीन विद्वानो ने पश्चिमी भारत में काम किया। फर्ग्युसन साहब ने पुरातन वास्तु-विद्या (Architecture) का ज्ञान प्राप्त करने मे बडा परिश्रम किया और उन्होने इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इस विषय का उनका अभ्यास इतना बढ़ा-चढ़ा था कि किसी भी इमारत को केवल देखकर वे सहज ही मे उसका समय निश्चित कर देते थे। मेजर किट्टो बहुत विद्वान तो नहीं थे परन्तु उनकी शोधक बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। जहाँ अन्य अनेक विद्वानो को कुछ जान न पड़ता था वहाँ वे अपनी गिद्ध जैसी पैनी दृष्टि से कितनी ही बाते खोज निकालते थे। चित्रकला मे वे बहुत निपुण थे। कितने ही स्थानो के चित्र उन्होंने अपने हाथ से बनाए थे और प्रकाशित किए थे। उनकी शिल्पकला विषयक इस गम्भीर कुशलता को देखकर सरकार ने उनको बनारस के सस्कृत कॉलिज का भवन बनवाने का काम सौपा। इस कार्य मे उन्होने बहुत परिश्रम किया जिससे उनका स्वास्थ्य गिर गया और अन्त में इंगलैण्ड जाकर वे स्वर्गस्थ हुए। टॉमस साहब ने अपना विशेष ध्यान सिक्को और शिलालेखों पर दिया। उन्होने अत्यन्त परिश्रम करके ई० सं० पूर्व 246 से 1554 ई० तक के लगभग 1800 वर्षों के प्राचीन इतिहास की शोध की। जनरल कनिंघम ने प्रिंसेप का अवशिष्ट

कार्य हाथ में लिया। उन्होंने ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। इलियट साहब ने कर्नल मेकेन्जी के संग्रह का संशोधन और संवर्द्धन किया। दक्षिण के चालुक्य-वंश का विस्तृत ज्ञान सर्वप्रथम उन्होंने लोगों के सामने प्रस्तुत किया। टेलर साहब ने भारत की मूर्ति-निर्माण-विद्या का अध्ययन किया और स्टीवेन्सन् ने सिक्कों की शोध-खोज की। पुरातत्त्व-सशोधन के कार्य में प्रवीणता प्राप्त करने वाले प्रथम भारतीय विद्वान् डॉक्टर भाउदाजी थे। उन्होने अनेक शिलालेखों को पढ़ा और भारत के प्राचीन इतिहास के ज्ञान में खूब वृद्धि की। इस विषय मे दूसरे नामांकित भारतीय विद्वान् काठियावाड निवासी पण्डित भगवानलाल इन्द्रजी का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने पश्चिम भारत के इतिहास में अमूल्य वृद्धि की है। उन्होने अनेक शिलालेखों और ताम्रपत्रों को पढ़ा है परन्तु उनके कार्य का सच्चा स्मारक तो उनके द्वारा उड़ीसा के खण्डगिरि-उदयगिरि वाली हाथी-गुफा मे सम्राट खारवेल के लेखो को शुद्ध रूप से पढ़ा जाना ही है। बंगाल के विद्वान् डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र का नाम भी इस विषय मे विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य है। उन्होने नेपाल के साहित्य का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया है।"[1]

इस विवरण से एक चित्र तो काशी के पण्डित का उभरता है, जिसने अपने कौशल से मिथ्या कुञ्जी प्राचीन लिपि को पढ़ने के लिए प्रस्तुत की और वह भी ऐसी कि पहले उस पर सभी को विश्वास हो गया।

दूसरा चित्र उभरता है उस मुद्रा का जो अफगानिस्तान मे मिली और उसके सम्बन्ध मे यह धारणा बना ली गई कि इसकी भाषा पहलवी है और लिपि ऐसी होगी जो दाये से बाये लिखी जाती होगी। फलत यह बहुत आवश्यक है कि पहले भाषा का निर्धारण किया जाय, फिर लिपि-लेखन की प्रवृत्ति का भी। क्योंकि उसकी लिपि वस्तुतः खरोष्ठी थी और उसकी भाषा पालि पहलवी का पीछा विद्वानो ने तब छोड़ा जब 1838 ई० मे दो बाक्ट्रीयन ग्रीक सिक्को पर पाली लेखो को देखा।

एक तीसरा चित्र यह उभरता है कि मात्र वर्णों की आकृति से लिपि किस भाषा की है यह नही कहा जा सकता। इसके लिए टॉम कोरिएट नामक यात्री की भ्रान्ति का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अशोक-लिपि की ग्रीक-लिपि से समानता देखकर उसने उसे ग्रीक लेख समझ लिया था।

वस्तुतः लिपि के अनुसन्धान मे वही वैज्ञानिक प्रक्रिया काम करती है जिसमे ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ा जाता है। इसी आधार पर बदाल स्तम्भ का लेख एवं टोपरा वाले दिल्ली के अशोक स्तम्भ पर बीसलदेव के तीन लेख पढे गये। इससे जो प्राचीन लेख थे उनको पढने में बहुत कठिनाई और परिश्रम हुआ क्योंकि उनके निकट की ज्ञात लिपियाँ थी ही नही। अब यहाँ पर प्रिंसेप महोदय ने अनुसन्धान की विशेष सूझ-बूझ का परिचय दिया। उन्होने साँची स्तूप आदि पर खुदे हुए कितनी ही छापो को तुलनापूर्वक देखा। इन सबमें उन्हे दो अक्षर समान मिले और अनुमान लगाया कि दो अक्षरो वाला शब्द दान हो सकता है और इस अनुमान के आधार पर 'द' और 'न' अक्षरों का निर्धारण हुआ और इस प्रकार ब्राह्मी लिपि का उद्घाटन हो सका। स्पष्ट है कि इस प्रकार लिपि की गाँठ खोलने के लिए तुलना भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है।

1. मुनि जिन विजयजी--पुरातत्त्व संशोधन का पूर्व इतिहास-स्वाहा, वर्ष 1 अंक 2-3, पृ० 27-34।

यह तो ब्राह्मी लिपि को पढ़े जाने के प्रयत्नों की चर्चा हुई। अब अनुसन्धानकर्त्ताओं में और विद्वानों में अनुसन्धान-विषयक वैज्ञानिक प्रवृत्ति खूब मिलती है, फिर भी, लिपि विषयक कुछ कठिन समस्याएँ आज भी बनी हुई हैं। भारतवर्ष में सिन्धुघाटी की लिपि का रहस्य अभी भी नहीं खुला है। अनेक प्रकार के प्रयत्न हुए हैं, किन्तु, जितने प्रयत्न हुए हैं उतनी ही समस्या उलझी हैं। इसी प्रकार और भी विश्व की कई लिपियाँ हैं जिनका पूरा रहस्य नहीं खुला। तो प्रश्न यह है कि यदि कोई एकदम ऐसी लिपि सामने आ जाय जिसके सम्बन्ध मे आगे पीछे कोई सहायक परम्परा न मिलती हो तो क्या किया जाय? इस सम्बन्ध मे डॉ० पी. बी. पण्डित का 'हिन्दुस्तान टाइम्स वीकली' (रविवार, मार्च, 1969) में प्रकाशित 'क्रैकिंग द कोड' (Cracking the Code) उन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है जिनसे ऐसी लिपि को समझा जा सके जिसकी न तो लेखन प्रणाली का और न उसमे लिखे कथ्य का ज्ञान हो। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसी लिपि की कुंजी पाने मे अनेक कठिनाइयाँ हो सकती हैं। वे कठिनाइयाँ भी ऐसी हो सकती हैं जिन पर पार पाना असम्भव हो। फिर भी, उनके सुझाव हैं कि पहले तो ये निर्धारित किया जाना चाहिए कि जो विविध चिह्न और रेखांकन मिले हैं क्या वे भाषा को व्यक्त करते हैं। यदि यह माना जाय कि वे चिह्न भाषा की लिपि के ही हैं तो प्रश्न यह खड़ा होता है कि यह किस प्रकार की लेखन प्रणाली है। अर्थात् क्या यह लेखन प्रणाली चित्रात्मक है अथवा शब्दात्मक (logographic) है या वर्णात्मक (alphabetic)। यद्यपि आज कुछ लिपियाँ अक्षरात्मक (Syllabic) भी हैं पर यह अक्षरता (Syllable) वर्ण से ही जुड़ी मिलती हैं, क्योंकि दोनो ही ध्वनिमूलक हैं।

चित्रलिपि शब्दलिपि मे तभी परिणत होती है जब एक चित्र कई भावो या वस्तुओं का अर्थ देने लगता है। तब एक चित्राकार या चित्रलिपि का एक-एक चित्र एक उच्चरित शब्द (logo) का स्थान ले लेता है। डॉ० पण्डित ने अंग्रेजी का स्टार शब्द लिया है। 'स्टार' का चित्र जब तक केवल स्टार का ही ज्ञान कराता है तब तक वह चित्रलिपि का अंश है। इसके बाद 'स्टार' का उपयोग केवल तारे के लिए ही नहीं, आकाश के द्युतिमान सभी तारो और तारिकाओं के लिए होने लगता है या उसका अर्थ चमकदार या शिरोमणि वस्तुओं के लिए होने लगे तो वह भावचित्रलिपि (ideograph) का रूप ग्रहण कर लेता है। अब यदि 'स्टार' की चित्राकृति और उसकी चित्रलिपि और भाव-चित्रलिपि को कोई शब्द मिल गया है—जैसे स्टार, तब यह शब्द हो गया। भावलिपि का एक अंग होकर अब उसने चित्र रूप के साथ शब्द रूप मे भी सम्बद्धता प्राप्त कर ली, यही इस शब्द-ध्वनि की लिपि या शब्दमूलक चित्रलिपि (logograph) कहलाती है।[1]

अब शब्द का अर्थ अपने ध्वनि-चित्र से किसी सीमा तक स्वतन्त्र हो चला क्योंकि 'शुद्ध स्टार ध्वनि' के लिए तो उसका ध्वनि-चित्र आयेगा ही, सम्भवतः 'स्टार' की समवर्ती

1. 'Histories of writing system indicate that the Pictorial scripts develop into logographic scripts where a picture gets a phonetic value corresponding to its pronunciation : then it can be used for all other items which have similar pronunciation.'
(Pandit, P B. (Dr.)—Cracking the Code—Hindustan Times Weekly, Sunday, March 30, 1969)

ध्वनि 'स्टार' के लिए भी प्रयोग में आ सकेगा और परसर्ग रूप में गैंग्स्टर (gangster) में गैंग के साथ भी जुड़ जायेगा।

अब स्थिति यह हो गयी कि—

वस्तु → वस्तु-चित्र → चित्रलिपि → भावचित्रलिपि → चित्र शब्दित → शब्दात्मक चित्र → शब्द-प्रतीक → ध्वनिवर्ती शब्द-प्रतीक।

ध्वनिवर्ती शब्द-प्रतीक वाली लिपि में शब्दों की ध्वनि से उनमें 'मोरफीम' का ज्ञान होने लगता है तथा इन मारफीमों के अनुसार लिपि-प्रतीकों मे विकार हो जाता है। यहाँ आकर वह प्रक्रिया जग उठती है जो शब्द प्रतीकों की ध्वनिमूलक वर्णमाला की ओर जाने मे प्रवृत करती है। 'स्टार' में एक मोरफीम है अतः शब्द-प्रतीक ज्यो का त्यों रहेगा। पर बहुवचन 'स्टार्स' मे 'स' मोरफीम बढा, अतः कोई विकार 'स्टार' मारफीम में 'स' का द्योतन करने के लिए बढाना पड़ेगा। 'स' यहाँ मारफीम भी है और एक वर्णात्मक अकेली ध्वनि भी। ऐ-ली-फेंट मे तीन मोरफीम है अतः शब्दलिपि भी तीन योग दिखाने लगेगी। इसीलिए इस अवस्था पर पहुँच कर ध्वनिवर्ती शब्द-प्रतीक, प्रतीक मे ध्वनि-द्योतक चिह्नो को नियोजित करने का प्रयत्न करेगा—ध्वनिवर्ती शब्द-प्रतीक → ध्वनिवर्ती शब्द प्रतीक-गत ध्वनि-प्रतीक → ध्वनि-प्रतीक अक्षर → ध्वनि-प्रतीक वर्ण। चित्रलिपि से वर्णात्मक लिपि तक के विकास का यह क्रम सम्भावित है और स्थूल है।

विद्वानों ने Pictorial Art से Pictograph, Pictograph से Ideograph, Ideograph से logograph तक का विकास तो स्थूलतः ठीक अथवा सहज माना है। उससे आगे ध्वनि की ओर लिपि का सक्रमण उतना स्वाभाविक नहीं। कुछ विद्वानो की राय मे यह सम्भव भी नही।

पांडुलिपि विज्ञान की दृष्टि से तो वे प्रक्रियाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं, जिनसे ये विकार होते है और लिपि का विकास होता है। यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि हमने विकास-प्रक्रिया मे जहाँ → (तीर) दिया है, वहाँ बीच मे और भी कई विकास-चरण हो सकते हैं। मोहनजोदड़ो की-सी स्थिति भी हो सकती है जिसमे चित्रलिपि और ध्वनिलिपि दोनो ही प्रयुक्त हो। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जब 'स्टार' से 'स्टार्स' तक भाषा पहुँचती है, तब 'एक और बहुत' का भेद करने की शक्ति उसमे आ जाती है। साथ ही शब्दो मे चिह्नो द्वारा अन्य सम्बन्धो को बताने की क्षमता भी आ जानी चाहिये। व्यंजन और स्वरों के भेद अक्षरात्मक लिपि मे प्रस्तुत होने लगने हैं।

शब्द चिह्नों से व्याकरण-सम्बन्धों को जानने के लिए डॉ० पण्डित का निम्न उद्धरण एक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है :

सम्भवतः एक या अधिक मोरफीमो (morphemes) से बने शब्द संकेत-चिह्नों की संख्याओं के आधार पर सबसे अधिक प्रयुक्त समुच्चय हैं। कोई चाहे तो प्रत्यय उपसर्ग-परसर्ग आदि को भी उनके स्थान और वितरण के आवर्तन से ढूंढ सकता है। मान लीजिए नीचे दिये सोलह वाक्यो मे से वर्णमाला का प्रत्येक वर्ण एक मोरफीम है तो इस भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध मे कोई क्या बता सकता है (तब भी जबकि वाक्यो के अर्थ विदित

नहीं है) ।[1]

1	AXZ	2	AXYZ	3	BX	4	CZ
5	CYZ	6	DX	7	EX	8	FZ
9	GZ	10	A	11	B	12	C
13	D	14	E	15	F	16	G

यह कहा जा सकता है कि A B C D E F G तो नाम धातुये है XYZ परसर्ग है। XYZ का स्थानगत मूल्य ऐसा है कि वे अपने-अपने निजी क्रम को सुरक्षित रखते हैं। अन्त में Z आता है और Y X के बाद आती है। X धातु नाम के तुरन्त बाद आता है।[2]

तात्पर्य यह है कि उपलब्ध सामग्री का इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिये जिससे कि यह विदित हो सके कि कितने चिह्न स्वतन्त्र रूप से भी प्रयोग मे आये और कितने चिह्न ऐसे हैं जो किसी न किसी अन्य चिह्न से जुडकर आये हैं—और ये ऐसे चिह्नों से जुडे मिलते हैं, जो बिना किसी चिह्न के भी प्रयुक्त हुए हैं। इससे यह अनुमान होता है कि जो चिह्न स्वतन्त्र रूप से आये हैं वे 'Stems', संज्ञानाम या क्रियानाम है और जो इनसे जुडकर आते हैं वे उपसर्ग-प्रत्यय हैं। उसी लिपि के चिह्नों की पारस्परिक तुलना से वाक्य के रूप का अनुमान लगाया जा सकता है।

किन्तु इससे भाषा का उद्भव नही हो सकता, न लिपि के चिह्नों के सम्बन्ध मे ही कहा जा सकता है कि वे क्या शब्द है, या किस ध्वनि के प्रतीक हैं। प्रिंसेप ने ब्राह्मी के 'द' और 'न' अक्षरों को समझ लिया था, क्योंकि वह उनकी भाषा से परिचित था, और उन लेखो के अभिप्राय को भी समझता था।

किन्तु मोहनजोदडों की लिपि की भाषा का कुछ भी ज्ञान नही, अतः लिपि को ठीक-ठीक नहीं उद्घाटित किया जा सका है। लिपि जहाँ मिली है (1) उसकी पृष्ठभूमि, इतिहास, परम्परा, अग, संस्कृति आदि की सम्भावनाओ के आधार पर, तथा (2) अन्य ज्ञात लिपियो से तुलना करके विकल्पात्मक अनुमान खडे किये जाते हैं।

सिन्धुघाटी की लिपि के विषय मे उक्त दोनो बातो के सम्बन्ध मे न तो प्रामाणिक आधार है, न मत हैं क्योकि

पहला, पृष्टभूमि, इतिहास, परम्परा आदि की दृष्टि से एक और यह माना गया कि यह आर्यों के भारत मे आने से पूर्व की संस्कृति की लिपि है। आय पूर्व भारत मे द्रविड थे अत यह द्रविड-सम लिपि है और द्रविड़-सम भाषा की प्रतीक है।

1. "The most frequent groups are possibly words, consisting of one or more morphemes according to the number of signs. One can also deduct the affxes-suffixes, prefixes tc by their positions and frequency distribution. Suppose, in the following data of sixteen sentences, each letter of the alphabet is a morpheme, what could one say about the grammar of the language (even of the meanings of the sentences are not kuown) "
   [वही, मार्च 30, 1969]
2. **One could say that the letters A, B, C, D, E, F, G are stems and the XY & Z are suffixes. The positional values of X, Y and Z are such that they maintain their respective order, Z occurs finally, Y occurs after X, X occurs immediately after the stem**

   [वही, मार्च 30, 1969]

दूसरा विकल्प यह रहा कि आर्यों से पूर्व या 4000 ई० पू० यहाँ सुमेर लोग निवास करते थे और यह उन्हीं की लिपि है।

तीसरा विकल्प यह है कि इस क्षेत्र के निवासी आर्य या उन्हीं की एक शाखा के 'असुर' थे। यह उन्हीं की भाषा और लिपि है।

इन तीनों परिकल्पनाओं के आधार पर विविध भाषाओं की लिपियों की तुलना करते हुए उनके प्रमाणों से भी अपने-अपने मत की पुष्टि की गयी है।

अब जी आर. हंटर[1] महोदय ने 'द स्क्रिप्ट ऑव हड़प्पा एण्ड मोहनजोदड़ो एण्ड इट्स कनैक्शन विद अदर स्क्रिप्ट्स' में बताया है कि—

"बहुत-से चिह्न प्राचीन मिस्र की महान लिपि से उल्लेखनीय समता रखते हैं। सभी एन्थ्रोपो-मारफिक चिह्न मिस्री समता वाले हैं, और वे यथार्थतः ठीक उसी रूप के हैं और यह रोचक बात है कि इन एन्थ्रोपो-मारफिक चिह्नों से दूर की भी समता रखने वाले चिह्न सुमेरियन या प्रोटो-एलामाइट लिपि में नहीं मिलते। दूसरी ओर हमारे बहुत-से चिह्न ऐसे हैं जो प्रोटो-एलामाइट और जेमदेत नस्र की पाटियों के चिह्नों से हू-ब-हू मिलते हैं, और जिनकी मिस्री मोरफोग्राफिक समकक्षता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इससे कोई भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि यह मान्यता बलवती ठहरती है कि हमारी लिपि कुछ तो मिस्र से ली गयी है और कुछ मेसोपोटामिया से। किंबहुना, एक अच्छे अनुपात में ऐसे चिह्न भी हैं जो तीनों में समान हैं, जैसे-वृक्ष, मछली, चिड़िया आदि के चिह्न। किन्तु ऐसा होना सम-आकस्मिक (Concidental) है और अनिवार्य भी है, क्योंकि लिपि की प्रवृति चित्रात्मक है।

फिर वे आगे कहते हैं कि प्रोटो-एलामाइट से और भी साम्य है अतः हमने मिस्री चिह्न ही उधार लिए हैं।

और आगे वे यह सुझाव भी प्रस्तुत करते हैं कि हो सकता है कि मिस्री, प्रोटो-एलामाइट और सिन्धुघाटी की लिपियों की जनक या मूल एक चौथी ही भाषा-लिपि हो, जो इनसे पूर्ववर्ती हो।

अब ये सभी परिकल्पनाएँ (हाइपोथीसीस) ही हैं। अभी तक भी हम सिन्धुघाटी की लिपि पढ सके हो, ऐसा नहीं लगता।

अभी हाल में फिर प्रयत्न हुए हैं और फिनिश-दल तथा रूसी दल ने सिन्धु-लिपि और सिन्धु-भाषा को समझने का प्रयत्न किया है। कम्प्यूटर का भी उपयोग किया गया है और ये इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि यह द्रविड़ोन्मुख भाषा और तद्नुकूल लिपि है। साथ ही दो भारतीय विद्वानों ने भी नये प्रयत्न किये हैं। एक है श्री कृष्णराव, दूसरे हैं डॉ० फतेहसिंह। इन दोनों का ही मन्तव्य है कि सिंधुघाटी की लिपि ब्राह्मी का पूर्वरूप एवं भाषा वेदपूर्वी संस्कृत ही है। यूनीवर्सिटी ऑफ कैम्ब्रिज की फैकल्टी ऑव ओरियण्टल स्टडीज के एफ आर. अल्लचिन ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के एक अंक में एक पत्र में, जहाँ पाश्चात्य प्रयत्नों को रचनात्मक (constructive) प्रयत्न बताया है और भारतीय प्रयत्नों को अंतःप्रज्ञाजन्य (intuitive), अंत में उसने लिखा है कि—

1. Hunter, G.R.—The Script of Hadappa and Mohan jodaro and its connection with other Scripts. P. 45–47.

"In the mean while let us recognise that while so many new decipherments are appearing they cannot all be right, and are more likely all to be wrong."

इतना विवेचन 'सिंधुघाटी लिपि' के सम्बन्ध में करने की इसलिए आवश्यकता हुई कि यह जाना जा सके कि किसी अज्ञात लिपि को पढ़ने में कितनी समस्याएँ निहित रहती हैं और उन सबके रहते भी किसी और महत्त्वपूर्ण बात का अभाव रहने से अज्ञात लिपि को ठीक-ठीक जानने की प्रक्रिया असफल हो जाती है। सिंधुघाटी सभ्यता के सम्बन्ध में जितने भी विकल्प रखे गये हैं वे सभी इतिहास से न तो पुष्ट ही हैं, न सिद्ध ही है।

यथा—पहला विकल्प यह है कि यह सभ्यता आर्यों के आगमन से पूर्व की द्रविड़ सभ्यता है। आर्यों के आगमन से पूर्व द्रविड़ सारे भारतवर्ष में बसे हुए थे। अब आर्यों के आगमन का सिद्धान्त तथा द्रविडों का आर्यों से भिन्न रक्त या नस्ल का होने का नृतात्त्विक सिद्धान्त, ये दोनों ही पूर्णतः सिद्धप्रमेय नहीं माने जा सकते, न अकाट्य प्रमाणों से पुष्ट हैं।[1] इस सम्बन्ध में एक अन्तर बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ता है, मूलतः यह सिद्धान्त विदेशियों के द्वारा ही प्रतिपादित हुए थे, और मूलतः सिन्धुघाटी को द्रविड़ सभ्यता के अवशेष बताने वाले भी अधिकांशतः विदेशी ही हैं, और भारतीयों का झुकाव अभेद की स्वीकृति पर निर्भर करता है। इसी अप्रामाणिक अन्तर के कारण द्रविड भाषा, द्रविड-लिपि और आर्य भाषा तथा असुर भाषा का विकल्प उठा है।

सिंधु-लिपि में मिस्र की चित्रलिपि तथा सुमेर की लिपि के साथ ब्राह्मी लिपि के साम्य भी हैं। इससे कल्पना की गयी कि मिस्र और सुमेर में उधार लिये गये शब्द और वर्ण हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय ने यह सुझाव दिया है कि जहाँ तक एक से दूसरे के द्वारा उधार लेने का प्रश्न है निम्नलिखित ऐतिहासिक परम्पराएँ इसमें हमारी सहायता कर सकती हैं—

(अ) प्राचीन मिस्र की सभ्यता के निर्माता लोग पश्चिमी एशिया से मिस्र को गये थे।

(आ) यूनानी लेखकों के अनुसार फोनेशियन्स, जो कि प्राचीन काल के महान् सामुद्रिक यात्रा-दक्ष और संस्कृति-प्रसारक लोग थे, त्यर (TYR) में उपनिवेश बनाकर रहते थे जो कि पश्चिमी एशिया का बड़ा बन्दरगाह था।

(इ) सुमेरियन लोग स्वयं भी समुद्र के मार्ग से बाहर से आकर सुमेरिया में बसे थे।

(ई) पुरानी ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार, जो कि पुराणों और महाकाव्यों में दी हुई है, आर्य-जातियाँ उत्तर-पश्चिमी भारत से उत्तर की ओर और

1. The use of Aryan and Dravadian as racial terms is unknown to scientific students of Anthropology (Nilkantha Shastri, cultural contacts between Aryan & Dravadians P. 2). There is no] Dravadian race and no Aryan race. (A. L. Bashem : Bulletin of the Institute of Historical research II (1963), Madras.

स्वाहा पृ० ८० पर उद्धृत

पश्चिम की ओर आर्य जातियाँ गयी थीं।[1]

इन परिस्थितियों में इस तथ्य के सम्बन्ध में असम्भावना नहीं मानी जा सकती है कि या तो आर्य लोग या उनके असुर नाम के बन्धुओं ने सिन्धुघाटी की लिपि का निर्माण किया। वे ही उसे पश्चिमी एशिया और मिस्र में ले गये। इस प्रकार संसार के उन भागों में लिपि के विकास को प्रोत्साहित किया।[2]

डॉ॰ राजबली पांडेय का सुझाव ऐतिहासिक तर्कसत्ता के अनुकूल है। निश्चय ही इस लिपि की उद्भावना भारत में हुई और यहीं से सुमेर और मिस्र को गयी, वहाँ इस लिपि का और विकास हुआ। पर इस सिद्धान्त से भी भाषा और लिपि के उद्घाटन में यथार्थ सहायता नहीं मिल पाती।

सिन्धु-लिपि दायें से बायें खरोष्ठी या फारसी लिपि की भाँति लिखी गयी है, या बायें से दायें, रोमन और नागरी लिपि की भांति। इस सम्बन्ध में भी द्वंद्व है—एक कहता है दायें से बाये, दूसरा कहता है बाये से दायें। यह समस्या एक समय ब्राह्मी के सम्बन्ध में भी उठी थी। ब्राह्मी की एक शैली दाये से बायें लिखने की भी थी, अवश्य कुछ अवशेष अब भी मिलते हैं।

ब्यूह्लर ने ब्राह्मी को दाहिने से बांए लिखने का जो प्रमाण दिया है वह अशोक के येरगुडी (करनूल, मद्रास) लेख तथा एरण के एक मुद्रा-लेख पर आधारित है। कनिंघम ने मध्य प्रदेश के जबलपुर से उस सिक्के का पता लगाया था जिस पर ब्राह्मी में मुद्रा-लेख दाहिने से बाए लिखा है। इसे एक आकस्मिक घटना मान सकते हैं और टकसाल के साचा-निर्माता की भूल से ऐसा हो गया होगा। इसी तरह अशोक के लेख में लिखने का क्रम उलटा मिलता है। येरगुडी के लेख में पहली पंक्ति ठीक ढंग से बाँए से दाहिने लिखी है और दूसरी पंक्ति दाहिने से बाँए। तीसरी बाँए से दाहिने तथा चौथी दाहिने से बाँए। इससे स्पष्ट है कि लेख अंकित करने वाला वास्तविक रूप में ब्राह्मी लिखना जानता था।

1. As regards the question of borrowing by one from the others, the following historical tradition will help us —
   (i) The authors of ancient Egyptian civilisation migrated from Western Asia to Egypt.
   (Maspeor—The Dawn of civilisation : Egypt & chaldea, p. 45; Passing of the Empire, VIII., Smith, Ancient Egyptians, P. 24)
   (ii) The Phonecians, the great sea-faring and culture spreading people of ancient times, were colonists in TYR, the great sea-port of Western Asia, according to the Great writers.
   (Herodouts, 11, 44)
   (iii) The Summerians themselves came to Sumeria from outside through seas.
   (Wolley, C. L.—The Summerians, 189)
   (iv) The Aryans Tribes, according to the ancient historical, tradition recorded in the Puranas and Epics migrated from N. W. India towards the north and the west.
   (F. E. Pargiter—Ancient Indo-Historical Traditions, XXV)
2. Under the circumstances, there is no impossibility about the fact that either the Aryans or their cousins the Asuras invented the Indus Valley script and carried it to Western Asia and Egypt and thus inspired the evolution of scripts in these parts of the World.
   (Pandey, R. B.—Indian Paleography, P. 34)

पर एक नयी प्रणाली (दाहिने से बाँए) का उसी लेख में समावेश करना चाहता था। इसलिए उलटे क्रम (दाहिने से बाँए) का भी उसने उपयोग किया। किन्तु इस कृत्रिम रूप के आधार पर कोई गम्भीर सिद्धान्त स्थिर करना युक्तिसंगत न होगा।[1]

ब्राह्मी को, दिल्ली के अशोक-स्तम्भ पर अंकित ब्राह्मी को, एक व्यक्ति ने यूनानी लिपि माना था, और उस ब्राह्मी लेख को अलेक्जेंडर की विजय का लेख माना था। काशी के ब्राह्मण ने एक मनगढ़न्त भाषा और उसकी लिपि बतायी, किसी ने उनको तंत्राक्षर बताया; एक जगह किसी ने पहलवी माना; और भी पक्ष प्रस्तुत हुए, पर प्रत्येक लेख की स्थिति और उनका परिवेश, उनका स्थानीय इतिहास तथा अन्य विवरणों की ठीक जानकारी हुई और तब तुलना से वे अक्षर ठीक-ठीक पढ़े जा सके हैं।

पर सिन्धुघाटी की सभ्यता विषयक विविध समस्याएँ अभी समस्याएँ ही बनी हुई हैं। यह सभ्यता भी केवल सिन्धुघाटी तक सीमित नहीं थी, अब तो मध्य प्रदेश और राजस्थान में भी इसके गढ़ भूमि-गर्भ में गर्भित मिले है। लगता यह है कि महान् जल-प्लावन से पूर्व की यह संस्कृति-सभ्यता थी। पानी के साथ मिट्टी बह आयी और उसमें ये नगर दब गये। पर ये सभी कल्पनाएँ हैं और अधिक उत्खनन से कहीं कोई ऐसी कुँजी मिलेगी जो इसका रहस्य खोल देगी। तो पाडुलिपि-विज्ञान के जिज्ञासु के लिए उन अड़चनों, कठिनाइयों और अवरोधों को समझने की आवश्यकता है जिनके कारण किसी अज्ञात लिपि का उद्‌घाटन सम्भव नही हो पाता।

वे अड़चनें हैं :

(1) किसी सांस्कृतिक परम्परा का न होना। ऐसी परम्परा प्राप्त होनी चाहिये जिसमे विशेष लिपि को बिठाया जा सके।
(2) ठीक इतिहास का अभाव तथा इतिहास की विस्तृत जानकारी का अभाव या विद्यमान ऐतिहासिक ज्ञान मे अनास्था।
(3) अयथार्थ और अप्रामाणिक पूर्वाग्रहो का होना।
(4) तुलना से समस्या का और जटिल होना।
(5) लिपि-विषयक प्रत्येक समस्या के सम्बन्ध में भ्रम होना।
(6) लिपि में लिखी भाषा का ठीक ज्ञान न होना, यथा—प्राकृत के स्थान पर पहलवी और प्राकृत के स्थान पर संस्कृत भाषा समझकर किये गये प्रयत्न विफल हो गये थे।

ऊपर हम 'स्वाहा' से लिये गये उद्धरण में ब्राह्मी लिपि पढने के प्रयत्नो की सामान्य रूप-रेखा पढ़ चुके हैं। यहाँ महामहोपाध्याय गौरीशकर हीराचन्द ओझा से भी इस सम्बन्ध मे एक उद्धरण दिया जाता है, इससे ब्राह्मी लिपि के पढ़ने के प्रयत्नो का अच्छा ज्ञान हो सकेगा।

बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह मे देहली और इलाहाबाद के स्तम्भों तथा खडगिरि के चट्टान पर खुदे हुए लेखों की छापें आ गई थी परन्तु विल्फर्ड का यत्न निष्फल होने से अनेक वर्षों तक उन लेखो के पढ़ने का उद्योग न हुआ। उन लेखों का आशय जानने की जिज्ञासा रहने के कारण जेम्स प्रिन्सेप ने ई० सं० 1834-35 में इलाहाबाद,

1. उपाध्याय, वासुदेव—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० 249।

रधिया और मथिया के स्तंभों पर के लेखों की छापें मंगवाई और उनको देहली के लेख से मिलाकर यह जानना चाहा कि उनमें कोई शब्द एक-सा है या नहीं। इस प्रकार उन चारों लेखों को पास-पास रखकर मिलाने से तुरन्त ही यह पाया गया कि ये चारों लेख एक ही हैं। इस बात से प्रिन्सेप का उत्साह बढ़ा और उसे अपनी जिज्ञासा पूर्ण होने की दृढ़ आशा बंधी। फिर इलाहाबाद के स्तंभ के लेख से भिन्न-भिन्न आकृति के अक्षरों को अलग-अलग छांटने पर यह विदित हो गया कि गुप्ताक्षरो के समान उनमें भी कितने अक्षरों के साथ स्वरों की मात्राओं के पृथक्-पृथक् पांच चिह्न लगे हुए हैं, जो एकत्रित कर प्रकट किये गये।[1] इससे अनेक विद्वानों को उक्त अक्षरो के यूनानी होने का जो भ्रम था[2] वह दूर हो गया। स्वरो के चिह्नो को पहिचानने के बाद मि. प्रिन्सेप ने अक्षरो के पहिचानने का उद्योग करना शुरू किया और उक्त लेख के प्रत्येक अक्षर को गुप्तलिपि से मिलाना और जो मिलता गया उसको वर्णमाला के क्रमवार रखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार बहुत-से अक्षर पहिचान में आ गये।

पादरी जेम्स स्टिवेन्सन् ने भी प्रिन्सेप की भांति इसी शोध मे लग कर 'क', 'ज', 'प' और 'ब' अक्षरो[3] को पहिचाना और इन अक्षरो की सहायता से लेखो को पढ़कर उनका अनुवाद करने का उद्योग किया गया परन्तु कुछ तो अक्षरो के पहिचानने मे भूल हो जाने, कुछ वर्णमाला पूरी ज्ञात न होने[4] और कुछ उन लेखों की भाषा को संस्कृत मानकर उसी भाषा के नियमानुसार पढ़ने से वह उद्योग निष्फल हुआ। इससे भी प्रिन्सेप को निराशा न हुई। ई० सं० 1836 मे प्रसिद्ध विद्वान लॅसन् ने एक बॅक्ट्रिअन् ग्रीक सिक्के पर इन्ही अक्षरों मे अँगॅथॅक्लिस का नाम पढ़ा। ई० सं० 1837 मे मि. प्रिन्सेप ने सांची के स्तूपो से सम्बन्ध रखने वाले स्तम्भो आदि पर खुदे हुए कई एक छोटे-छोटे लेखों की छापें एकत्र कर उन्हे देखा तो उनके अन्त के दो अक्षर एक-से दिखाई दिये और उनके पहिले प्रायः 'स' अक्षर पाया गया जिसको प्राकृत भाषा के सम्बन्ध कारक के एक वचन का प्रत्यय (संस्कृत 'स्य' से) मानकर यह अनुमान किया कि ये सब लेख अलग-अलग पुरुषों के दान प्रकट करते होंगे और अत के दोनों अक्षर, जो पढ़े नहीं और जिनमे से

1. जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, जिल्द 3, पृ० 7, प्लेट 5।
2. अशोक के लेखो की लिपि मामूली देखने वाले को अंग्रेजी या ग्रीक लिपि का भ्रम उत्पन्न करा दे, ऐसी है। टॉम कोरिअट् नामक मुसाफिर ने अशोक के देहली के स्तम्भ के लेख को देखकर एल. व्हिटकर को एक पत्र में लिखा कि "मैं इस देश (हिन्दुस्तान) के देली (देहली) नामक शहर मे आया जहाँ पर 'अलेक्जेंडर दी ग्रेट' (सिकन्दर) ने हिन्दुस्तान के राजा पोरस को हराया और अपनी विजय की यादगार मे उसने एक बृहत् स्तम्भ खड़ा करवाया जो अब तक वहाँ विद्यमान है" (केरस् वॉयेजिज एंड ट्रेवल्स, जि. 9 पृष्ठ 423 क. आ. स. रि. जि 1 पृ० 163) इस तरह जब टॉम कोरिअट् ने अशोक के लेख वाले स्तम्भ को बादशाह सिकदर का खड़ा करवाया हुआ मान लिया तो उस पर के लेख के पढ़े न जाने तक दूसरे यूरोपिअन् यात्री आदि का उसकी लिपि को ग्रीक मान लेना कोई आश्चर्य की बात नही है। पादरी एडवर्ड टेरी ने लिखा है कि टॉम कोरिअट ने मुझसे कहा कि मैंने देली (देहली) में ग्रीक लेख वाला एक बहुत बड़ा पाषाण का स्तम्भ देखा जो "अलेक्जेंडर दी ग्रेट' ने उस प्रसिद्ध विजय की यादगार के निमित्त उस समय वहाँ पर खड़ा करवाया था" (क. आ. स. रि. जि. 1, पृ० 163-64) इसी तरह दूसरे लेखको ने उस लेख को ग्रीक लेख मान लिया था।
3. जर्नल ऑफ दी एशियाटिक् सोसायटी ऑफ बंगाल, जि० 3, पृ० 485।
4. 'न' को 'र' पढ़ लिया था और 'द' को पहिचाना न था।

पहिले के साथ 'आ' की मात्रा और दूसरे के साथ अनुस्वार लगा है उनमें से पहिला अक्षर 'दा' और दूसरा 'न' (दान) ही होगा। इस अनुमान के अनुसार 'द' और 'न' के पहिचाने जाने पर वर्णमाला सम्पूर्ण हो गई और देहली, इलाहाबाद, साँची, मथिया, रधिया, गिरनार, धौली आदि के लेख सुगमतापूर्वक पढ लिए गये। इससे यह भी निश्चय हो गया कि उनकी भाषा, जो पहिले सस्कृत मान ली गई थी वह अनुमान ठीक न था, वरन उनकी भाषा उक्त स्थानों की प्रचलित देशी (प्राकृत) भाषा थी। इस प्रकार प्रिन्सेप आदि विद्वानो के उद्योग से ब्राह्मी अक्षरो के पढे जाने से पिछले समय के सब लेखों को पढ़ना सुगम हो गया क्योकि भारतवर्ष की समस्त प्राचीन लिपियो का मूल यही ब्राह्मी लिपि है।[1]

ब्राह्मी वर्णमाला

जिस 'ब्राह्मी वर्णमाला' के उद्‌घाटन का रोचक इतिहास ऊपर दिया गया है, उसे पढने मे आज विशेष कठिनाई नहीं होती। प्रिंसेप आदि के प्रयत्नों ने वह वर्णमाला हमारे लिए हस्तामूलकवत कर दी है। वह वर्णमाला कैसी है, इसे बताने के लिए नीचे उसका पूरा रूप दे रहे है :—

अशोककालीन सामान्य ब्राह्मी लिपि की वर्णमाला यह है :

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	अं
𑀅	𑀆	𑀇	𑀈	𑀉	𑀊	𑀏	𑀐	𑀑	𑀅𑀁

मात्रा

क	ख	ग	घ		य	र	ल	व
𑀓	𑀔	𑀕	𑀖		𑀬	𑀭	𑀮	𑀯
च	छ	ज	झ	ञ	श	ष	स	ह
𑀘	𑀙	𑀚	𑀛	𑀜	𑀰	𑀱	𑀲	𑀳
ट	ठ	ड	ढ	ण				
𑀝	𑀞	𑀟	𑀠	𑀡				

त	थ	द	ध	न
𑀢	𑀣	𑀤	𑀥	𑀦
प	फ	ब	भ	म
𑀧	𑀨	𑀩	𑀪	𑀫

1 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 39–40।

(भारतीय साहित्य-जनवरी, 1959)

इस अशोक लिपि से विकसित होकर भारत की विविध लिपियाँ बनी हैं। इन लिपियों की आधुनिक वर्णमाला से तुलनात्मक रूप बताने के लिए पं० उदयशंकर शास्त्री ने एक चार्ट बनाया है, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है—

भारत में लिपि-विचार

श्री गोपाल नारायण बहुरा जी ने लिपि के सम्बन्ध मे जो टिप्पणियाँ भेजी हैं, उनमें पहले लिपि विषयक प्राचीन उल्लेखो की चर्चा की गयी है। वे लिखते हैं :

"बौद्धग्रन्थ 'ललितविस्तर'[1] के दसवे अध्याय मे 64 लिपियों के नाम आये हैं। 1–ब्राह्मी, 2–खरोष्ठी, 3–पुष्करसारी, 4–अंगलिपि, 5–बगलिपि, 6–मगधलिपि, 7–मांगत्यलिपि, 8–मनुष्यलिपि, 9–अंगुलीय लिपि, 10–शकारिलिपि, 11–ब्रह्मवल्ली, 12–द्राविड, 13–कनारि, 14–दक्षिण, 15–उग्र, 16–सख्या लिपि, 17–अनुलोम, 18–ऊर्ध्वधनु, 19–दरदलिपि, 20–खास्यलिपि, 21–चीनी, 22–हूण, 23–मध्याक्षर-विस्तर लिपि, 24–पुष्पलिपि, 25–देवलिपि, 26–नाग लिपि, 27–यक्षलिपि, 28–गन्धर्व-लिपि, 29–किन्नरलिपि, 30–महोरगलिपि, 31–असुरलिपि, 32–गरुड़लिपि, 33–मृगचक्र लिपि, 34–चक्रलिपि, 35–वायुमरुलिपि, 36–भौमदेवलिपि, 37–अन्तरिक्षदेवलिपि, 38–उत्तरकुरुद्वीपलिपि, 39–अपरगौडादिलिपि, 40–पूर्वविदेहलिपि, 41–उत्क्षेपलिपि, 42–निक्षेपलिपि, 43–विक्षेपलिपि, 44–प्रक्षेपलिपि, 45–सागर लिपि, 46–व्रजलिपि, 47–लेख-प्रतिलेख लिपि, 48–अनुद्रुतलिपि, 49–शास्त्रावर्तलिपि, 50–गणावर्तलिपि, 51–उत्क्षेपावर्त, 52–विक्षेपावर्त, 53–पादलिखितलिपि, 54–द्विरुत्तरपदसन्धिलिखित लिपि, 55–दशोत्तरपदसधिलिखित लिपि, 56–अध्याहारिणी लिपि, 57–सर्वरुतसंग्रहणी लिपि, 58–विद्यानुलोमलिपि, 59–विमिश्रितलिपि, 60–ऋषितपस्तप्तलिपि, 61–धरणी-प्रेक्षजालिपि, 62–सर्वौषधनिष्यन्दलिपि, 63–सर्वसारसंग्रहणी लिपि, 64–सर्वभूतरुद्ग्रहणी लिपि।

उक्त लिपियों के नाम पढने से ही ज्ञात हो जायेगा कि इनमे से बहुत-से नाम तो लिपि-द्योतक न होकर लेखन-प्रकार के हैं, कितने ही कल्पित लगते हैं और कितने ही नाम पुनरावृत्त भी हैं।

किन्तु डॉ० राजबली पाडेय इस मत को मान्यता नही देते। उन्होंने इन चौसठ लिपियो को वर्गीकृत करके अपनी व्याख्या दी है। इन लिपियों पर डॉ० पाण्डेय की पूरी टिप्पणी यहाँ उद्धृत की जाती है। वे लिखते हैं कि :

"ऊपर की सूची मे भारतीय तथा विदेशी उन लिपियों के नाम हैं जिनसे उस काल मे, जबकि ये पंक्तियाँ लिखी गयी थी, भारतीय परिचित थे या जिनकी कल्पना उन्होने की थी। पूरी सूची में से केवल दो ही लिपियाँ ऐसी है जिन्हे साक्षात प्रमाण के आधार

1. मूल 'ललितविस्तर' ग्रन्थ संस्कृत में है इसमे बुद्ध का चरित्र वर्णित है। इसके रचना-काल का ठीक-ठीक पता नही चलता—परन्तु इसका चीनी भाषा में अनुवाद 308 ई० मे हुआ था। डॉ० राजबली पांडेय ने इतना और बताया है कि यह कृति अपने चीनी अनुवाद से कम से कम एक या दो शताब्दी पूर्व की तो होनी ही चाहिये।

(पांडे, राजबली—इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० 26)

पर पहचाना जा सकता है। ये दो लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी हैं। चीनी विश्वकोष फा-वन-सु-लिन (रचना-काल 668 ई०) इस प्रसंग में हमारी सहायता करता है। इसके अनुसार लेखन का आविष्कार तीन दैवी शक्तियों ने किया था, इनमे पहला देवता था फन (ब्रह्मा) जिसने ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया, जो बांये से दांये लिखी जाती है, दूसरी दैवी शक्ति थी किया-लू (खरोष्ठ) जिसने खरोष्ठी का आविष्कार किया, जो दाँये से बाँये लिखी जाती है, तीसरी और सबसे कम महत्वपूर्ण दैवी शक्ति थी त्साम-की (Tsam-ki) जिसके द्वारा आविष्कृत लिपि ऊपर से नीचे की ओर लिखी जाती है। यही विश्व-कोष हमें आगे बताता है कि पहले दो देवता भारत में उत्पन्न हुए थे और तीसरा चीन मे......।"

सूक्ष्मता मे विचार करने पर अधिकांश लिपियाँ (ललितविस्तर में बतायी गयी) निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित की जा सकती हैं; कुछ तो फिर भी ऐसी रह जाती हैं जिन्हें पहिचानना और परिभाषित करना कठिन ही है :

1. भारत में सबसे अधिक प्रचलित लिपि : ब्राह्मी। यह लिपि की अकारादिक (alphabetic) प्रणाली थी।
2. वह लेखन प्रणाली जो भारत के उत्तर-पश्चिम तक ही सीमित रही : खरोष्ठी। इसमें अकारादिक वर्णमाला तो ब्राह्मी के समान थी पर लिपि भिन्न रही।
3. भारत मे ज्ञात विदेशी लिपियाँ :

   (क) यवनाली (यवनानी)—यूनानी (ग्रीक) वाणिज्य व्यवसाय के माध्यम से भारत इससे परिचित था। यह भारत-बाख्त्री और कुषाण सिक्कों पर भी अंकित मिलती है।

   (ख) दरदलिपि : (दरद लोगों की लिपि)

   (ग) खस्यालिपि (खसों-शकों की लिपि)

   (घ) चीना लिपि (चीनी लिपि)

   (च) हूण लिपि (हूणों की लिपि)

   (छ) असुर लिपि (असुरो की लिपि, जो कि पश्चिम ऐशिया मे आर्यों की शाखा के ही थे।)

   (ज) उत्तर कुरुद्वीप लिपि (उत्तर कुरु, हिमालय, उत्तर के क्षेत्र की लिपि)

   (झ) सागर-लिपि (समुद्री क्षेत्रो की लिपि)

4. भारत की प्रादेशिक लिपियाँ . आधुनिक प्रादेशिक लिपियो की भाँति पूर्वकाल मे ब्राह्मी के साथ-साथ ऐसी प्रादेशिक लिपियाँ भी रही होंगी जो या तो ब्राह्मी का ही रूपान्तर हो, या उससे ही विकसित या व्युत्पन्न हों या पुरा-ब्राह्मी या तत्कालीन किसी अन्य स्वतन्त्र लिपि से व्युत्पन्न न हो। ब्राह्मी के रूपान्तरों को छोड़ कर उक्त सभी कालकवलित हो गयी। फिर भी नीचे लिखे नामों में कुछ की स्मृति अवशिष्ट है :

   (क) पुष्करसारीय (पुष्करसारीय) अधिक सम्भावना यह है कि यह पश्चिमी गांधार में प्रचलित रही हो। जिसकी राजधानी पुष्करावती थी।

   (ख) अंगालव्य (उत्तर पहाड़ी क्षेत्र की लिपि)

(ग) अंग लिपि (अंग उ०पू० बिहार की लिपि)
(घ) बंग लिपि (बंगाल में प्रचलित लिपि)
(च) मगध लिपि (मगध में प्रचलित लिपि)
(छ) द्रविड़ लिपि (दमिलि) (द्रविड़ प्रदेश की लिपि)
(ज) कनारी लिपि (कनारी क्षेत्र की लिपि)
(झ) दक्षिण लिपि (दखन (दक्षिण) की लिपि)
(ट) अपर-गौआद्रिड-लिपि (पश्चिमी गौड़ की लिपि)
(ठ) पूर्व विदेह लिपि (पूर्व विदेह की लिपि)

5. **जनजातियों** की (Tribal) लिपियां :

(क) गंधर्व लिपि (गंधर्वों की लिपि, ये हिमालय की जन-जाति हैं)।
(ख) पौलिदी (पुलिंदों की : विंध्यक्षेत्र के लोगों की)
(ग) उग्रलिपि (उग्र लोगों की लिपि)
(घ) नागलिपि (नागों की लिपि)
(च) यक्षलिपि [यक्षों (हिमालय की एक जाति) की]
(छ) किन्नरलिपि (किन्नरों, हिमालय की एक जाति की लिपि)
(ज) गरुड़लिपि (गरुड़ों की लिपि)

6. **साम्प्रदायिक लिपियाँ** :

(क) महेसरी (महेस्सरी माहेश्वरी, शैवों में प्रचलित एक लिपि)
(ख) भौमदेव लिपि (भूमि के देवता (ब्राह्मण) द्वारा प्रयुक्त लिपि)

7 **चित्ररेखान्वित लिपियाँ** :

(क) मंगल्य लिपि (एक मंगलकारी लिपि)
(ख) मनुष्य लिपि (एक ऐसी लिपि जिसमे मानव-आकृतियों का उपयोग हो)
(ग) आंगुलीय लिपि (अंगुलियो के से आकार वाली लिपि)
(घ) ऊर्ध्व धनु लिपि (चढ़े हुए धनुष के से आकार वाली लिपि)
(च) पुष्पलिपि (पुष्पांकित लिपि)
(छ) मृगचक्र लिपि (वह लिपि जिसमें पशुओ के चक्रों का उपयोग किया गया हो।)
(ज) चक्र लिपि (चक्राकार रूप वाली लिपि)
(झ) वज्र लिपि (वज्र के समरूप वाली लिपि)

8. **स्मरणोपकरी (Mnemonic) लिपि**

(क) अंकलिपि (या संख्या लिपि)
(ख) गणित लिपि (गणित के माध्यम वाली लिपि)

9. **उभारी या खोदी लिपि** :

(क) आदंश या आयस लिपि (वाच्यार्थतः कुतरी हुई (bitten) अर्थात् छेनी से खोदी हुई)

10. **शैली-परक लिपियाँ :**

    (क) उत्क्षेप लिपि (ऊपर की ओर उभार कर (उछालकर) लिखी गयी लिपि)
    (ख) निक्षेप लिपि (नीचे की ओर बढ़ा कर लिखी गयी लिपि)
    (ग) विक्षेप लिपि (सब ओर से लंबित लिपि)
    (घ) प्रक्षेप लिपि (एक ओर विशेष संवर्द्धित लिपि)
    (च) मध्याक्षर विस्तार लिपि (वह लिपि जिसमें मध्य-अक्षर को विशेष सम्वर्द्धित किया गया हो।)

11. **संक्रमण-स्थिति द्योतक लिपि :**
    विमिश्रित लिपि (चित्ररेखान्वित, अक्षर (Syllabics) तथा वर्ण से विमिश्रित लिपि)।

12. **त्वरा लेखन :**
    (क) अनुद्रुत लिपि (शीघ्रगति से लिखने की लिपि या त्वरा-लेखन की लिपि)

13. **पुस्तकों के लिए विशिष्ट शैली :**
    शास्त्रावर्त (परिनिष्ठित कृतियों की लिपि)

14. **हिसाब-किताब की विशिष्ट शैली :**
    (क) गणावर्त (गणित मिश्रित कोई लिपि)

15. **दैवी या काल्पनिक :**
    (क) देवलिपि (देवताओं की लिपि)
    (ख) महोरग लिपि (सर्पों (उरगों) की लिपि)
    (ग) वायुमरु लिपि (हवाओं की लिपि)
    (घ) अन्तरिक्ष-देव लिपि (आकाश के देवताओं की लिपि)

दैवी या काल्पनिक लिपियो को छोड कर शेष भेद या रूप भारत के विविध भागो की लिपियो में, पडौसी देशो की लिपियों में, प्रादेशिक लिपियों में और अन्य चित्र-रेखा संन्वयी या आलंकारिक लेखन मे कही न कहीं मिल ही जाते हैं।[1]

इस लेखक ने मोहनजोदडो और हड़प्पा की लिपि को विमिश्रित लिपि माना है जिसमें संक्रमण सूचक चित्ररेखक (pictographs), भावचित्र रेखक (ideographs) तथा ध्वनि-त्रिह्लक (अक्षर) रूप मिलेजुले मिलते हैं।[2]

किन्तु अठारह लिपियो का उल्लेख कई प्रमाणो में मिलता है। इस सम्बन्ध मे हम पुन: श्री बहुरा जी की टिप्पणी उद्धृत करते हैं :

वर्णक समुच्चय मे मध्यकालीन अट्ठारह लिपियों के नाम इस प्रकार हैं :—

1. उड्डी (उड़िया), 2. कीरी, 3. षणक्की, 4. जक्खा (यक्ष लिपि), 5. जवणी (यावनी ग्रीक लिपि), 6. तुरक्की (तुर्की), 7. द्राविड़ी, 8. [illegible] की

1. Pandey, Rajbali—Indian Palaeography, P. 25-28.
2. Ibid, P. 29.

8वीं शताब्दी के बाद में विकसित) 9. निमित्री (ज्योतिष सम्बन्धी), 10. पारसी, 11. मूर्धलिपि, मालविणी (मालव प्रदेशीय लिपि), 12. मूलदेवी (चौरशास्त्र के प्रणेता मूलदेव प्रणीत संकेत लिपि), 13. रक्खसी (राक्षसी), 14. लाडलि (लाट प्रदेशीय), 15. सिंधविया (सिंधी), 16. हंसलिपि (Arrow headed alphabets) के नाम तो लावण्य-समयकृत 'विमलप्रबन्ध' में मिलते हैं और इनसे जूनी (प्राचीन) लिपियो के नाम, 17. जवणालिया अथवा जवणनिया और 18. दामिलि और है।

'पन्नवणा सूत्र' की प्राचीन प्रति में 18 लिपियों के नाम इस प्रकार हैं :—1. बंगी, 2. जवणालि, 3. दोसापुरिया, 4. खरोट्ठी, 5. पुक्खरसारिया, 6. भोगवइया, 7. पहाराइया, 8. उपअंतरिक्खया, 9. अक्खरपिट्ठिया, 10. तेवणइया (वेवणइया) 11. गिलिगहइया, 12. अंकलिपि, 13. गणितलिपि, 14. गंधव्व लिपि, 15. आदस (आयस) लिपि, 16. माहेसरी, 17. दमिली, 18. पोलिंदी।

'जैन समवायांग सूत्र' की रचना अशोक से पूर्व हुई मानी जाती है। इसमें दी हुई अट्ठारह लिपियों की सूची में ब्राह्मी और खरोष्ठी के अतिरिक्त जिन लिपियों के नाम दिए गए हैं उनमें लिखा हुआ कोई शिलालेख प्राप्त नहीं हुआ है। सम्भवतः वे सभी लुप्तप्राय: हो गई होंगी और उनका स्थान ब्राह्मी ने ही ले लिया होगा।

इसी प्रकार 'विशेषावश्यक सूत्र' की गाथा 464 की टीका मे भी 18 लिपियों के नाम गिनाये गए हैं—1. हंसलिपि, 2. भूअलिपि, 3. जक्खीतट लिपि, 4. रक्खी अथवा बोधघा, 5. उड्डी, 6 जवणी, 7. तुरुक्की, 8 कीरी, 9. दविडी, 10. सिंधविया, 11. मालविणी, 12. नडि, 13 नागरि, 14. लाडलिपि, 15. पारीसी वा बोधघा, 16. तहअनिमित्तीय लिपि, 17. चाणक्की, 18. मूलदेवी।

'समवायांगसूत्र' और 'विशेषावश्यक' टीका में आयी हुई 18 लिपियों के नामों में बड़ा अन्तर है। 'समवायांग' में ब्राह्मी और खरोष्ठी के नाम आते हैं परन्तु विशेषावश्यक टीका में एशिया और भारत के प्रदेशों के नामों पर आधारित तथा कतिपय प्रसिद्ध पुरुषों की नामाश्रित लिपियों के नाम देखने को मिलते हैं, यथा—तुरुक्की, सिंधविया, दविडी, मालविणी, पारसी ये देशो के नाम पर हैं और चाणक्की, मूलदेवी आदि व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित हैं। रक्खसी और पारसी दोनों के पर्याय बोधघा दिए हैं। ये दोनों एक ही थी क्या ? समवायांगसूत्र वाली सूची स्पष्ट है।

इनमें कुछ तो शुद्ध सांकेतिक लिपियाँ हैं जो अमुक-अमुक वर्णों का सूचन करती हैं और कुछ एक ही लिपि के वर्णों में क्रम-परिवर्तन करके स्वरूप-ग्रहण करती है, यथा—चाणक्की और मूलदेवी लिपियाँ नागरी के वर्णों में परिवर्तन करके ही उत्पन्न की गयी है। वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र' में परिगणित 64 कलाओं में ऐसी लिपियों का भी उल्लेख आता हैं और इनको 'म्लेच्छित विकल्प' की संज्ञा दी गयी है। जब शुद्ध शब्द के अक्षरो में विकल्प या फेरफार करके उसे अस्पष्ट अर्थ वाला बना दिया जाता है तो वह 'म्लेच्छित विकल्प' कहलाता है, यथा—'क', 'स', 'थ' और 'द' से 'क्ष' तक के अक्षरों को ह्रस्व और दीर्घ तथा अनुस्वार और विसर्ग, इन सबको उलटा क्रम करके अन्त मे क्ष लगाकर लिखने से दुर्बोध्य 'चाणक्यी' लिपि बन जाती है।

अ क, ख ग, घ ङ, च ट, त प, य श, इनको लस्त अर्थात् अ की जगह क, ख के स्थान पर ग रखने तथा शेष को यथावत् रखने से मूलदेवीय रूप हो जाता है।

गूढ़ लेख-ग्रह 9-ग्रइउऋलृएऐग्रोग्रौ, नयन-2 दीर्घ, वसु 8-कखगघङ चछज, षडानन 6—झयटठडढ, सागर 7-णतथदधनप, मुनि 7-फबभमयरल, ज्वलनांग 5-वशषसह, तुंकश्रृंग—विसर्ग-ग्रनुस्वार। इस कुञ्जी से लिखा गूढ़ लेख कहलाता है — "ग्रहनयनवसुसमेतं षडाननख्यानि सागरा मुनयः। ज्वलनांग तुंकश्रृंग दुर्लिखितं गूढ लेख्यामिदम्॥ यथा—

वसु	1=क्+ग्रह 1 नयन=ग्रा=क+ग्र+ग्रा=का	
मुनि	4=म्+ग्रह 1 ग्र=म + ग्र	=म
सागर	4=द्+ग्रह 6 = द + ए	=दे
ज्वलनांग	1=व+ग्रह 1 = व+ ग्र	=व
		= कामदेव

एव "प्रकारा ग्रन्येऽपि द्रष्टव्याः"

इसी प्रकार ग्रक पल्लवी, शून्यपल्लवी ग्रौर रेखापल्लवी लिपियाँ भी होती थीं। ग्रंकपल्लवी मे पहला ग्रंक वर्ण का द्योतक, दूसरा उस वर्ग के ग्रक्षर का ग्रौर तीसरा मात्रा का द्योतक होता है। ग्र पहला वर्ग है, सभी स्वर इसके ग्रक्षर है। क, च, ट, त, प, य ग्रौर श ये ग्रन्य वर्ग हैं। इन वर्गों के ग्रक ये होंगे 1=ग्र वर्ग-स्वर वर्ग, 2=क वर्ग, 3=च वर्ग, 4=ट वर्ग, 5=त वर्ग, 6=प वर्ग तथा 7=यरलव एव 8=शपसह। ग्रक पल्लवी मे लेख यो लिखा जायेगा—

212	651	537	741
का	म	दे	व

शून्यांकों मे हल्की ग्रौर गहरी शून्य से लघु ग्रौर गुरु का सकेत किया जाता है, इसी प्रकार रेखांको मे हल्की-गहरी ग्रौर बडी-छोटी रेखाग्रो से सकेत बनाए जाते है।

कितनी ही प्राचीन ताडपत्रीय ग्रौर कागज पर लिखी प्रतियो मे ग्रक्षरात्मक ग्रक भी पाए जाते है, जैसे-रोमन-लिपि मे १० (10) के लिए X, ५० (50) के लिए L, १०० (100) के लिए C ग्रक्षरो का प्रयोग किया जाता है। जैसे दस, बीस, तीस ग्रादि दशक सख्याग्रो के सूचक ग्रक्षर लिखे जाते है, परन्तु शून्य के स्थान पर शून्य ही चलता है जैसे—

लृं = 10, घ=20, ला=30, प्त=40, 0=50, र्घु=6०, र्घू=70, 0=80, 0=90,
0 0 0 0 0

सु=100, सू=200, स्ता=300, स्ति=400, स्तो=500, स्त=600, स्त.=700
0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0 0 0

इत्यादि।

हम देखते हैं कि इन संख्याग्रों को पडी पंक्ति में न लिख कर ऊपर-नीचे खड़ी पंक्ति में लिखा जाता है। कुछ ग्रंकों के स्थान पर दहाई में वे ग्रंक ही ग्रपने रूप में लिखे जाते हैं ग्रौर कुछ के लिए ग्रन्य ग्रक्षर नियत है, यथा—लृं=11, लृं=12, लृं=13, परंतु,
1 2 3

14 के लिए लृं लिखा जायगा। इसी प्रकार लृं=15, लृं=16, लृ=17, लृं=18,
एक लृं फ्रु र्यो बा

लं=19 इत्यादि।

उ

हमारे बचपन मे चटशालाएँ चलती थी। चटशालाएं सम्भवतः चेट्टिशाला का रूपान्तर हैं। चेट्टि शब्द शिष्य का वाचक है। चटशाला के बड़े छात्र या अध्यापक को जोशीजी कहते थे। मानीटर को 'वरचट्टी' कहा जाता था। उन दिनों पहले एक पटरे पर गेरू या लाल मिट्टी बिछा कर लकडी के 'बरते' से अक्षर लिखना सिखाया जाता था। फिर लकड़ी की पाटी पर मुल्तानी पोत कर नेजे (सरकण्डे) की कलम और गोदवाली काली स्याही से सुलेख लिखाया जाता था। इसको 'अक्षर जमाना' कहते थे। पहले वर्ण-माला फिर गणित पाटी आदि तो लिखाते ही थे परन्तु बड़े छात्रो को 'सिद्धा' अर्थात् कातन्त्र सूत्र 'सिद्धो वर्णा.' लिखाते थे—पर साथ ही, हमे याद है कि एक 'दातासी' लिपि भी लिखाई जाती थी। इसको जानने वाला सबसे चतुर छात्र समझा जाता था-स्वर तो वही रहते हैं परन्तु 32 व्यंजनो के लिए ये अक्षर होते थे .

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
श्री दा	ता	ध	न	को	स	मा	वो	वा	ल

11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24
म	हि	प	गो	घ	टी	आ	ई	पू	छ	ज	डा	थ	ढा

25	26	27	28	29	30	31	32	इति दातासी।
उ	च	री	य	ठ	ण	झ	फू	

इसका दूसरा सूत्र इस प्रकार है--

दाता धण कोस भाव, वाला मह खग घटा ।
आशा पीठं जढे षण्डे, चय रिच्छ थन झफा ।।

इति दातासी ।

वर्ण विपर्यय द्वारा लिखी जाने वाली एक सहदेवी विधि भी है, जिसका क्रम इस प्रकार है .--

अप । फब । मम । कच । खछ । गज । घझ । ङञ ।
टत । ठथ । डद । ढध । णन । हय । शब । रस । लष ।।

इति सहदेवी

लिपि

व्यावहारिक समस्याएं

यहां तक हमने ऐतिहासिक दृष्टि से लिपि के स्वरूप पर विचार किया है। साथ ही विविध लिपियों की वर्णमालाओं पर भी प्रकाश डाला है। पांडुलिपि-विज्ञान के अध्येता और अभ्यासी को तो आज विविध ग्रन्थागारों में उपलब्ध ग्रन्थो का उपयोग करना पड़ता है। इन ग्रन्थो मे देवनागरी के ही कुछ अक्षरो के ऐसे रूप मिलते है कि उन्हें पढ़ना कठिन होता है। इस दृष्टि से ऐसे कुछ अक्षरो का ज्ञान यहाँ करा देना उपयुक्त प्रतीत होता है।

एक अनुसन्धानकर्ता गुजरात के ग्रन्थागारों के ग्रन्थों का उपयोग करने गये तो उन्हें एक प्रतिष्ठित आचार्य ने ऐसे ही विशिष्ट अक्षरों की एक अक्षरावली दी थी और उस अक्षरावली के कारण उन्हें वहाँ के ग्रन्थों को पढ़ने में कठिनाई नहीं हुई। वह अक्षरावली[1]

1. सत्येन्द्र (डॉ०)—अनुसन्धान, पृ० 111 ।

नीचे दी जाती है :

उ ऊ ओ औ छ ज झ

संयुक्त वर्ण

इस अक्षरावली पर दृष्टि डालने से एक बात तो यह विदित होती है कि 'उ ऊ ओ औ' चारो स्वरो मे 'मूल स्वर' का रूप एक है, उ ऊ मे भी और 'ओ औ' मे भी वह है ³₃ इसमें शिरोरेखा देकर 'उ' बनाया गया है । इसी मे 'ऊ' की मात्रा लगाकर 'ऊ' बनाया गया है । यह 'ऊ' की मात्रा है–' ' और यह अशोककालीन ब्राह्मी की 'ऊ' की मात्रा का ही अवशेष है जो आज तक चला आ रहा है। ओ औ मे 2 की रेखा को 3 की भाँति वृत्तांकित या कुण्डीयुक्त कर दिया गया है। फिर 3 पर शिरोरेखा मे भी अशोक लिपि की परम्परा मिलती है । दोनो ओर '–' यह रेखा लगाने से 'औ' बनता है, ये 'ओ' की मात्राएँ हैं । 'औ' की मात्रा मे भी एक रेखा (ऊ) की मात्रा के सिर पर चढ़ाई गयी है । ये ब्राह्मी के अवशेष हैं । यही प्रवृत्ति कु–कू मे भी मिलती है । के कै, को कौ मे बंगला लिपि की मात्राओं से सहायता ली गई है ।

अब यहाँ कुछ विस्तार से राजस्थान के ग्रन्थो में मिलने वाली अक्षरावली या वर्णमाला पर विस्तार से वैज्ञानिक विश्लेषणपूर्वक विचार डॉ. हीरालाल माहेश्वरी के शब्दों मे दिये जाते है : राजस्थानी की और राजस्थान मे उपलब्ध प्रतियों के विशेष सन्दर्भ मे उनकी वर्णमाला विषयक ज्ञातव्य बातें निम्नलिखित हैं—

1. (क) राजस्थान में उपलब्ध ग्रन्थों मे प्रयोग मे आयी देवनागरी की वर्णमाला की कुछ विशेषताएँ कहीं-कहीं मिलती हैं । उन्हें हम इन वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं :

(अ) विवादास्पद वर्ण

(आ) भ्रान्त वर्ण

(इ) प्रमाद से लिखे गए वर्ण

(ई) विशिष्ट वर्ण चिह्न, उनका प्रयोग करना अथवा न करना तथा

(उ) उदात्त-अनुदात्त-ध्वनि वर्ण

पहले प्रत्येक के एकाध उदाहरण देकर इनको स्पष्ट करना है :—

(अ) विवादास्पद (Controversial) वर्णों के उदाहरण

1— थ > छ / छ > थ

घ / थ   छ / छ

थ > छ

(सं. 1887 पोह सुदि 1 को लिखे गए बीकानेर परवाने से) अन्य परवानों में भी ऐसे ही रूप दोनो के मिलते हैं, सं. 1907 तक।

प्रयोग के उदाहरण

थाप > छाप / छेक > थेक

था > छा / छड़ी > थड़ी

थो > छो / छुणछुणो > थुणथुणो

2— र > द । द > र ।

दारारा र द द (ये रूप सभी प्रतियों और परवानो में)

र द

चवरा > चवदा । चवदा > चवरा
(4) (14)

3— थ > ब । ब > थ । (ब)

थोबडो > बोबडो ।

(आ)

1— छ > ब । ब > छ

छुरी > बुरी । (परनारी छानी छुरी) छंद > बंद ।
(परनारी बुरी) पद्धड़िया पद्धड़िया छंद ।

छाप > बाप > मैं तो म्हारे छाप का ।
मैं तो म्हारे बाप का ।।

2—ट > ढ।

बट बट गया इवांणी (अज्ञानी पृथक्-पृथक् हो गए) (मेल-मिलाप न रखकर)

बढ बढ गया इवांणी (अज्ञानी कह बढ़ गए)

3—भ > म।

भरेडी > मरेडी

4—स > म।

सिसियर > मिसियर

(चन्द्रमा) (काला, काले वर्ण का, काले वर्ण के समूह का)

5—छ > घ।

छमछम करती आई।

घमघम करती आई।

6—च > ब।

चांदणो > बांदणो

7—ज > त।

जाण्यो तेरो जत।

जाण्यो तेरो तत।

ज ज — ज त त — त

8—ण्य > ण। ण्य ण्य — ण्य

जाण्यो पण आण्यो नही → (जाना किन्तु लाया नही)

जाणो पण आणो नही → (जानते हो किन्तु लाते नही)

9—त > ट।

तूटेगो > टूटेगो

त ट — त ढ ट — ट

10—घ > ध।

घण जो यां काई मिलै। (स्त्रियों को देखने से क्या मिलता है)

धण जो यां काई मिलै। (अधिक (आतुरता) दिखाने से क्या मिलता है)

11—न > त। न न ट — ज

नातो तेरै नाम रो। (तेरे नाम का नाता है)

तातो तेरै नाम रो। (तेरे नाम का प्रेमी हूँ)

12—प > म। प प म — प

पड़ पड़ ताल समंदा पारी। (समुद्रों के पार तक खबर होती है)

मड़ मड़ ताल समंदा पारी (सरोवरों, समुद्रों के पार तक लाशें ही लाशें हैं।)

13–फ > क । फ फ फ / फ

फर फरडाटो आयो
कर करड़ाटो आयो

14–य > म
जय कुंण जांणै ।
जम कुंण जांणै ।

15–म > स ।
मान निहोरा कित रह्या ।
सान निहोरा कित रह्या ।

16–ह > ड । हे . डे . हे / ह

17–ड > द ।
हडूकियो > डडूकियो
डेल्ह > देल्ह (सुप्रसिद्ध कवि का नाम)

(ब) भ्रामक वर्ण

1— त्र > न्त्र । त्र > त्र
त्रपत > न्त्रपत । न्त्रपत > त्रपत

2—हलन्त् 'र' के लिए दो अक्षरों के बीच "—" चिह्न भी लिखा मिलता है (अनेक प्रतियों में)। सत्रहवीं शताब्दी की प्रतियों में अपेक्षाकृत अधिक।

उदाहरणार्थ .

धास्या > धा–या
मास्या > मा–या

इससे ये भ्रम हो सकते है –

(अ) सम्भवत. धा और या को मिलाया गया है (धास्या > धा–या)।
(ब) सम्भवतः इन दोनों के बीच कोई अक्षर, मात्रादि छूट गया है।
(स) सम्भवत. इसके पश्चात् शब्द समूह या ओल (पंक्ति) छूट गई है।
इसको कोई चिह्न-विशेष न समझ कर र का हलन्त रूप (–) समझना चाहिए। यह (–) अन्तिम अक्षर के साथ जुड़े हुए रूप में मिलती है, पृथक् नहीं।

(स) प्रमाद से लिखे गए वर्ण

इस शीर्षक के अन्तर्गत उल्लिखित (अ) विवादास्पद (Controversial) और

(आ) भ्रामक (Confusing) दोनो वर्ग भी सम्मिलित हैं। अब यहाँ प्रमादी लेखन से क्या परिणाम होते हैं और क्या कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं, उन्हें देखना है। पहले मात्राओं पर ध्यान जाता है :

(1) मात्रा :

1— ा > ी । का की
का > की । का > की
(ा > ी)

2—(क) उ > अः
(ख) ओ > आ आ
(ग) घ > घ
मात्रा (ा > उ)

(ख) कामोदरी > कामादरी
↓
कामादरी कामादरी

कामादरी

दृष्टव्य है कि अनेक हस्तलिखित प्रतियो मे दो मात्राएँ बगाली लिपि की भाँति लगी मिलता है। यह प्रवृत्ति 19वी शताब्दी तक की प्रतियो मे पाई जाती है। दोनो मात्राएँ नं० (1) मे दृष्टव्य हैं। यह प्रवृत्ति बीकानेर के 'दरबार पुस्तकालय' मे सुरक्षित ग्रन्थों में विशेष मिली है।

3— उ > अ
ए > ऐ । ऐ > ए

4—ओ>औ।औ > ओ ^ > ^

प्रतीत होता है कि यह गुरुमुखी के प्रभाव का परिणाम है और यह प्रवृत्ति 18वी शताब्दी और उससे आगे लिखे ग्रन्थों मे अधिक मिलती है।

अब हम इन वर्णों मे मिलने वाले वैशिष्ट्य को ले सकते हैं :

(2) वर्ण :

क > फ।

ष > प। दृष्टव्य है कि राजस्थानी में 'ख' वर्ण 19वीं शताब्दी तक की प्रतियों में नहीं पाया जाता। बदले में 'ष' ही पाया जाता है। इसके अपवाद ये हैं : 1. संस्कृत शब्द में 'ख' भी मिलता है, 2. ब्राह्मण प्रतिलिपिकारों ने दोनों का प्रयोग किया है।

ग > म । स्याही की अधिकता, पन्ने का फटना, स्याही का फैलना तथा लिखे हुए पर लिखने के कारण कुछ का कुछ पढ़ना मिलता है । इससे अर्थ का अनर्थ बहुत हुआ है ।

थ > व । थ्य थ (न)

झ > भु या भु > झ । फ > पु । पु > फ ।

बंगला लिपि के अनुसार लिखित 'उ' में यथा

झम > भुम । यहाँ भ में '' (उ) की मात्रा मिलायी गयी है, इससे 'भ' 'झ' लगने लगा है ।

ट > ठ । ठ > ट ।

ब > व । व > ब ।

द > ब । ब>द द द (द) द द (ब)

त > त्त (द्वित्व युक्त त)

तत > स्तत

व > न । व व (व) व न (न)

स > थ्य

प > प्त । त (प)

दृष्टव्य है कि इस वर्ग के अन्तर्गत जो उदाहरण मिलते हैं, वे अनेक हैं और प्रत्येक लिपिकार के अनुसार बदलते, घटते-बढ़ते रहते हैं । 'मक्षिका स्थाने मक्षिका पात' के सिद्धान्त-पालन करने वाले मामूली पढ़े-लिखे लिपिकार ऐसी भूलें किया करते हैं ।

(द) विशिष्ट वर्ण-चिह्न

य और व के नीचे बिन्दी लगाने की प्रथा राजस्थान में बहुत पुराने काल से है । इनको क्रमश य और व लिखा जाता है । पुराने ढंग की पाठशालाओं में वर्णमाला सिखाते समय 'ववा तकै स वींदली' तथा 'ययियो पेटक' और 'ययियो बींदक' बताया जाता था । ववा तले स वींदली अर्थात् 'व' के तले बिन्दी (व़) । ययियो पेटक अर्थात् य शुद्ध । ययिया बींदक अर्थात् य के नीचे बिन्दी (य़) । 17 वीं शताब्दी तक य य दो पृथक ध्वनियाँ थीं, इसके संकेत रूप में प्रमाण मिलते हैं । उसके पश्चात् शब्द के आदि के य को तो प और बीच के प को य करके लिखा जाता रहा । अठारहवीं शताब्दी और उसके बाद की प्रतियों में प्रत्येक 'य' को 'य' करके ही लिखा जाने लगा चाहे आदि मे हो या मध्य में या अन्त में । य (य) और (य़) के बीच ध्वनि (yeh, yes को yeh जैसे बोलते हैं) रही थी । इसी प्रकार व और व़ में अन्तर है । व को W और व़ को V की सी ध्वनियाँ मान सकते

हैं। तात्पर्य यह है कि प्राचीन लिपि में बिन्दी लगाई जाती थी जो अर्थ-भेद स्पष्ट करने का प्रयास था। अठारहवीं शताब्दी से (य़, य़) की भाँति ब व को भी व करके लिखा जाने लगा।

इससे फायदा यह है कि एक तो व और य का निश्चित पता चल जाता है, अन्यथा व को प, य को म या प आदि-आदि समझने की भ्रांति हो सकती है। दूसरे यह पता लग जाता है कि या तो रचना, अथवा लिपिकार, राजस्थानी हैं, और सामान्यतया जो भूलें राजस्थानी लिपिकार करता है, वे सम्बन्धित प्रति में भी होंगी।

ड और ड़ पृथक् ध्वनियाँ हैं। कहीं-कहीं दोनों के लिए केवल 'ड' ही लिखा मिलता है। पहचान यह है कि 'ड़' आदि में नहीं आता। इसके अतिरिक्त जो भ्रांति हो सकती है, उसका निराकरण अन्य उपायों से होगा।

चन्द्र-बिन्दु का प्रयोग कहीं भी नहीं होता। जहाँ चन्द्र बिन्दु जैसा प्रयोग होता है, निश्चित समझना चाहिए कि या तो यह छूटे हुए अंश को द्योतित करने का ( ) चिह्न है, अथवा बड़ी 'ई' की मात्रा (हजारों प्रतियों में मुझे तो एक भी चन्द्र-बिन्दु का उदाहरण नहीं मिला।) ध्यातव्य है कि गुजराती लिपि में चन्द्र-बिन्दु नहीं है। भाषा-शास्त्रीय और सांस्कृतिक दृष्टियों से राजस्थान का उससे विशेष सम्बन्ध होने के कारण भी ऐसा हुआ लगता है।

क्ष को ष्य लिखा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी से 'क्ष' भी लिखा मिलने लगता है, किन्तु यह ध्वनि संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त राजस्थानी में नहीं है। ङ नहीं है। ध्यातव्य है कि ड को 'ङ' करके लिखा जाता है इसको 'ड' समझना चाहिए 'ङ' नहीं।

'ञ' को पाठशालाओं में तो 'नदियो खांडो चाँद' करके पढ़ाया जाता था। खंडित चन्द्राकार होने से इसको ऐसा कहा गया। केवल बारहखड़ी काव्य में ही 'ञ' आया है। इसी प्रकार 'ङ' भी बारहखड़ी काव्य में प्रयुक्त हुआ है। अन्य स्थानों पर ये दो (ङ और ञ) नहीं आते। ज्ञ को सदा ग्य करके लिखा जाता है।

विराम चिह्नों के लिए चार बातें देखने में आई है—(,) कॉमा का प्रयोग नहीं होता, केवल पूर्ण विराम का होता है। (2) पूर्ण विराम या तो (1) की भाँति लिखा जाता है अथवा (3) विसर्ग की भाँति (·) या (4) कुछ स्थान छोड़ दिया जाता है। विराम चिह्न रूप में विसर्ग अक्षर से ठीक जुड़ती हुई न लगाकर कुछ जगह छोड़कर लगाई जाती है, यथा 'जाणो चाहिजें . काम करणो चाहिजें' · आदि। इसी प्रकार कुछ न लगाकर रिक्त स्थान छोड़ने का तात्पर्य भी पूर्ण विराम है, यथा 'जाणो चाहिजें—काम करणो चाहिजें'। रेखांकित स्थान पर पूर्ण विराम मानना चाहिए।

छूटे हुए अक्षर और मात्रादि, तथा जुड़वें संकेत (-) के लिए ये बातें द्रष्टव्य हैं:—

छूटा हुआ अक्षर दाएँ, बाँए हाशिये में, मात्रादि भी हाशिये में लिखी जाती है। किस हाशिये में कौन सा अक्षर और मात्रादि लिखा जाये इसका सामान्य नियम यह है कि यदि आधे से पूर्व तक कोई अक्षरादि छूट गया है, तो बाएँ में और बाद में कोई अक्षरादि छूट गया है तो दाएँ में लिखा जाता है। इसका चिह्न ˰ अथवा / अथवा L है।

अन्तिम को आधा प या = न समझना चाहिए। यदि अर्ध या पूर्ण पंक्ति छूट गई है, तो वह प्रायः ऊपर के स्थान पर या नीचे के स्थान पर लिखी जाती है। मूल लिखावट में दो स्थानों पर ˰˰ चिह्न देकर ऊपर या नीचे (ओ) या (वो) लिखकर छूटी हुई पंक्ति

लिखते हैं । यह पंक्ति प्रधान बाएँ हाशिये से कुछ हटकर दाहिनी ओर होती है, ताकि पाठक को आसानी से पता चल जाए (ओ अर्थात् ओली-Live, और बो अर्थात् बोली > ओली ।)

लिखते समय यदि शब्द तो पूरा लिखा गया किन्तु मात्रा छूट गई या स्थान नहीं रहा तो वह बाँए या दाएँ हाशिये में लिखी जाएगी । आधे वाला नियम यहाँ भी लागू होगा । इससे कभी-कभी बड़ा भ्रम उत्पन्न हो जाता है ।

इस सम्बन्ध में तीसरी स्थिति यह है कि यदि आधा शब्द लिखा गया और एक या अधिक उसके अक्षर लिखे जाने से रह गए तो लिपिकार हाशिये में एक चिह्न (ʃ) देता है, इसको आ (ा) या पूर्ण विराम (।) समझना चाहिए । यह सदैव दाएँ हाशिए में ही होगा । उदाहरणार्थ एक शब्द 'प्रकरण' को लें । लिखते समय पूर्व पंक्ति में प्रक तक लिखा गया क्योंकि बाद में हाशिया आ गया था । इसको यों लिखा जाएगा—प्रक | । रण । भूल से इसको प्रकारण न समझना चाहिए । (हाशिया)

विद्वानों ने उपर्युक्त चारों वर्गों वाली अनेक भूलें की है । पाठ को हड़बड़ी में पढ़ने, प्रतिप्रकृति को ठीक से न समझने आदि-आदि के कारण ऐसी भूलें हुई है । एक अत्यन्त मनोरंजक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है । डॉ. सियाराम तिवारी ने अपने शोध प्रबन्ध 'मध्यकालीन हिन्दी खण्ड काव्य' मे रामलता कृत रुक्मणी-मंगल का परिचय दिया है । उस मूल प्रति मे पत्रों का व्यतिक्रम था जो डॉ० तिवारी के ध्यान मे नही आया । ध्यान मे न आने का कारण यह था कि 'मगल' मे छन्द सख्या क्रम से न होकर रागों के अन्तर्गत पृथक-पृथक है । क्रम से यदि सख्या होती तो वे संगति बैठा लेते । इस प्रति को क्रमानुसार (अरेन्ज) न करके उमी रूप मे उन्होने लिखा है । इस कारण उनका यह समूचा अश सर्वथा गलत और भ्रातिपूर्ण हो गया है ।

(ई) उदात्त-अनुदात्त ध्वनियो से सम्बन्धित कोई चिह्न नही है, केवल प्रसग, अर्थ और अनुभव ज्ञान से ही सहायता मिल सकती है । कहीं-कही तो यह भी सभव नही है । एक उदाहरण यह है, शब्द है 'साड' यह मांड भी हो सकता है और सा'ड भो । सा'-ड का तात्पर्य ऊँटनी है । जहाँ अनेक पशुओ की नामावली आदि हो, वहाँ बड़ी भ्राति की संभावना है, क्योंकि उदात्त और अनुदात्त शब्द के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं । इसी प्रकार धन और ध'न है । धन अर्थात् सम्पत्ति और ध'न (ध'ण) अर्थात् पत्नी ।

उपसंहार

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व एक बात की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है । गुजरात के पुस्तकालयो/ग्रथागारों के ग्रथों को पढ़ने के लिए एक अक्षरावली एक विद्वान ने शोध-छात्र को दी थी । प्रश्न यह है कि वह उन्हें कहाँ से उपलब्ध हुई थी ? फिर डा० माहेश्वरी ने जो विविध अक्षर-रूपों को उद्धृत कर उदाहरणपूर्वक हस्तलेखों को पढ़ने की अड़चनो की ओर संकेत किया है, उसके लिए उन्हे सामग्री किसने दी ? दोनो का उत्तर है कि 'स्वानुभव' से । इन दो उदाहरणो से मिले इस निष्कर्ष के अनुसार पांडुलिपि विज्ञानविद् को चाहिये कि वह अन्य क्षेत्रों मे पांडुलिपियो को देखकर उनके आधार पर ऐसी ही क्षेत्रीय लिपि-मालाएँ तैयार कराये । ये स्वयं उसके उपयोग में आ सकेंगी तथा अन्य अनुसंधित्सुओं को भी पांडुलिपियों की शोध मे सहायक हो सकेंगी ।

विविध क्षेत्रीय वर्णमालाओं के समस्या-शोधक रूप प्रस्तुत हो जाने पर तुलनात्मक आधार पर आगे के चरण को प्रस्तुत कर सकना संभव होगा। इस प्रकार किसी भी एक लिपि के व्यवहार-क्षेत्र की समस्त समस्याएँ एक स्थान पर मिल सकेंगी और उनके समाधान का मार्ग भी तुलनात्मक पद्धति से प्रशस्त हो सकेगा।

□□□

अध्याय 6

पाठालोचन

'लिपि' की समस्या के पश्चात् 'पाठ' आता है। प्रत्येक ग्रन्थ का मूल लेखक जो लिखता है वह मूल पाठ होता है। मूल पाठ—स्वयं लेखक के हाथ का लिखा हुआ पाठ बहुत महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान वस्तु होती है। यदि किसी भी हस्तलेखागार में किसी भी ग्रंथ का मूल पाठ सुरक्षित है तो उस ग्रंथागार की प्रतिष्ठा और गौरव बहुत बढ़ जाता है। ऐसी प्रति का मूल्य वस्तुतः रुपये-पैसों में नहीं आंका जा सकता। अतः ऐसे ग्रंथ पर आगाराध्यक्ष को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

मूल-पाठ के उपयोग

मूल-पाठ के कितने ही उपयोग हैं। कुछ उपयोग निम्नलिखित प्रकार के हैं :

1—लेखक की लिपि-लेखन शैली का पता चलता है जिससे उसको लिखते समय की स्थिति और अभ्यास का भी ज्ञान हो जाता है।

2—उसकी अपनी वर्तनी-विषयक नीति का पता चलता है।

3—*ग्रंथ-संघटन सम्पादन में मूल-पाठ आदर्श का काम दे सकता है।* वस्तुत पाठालोचन-विज्ञान इस मूलपाठ की खोज करने वाला विज्ञान ही है।

4— मूल-पाठ से लेखक की शब्दार्थ-विषयक-प्रतिभा का शुद्ध ज्ञान होता है।

5— मूलपाठ से अन्य उपलब्ध पाठों को मिलाने से पाठान्तरों और पाठभेदों में लिपि, वर्तनी और शब्दार्थ के रूपान्तर में होने वाली प्रक्रिया का पता चल जाता है; इस प्रक्रिया का ज्ञान अन्य पाठालोचनों मे बहुत सहायक हो सकता है।

6—मूलपाठ के कागज, स्याही, पृष्ठांकन, तिथिलेखन, चित्र, हाशिया, हड़ताल उपयोग, आकार, ग्रंथन आदि से बहुत-सी ऐतिहासिक बातें विदित हो सकती हैं या उनकी पुष्टि-अपुष्टि हो सकती है। कागज-स्याही आदि के अलग-अलग इतिहास में भी ये बातें उपयोगी हैं।

लिपिक का सर्जन

अत हस्तलेखाधिकारी को अपेक्षित है कि वह इनके सबंध मे सामान्य वैज्ञानिक और ऐतिहासिक सूचनाएँ अपने पास रखे। ये सूचनाएँ उसके स्वयं के लिए भी उपयोगी और मार्ग-दर्शक हो सकती है। किन्तु सभी हस्तलेख मूलपाठ मे नही होते हैं। वे तो मूलपाठ के वश की आगे की कई पीढ़ियो से आगे के हो सकते है। मूलपाठ से प्रारंभ में जितनी प्रतिलिपियाँ तैय्यार हुई वे सभी मूलपाठ के वश की प्रथम स्थानीय संतानें मानी जा सकती हैं। मूल-पाठ से ही मान लीजिये तीन लिपिक प्रतिलिपि प्रस्तुत करते हैं—
वह इस प्रकार : पहला लिपिक — 3 प्रतियाँ
दूसरा लिपिक — 2 प्रतियाँ
तीसरा लिपिक — 4 प्रतियाँ

अब यह स्पष्ट है कि प्रत्येक लिपिक अपनी ही पद्धति से प्रतिलिपि प्रस्तुत करेगा। हम इस सम्बन्ध में 'अनुसंधान' में जो लिख चुके हैं उसे भी उद्धृत करना समीचीन समझते हैं :

पाठ की अशुद्धि और लिपिक

"प्राचीनकाल में प्रेस के अभाव में ग्रंथों को लिपिक द्वारा लिखवा-लिखवा कर पढ़ने वालो के लिए प्रस्तुत किया जाता था। फल यह होता था कि लिपिक की कितनी ही प्रकार की अयोग्यताओं के कारण पाठ अशुद्ध हो जाता था, यथा लिपिक में रचयिता की लिपि को ठीक-ठीक पढ़ने की योग्यता न हो तो पाठ अशुद्ध हो जायगा। सभी लेखकों के हस्तलेख सुन्दर नहीं होते, यदि लिपिक बुद्धिमान न हुआ और ग्रंथ के विषय से अपरिचित हुआ अथवा उसका शब्दकोष बहुत सीमित हुआ तो वह किसी शब्द को कुछ का कुछ लिख सकता है।"

शब्द विकार : काल्पनिक

'राम' को राय पढ़ लेना या 'राय' को राम पढ़ लेना असंभव नहीं। र और व (र व) को 'ख' समझा जा सकता है। ऐसे एक नहीं अनेक स्थल किसी भी हस्तलिखित ग्रंथ को पढ़ने में आते हैं, जहाँ किंचित् असावधानी के कारण कुछ का कुछ पढ़ा जा सकता है और फलत: लिपिक भ्रम से कुछ का कुछ लिख सकता है। इस भ्रम की परंपरा लिपिक से लिपिक तक चलते-चलते किसी मूल शब्द में भयंकर विकार पैदा कर देती है, परिणामत. काव्य के अर्थ ही कुछ के कुछ हो जाते हैं, उदाहरणार्थ—

लेखक ने लिखा	— राम
पहले लिपिक ने पढ़ा	— राय
दूसरे ने इसे पढ़ा	— राच (लिखने में य की शीर्ष रेखा कुछ हटा ली तो 'य' को 'च' पढ़ लिया गया।)
तीसरे ने इसे पढ़ा	— सच (उसे लगा कि र और 'आ' के डंडे के बीच 'स' बनाने वाली रेखा भूल से छूट गई है।
चौथे ने इसे पढ़ा	— सत्र ('च' लिपिक की शैली के कारण च = त्र पढ़ा जा सकता है।)
पाँचवे ने इसे पढ़ा	— रुच ('स' को जल्दी में रु के रूप में लिखा या पढ़ा जा सकता है।)

इस शब्द के विकार का यह एक काल्पनिक इतिहास दिया गया है, पर होता ऐसा ही है, इनमें संदेह नहीं। इसके कुछ यथार्थ उदाहरण भी यहा दिये जाते है :

शब्द-विकार—यथार्थ उदाहरण

'पद्मावत'—मे "होइ लगा जेवनार सुसारा—पाठ: मा. प्र. गुप्त

"होइ लगा जेंवनार पसारा—पाठ: आ. शुक्ल

एक ने 'ससारा' पढ़ा, दूसरे ने 'पसारा'।

'मानस' के एक पाठ मे एक स्थान पर 'सुसारा' है, बाबू श्यामसुन्दर दास के पाठ में 'सुआरा' है।

'काव्य निर्णय' (भिखारीदास) में एक चरण है :

"प्रहट करै ताही करन" चरवन केखदार

इसे एक ने लिखा	च रवन के खदार
दूसरे ने	चिरियन फै र बदार
तीसरे ने	चरवदन फे खदार
चौथे ने	चखन फैरबदार

प्रमाद का परिणाम

लिपिक पुष्पिकाओ मे यही कहता है कि "मक्षिका स्थाने मक्षिका पात" किया गया है, "जैसा देखा है वैसा ही लिखा है" पर ऊपर के उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि लिपिक ऐसा करता नही या कर नही पाता। जो रचयिता ने लिखा होता है उसे पढ़कर ही तो लिपिक लिखेगा और पढ़ने एव लिखने दोनों मे अज्ञान और प्रमाद से कुछ का कुछ परिणाम हो जाता है। ऊपर दिये गये उदाहरण लिपिक के प्रभाव के उदाहरण हैं। यह प्रमाद 'दृष्टि-कोण' कहा जा सकता है। पर एक अन्य प्रकार का प्रमाद हो सकता है, इस प्रमाद को 'लोपक प्रमाद' कह सकते हैं। इसमे लिपिक किसी शब्द को या वाक्य के किसी अंश को ही छोड जाता है।

छूट और भूल और आगम और अन्य विकार

उदाहरणार्थ, लिपिक सरवर का 'सवर' भी लिख सकता है। वह 'र' लिखना ही भूल गया। बिन्दु, चन्द्र बिन्दु तथा नीचे ऊपर की मात्राओं को भूलने के कितने ही उदाहरण मिल सकते हैं। कभी-कभी लिपिक प्रमाद मे किसी अक्षर का आगम भी कर सकता है। एक ही अक्षर को दो बार लिख सकता है।

कभी लिपिक रचनाकार से अपने को अधिक योग्य समझ कर या किसी शब्द के अर्थ को ठीक न समझ कर अज्ञान मे अपनी बुद्धि से कोई अन्यार्थक शब्द अथवा वाक्य-समूह[1] रख देता है। 'छरहटा' लिपिक को जचा नही तो उसने 'चिरहटा' कर दिया, अथवा 'चिर हटा' को 'छर हटा'। अभी कुछ वर्ष पूर्व जायसी के पाठ को लेकर इन दो शब्दो पर विवाद हुआ था। इसी प्रकार कहीं उसने सूर के पद मे 'हटरी' शब्द देखा, वह इससे परिचित नही था उसे 'ह री' (अर्थात् अरी हट) कर दिया। ऐसी ही भूल 'आखत ले' को 'आख तले' करने और बाद मे उसे 'आंख तले' करने मे भी है।

ऐसे लिपिकार के प्रमादो के कारण पाठ मे बड़े गभीर विकार हो जाते हैं।

1 ऐसे ही लिपिको के लिए डॉ० टैसीटरी ने यह लिखा था कि मैं 'वचनिका' की इन तेरह प्रतियो का वंशवृक्ष नही बना सका क्योकि एक तो प्रतिया बहुत अधिक मिलती हैं, दूसरे "In the peculiar Conditions under which bardic works are handed down, subject to every sort of alternations by the Copyists who generaly are bards themselves and often think themselves authorized to modefy or ' 'improve any text they Copy to suit their tastes or ignorance as the case may be'. (वचनिका, भूमिका, पृ० 9 'लिपि समस्या' शीर्षक अध्याय मे डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने भी कुछ ऐसी ही बातो की ओर ध्यान आकर्षित कराया है।

मुनि पुण्यविजय[1] जी ने (क) हस्तलिखित ग्रन्थों में आने वाले ऐसे अक्षरों की सूची दी है जिसमें परस्पर समानता के कारण लिपिकार एक के स्थान पर दूसरा अक्षर लिख जाता है, वह सूची यहाँ उद्धृत करना उपयोगी रहेगा—

क का क् लिखा जा सकता है।

ख का र व स्व ,,	त्त तू ,,
ग ,, रा ,,	छ ,, ड्ड, ड्ढ, द्र
घ ,, घ, व, थ, प्य	प्र ,, ग्ग, ग्ज
च ,, वु ठ, ध	द्र ,, उ
छ ,, व ,, ,,	बु ,, तु
ज ,, ञ ,,	ष ,, प, थ, घ
ञ ,, ज ,, ,,	उज ,, ब्ब, द्य
ट ,, ठ द	सू, स्त, स्व, मृ
उ ,, र, म	त्थ ,, च्छ
त ,, व	क्त ,, क्ष
थ ,, व	त्व ,, च, न
न ,, त, व	प्रा ,, या ,,
नु ,, तु	टा ,, य
प ,, ए, य	श्र ,, थ
फ ,, पु	एय ,, णा, एम
भ ,, स, म	था ,, थ्य
म ,, फ	पा ,, प्य
म ,, स, रा, ग,	सा ,, स्य
य ,, ब, त	षा ,, ष्य
हू ,, ह	ड्ढ ,. ट्ट द्द
	त्त ,, म
	च्च ,, थ
	ह ,, ड्ड द्ध
	ई ,, र्ह
	ए ,, प, च

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ॰ 78।

ऐ „ पे ये
क्ष „ क्ष, कु, क्ष
प्त „ पृ, पृ
सु „ मु
ष्ठ „ ष्व, ष्ट, ष्ट, ब्द
त्म „ त्स, ता, त्य
क क्त ऋ

(ख) मुनिजी[1] ने लिपिकार की भ्रान्तियों से शब्दरूपों के परस्पर भ्रान्त लेखन की एक सूची दी है। यह सूचियाँ प्रस्तुत की जा सकती है—

1. प्रभाव प्रमाद से प्रसव लिखा जा सकता है
2. स्तवन „ सूचन „ „
3. यच्च „ यथा „ „
4. प्रत्यक्षतोवगम्या प्रत्यक्ष बोधगम्या
5. नर्वा „ तथा
6. नच „ तव
7. तदा „ तथा „ „
8. पर्वत्तस्स „ पवन्नस्स „ „
9. जीवसालिम्मी कृत „ जीवमात्मीकृत
10. परिवुड्ढि „ परितुट्ठि
11 नचैव तदैव
12 ग्ररिदारिणा „ ग्ररिवारिणी या ग्रविदारिणी
13 दोहल क्खेविया „ दो हल कवे दिया

कभी-कभी लिपिक ग्रक्षर ही नही 'शब्द' भी छोड जाता है, दूसरा लिपिक इस कमी का ग्रनुभव करता है, क्योंकि छद मे कुछ गडबड दिखायी पड़ती है, ग्रर्थ में भी बाधा पडती है, तो वह ग्रपने ग्रनुमान से कोई शब्द वहाँ रख देता है।

लिपिक के कारण वंश-वृक्ष

लिपिक की लिखने की दक्षता की कोटि, उसकी लिखावट का रूप कि वह 'ग्र' या 'ग्र' लिखता है, 'प' या 'ख' लिखता है, शिरोरेखाएँ लगाता है या नही, भ ग्रौर म मे, 'प' ग्रौर 'य' म ग्रन्तर करता है या नही—ये सभी बाते लिपिकार की प्राकृति-प्रवृत्ति से सबद्ध है। इसी प्रकार से प्रत्येक ग्रक्षर के लेखन के साथ उसकी ग्रपनी प्रकृति जुड़ी हुई हैं, जिससे प्रत्येक लिपिकार की प्रति ग्रपनी-ग्रपनी विशेषताग्रो से युक्त होने के कारण दूसरे लिपिक से भिन्न होगी। ग्रत. वशवृक्ष मे प्रथम-स्थानीय सतानें ही तीन लिपिको के माध्यम से तीन वर्गों मे विभाजित हो जायेगी। इन प्रथम-स्थानीय प्रतियो से फिर ग्रन्य लिपिकार प्रतिलिपियाँ तैयार करेगे ग्रौर एक के बाद दूसरी से प्रतिलिपियाँ तैयार होती चली जायेंगी। इस प्रकार एक ग्रथ का वशवृक्ष बढ़ता जाता है। इसके लिए उदाहरणार्थ एक वशवृक्ष का रूप यहाँ दिया जाता है।

1. भारतीय जैन श्रमण सस्कृति ग्रौर लेखन कला, पृ. 79।
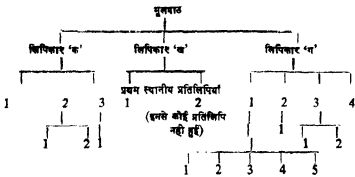
इस प्रकार वंश-वृक्ष बढ़ता जायगा। प्रत्येक पाठ मे कुछ वैशिष्ट्य मिलेगा ही। यह वैशिष्टय ही प्रत्येक प्रति का निजी व्यक्तित्व है। यह तो प्रतिलिपि की सामान्य सृजन का निर्माण-प्रक्रिया है।

पाठालोचन की आवश्यकता

पाठालोचन की हमे आवश्यकता तब पडती है, जब हस्तलेखागार मे एक प्रति उपलब्ध होती है, पर वह 'मूलपाठ' वाली नही—वह प्रतिलिपि है निम्नलिखित वर्ग की—

(4) 2–3–1–5–2

अर्थात् चौथी पीढ़ी की दूसरी शाखा की 3 प्रतियो मे से पहली प्रति की पाचवी प्रति की दूसरी प्रति। इसे यहाँ दिए वशवृक्ष से समझा जा सकता है :
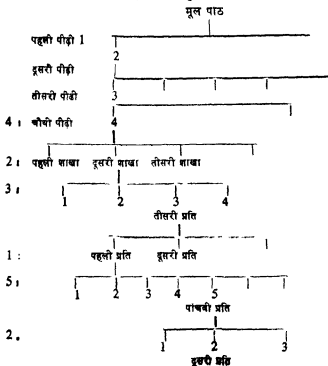
अब हस्तलेखागाराध्यक्ष या पांडुलिपि-विज्ञानवेत्ता इस प्राप्त प्रति का क्या करेगा ? यह स्पष्ट है कि इस ग्रंथ के पूरे वंशवृक्ष में प्रत्येक प्रति का महत्त्व है , क्योंकि प्रत्येक प्रति एक कड़ी का काम करती है ।

प्रक्षेप या क्षेपक

ऊपर हमने प्रतिलिपिकार के प्रमाद से हुए पाठान्तरो का उल्लेख किया है और उनमे वर्तनी और शब्द-भेदो की ही चर्चा की है । पर प्राचीन ग्रथो मे प्रक्षेपों और छूटों के कारण भी विकार आता है

प्राचीन ग्रथों मे 'प्रक्षेपों' का या 'क्षेपकों' का समावेश प्रचुर मात्रा मे हो जाता है । कुछ काव्यों को एक नये नाम से पुकारा जाने लगा है । उन्हे आज 'विकसन-शील' काव्य कहा जाने लगा है, यह बताने के लिए कि मूल रूप मे छोटे काव्य को बाद के कवियो ने या पाठको ने या कथावाचको ने अपनी ओर से कुछ जोड-जोड कर उस काव्य को विशाल बना दिया है ।

'महाभारत' के विद्वान् अध्येता यह मानते हैं कि मूल रूप मे यह काफी छोटा था।

'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध मे भी यह झगडा है । उसके तीन सस्करण विद्वानो ने ढूंढ निकाले है, कुछ की धारणा है कि 'लघु' सस्करण मूल रहा होगा, बाद मे उसमे अन्य बहुत-सी सामग्री जुड़ती गयी । इस प्रणाली से उसका आधुनिक वृहद् रूप खडा हुआ ।

हमारे यहाँ कुछ ग्रथो का उपयोग 'कथा' कहने के लिए होता रहा है । तुलसी का 'रामचरित मानस' इसका एक उदाहरण है । कथाकार को कथा कहते समय कोई प्रसंग ऐसा विदित हुआ, जो और विस्तार चाहता है, तो उसने 'स्वय' की रचना कर डाली और अपनी प्रति मे उसे जोड दिया । मानस मे 'गगावतरण' का प्रसग ऐसा ही प्रक्षेप या क्षेपक माना जाता है ।

प्रक्षिप्त या क्षेपक के कारण

इन प्रक्षेपो का पाँच कारणो से किसी काव्य मे समावेश हो जाता है :--

(1) किसी कवि (अथवा कथाकार) द्वारा अपने उपयोग के लिए, ऐसे स्थलो को जोड देना, जो उसे उपयोगी प्रतीत होते है, यह उपयोगिता दो रूपो मे हो सकती है :--

(क) किसी विशेष प्रकरण को और अधिक पल्लवित करने के लिए, तथा--

(ख) कवि का अपना कोई स्वतन्त्र कृतित्व जो उसके पाठ्य-ग्रन्थ के किसी अश से सम्बन्धित हो और जो उसे लगे कि मूल कवि की कृति मे जुडकर उसे प्रसन्नता प्रदान करेगा ।

(2) एक ही विषय के भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र कृतित्वो को किसी अन्य व्यक्ति द्वारा एक मे यथा-सन्दर्भ सम्पादित कर देना । कुछ कवि इस बात को स्वय लिख देते हैं, कुछ चुप बने रहते हैं । जैसे--'गोयम' ने चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' मे अपने द्वारा किये परिवर्द्धन का उल्लेख कर दिया है ।* गोयम या गोतम 'स्वय' ऐसा उल्लेख

* 'नंददास' की अनेकार्थ मंजरी और 'मान' मंजरी मे 'रामहरि' ने जो अश जोड़ा है, उसका उल्लेख कर दिया है। यथा, बीस ऊपरे एक सौ नंददास जू कीस और दोहरा 'रामहरि कीजे है जु नवीन ब ५५ अनेकार्थ ध्वनि मंजरी।

नहीं करता तो प्रक्षिप्तांश किसके रचे हैं, यह समस्या बनी रहती, जैसी कि 'रामचरितमानस' के गंगावतरणादि के सम्बन्ध में बनी हुई है ।

(3) कभी-कभी कवि के अधूरे काव्य को उसी कवि के पुत्र या शिष्य पूरा करते हैं या उसमे आगे कुछ परिवर्द्धन करते हैं, और कभी-कभी पूर्व कृतित्व को भी संशोधित कर देते है ।

(4) किसी बिखरी सामग्री को एक व्यवस्था मे रखते समय बीच की लुप्त कड़ियों को जोडने के प्रयत्न भी कविगण करते हैं, और ये कड़ियाँ या तो व्यवस्था करने वाला कवि अपने कौशल से जोड़ देता है, जैसे कुशललाभ ने लोक प्रचलित 'ढोला मारू रा दूहा' के दोहे को लेकर उन्हे एक व्यवस्था मे बाधा और कथा-पूर्ति के लिए बीच-बीच मे चौपाई द्वारा अपना कृतित्व दिया । इस प्रकार पूरक कृतित्व के रूप मे वह एक अन्य कृति में अपने कृतित्व का समावेश करता है या फिर वह किसी अन्य कवि से उपयोग सामग्री ले लेता है और अपनी पाठ्य-कृति मे जोड़ देता है ।

(5) मुक्तकों के सग्रह ग्रन्थों में समान-भाव के मुक्तक अन्य कवियो के भी स्थान पा ले तो आश्चर्य नही । ऐसे सग्रहों मे नाम छाप भी बदल दी जाती है । 'सूरसागर' मे ऐसे पद मिलते है जो किसी अन्य कवि के हो सकते हैं । यह नाम छाप की अदला-बदली कभी-कभी लोक-क्षेत्र मे अत्यन्त लोकप्रिय कवियो के साथ हो जाती है । कबीर, मीरा, सूर, तुलसी की छाप गायक चाहे जिस पद मे लगा देता है ।

फलत. पाठानुसधान का धर्म है कि ऐसे प्रक्षेपो या क्षेपकों को वैज्ञानिक प्रणाली से पहचाने और उन्हे निकाल कर प्रामाणिक मूल प्रस्तुत करे । यह वैज्ञानिक प्रणाली से होना चाहिये, स्वेच्छा या अवैज्ञानिक ढग से नही । अवैज्ञानिक ढग मे स्वेच्छ या जैनोडोटस जैसे विद्वान ने होमर की कृति का सम्पादन करते समय बहुत-सा अश निकाल दिया था । उसकी दृष्टि मे वह अश प्रक्षिप्त था, जबकि आगे के विद्वानो ने वैज्ञानिक पद्धति से पाया कि वे अश प्रक्षिप्त नही थे ।[1]

छूट

प्रक्षेपो की भाति ही काव्य मे 'छूट' भी हो सकती है । प्रतिलिपिकार कभी तो प्रमाद मे कोई पक्ति, शब्द या अक्षर छोड जाता है पर कभी वह प्रतिलिपि किसी विशेष दृष्टि से करता है और कुछ अशो को अपने लिए अनावश्यक समझ कर छोड देता है ।

पाठालोचन का यह कार्य भी होता है कि ऐसी छूटों की भी प्रामाणिक मूल पाठ की प्रतिष्ठा करके वह पूर्ति करे ।

अप्रामाणिक कृतियाँ .

यहो यह बताना भी आवश्यक है कि कभी-कभी एसी कृतियाँ भी मिल जाती हैं जो पूरी की पूरी अप्रामाणिक होती है । उस ग्रन्थ का रचयिता, जो कवि उस ग्रन्थ मे बताया गया है, यथार्थत वह उसका कर्त्ता नही होता । इस छल का उद्घाटन पाठालोचन ही कर सकता है ।

1 Smith, William, (Ed)—Dictionary of Greek and Roman Biography and Mythology, p. 510-512.

अतः स्पष्ट है कि पाठालोचन अथवा पाठानुसंधान एक महत्त्वपूर्ण अनुसधान है। किसी भी अन्य अनुसन्धान से इसका महत्त्व कम नही माना जा सकता। इस अनुसंधान में उन सभी मन.शक्तियो का उपयोग करना पडता है जो किसी भी अन्य अनुसंधान में उपयोग मे लायी जाती है।

पाठालोचन में शब्द और अर्थ का महत्त्व

पाठालोचन का सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ दोनो से होता है अत. इसे केवल भाषा-वैज्ञानिक विषय ही नही माना जा सकता, साहित्यिक भी माना जा सकता है। डॉ० किशोरीलाल ने अपने एक निबन्ध मे इसी सम्बन्ध मे यो विचार प्रकट किये है .

"इस दृष्टि से सम्पादन की दो सरणियो का उपयोग हो रहा है– (1) वैज्ञानिक-सम्पादन, और (2) साहित्यिक सम्पादन ।

वैज्ञानिक एव साहित्यिक प्रक्रिया मे मूलत. अन्तर न होते हुए भी आज का वैज्ञानिक सम्पादक शब्द को अधिक महत्त्व देता है और साहित्यिक सम्पादक अर्थ को। इसमे सन्देह नही कि शब्द और अर्थ की सत्ता परस्पर असपृक्त नही है फिर भी अर्थ को मूलत. ग्रहण किये बिना प्राचीन हिन्दी काव्यो का सम्पादन सर्वथा निर्भ्रान्त नही। इन्ही सब कारणो से शब्द की तुलना मे अर्थ की महत्ता स्वीकार करनी पडती है। आज अधिकतर पाठ-सम्पादन मे जो भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती है, वे अर्थ न समझने के कारण ।"[1]

डॉ० किशोरीलाल जी ने जो विचार व्यक्त किये है, वे समीचीन है, पर किसी सीमा तक ही। ठीक पाठ न होने से ठीक अर्थ पर भी नही पहुँचा जा सकता। डॉ० किशोरी लाल जी ने अपने निबन्ध मे जो उदाहरण दिये है, वे गलत अर्थ से गलत शब्द तक पहुँचने के है। उदाहरणार्थ, 'आँख तले' जिसने पाठ दिया, उसकी समझ मे 'आखतले' नही जमा, उसे लगा कि 'आँख' को ही गलती से 'आख' लिख दिया गया है। 'आख' का कोई अर्थ नही होता, ऐसा उसने माना। क्योकि पाठ-सम्पादक या लिपिक ने अर्थ को महत्त्व दिया उसने 'आख' को 'आख' कर दिया। अब आप अर्थ को महत्त्व देकर 'आखत ले' कर रहे है, तो आप पाठ वाले की परिपाटी मे ही खडे है। यथार्थ यह है कि 'आँख' और 'आख' शब्द रूप से अर्थ ठीक नही बैठता। आपने उसके रूप की नयी सम्भावना देखी। 'तले' का 'त' आख से मिलाया और 'ले' को स्वतन्त्र शब्द के रूप मे स्वीकार किया। 'आँख तले' शब्द रूप के स्थान पर 'आखत ले' रूप जैसे ही खडा हुआ, अर्थ ठीक लगने लगा। शब्द रूप 'आख + तले' नही 'आखत + ले' है। जब हम शब्द का रूप 'आखत ले' ग्रहण करेंगे तभी ठीक अर्थ पर पहुँच सकेंगे। शब्द ही ठीक नही होगा तो अर्थ कैसे ठीक हो सकता है। शब्द से ही अर्थ की ओर बढ़ा जाता है। अत आवश्यक यह है कि वैज्ञानिक प्रणाली से ठीक या यथार्थ शब्द पर पहुँचा जाय, क्योकि शुद्ध शब्द ही शुद्ध या समीचीन अर्थ दे सकता है। वस्तुतः ग्रन्थ से अर्थ प्राप्त करने का एक अलग ही विज्ञान है। उक्त उदाहरण को ही ले तो 'आख (आँख) + तले 'आखत + ले' और 'आ + ख + तले' ये तीन रूप एक शब्द के बनते हैं, तो इसमे से किस रूप को पाठ के लिए मान्य किया जाय ? यहाँ अर्थ ही सहायक हो सकता है।

1. लाल, किशोरी — प्राचीन हिन्दी काव्य : पाठ एवं अर्थ विवेचन, सम्मेलन पत्रिका (चैत्र-भाद्रपद, शक 1892), पृ० 177।

अतः यह मानना ही होगा कि वैज्ञानिक विधि से पाठ-निर्धारण में भी अर्थ का महत्त्व है। हाँ, पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रणाली में शब्दों का महत्त्व स्वयं-सिद्ध है।

पांडुलिपि-विज्ञान और पाठालोचन

इस दृष्टि से यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि हस्तलेखवेत्ता को 'पाठालोचन' का ऐसा ज्ञान हो कि वह किसी प्रति का महत्त्व आँकने या आँकवाने मे कुछ दखल रख सके।

पाठालोचन की प्रक्रिया से अवगत होने पर और कागज, लिपि, वर्तनी तथा स्याही के मूल्यांकन की पृष्ठभूमि पर तथा विषय की परम्परा के परिप्रेक्ष्य में वह उस ग्रन्थ पर सरसरा मत निर्धारित कर सकता है। यह मत उस प्रति के उपयोगकर्त्ताओं और अनुसंधित्सुओं को 'अनुसंधेय धारणा' (Hypothesis) के रूप में सहायक हो सकता है।

स्पष्ट है कि पाठालोचन का ज्ञान पांडुलिपि-विज्ञानवेत्ता को पाठालोचन की दृष्टि से नही करना, वरन् इसलिए करना है कि उस ज्ञान से ग्रन्थ की उस प्रति का मूल्य आँकने मे कुछ सहायता मिल सकती है, और वह उसके आधार पर उस ग्रन्थ-विषयक बहुत-सी भ्रान्तियों से भी बच सकता है। पाठालोचन वास्तविक पाठ तक पहुँचने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है और पाठ 'ग्रन्थ' का ही एक अंग है, और वह ग्रन्थ उसके पास है, अतः अपने ग्रन्थ के अन्य अवयवों के ज्ञान की भाँति ही इसका ज्ञान भी अपेक्षित है।

पाठालोचन–प्रणालियाँ

पाठालोचन की एक सामान्य प्रणाली होती है। सम्पादक पुस्तक का सम्पादन करते समय जो प्रति उसे उपलब्ध हुई है, उसी पर निर्भर रह कर, अपने सम्पादित ग्रन्थ मे वह उन दोषों को दूर कर देता है, जिन्हे वह दोष समझता है। इसे 'स्वेच्छया-पाठ-निर्धारण-प्रणाली' का नाम दे सकते हैं।

दूसरी प्रणाली को 'तुलनात्मक-स्वेच्छया-सम्पादनार्थ-पाठ-निर्धारण' की प्रणाली कह सकते हैं। सम्पादक को दो प्रतियाँ मिल गयी। उसने दोनों की तुलना की, दोनो में पाठ-भेद मिला, तो जो उसे किसी भी कारण से कुछ अच्छा पाठ लगा, वह उसने मान लिया। ऐसे सम्पादनो मे वह पाठान्तर देने की आवश्यकता नही समझता। हाँ, जहाँ वह देखता है कि उसे दोनो पाठ अच्छे लग रहे हैं वहाँ वह नीचे या मूलपाठ मे ही कोष्ठकों मे दूसरा पाठ भी दे देता है।

इसी प्रणाली का एक रूप यह भी मिलता है कि ऐसे विद्वान् को कई ग्रन्थ मिल गये तब भी पाठ-निर्धारण का उसका सिद्धान्त तो वही रहता है कि स्वेच्छया जिस पाठ को ठीक समझता है, उसे मूल में दे देता है। इस स्वेच्छया पाठ-निर्धारण मे उसकी ज्ञानगरिमा का योगदान तो अवश्य रहता है, एक पाठ स्वेच्छया स्वीकार कर वह उसे ही प्रामाणिक घोषित करता है-इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वह कवि-विषयक अपने पाण्डित्य का सहारा लेता है, और कवि की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं की भी दुहाई देता है। किन्तु यथार्थतः इस सम्पादन मे पाठ के निर्धारण मे वस्तुतः अपनी रुचि को ही महत्त्व देता है, फिर उसे ही कवि का कर्त्तत्व मान कर वह उसे सिद्ध करने के लिए कवि के तत्सम्बन्धी वैशिष्ट्य को सिद्ध करता है। अपनी इस प्रणाली की चर्चा वह भूमिका मे कर देता है। हाँ, जब उसे दो प्रतियों के पाठों में यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि किसमे

ऐसा श्रेष्ठतम भाव है, जो कवि को अपेक्षित रहा होगा, अथवा जब वह समझता है कि दोनों ही या दोनों में से कोई भी पाठ कविसम्मत हो सकता है, क्योंकि उत्कृष्टता में उसे दोनों एक-दूसरे से कम नहीं लगते तब वह एक पाठ के साथ दूसरा पाठ विकल्प में दे देता है। इसे वह पाठान्तर की तरह पाद टिप्पणी के रूप में भी दे सकता है।

इसी प्रणाली का आगे का चरण वह होता है जिसमे पाठालोचनकार को दो से अधिक हस्तलिखित प्रतियाँ मिल जाती हैं। इन समस्त प्रतियों के पाठों में से वह उस पाठ को ग्रहण कर लेता है जो उसे अपनी दृष्टि से सर्वोत्तम लगता है। अब वह अन्य प्रतियों के सभी पाठों को पाठान्तर के रूप में पद के नीचे दे देता है।[1]

वैज्ञानिक चरण

और अब वह चरण आता है जिसे वैज्ञानिक चरण कह सकते हैं। इस चरण की प्रणाली में कई हस्तलेखों की तुलना की जाती है। अब तुलनात्मक आधार पर प्राय. प्रत्येक प्रति में मिलने वाली त्रुटियों मे साम्य वैषम्य देखा जाता है। इसके परिणाम के आधार पर इन समस्त हस्तलेखों का एक वंशवृक्ष तैयार किया जाता है और कृति का आदर्श पाठ

1. "स्वेच्छया पाठ निर्धारण का ऐसा ही रोचक वृत्तांत होमर काव्य के पाठ-निर्धारण के सम्बन्ध में मिलता है। यह माना जाता है कि जेनोडोटस ने व्यवस्थित आलोचना (पाठालोचन) की नींव रखी थी। उसने कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए थे (1) समस्त ग्रंथ के परिप्रेक्ष्य मे जो सामग्री विरुद्ध है अथवा अनावश्यक है, उसे निकाल दिया जाय। (2) कवि की प्रतिभा की दृष्टि से जो सामग्री अयोग्य लगे उसे भी अस्वीकार कर देना चाहिए। इन सिद्धान्तों के आधार पर अपने ढंग से उसने लम्बे प्रघटकों को काट फेंका, अन्यों को स्वेच्छया परिवर्तित कर दिया तथा इधर-उधर रख दिया। संक्षेप मे, यह सब उसने उसी प्रकार किया जिस प्रकार वह अपनी कृति में करता। उसके बाद के गम्भीर आलोचकों को इस प्रणाली से बहुत धक्का लगा।"

'—विलियम स्मिथ—डिक्शनरी ऑफ ग्रीक एण्ड रोमन बायोग्राफी एण्ड माइथालोजी, पृ० 510.

स्वेच्छया पाठ-निर्धारण का यही परिणाम होता है। जैनेडोट्स का समय सिकन्दर महान् के बाद पड़ता है।

होमर के साथ एक और बात भी थी। होमर का सम्पूर्ण काव्य पहले कंठस्थ ही था। पीजिस्ट्रेटस के समय से होमर काव्य लिपिबद्ध किया गया। पाठालोचन की समस्या वस्तुत: जैनोडोट्स के समय से ही खड़ी हुई। इस समय तक होमर का काव्य अध्ययन और चर्चा का विषय बन गया था। एम. भी बाइडीज के समय मे ही होमर का काव्य पाठशालाओ मे अनिवार्यत: पढ़ाया जाने लगा था। इसी समय के लगभग समाज मे दो वर्ग हो गए थे—एक वर्ग उसके काव्य में नैतिकता के रूप में असन्तुष्ट था, दूसरा उसे रूपक मान कर उसका पोषक था। इस स्थिति मे भी होमर-काव्य के लिखित रूपो की माँग बढ़ी। सिकन्दर महान् तो इस काव्य-ग्रन्थ को एक राजसी सुन्दर पेटिका मे सदा अपने साथ रखता था। अत. कितने ही हस्तलेख इस काव्य के प्रस्तुत किये गए। तब अलेक्जैण्ड्रिया मे आलोचकों का दल खड़ा हुआ और पाठालोचनात्मक संस्करण होमर-काव्य के प्रस्तुत किए जाने लगे। यहीं से वैज्ञानिक पाठालोचन प्रणाली का भी जन्म माना जा सकता है। पर सभी देशो की आरम्भिक कृतियाँ कंठस्थ रहती हैं। भारत में भी वेद कंठस्थ रखे जाते थे और इनका इतना महत्त्व था कि कंठस्थ स्थिति में ही यहाँ के ऋषियों ने कई प्रकार के पाठो का आविष्कार किया और इन पाठों की प्रणालियो से वेदो की वर्ण-शब्द संरचना सबकी विकृति मे रक्षा की तथा प्रक्षेपो से भी रक्षा की। वेद मंत्र थे और यह धारणा इस काल में प्रबल थी कि किंचित् भी विकृत उच्चारण से कुछ का कुछ परिणाम हो सकता है। अत. वेदो की पाठ-शुद्धि पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया।

या मूल पाठ निर्धारित किया जाता है।[1]

यहाँ से वैज्ञानिक पाठालोचन का आरम्भ माना जा सकता है। आज पाठालोचन एक अलग विज्ञान का रूप ग्रहण कर रहा है। यह भी हुआ है कि पाठालोचन को भाषा-विज्ञान या भाषिकी का एक अंग माना जाने लगा है, साहित्य का नहीं, जैसाकि इससे पहले माना जाता था।

पाठालोचन अथवा पाठानुसंधान की प्रक्रिया

(क) ग्रन्थ संग्रह :

किसी एक ग्रन्थ का पाठालोचन करने के लिए यह अपेक्षित है कि पहले उस ग्रन्थ की प्रकाशित तथा हस्तलेख में प्राप्त प्रतियाँ एकत्र करली जायँ। इसके लिए पहले तो उनके प्राप्ति-स्थलों का ज्ञान करना होगा। कहाँ-कहाँ इस ग्रन्थ की प्रतियाँ उपलब्ध हैं। यह कोई साधारण कार्य नहीं है। सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए लिखा-पढ़ी से, मित्रों के द्वारा, यात्रा करके, सरकारी माध्यम से एक जाल-सा बिछा लेना होगा। पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'सूरसागर' विषयक सामग्री का जो लेखा-जोखा दिया है, उसे पढ़कर इसकी गरिमा को समझा जा सकता है।[2]

ऐसी सूचना के साथ-साथ ही उन ग्रन्थों को प्राप्त करने के भी यत्न करने होंगे। कहीं से ये ग्रन्थ आपको उधार मिल जायेंगे, जिनसे काम लेकर आप लौटा सकेंगे। कहीं से इन ग्रन्थों की किसी सुलेखक से प्रतिलिपि करानी पड़ेगी, कहीं से इनके फोटो-चित्र तथा माइक्रोफिल्म मँगानी होंगी। इस प्रकार ग्रन्थों का संग्रह किया जायगा।

(ख) तुलना :

अब इन ग्रन्थों के पाठ की पारस्परिक तुलना करनी होगी। इसके लिए—

(1) पहले इन्हे कालक्रमानुसार सजा लेना होगा, तथा (2) प्रत्येक ग्रन्थ को एक संकेत नाम देना होगा।

1. The chief task in dealing with several MSS of the same work is to investigate their mutual relations, especially in the matter of mistakes in which they agree and to construct a geneological table, to establish the text of the archetype, or original, from which they are derived

—The New Universal Encyclopaedia (Vol 10), p 5499

किन्तु यह वंशवृक्ष (geneological table) प्रस्तुत करना बहुत कठिन कार्य है और कभी-कभी तो असम्भव हो जाता है। इसके लिए टेसीटरी महोदय का यह कथन पठनीय है। वे 'वचनिका' का पाठ-निर्धारण करते समय लिखते है—

"I have tried hard to trace the pedigree of each of these thirteen MSS and ascertain the degree of their depending on the archetype and one another and have been unsuccessful. The reason of the failure is to be sought partly in the great number of MSS in existence and partly in the peculiar conditions under which bardic works are handed down, subject to every sort of alterations by the copyists who generally are bards themselves and often think themselves authorized to modify or, as they would say, improve any text they copy, to suit their tastes or ignorance as the case may be".

—टेसीटरी—वचनिका (भूमिका), पृ० 9

यह एक दृष्टि से अत्यन्त विशिष्ट स्थिति है, जिसमे इतनी अधिक प्रतियों के उपलब्ध होने के कारण भी वंशवृक्ष बनाने में सफलता नहीं मिल सकी।

2. चतुर्वेदी, जवाहर लाल— पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० 119–132।

संकेत नाम देने से ग्रन्थ के पाठ-संकेत देने में सुविधा होती है, स्थान कम घिरता है और समय की बचत भी होती है ।

'संकेत प्रणाली'—संकेत देने की कई प्रणालियाँ हो सकती हैं , जैसे- (क) क्रमांक–सभी आधार-ग्रन्थों को सूची-बद्ध करके उन्हें जो क्रमाक दिये गये हों उन्हें ही 'ग्रन्थ' संकेत मान लिया जाय–यथा (1) महावनवाली प्रति, (2) आगरावाली प्रति, आदि । अब इनका विवरण देने की आवश्यकता नहीं रही केवल 'संकेत' संख्या लिख देने से काम चल जायगा । प्रति संख्या (2) सदा आगरा वाली प्रति समझी जायगी । यह आवश्यक है कि सूची-बद्ध करते समय प्रत्येक 'संकेत' के साथ ग्रन्थ का विवरण भी दिया जाय । जिससे उस संख्या के ग्रन्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो सके । उदाहरणार्थ–हम 'पृथ्वीराज रासो' की एक प्रति का परिचय उद्धृत करते हैं :—

क्रमांक-1—यह प्रति प्रसिद्ध जैन विद्वान मुनि जिनविजय के संग्रह की है । यह 'रासो' के सबसे छोटे पाठ की एकमात्र अन्य प्राप्त प्रति है, और उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी 'धा०' है । इस प्रति के लिए मुनि जी को जब मैंने लिखा, वह श्री अगरचन्दजी नाहटा के पास थी । कदाचित् प्रति की जीर्णता के ध्यान से नाहटा जी ने मूल प्रति न भेजकर उसकी एक फोटोस्टेट कापी मुझे भेज दी । इस बहुमूल्य प्रति के उपयोग के लिए मैं मुनिजी का अत्यन्त आभारी हूँ । प्रस्तुत कार्य के लिए इसी फोटोस्टेट कापी का उपयोग किया गया है । मूल प्रति मैंने 1956 के जून में डॉ० दशरथ शर्मा के पास दिल्ली में देखी थी । फोटोस्टेट होने के कारण यह कापी प्रति की एक वास्तविक प्रतिकृति है ।

इस प्रति के प्रारम्भ के दो पन्ने नहीं हैं, शेष सभी है । इसमें भी खण्ड-विभाजन और छन्दों की क्रम-संख्या नहीं है । इसमे वार्त्ताओं के रूप मे इस प्रकार के संकेत भी प्राय: नही दिये हुए हैं जैसे 'धा०' में हैं । प्रारम्भ के दो पन्ने न होने के कारण इसकी निश्चित छन्द संख्या कितनी थी, यह नही कहा जा सकता है, किन्तु इन त्रुटित दो पत्रों मे से प्रथम पृष्ठ-रचना के नाम का रहा होगा, जैसा अनिवार्य रूप से मिलता है, और शेष तीन पृष्ठ ही रचना के पाठ के रहे होंगे । तीसरे पत्र के प्रारम्भ में जो छन्द आता है वह 'धा०' मे 17 है, जिसका कुछ अंश पूर्ववर्ती द्वितीय पत्र पर रहा होगा और 'धा०' की तुलना मे इसमे 30-31 प्रतिशत रूपक अधिक हैं । इसलिए 'धा०' के 16 रूपकों के स्थान पर इसके प्रथम दो पत्रों मे 20-21 रूपक रहे होने चाहिये । फलत. इन निकले हुए दो पत्रों मे 20 छन्द मान लेने पर प्रति की कुल छन्द सख्या 552 ठहरती है । यह प्रति अत्यन्त सुलिखित है और उपर्युक्त दो पत्रों के अतिरिक्त पूर्णत: सुरक्षित भी है । इसका आकार 6 25" × 3" और इसकी पुष्पिका इस प्रकार है ।

"इति श्री कविचद विरचिते प्रथीराज रासु सम्पूर्ण । पण्डित श्री दान कुशल गणि । गणि श्री राजकुशल । गणि श्री देव कुशल । गणि धर्म कुशल । मुनि भाव कुशल लपित । मुनि उदय कुशल । मुनि मान कुशल । स० 1697 वर्ष पौष सुदि अष्टम्याँ तिथौ गुरु वासरे मोहनपूरे ।"

यह एक काफी सुरक्षित पाठ-परम्परा की प्रति लगती है, क्योंकि इसमे पाठ-त्रुटियाँ बहुत कम हैं, और अनेक स्थानो पर एकमात्र इसी मे ऐसा पाठ मिलता है जो बहिरंग और अन्तरंग सभी सम्भावनाओं की दृष्टि से मान्य हो सकता है । फिर भी श्री नरोत्तमदास स्वामी ने कहा है कि इसका 'पाठ बहुत ही अशुद्ध और भ्रष्ट है ।' उन्होंने यह धारणा इस

प्रति के सम्बन्ध में कैसे बनाई है, यह उन्होंने नहीं लिखा है। किन्तु इस प्रकार की धारणा के दो कारण सम्भव प्रतीत होते हैं, एक तो यह कि इसमें वर्त्तनी-विषयक कुछ ऐसी विशिष्ट प्रवृत्तियां मिलती हैं जिनके कारण शब्दावली और भाषा का रूप विकृत हुआ लगता है, दूसरे यह कि इसका पाठ अनेक स्थलों पर अपनी सुरक्षित प्राचीनता के कारण दुर्बोध हो गया है, और उन स्थलो पर अन्य प्रतियो मे बाद का प्रक्षिप्त किन्तु सुबोध पाठ मिलता है। कहीं-कहीं पर ये दोनों कारण एकसाथ इकट्ठा होकर पाठक को और भी अधिक उलझा देते हैं।

वर्तनी सम्बन्धी इसकी सबसे अधिक उलझन मे डालने वाली प्रवृत्तियाँ आवश्यक उदाहरणो के साथ निम्नलिखित है :—

(1) इसमें 'इ' की मात्रा का अपना सामान्य प्रयोग तो है ही, 'अइ' के लिए भी उसका प्रयोग प्रायः हुआ है, यथा :

गुन तेज प्रताप ति वणि 'कहि'। दिन पंच प्रजंत न अन्त लहइ।
(मो० 95 51-52)

ब्रह्म वेद नहि चषि अलप युधिष्ठिर 'बोलि'।
जु शायर (सायर) जल 'तजि' मेर मरजादह डोलइ। (मो० 224 3-4)
रहि गय उर झषेव उरह मि (मइ) अवर न बुझइ।
मुउ न जीवइ कोइ मोहि परमपर 'सूझि'। (मो० 545 3-4)
किरणाटी राणी 'कि' (कइ) आवासि राजा विदा मागन गयु। (मो० 122 अ)
'पछि' (पछइ) राजा परमारि आवासि विदा मागन गयु। (मो० 123 अ)
'पछि' (पछइ) राजा परमारि सुषुली विदा मागन गयु। (मो० 124अ)
'पछि' (पछइ) राजा वाघेली के अवास विदा मागन गयु। (मो० 125अ)
तुलना कीजिये—
'पछइ' राजा कछवाही 'कइ' आवासि विदा मागन गयु। (मो० 125अ)
मनु अकाल टडीअ शघन 'पवि' (पव्वइ) छूटि प्रवाह। (मो० 234·2)
तिन 'मि' (मइ) दसि 'सि' (सइ) अरि दलन 'उप्परि' (उप्पारइ) गज दंत।
(मो० 438 2)
तिन 'मि' (मइ) कवि गन पज सिहि (सईहि) भाष भाष दिठउ काज।
बिन 'मि' (मइ) दिवगति देवन समह तिन महि पुहु प्रथीराज। (मो० 439)
जे कछु साध मन 'मि' (मइ) भइ सब ईछा रस दीन्ह। (मो० 513·2)
'असमि' (असमइ) सोइ मग्यु सुकवि नृपति 'विचार' (विचारइ) सब।
(मो० 530·2)

इस प्रवृत्ति की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि कहीं-कहीं 'इ' की मात्रा को 'अइ' के रूप मे पढ़ा गया है—

तम 'सरवगइ' (सरवग्गि) सू केवि राज गुरू राज सम। (मो० 402·3)

(2) 'इ' की मात्रा का प्रयोग पुनः 'ऐ' के लिए भी हुआ मिलता है, यथा : ऊपर मो० 122अ, 123अ, 124अ तथा 125अ के उद्धरणो मे आए हुए 'कि' की तुलना कीजिए—

पछइ राजा भटिआनी के आवासि विदा मागन गयु। (मो० 127अ)

भरी मोज 'माजि' (भाजइ) नहीं सारि भागि।
भरि मल मानै नहीं लौह लागै। (मो० 327 19-20)
सुनि त पंग चहुआन कु मुष जंपि इह 'बिन' (बैन)।
बोल सूर सामत सब कहु एकठु शेन (सैन)। (मो० 229)
जल बिन भट सुभट भो करि अपहि मुज 'बिन' (बैन)।
परमतत्व सूझि (सूझइ) नृपति मगि मगि फरमानन (फरमानेन)। (मो० 547)
'ति' (तै) राषु हींदुआन गंज गौरी गाहतु।
'तै' राषु जालोर चंपि चालूंक बाहतु।
'तै' राषु पगुरु भीम भटी 'दि' (दै) मथु।
'नै' राषु रणथभ राग जादव 'सि' (सइ) हियु। (मो० 308·1–4)
भये तोमर मतिहीन कराय किली 'ति' (तै) ढिली। (मो० 33·4)
'ति' (तै) जीतु गंजनु गजि अपार हमीरह।
'ति' (तै) जीतु चालुक बिहरि संनाह सरीरह।
'ति' (तै) पहुपग सू गहै इदु जिम गहि सू रहह।
'ति' (तै) गोरीय दल दहु बारि कट जिन वन दहह।
तुब नु ग तेग तब उचमत ति (तै) तो पामन मिलयु। (मो० 424·1–5)
भरे देव दानब जिम 'बिर' (बैर) चीतु। (मो० 454, 45)

इस प्रवृत्ति की पुष्टि भी इस प्रकार होती है कि कहीं-कहीं पर 'इ' की मात्रा को 'ऐ' के रूप में पढ़ा गया है, यथा—

विदूजन 'बौलै' (बोलि) दिन धरहु आज। (मो० 40·54)

(3) कहीं-कहीं 'इ' की मात्रा का प्रयोग 'अय' के लिए भी हुआ मिलता है, यथा—

'किमास'	(मो० 73·4)
वही	(मो० 77·1)
वही	(मो० 82·2)
वही	(मो० 99·2)
वही	(मो० 101 2)
वही	(मो० 105·1)
वही	(मो० 108·3)
वही	(मो० 116·1)
वही	(मो० 121·1)
वही	(मो० 548·3)

तुलना कीजिए—

मा मत्री 'कयमास' काम अषा देषी बिइदा गति। (मो० 74·4)
हि (हुइ) 'कयमास' कहूँ कोइ जानहुँ। (मो० 98·4)

(4) 'इ' की मात्रा का प्रयोग 'ए' की मात्रा के लिए भी हुआ है, यथा—

दुहु राय रषत ति रत 'उठि'।

विहुरे जन पावस श्रम उठे। (मो० 314 5-6)

नीयं देह दिषि बिरषि ससाने।

जिते मोह मज्जा लगये 'ग्रासमानि'। (मो० 498·35-36)

शकुने मरंने जनंगे विहाने।

वजे दहु दुभिदे विभू 'मनि'। (मो० 498·39-40)

इस प्रवृत्ति की पुष्टि भी कही-कहीं इ की मात्रा के 'ए' की मात्रा के रूप मे पढे गए हाने से होती है, यथा—

पिनि गंडु नृप अधनिसा सम दासी 'सूरिम्रात' (सुरिम्राति)।

देव धरहू जल धन अनिल कहिग चंद कवि प्रात॥ (मो० 87)

पहिचानु जयचंद इहत ढिलीसुर पेषे।

नहिन चंदु उनुहारि दुसह दारुण तब दिषे। (मो० 223·1-2)

गहीय चहु रह गजने जाहाँ सजन जु 'नरेंद'।

कबहूँ नयन निरषहूँ मनहु रवि अरविंद। (मो० 474)

(5) 'इयइ' या 'इयै' के स्थान पर प्राय 'ईइ' लिखा गया है, यथा—

सोइ एको बान संभरि धनी बीउ बान नहू 'संधीइ'।

धारिग्रार गक लग मोगरीग्र एक बार नृप ढुकीयं। (मो० 544 5-6)

हम बोल रिहि कलि अतिर देहि स्वामि 'पारथीइ' (पारथयइ)।

अरि असीइ लघ को अगमि परणि राय 'सारथीइ' (सारथियइ)।

(मो० 305·5-6)

मगल वार हि मरन की ते पति सधि तन 'षडीइ' (षडियइ)।

जेन बढि युध कमधज सू मरन सब मुष 'मडीइ' (मंडियइ)।

(मो० 309·5-6)

छिनु इक दर्राह 'विलंबिइ' (विलंबियइ) कवि न करि मनु मदु।

(मो० 488·2)

मह सहाव दर 'दिषीइ' (दिषियइ) सु कछू भूमि पर मिछ। (मो० 479·2)

सीरताज साहि 'सोभीइ' (सोभियइ) सुदेसि। (मो० 492 17)

'सुनीइ' (सुनियइ) पुन्य सम मभ राज। (मो० 52·5)

(6) 'इयउ' के स्थान पर प्राय· 'ईऊ' लिखा मिलता है–

इम जंपिचद 'बिरदीउ' (बिरदियउ) सु प्रथीराज उनिहारि एहि।

(मो० 189-6, 190·6)

इम जंपि चद 'बिरदीउ' (बिरदियउ) पट त कोस चहुवान गयु।

(मो० 335·6)

इम जंपि चंद 'बिरदीउ' (बिरदियउ) दस कोस चहुआंन गउ ।
(मो० 343·7)

जिम सेत वज 'साजीउ' (साजियउ) पथ । (मो० 492·24)

(7) 'उ' की मात्रा का प्रयोग प्राय: 'अउ' के लिए हुआ है, यथा—

तब ही दास कर हथ सुबंध सुनायपूउ ।

बानावलि वि दहु बांन रोस रिस 'दाहयु' ।

मनहू नागपति पतिन अप 'जगाइयु' । (मो० 80·2–4)

पायक धनू धर कोटि गनि असी सहस ह्यमत् अहू ।

पंगुर किहि सामत सुह जु जीवत ग्रहि प्रथीराज 'कु' । (मो० 230·5–6)

निकट सुनि सुरतांन बांम दिसि उच हथ 'सु' (सउ)

जस अवसर सतु सचि अछि लुटीय न करीय 'भू' (भउ) । (मो० 533 3–4)

'सु' (सउ) बरस राज तप अत किन । (मो० 21 की अन्तिम अर्द्धाली)

'सु' (सउ) उपरि 'सु' (सउ) सहस दीह अगनित लष दह । (मो० 283·2)

कन (उ) ज राडि पहिलि दिवसि 'शु' (शउ) मि सात निबटिया । (मो० 298·6)

(8) कभी-कभी 'उ' की मात्रा से 'ओ' की मात्रा का भी काम लिया गया है—

निशपल पच घटीए दोई 'घायु' ।

आखेटकन्नखे नृप आयो । (मो० 92·3–4)

(9) और कभी-कभी 'उ' की मात्रा से 'औ' की मात्रा का काम लिया गया है—

कवि देषत कवि कु मन 'रत्तु'

न्याय नयन कन (उ) जि पहुत्तो । (मो० 176·1-2)

इसकी पुष्टि एकाध स्थान पर 'उ' के स्थान पर 'ओ' की मात्रा मिलने से भी होती है—

प्रात राउ सप्रापतिग जाहा दर देव 'अनोप' ।

मयन करि दरबार जिहि सात सहस अस भूप ।। (मो० 214)

(10) इसी प्रकार कहीं कहीं 'उ' वर्ण का प्रयोग 'ओ' के लिए हुआ मिलता है—

तुलत जू तुज तराजून्ह गाप ।

मनु धन मभि तडितह 'उप' । (मो० 161·27–28)

गग जल जिमन धर हूनि 'उजे' ।

पंगरे राय राठुर फोजे । (मो० 284·15–16)

प्रति की वर्त्तनी-सम्बन्धी ऐसी ही प्रवृत्तियों का यहाँ उल्लेख किया गया है जो हिन्दी की प्रतियों में प्राय: नहीं मिलती हैं, और इसीलिए हिन्दी पाठक को ऐसा लग सकता है कि ये प्रतिलिपिकार की अयोग्यता के कारण हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। नारायणदास तथा रत्नरंग रचित 'छिताई वार्त्ता' की भी एक प्रति में, जो इस प्रति के कुछ पूर्व की है, वर्त्तनी-सम्बन्धी ये सारी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, यद्यपि ये परिमाण में कम हैं, पश्चिमी

राजस्थानी तथा गुजराती की इस समय की प्रतियों में तो वे प्रवृत्तियाँ प्रचुरता से पाई जाती हैं। फलतः वर्त्तनी-सम्बन्धी इन प्रवृत्तियों का परिहार करके ही प्रति के पाठ पर विचार करना उचित होगा और इस प्रकार के परिहार के अनन्तर मो० का पाठ किसी भी प्रति से बुरा नहीं रहता है, वरन् वह प्रायः प्राचीनतर और इसलिए कभी-कभी दुर्बोध भी प्रमाणित होता है, यह सम्पादित पाठ और पाठांतरों पर दृष्टि डालने पर स्वतः स्पष्ट हो जायगा।[1]

"अतः इस प्रति को हम '।' मानेंगे और जहाँ-जहाँ इस प्रति का उल्लेख करेंगे—'।' का ही उल्लेख करेंगे।"

यदि इस समस्त कथन का विश्लेषण किया जाय तो विदित होगा कि इसके परिचय मे निम्न बातें दी गई हैं—

(क) प्रति के प्राप्ति स्थान एव उसके स्वामी का परिचय–

(ख) प्रति की दशा (1) पूरी है या अधूरी है या कुछ पृष्ठ नहीं हैं, या फटे हैं या कीट-भक्षित हैं ? (2) पृष्ठ मे पंक्तियों की और शब्दो की संख्या, (3) स्याही कैसी, एक रंग की या दो की, (4) कागज कैसा, (5) सचित्र या सादा ? कितने चित्र ?

(ग) छन्द संख्या-पृष्ठगत तथा कुल ग्रन्थ मे कुछ त्रुटित पत्र हो तो उनके सम्बन्ध में भी अनुमान।

(घ) लेख की प्रवृत्ति–सुलेख, कुलेख, स्पष्ट आदि।

(ङ) आकार–फुट तथा इंच मे।

(च) प्राप्ति के उपाय।

(छ) पुष्पिका।

(ज) ग्रथ आदि का इतिहास।

(झ) पाठ-परम्परा तथा पाठ-विषयक उल्लेखनीय बाते। वर्तनी भेद के उदाहरणो के साथ।

(न) इस शोध की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व।

ग्रन्थो का यह क्रम 'कालक्रमानुसार' भी रखा जा सकता है, पर नाम उसका 'क्रमाक' ही बनायेगा। हाँ, यदि एक ही सन् या सवत् मे एक ही प्रति मिलती है, और पूरी सूची-भर में ऐसी ही स्थिति हो तो सन् या सवत् को भी 'संकेत' माना जा सकता है : यथा, सन् 1762 वाली प्रति आदि।

प्रतिलिपिकार-प्रणाली

ग्रन्थो के नाम-संकेत 'अको' मे न रखकर ग्रन्थ के प्रतिलिपिकार के नाम के पहले अक्षर के आधार पर रखे जा सकते हैं जैसे 'बीसलदेव रास' की एक प्रति का संकेत 'प' उसके प्रतिलिपिकार 'पण्डित सीहा' के प्रथम अक्षर के आधार पर रखा गया है।

स्थान संकेत प्रणाली

ग्रन्थ की प्रतिलिपि अथवा रचना के स्थान का उल्लेख ग्रन्थ की पुष्पिका में हो तो

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०)—पृथ्वीराज रासउ, पृ० 5-9।

उसके नाम के प्रथम अक्षर के आधार पर भी 'संकेत' बनाया जा सकता है। पृथ्वीराज रासो की एक प्रति को 'मो०' संकेत इसलिए दिया गया है कि उसकी पुष्पिका में स्थान का उल्लेख है कि सं० 1697 वर्षे पोष सुदि अष्टमी तिथो गुरुवासरे मोहनपूरे।

पाठ-साम्य के समूह की प्रणाली

समस्त प्रतियों का वर्गीकरण पाठ-साम्य के आधार पर किया जा सकता है। इस वर्गीकरण का नाम भी उक्त प्रणालियों से दिया जा सकता है, फिर ग्रन्थांक भी। जैसे 'पद्मावत' के सभी आधार ग्रन्थों को पाँच पाठ-साम्य-समूहों में बाँट दिया गया और नाम रखा—'प्र०' प्रथम समूह का, 'द्वि' द्वितीय समूह का, 'पंचम' पाँचवें समूह का। अब प्रथम समूह में दो ग्रन्थ हैं तो उनके संकेत होंगे 'प्र० 1' तथा 'प्र० 2'।

पत्र-संख्या प्रणाली

जब ग्रन्थ से और कोई सूचना नहीं मिलती जिसके आधार पर संकेत निर्धारित किया जा सकें तो पत्रों की संख्या को ही आधार बनाया जा सकता है।

एक प्रति आठ पत्रों मे ही पूरी हुई है, केवल इसी आधार पर इसे 'आ०' कहा गया है।

अन्य प्रणाली

(क) डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने एक अन्य प्रणाली का उपयोग किया है जिसे उन्होने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"इस प्रति की पुष्पिका भी स्पष्टतः अपर्याप्त थी। किन्तु इसको देखने पर ज्ञात हुआ कि इसके कुछ पत्रे एक प्रति के थे और शेष पत्रे दूसरी प्रति के थे: दोनों प्रतियाँ खंडित थी और उन्हें मिलाकर एक पुस्तक पूरी कर दी गई थी—यही कारण है कि 19वीं सख्या के इसमें दो पत्रे हैं। इसी पुनरुद्धार के आधार पर इस प्रति का संकेत 'पु०' रख लिया गया है।[1]

(ख) मूल पुष्पिका नष्ट हो गयी, पर ग्रन्थ-स्वामी ने किसी अन्य ग्रन्थ से वह पुष्पिका लिखकर जोड दी, तो स्वामी के नाम से ही ग्रन्थ का संकेत दे दिया है।

(ग) ऊपर की प्रणालियो का बिना अनुगमन किये अनुसंधानकर्त्ता स्वयं अपनी कल्पना से या योजना से कोई भी संकेत ग्रन्थ को दे सकता है।

पाठ-प्रतियाँ

ग्रन्थों के 'संकेत-नाम' निर्धारित हो जाने पर उनमे से प्रत्येक के एक-एक छन्द को क्रमश: एक-एक कागज पर लिख लिया जाना चाहिये। प्रत्येक छन्द की प्रत्येक पंक्ति को भी क्रमांक दे देना चाहिये, तथा छन्द का भी क्रमांक (वह अंक जो उसके लिए ग्रन्थ मे दिया हो) देना चाहिये। यथा–

। 0 ।

पंडियउ पहुतउ सातमई मास (1)
देव कह थान करी अरदास (2)
तपीय सन्यासीय तप करइ (3)

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०)—बीसलदेव रास, पृ० 5

प्रत्येक पत्र इतना बड़ा होना चाहिये कि पूरा छंद लिखने के बाद उसमे आवश्यक टिप्पणियाँ देने के लिए स्थान रहे ।

इन प्रतिलेखों को सावधानी से उस ग्रन्थ-मूल से फिर मिला लेना चाहिए ।

पाठ-तुलना

इसके उपरात प्रत्येक छद की समस्त प्रतियों के रूपों से तुलना की जानी चाहिए । इसमें ये बातें देखनी होंगी ।

(क) इस छद के चरण सभी प्रतियों में एकसे हैं अर्थात् यदि एक मे पूरा छंद चार चरणो मे है तो शेष सभी मे भी वह चार चरण वाला ही है ।

अथवा

एक मे चरण संख्या कुछ, दूसरे मे कुछ आदि ।

(ख) यदि किसी-किसी प्रति मे कम चरण हैं तो किस प्रति मे कौनसा चरण नही है ।

(ग) यदि किसी मे अधिक चरण है तो कौनसा चरण अधिक है ।

(घ) फिर क्रमश प्रत्येक चरण की तुलना—

क्या चरण के सभी शब्द प्रत्येक प्रति मे समान है अथवा शब्दों मे क्रम-भेद है ?

किस प्रति मे किस चरण म कहां-कहा वर्तनी-भेद है ?

किस-किस प्रति मे इस चरण मे कहा-कहाँ अलग-अलग शब्द है ?

जैसे बीसलदेव की एक प्रति मे 102 छद का 6ठा चरण है —"ऊँचा तो धरि-धरि बार" । यह चरण एक अन्य प्रति मे है–

'धरि धरि तोरण मगल च्यारि' ।

इसी प्रकार चरण प्रति चरण, शब्द प्रति शब्द तुलना करके प्रत्येक शब्द के पाठो के अन्तरो की सूची प्रस्तुत करनी चाहिए । प्रत्येक परिवर्तित चरण की सूची, प्रत्येक लोप की सूची, प्रत्येक अधिक चरण (आगम) की सूची बनायी जानी चाहिए ।

साथ ही प्रत्येक प्रति मे चरण की छन्द-शास्त्रीय सगति भी देखी जानी चाहिए ।

इसके अनन्तर उक्त आधारो पर तीन 'सम्बन्धो' की दृष्टि से तुलना करनी होगी–प्रतिलिपि सम्बन्ध से, प्रक्षेप सम्बन्ध से, पाठान्तर सम्बन्ध से ।

प्रामाणिक पाठ के निर्धारण मे प्रतियो के प्रतिलिपि सम्बन्ध की महत्ता स्वयसिद्ध है, क्योंकि इसीसे हमे उन सीढ़ियों का पता लग सकता है जिनके आधार पर मूल प्रामाणिक पाठ का अनुसन्धान किया जा सकता है । प्रतिलिपि सम्बन्धो की तुलना से ही हमे विदित होता है कि किस प्रति की पूर्वज कौनसी प्रति है । इस प्रकार समस्त प्रतिलिपित ग्रन्थो का एक वश-वृक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है । वश-वृक्ष बनाने के लिए समस्त प्रतियों के पाठों का गहन अध्ययन अपेक्षित होता है तभी हम उन प्रतियो के पूर्वजो की कल्पना भी कर सकते हैं जो हमे शोध मे प्राप्त हुई हैं । ऐसे कल्पित पूर्वज को वंश-वृक्ष में (×) गुणन के चिह्न से बताया जा सकता है । इसमे प्रतियो के परस्पर सम्बन्ध ही नहीं विदित होते वरन् प्रामाणिकता की दृष्टि से महत्व भी स्पष्ट हो जाता है । इसी प्रकार प्रक्षेपों की तुलना की जा सकती है । इनके भी परस्पर सम्बन्धो का वश-वृक्ष दिया जा सकता है ।

पाठान्तर सम्बन्ध की तुलना सभी ग्रन्थों में नहीं हो सकती, क्योंकि कुछ ग्रन्थ तो ऐसे मिलते हैं जिनमे लिपिकार हाशिये में किसी शब्द का पाठान्तर लिख देता है। पद्मावत की प्रतियों मे ऐसे पाठान्तर मिले थे। पर अन्य बहुत-से ग्रन्थो मे पाठान्तर नहीं लिखे होते। यदि प्रतिलिपियो मे पाठान्तर मिलते हैं तो उनकी तुलना से भी मूल पाठ के अनुसंधान में सहायता ली जा सकती है।

इन तीन सम्बन्धों के द्वारा तुलनापूर्वक जब सबसे अधिक प्रामाणिक पाठ वाली प्रति निर्धारित कर ली जाय तो उसके पाठ को आधार मान सकते हैं, या मूल पाठ मान सकते हैं, किन्तु उसे अभी प्रामाणिक पाठ नहीं कह सकते।

प्रामाणिक पाठ पाने के लिये यह आवश्यक है कि उक्त पाठ-सम्बन्धों को विवेचना करके पाठसम्पादन के सिद्धान्त निर्धारित कर लिये जायें। इसमे हमे यह देखना होगा कि जिन प्रतियो के पाठ मिश्रण से बने हैं वे प्रामाणिक पाठ नही दे सकते, जिन प्रतियों की परम्परा पर दूसरा का प्रभाव कम से कम पड़ा है, वे ही प्रामाणिक मानी जानी चाहिये।

प्रामाणिकता के लिए विविध पाठान्तरों की तुलना अपेक्षित है। तुलनापूर्वक विवेचना करके 'शब्द' और 'चरण' के रूप को निर्धारित करना होगा।

इसमें यह देखना होगा कि यदि कम विकृत पाठ किसी प्राचीन पीढ़ी का है तो वह अतिविकृत बाद की पीढ़ी से अधिक प्रामाणिक होगा।

इसके साथ ही यह स्पष्ट है कि यदि कोई एक पाठ कुछ स्वतन्त्र पाठ-परम्पराओं मे समान मिलता है तो वह निस्सदेह प्रामाणिक होगा। इसी प्रकार अन्य स्वतन्त्र परम्पराओं या कम प्रमाणित परम्पराओं के पाठो का सापेक्षिक महत्त्व स्थापित किया जा सकता है।

क्योकि कुछ अश तो ऐसा हो सकता है जो सभी स्वतन्त्र और कम प्रभावित परम्पराओं मे समान मिले, कुछ ऐसा अश होगा जो सबमे समान रूप से प्राप्त नही, तब तुलना से जिनको दूसरी कोटि का प्रमाण माना है उन पर निर्भर करना होगा। हमें दूसरी कोटि के पाठ को पूर्णत: प्रामाणिक बनाने के लिए "शेष समस्त बाह्य और अन्तरग सम्भावनाओं के साक्ष्य से ही पाठ-निर्णय करना चाहिए।"

इसे डॉ० माताप्रसाद गुप्त[1] के 'बीसलदेव रास' की भूमिका मे दी गयी प्रक्रिया के एक अश के उद्धरण से समझाया जा सकता है। डॉ० गुप्त ने विविध प्रतिलिपि-सम्बन्धों का भली प्रकार विवेचन करके उन प्रतियों के पाठ-सम्बन्धों को एक 'वश-वृक्ष' से प्रस्तुत किया है जो आगे के पृष्ठ पर दिखाया गया है।

इस वृक्ष से स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक मूल ग्रन्थ से प्रतियों की तीन स्वतन्त्र परम्पराएँ चली। इसमे पं० समूह की प्रतियाँ बहुत पहली पीढ़ी की हैं, तीसरी-चौथी पीढ़ी की ही हैं और इस पर 'म' के किसी पूर्वज का, सम्भवत: पाँचवी पीढ़ी पूर्व की प्रति का प्रभाव 'पं' समूह के पूर्व की दूसरी पीढ़ी के पूर्व की प्रति पर पड़ा है, और कोई नहीं पड़ा है। 'म' समूह पर 'स' समूह की दूसरी-तीसरी पीढ़ी पूर्व के प्रभाव पड़े हैं, अन्यथा वह दूसरी स्वतन्त्र धारा है। 'स' तीसरी स्वतन्त्र धारा है। अत: निष्कर्ष निकाले गये कि—

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०) तथा नाहटा, अगर चंद—बीसलदेव रास, (भूमिका), पृ० 47।
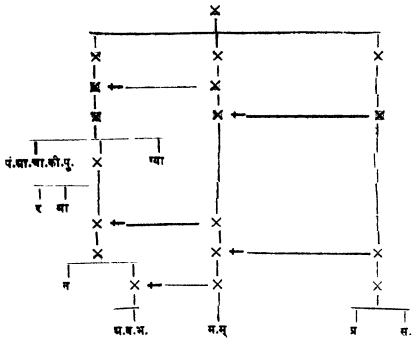
उक्त चित्र मे × गुणा का चिह्न यह बताता है कि यह प्रति प्राप्त नही हुई है किन्तु उपलब्ध प्रतियो के माध्यम से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐसी प्रति होनी चाहिए।

← तीर का यह चिह्न यह बताता है कि तीर शीर्ष जिस प्रति की ओर है उस पर उस प्रति का प्रभाव है, जिससे तीर आरम्भ होता है।

(1) पं. समूह का पाठ 'स' समूह का अथवा उसके किसी पूर्वज का ऋणी नहीं है। इसलिए इन दोनो समूहों का जिनमे पं० ग्रा० चा० की० पु० तथा 'या' प्रतियाँ आती हैं, पाठ-साम्य मात्र पाठ की प्रामाणिकता के लिए साधारणत: प्रामाणिक माना जाना चाहिये।

(2) जिन विषयों मे म० प० तथा स० तीनो समूहो मे पाठ-साम्य हैं, उनकी प्रामाणिकता स्वत:सिद्ध मानी जानी चाहिये।

(3) जिन विषयों में म० तथा प० समूह एकमत हो और स० भिन्न हो, अथवा म० तथा स० समूह एकमत हों, और प० समूह भिन्न हो, उन विषयो मे शेष समस्त बाह्य और अन्तरंग सम्भावनाओं के साम्य से ही पाठ-निर्णय करना चाहिये।

बाह्य और अन्तरंग सम्भावनाएं

पाठ की प्रामाणिकता की कसौटी बाह्य और अन्तरंग सम्भावनाएँ हैं। संदिग्ध स्थलों के शब्दों या चरणों की प्रामाणिकता के लिए अन्तरंग साक्ष्य तो मिलता है वैसे ही शब्द अथवा चरणों की ग्रन्थ के अन्दर आवृत्ति के द्वारा····'अन्यत्र कहाँ,' किस-किस स्थान

और रूप में प्रयोग मिलता है। इस प्रयोग की आवृत्ति की सांख्यिकी (Statistics) प्रामाणिकता को पुष्ट करती है ।

'अर्थ' की समीचीनता की उद्भावना भी प्रामाणिकता को पुष्ट करती है। इसे हम डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के कुछ उद्धरणों से स्पष्ट करेंगे। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने पद्मावत की टीका की भूमिका में प्रचुर तुलनात्मक विवेचना से यह सिद्ध किया है कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त का वैज्ञानिक विधि से संशोधित पाठ शुक्ल जी के पाठ से समीचीन है। उसमें एक स्थान पर एक उदाहरण यों दिया हुआ है—

(34) शुक्लजी--जीभा खोलि राग सौ मढ़े। लेजिम घालि एराकन्हि चढ़े ।

शिरेफ ने कुछ सदेह के साथ पहली अर्द्धाली का अर्थ किया है —तोपों ने कुछ सगति के साथ अपना मुँह खोला। वस्तुतः यह जायसी की अतिक्लिष्ट पंक्ति थी जिसका मूल पाठ इस प्रकार था—

गुप्तजी—जेबा खोलि राग सौ मढ़े ।

इसमे जेबा, खोल, राग तीनों पारिभाषिक शब्द हैं। शाह की सेना के सरदारों के लिए कहा गया है कि वे जिरहबख्तर (जेबा), झिलमिल टोप (खोल) और टाँगों के कवच (राग) से ढके थे। 512/4 में भी 'राग' मूलपाठ को बदलकर 'सजे' कर दिया गया।[1]

इसमे 'जेबा,' खोलि' 'राग' ये पारिभाषिक शब्द है। अत. इस विषय के बाह्य प्रमाण मे इसकी पुष्टि होती है, और 'शुक्ल' जी के पाठ की अपेक्षा इस वैज्ञानिक-विधि से प्राप्त पाठ की समीचीनता सिद्ध होती है।

पाठानुसधान मे भ्रम से अथवा संशोधन-शास्त्र के नियमो के पालन में असावधानी से अभीष्ट पाठ और अर्थ नही मिल सकता। इसे समझाने के लिए डॉ० अग्रवाल ने अपनी ही एक भ्रान्ति का उल्लेख यो किया है

"इस प्रकार की एक भ्रान्ति का मैं सविशेष उल्लेख करना चाहता हूँ क्योंकि वह इस बात का अच्छा नमूना है कि कवि के मूल पाठ के निश्चय करने में संशोधन शास्त्र के नियमो के पालन की कितनी आवश्यकता है और उसकी थोड़ी अवहेलना से भी कवि के अभीष्ट अर्थ को हम किस तरह खो बैठते हैं। 152/4 का शुक्ल जी का पाठ इस प्रकार है—

सास डाडि मन मथनी गाढ़ी। हिये चोट बिनु फूट न साढ़ी ।।

माताप्रसाद जी को डाडि के स्थान पर वेध. वोठ, बैठ, वोइठा, दूध, दहि, दधि, दवाल, डीठ इतने पाठान्तर मिले। सम्भव है और प्रतियों मे अभी और भी भिन्न पाठ मिलें। मनेर शरीफ की प्रति मे ओठ पाठ है। गुप्त जी को इनमें से किसी पाठ से सन्तोष नही हुआ। अतएव उन्होंने अर्थ की आवश्यकता के अनुसार अपने मन से 'दहेंडि' इस पाठ का सुझाव दिया, पर उसके आगे प्रश्न चिह्न लगा दिया—स्वांस दहेडि (?) मन मथनी गाढी। हिये चोट बिनु फूट न माढ़ी। मैंने इस प्रश्न चिह्न पर उचित ध्यान न ठहरा कर सांस दही की हांडी है, मन दृढ मथानी है' ऐसा अर्थ कर डाला। प्रसगवश श्री अम्बाप्रसाद सुमन के साथ इस पक्ति पर पुनः विचार करते हुए इसके प्रत्येक पाठान्तर को जब मैं देखने लगा तो 'दवालें' शब्द पर ध्यान गया। 'श्री सुमन' जी ने सुनते ही कहा कि

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ.)- -पद्मावत (प्राक्कथन), पृ० 19।

अलीगढ़ की बोली में दुआली चमड़े की डोरी या तस्में को कहते हैं। कोश देखने से ज्ञात हुआ कि फारसी मे दवाल या दुवाल रकाब के तस्मे को कहते हैं (स्टाइनगास फारसी कोश पृ. 539)। क्रुक ने दुग्रालि, दुग्राल का अर्थ चमडे की बग्घी, हल ग्रादि बाँधने का तस्मा किया है (ए रूरल एण्ड एग्रीकल्चरल ग्लासरी, पृ. 91)। जियाउद्दीन बरनी ने तारीखे फिरोजशाही में अलाउद्दीनकालीन वस्त्रों के विवरण मे बुरदा नामक वस्त्र को 'दवाले लाल' ग्रर्थात् लाल डोरियों का धारीधार कपड़ा लिखा है (सैयद ग्रतहर ग्रब्बास रिजवी, खिलजी कालीन भारत, पृ. 82, तारीखे फिरोजशाही का हिन्दी अनुवाद)। इन ग्रर्थों पर विचार करने से मुझे निश्चय हो गया कि प्रस्तुत प्रसंग मे डोरी का वाचक दुग्राल शब्द नितांत क्लिष्ट पाठ था, और वही कविकृत मूल पाठ था। पद्मावत की एक ही हस्तलिखित प्रति में अभी तक यह शुद्ध पाठ प्राप्त हुआ है (गोपालचन्द जी की फारसी लिपि की प्रति जो बहुत सुलिखित है—यही गुप्त जी की 'च. ।' प्रति है)। सम्भव है भविष्य में किसी और अच्छी प्रति मे भी यह पाठ मिल जावे। रामपुर की प्रति का पाठ इस समय विदित नहीं है। इस प्रकार इस पंक्ति का कविकृत पाठ यह हुआ—

सास दुग्रालि मन मथनी गाढ़ी। हिए चोट बिनु फूट न साढी ।।

सांस दुग्राली या डोरी है। शुक्लजी ने 'डांडि' पाठान्तर को प्रसगवश डोरी अर्थ मे ही लिया है पर डाडि पाठ किसी प्रति मे नही मिला। मूल पाठ दुग्रालि होने मे सन्देह नहीं। सांस का ठीक उपमान डोरी ही हो सकती है दहेंडि नहीं।[1]

इसमे डॉ अग्रवाल ने एक 'बाह्य' सम्भावना से 'दुग्रालि' पाठ को प्रामाणिक सिद्ध किया है। डॉ. गुप्त ने ग्रन्थों मे प्राप्त किसी पाठान्तर को ठीक नही माना, और 'दहेडि' की कल्पना 'अर्थ-न्यास' के आधार पर की। यह प्रयत्न पाठालोचन के सिद्धान्त के अधिक अनुकूल नही।

पाठ की प्रामाणिकता की दृष्टि से 'शब्दो' को तत्कालीन 'रूप' और 'अर्थों' से भी पुष्ट करने की आवश्यकता है। जैसे 'पद्मावत' के अनेक शब्दो के अर्थ 'आईने अकबरी' के द्वारा पुष्ट होते है। इसी प्रकार से अन्य समकालीन कवियों की शब्दावली अथवा तत्कालीन नाममालाओ से 'शब्दो' की पुष्टि की जा सकती है।

पाठ-सिद्धान्त निर्धारित हो जाने के बाद, जिसका पूर्ण विवेचन ऊपर लिखे ढंग से प्रारम्भ मे किया जाना चाहिये, एक पृष्ठ पर एक छन्द रहना चाहिये और उसके नीचे जितने भी पाठान्तर मिलते हैं वे सभी दे दिये जाने चाहिये। पाठान्तर किस-किस प्रति के क्या-क्या हैं, इसका भी संकेत रहना चाहिये। डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'पृथ्वीराज रासउ' से एक उदाहरण लेकर इस बात को भी स्पष्ट किया जा सकता है।

साटिका— [1]छन्त या[2]मद गंध घ्राण * लुब्धा[3] आलि भूरि[4] ग्राच्छादिता[5]। (1)

गुजाहार अधार[1] सार गुन या[2] रुंजा पया[3] भासिता। (2)

अग्रे या[1] स्तुति कुंडला[2] करि नवं[3] तुंडीर[4] × उद्धारया[5] ×। (3)

सोयं पातु गणेस सेस सफल[1] प्रिथिराज काव्ये हितं[2]। (4)

पाठान्तर × चिह्नित शब्द धा. मे नही है।

* चिह्नित शब्द ना. में नही है।

1 अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ.)—पद्मावत (प्राक्कथन), पृ० 26।

(1) 1. मो. में यहाँ 'पुन' है, जो अन्य किसी प्रति मे नही है । 2. धा. या, मो. जां. शेष में 'जा' । 3. मो. रागुरु बाण, धा. गंधरसिका, स. राग रुवय म. अ. घ्राण (घ्रान-म.) लुब्धा, ना–लुब्धा । 4. मो. भार, ना. अ. भोर स. भूर. म. भौर । 5. म. आच्छादितं ।

(2) 1. मो आधार, स आधार, ना. म. अ. विहार (तुल० अगले छन्द का चरण ।) । 2. मो. गुनीजा, धा. गुनीजा, म. गुनया, ना. अ. गुणआ । 3. मो. झंब. पया, धा. रुंजा पिया, अ. रुंजा पया, ना. रंजा पया झंझा पया ।

(3) 1 धा म. या, शेष मे 'जा' । 2 मो सुत कुंडलं । 3, मो. नवुं धा. नवं, ना. णव, अ. फ करा, म. करि. म कर । 4 मो. थुंडीर, अ. तुढीर, म जुदीर, ना. थुंदीर 15 मा. उदारव ।

(4) 1. मो. स. सेस सफल (शेष सफल–मो.) धा सतत फल, अं. ना. सेवित फलं । 2. मो. काव्यहित, मं स, काव्यं कृतं ।[1]

इसमे ऊपर प्रामाणिक पाठ दिया हुआ है । नीचे 'पाठान्तर' शीर्षक से मूल प्रामाणिक पाठ के शब्दो से भिन्न शब्द रूपो का उल्लेख किया गया है, और साथ मे प्रति सकेत दिया गया है 'धा' 'ना' 'यो' 'स' 'व. 'अ' 'फ'– ये अक्षर प्रतियों के सकेताक्षर हैं ।

प्रामाणिक पाठ निर्धारित करने मे बहुत-सी सामग्री 'प्रक्षेप' के रूप मे अलग निकल जायगी । उस सामग्री का ग्रन्थ मे 'परिशिष्ट' रूप मे, उसके पाठ को भी यथासम्भव प्रामाणिक बनाकर दे देना चाहिये । इस प्रकार इस समस्त सामग्री को सजा देने मे सिद्धान्त यह है कि 'पाठालोचक' की वैज्ञानिक कसौटी मे यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो विद्वान पाठक अपनी कसौटी से समस्त सामग्री की स्वय जाँच कर सके । अनुसधानकर्त्ता का और कोई आग्रह नही होता, अतएव भूलचूक के लिए वह स्वयं समस्त सामग्री और समस्त प्रक्रिया को विज्ञ पाठक के समक्ष रख देता है ।

पाठानुसधान की वैज्ञानिक प्रक्रिया के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि 'अर्थ-न्यास' का पाठालोचन मे क्या महत्त्व है ?

यो तो यह सत्य है कि किसी भी कृति का पाठ उसका अर्थ प्राप्त करने के लिए ही किया जाता है विकृत पाठ मे प्रक्षिप्त अर्थ नही पाया जा सकता, ऐसे अर्थ को प्रामाणिक भी नही माना जा सकता । पाठालोचन का महत्त्व हीं इसी अर्थ के लिए है पर यथार्थ यह है कि पाठालोचन प्रक्रिया मे 'अर्थ' का विशेष महत्त्व नही हो सकता । वह सहायक अवश्य है । 'शब्द' के अर्थ का ज्ञान अध्ययन परिमाण-सापेक्ष्य है । यदि 'क' का ज्ञान बहुत सीमित है तो कभी-कभी वह एक क्षेत्र के बहुप्रचलित शब्द का अर्थ भी नहीं जानेगा और अर्थ को दृष्टि मे रखेगा तो अपने सीमित ज्ञान से त्रुटिपूर्ण सशोधन कर देगा । जैसे यदि कोई ब्रज मे प्रचलित 'हटरी' से परिचित नही है तो वह सूरसागर म इस शब्द को 'हट री' (हटरी) कर सकता है, क्योंकि उसकी दृष्टि म 'हटरी' कोई शब्द ही नही । पाठालोचनकार भी शब्दों के समस्त अर्थों से परिचित होगा, विशेषत. कृतिकालीन अर्थ से यह सम्भव नही । अतः पाठ विज्ञान से जो रूप निर्धारित हो उसे ही रखना चाहिये, क्योकि कोई ऐसा शब्द हो सकता

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ)—पृथ्वीराज रासउ, पृ० 3 ।

है, जिसका अर्थ आगे ज्ञान-वर्द्धन के साथ प्राप्त हो। जैसे सांस दुप्रालि के उदाहरण से सिद्ध है।

एक प्रश्न यह उठता है कि यदि किसी ग्रन्थ की अन्य प्रतियाँ न मिलती हो, केवल एक ही प्रति उपलब्ध हो, और वह लेखक के हाथ की प्रति न हो तो क्या उसका भी सम्पादन हो सकता है ? सामान्य पाठालोचक कहेगा कि नही हो सकता।

किन्तु मैं समझता हूँ कि उसका भी सम्पादन या पाठालोचन हो सकता है। ऐसे ग्रन्थ के सम्पादन के लिए यह आवश्यक है कि आन्तरिक बाह्य साक्ष्य से यह जाना जाय कि ग्रन्थ का रचना-काल क्या था, ग्रन्थ कहाँ लिखा गया ? क्या एक ही स्थान पर लिखा गया ? या, कवि घूमता-फिरता रहा, अत. ग्रन्थ का कुछ अश कही लिखा गया, कुछ कही फलतः कागज बदला, स्याही बदली। जिस स्थान पर कवि रहता था, वहाँ का वातावरण कैसा था ? किस प्रकार की भाषा उस क्षेत्र मे बोली जाती थी। ऐसे कवि कौनसे हैं जिनसे उसके रचयिता का परिचय था। उसके क्षेत्र मे और काल मे कौनसे ग्रन्थ लिखे गये और उनकी भाषा तथा शब्दावली कैसी थी ? आदि बातों का सम्यक पता लगाये। ये बाह्य साक्ष्य इस पाठालोचन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

किन्तु ऐसे पाठालोचन के लिए बाह्य साक्ष्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है अन्तरंग का ज्ञान कुछ ऐसी ही प्रक्रियाओं से पाठ के उद्घाटन में काम लेना होता है जिनका उपयोग इतिहास-पुरातत्वान्वेषी शिलालेखों तथा ताम्रपत्रो के पाठ के उद्घाटन के लिए करते है।

इसमें 'अर्थ-न्यास' को अवश्य महत्व देना होगा क्योंकि उसी का अनुमान सम्पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययन के उपरान्त लगाया जा सकता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का सम्यक् अध्ययन करने से शब्दावली और वाक्य-पद्धति का भी संशोधक को इतना परिचय हो जाता है कि वह संदिग्ध अथवा त्रुटित स्थलो की पूर्ति प्राय उपयुक्त शब्द या वाक्य से कर सकता है। ऐसे अनुमान को सदा कोष्ठको ( ) में बन्द करके रखना चाहिये। इन कोष्ठको से यह पता चल सकेगा कि ये स्थल सपादक के सुझाव है।

ऐसे पाठ निर्धारण मे सांख्यिकी (Statistics) का भी उपयोग हो सकता है। शब्दो के कई रूप मिलते हो उनमे कौनसा रूप लेखक का अपना प्रामाणिक हो सकता है इसकी कसौटी साख्यिकी द्वारा आवृत्ति निर्धारित करके की जा सकती है। साख्यिकी से ऐसे शब्दो के विविध रूपो की आवृत्तियाँ (Frequencies) देखी जा सकती है।

जिस ग्रन्थ का सम्पादन किया जा रहा है, उसकी भाषा का व्याकरण भी बना लेना चाहिये। इसके द्वारा वाक्य रचना के प्रामाणिक आदर्श स्वरूप की परिकल्पना हो सकती है। यदि इसके रचयिता की कोई अन्य कृति मिलती हो तो उससे तुलनापूर्वक इस ग्रन्थ के पाठ के कितने ही संदिग्ध स्थलो को प्रामाणिक बनाया जा सकता है।

ऐसे ग्रन्थो मे शब्दानुक्रमणिका देना उपयोगी रहता है।

पाठानुसधान (Textual Creticism) भाषा-विज्ञान (Linguistics) का महत्त्वपूर्ण अग है। अत. इसके सिद्धान्त वैज्ञानिक हो गये हैं। ऊपर उसी वैज्ञानिक पद्धति पर कुछ प्रकाश डाला गया है।

इस वैज्ञानिक पद्धति के प्रचलन से पूर्व हमे पाठ-सम्पादन के कई प्रकार मिलते हैं।

एक पद्धति तो सामान्य पद्धति थी—किसी ग्रन्थ को एक प्रति मिली, उसके ही आधार पर 'प्रेस-कापी' तैयार कर दी गई। हस्तलिखित ग्रन्थों मे शब्द-शब्द में अन्तर नहीं

किया जाता था । एक शीर्ष-रेखा से शब्द-शब्द को जोड़कर लिखा जाता था, यथा--

आगेचलेबहुरिरघुराई
ऋष्यमूकपर्वतनियराई

इस पद्धति का सम्पादक जो अधिक से अधिक कर सकता है वह यह है कि अपनी बुद्धि का उपयोग करके चरण-बन्ध को तोडकर 'शब्द-बन्ध' से पाडुलिपि प्रस्तुत कर दे । यह शब्द 'बन्ध' वह अपने शब्दार्थ ज्ञान के आधार पर ही करता था । स्पष्ट है कि ऐसे सम्पादन का कोई वैज्ञानिक महत्त्व नही । पर किसी अच्छी प्रति का ऐसा पाठ भी प्रकाशित हो जाय तो यह महत्त्व तो उसका है ही कि एक अच्छा ग्रन्थ प्रकाश मे आया ।

दूसरी पद्धति को पाठान्तर पद्धति कह सकते हैं । पाठ सशोधक एकाधिक ग्रन्थ एकत्र कर लेता है । उन ग्रन्थों में से सरसरे अध्ययन के उपरान्त जो अर्थ आदि की कसौटी पर ठीक प्रतीत हुआ, उसे मूल पाठ मान लिया और नीचे पाद टिप्पणियो मे अन्य ग्रन्थों से पाठान्तर दे दिये । वैज्ञानिक पाठालोचन पाठान्तर देने का भी क्रम रहता, इस पद्धति मे वैसा नही होता ।

तीसरी पद्धति को भाषा-आदर्श पद्धति कह सकते हैं । इस पद्धति में जिस ग्रन्थ का सपादन करना है उसकी वर्तनी के रूपो का निर्धारण और व्याकरण विषयक नियमो का निर्धारण उस ग्रन्थ का अध्ययन करके और उस कृति की और उस काल की अन्य रचनाओ से तुलनापूर्वक कर लिया जाता है । इस प्रकार उस ग्रन्थ की भाषा का आदर्श रूप खड़ा कर लिया जाता है और उसी के आधार पर पाठ का संशोधन प्रस्तुत कर दिया जाता है ।

इन पद्धतियो का वैज्ञानिक पद्धति के समक्ष क्या मूल्य हो सकता है, सहज हो समझा जा सकता है ।

पाठ-निर्माण

पाठ का पुनर्निर्माण, वह भी प्रामाणिक निर्माण, भी पाठालोचन का ही एक पक्ष है । एजरटन महोदय ने पन्चतन्त्र के पाठ का पुनर्निर्माण किया था । पाठ-निर्माण में उनका कार्य आदर्श कार्य माना गया है ।

एजरटन महोदय ने 'पचतत्र पुनर्निर्मिति' नामक ग्रन्थ में विविध क्षेत्रों से प्राप्त पचतत्र के विविध रूपो को लेकर उनमे पाये जाने वाले अन्तरो और भेदो को दृष्टि में रख कर उसके 'मूलरूप' का निर्माण करने का प्रयत्न किया । पचतंत्र के विविध रूपान्तरों मे कहानियो मे आगम, लोप और विपयक मिलते है । प्रथम, प्रश्न यही उपस्थित होता है कि तब पचतत्र का मूलरूप क्या रहा होगा और उसमे कौन-कौनसी कहानियाँ थी और वे किस क्रम मे रही होगी । यह माना जाता है कि विश्व में लोकप्रियता की दृष्टि से बाइबिल के बाद पचतत्र का स्थान है । इसी कारण पचतत्र के कितने ही सस्करण मिलते हैं । उनमे अन्तर है–अतः पंचतंत्र के मूलरूप का निर्माण करने की समस्या भी 'पाठालोचन' के अन्दर ही आती है ।

इसके लिए एजरटन[1] महोदय ने वंशवृक्ष बनाया । वह इस प्रकार हैं ·

वंशवृक्ष

प्राचीनतर पचतत्र के संस्करणों के आन्तरिक सबंध दिखाने के लिए ।

1. Edgerton, Franklin--The Panchatantra Reconstructed. Vol. II, p. 48.

*Ur-Pañcatantra

*Northwestern Bṛhatkathā

*Ur-T

*Ur-SP

*Ur-Pa

Somadeva

Kṣemendra

Tantrākhyāyika

*Ur-Spl

Simplicior

Pūrṇabhadra

Southern Pañcatantra

*Ur-N

Nepalese Pañcatantra

Hitopadesa

*Pahlavi

Old Syriac

Arabic

* indicates hypothetical versions *Italics* indicate translations into other languages than Sanskrit
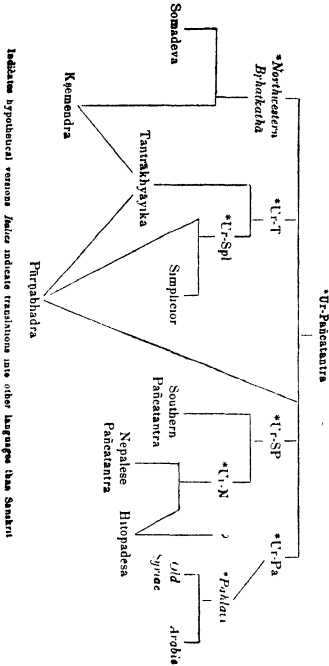
एजरटन महोदय ने 'पंचतत्र' के पुनर्निर्माण में जिस प्रक्रिया का पालन किया है, उसकी चर्चा उन्होंने खण्ड 2 के तृतीय अध्याय में की है ।

उनकी एक स्थापना यह है कि मूल (पंचतंत्र) के सम्बन्ध में उस समय तक कुछ

भी नहीं कहा जा सकता जब तक कि यह निर्धारित न हो जाय कि कौनसे संस्करण द्वितीय स्थानीय रूप में परस्पर अन्तरतः सम्बन्धित हैं।

दो संस्करणों में द्वितीय स्थानीय आन्तरिक सम्बन्ध (Secondary interrelationship) से यह अभिप्राय है कि मूल पचतंत्र से बाद के और उससे तुलना में द्वितीय स्थानीय (Secondary) प्रति की सर्वमान्य (Common) मूलाधार (Archetype) ग्रन्थ की प्रति से पूर्णतः या अंशतः उनकी उद्‌भावना (Descent) या अवतीर्णता की स्थिति इस उद्‌भावना या अवतीर्णता को सिद्ध करने के तीन ही मार्ग है :

एक–यह प्रमाण (सबूत) कि उन सस्करणो मे ऐसी सामग्री और बातें प्रचुर मात्रा मे है *, जो मूल ग्रन्थ म हो सकती है। दो या अधिक सस्करणो में वह महत्त्वपूर्ण सामग्री और वे विशिष्ट बाते ऐसे रूप मे और इतनी मात्रा मे मिलती है कि यह सम्भावना की जा सकती है कि यह सामग्री मूल से ही अवतीर्ण की गयी है, और उन सभी सस्करणो मे वे ऐसे स्थानों पर नियोजित है, जिन पर स्वतन्त्र रूप से उनके नियोजन की कल्पना नही की जा सकती। यदि प्रत्येक सस्करण स्वतन्त्र रूप से तैयार किया गया है, और वह किसी अन्य ग्रन्थ से अवतीर्ण नहीं हुआ है तो यह कैसे माना जा सकता है कि उनमे दी गई कहानियां एक ही क्रम मे और एक जैसे स्थलो पर ही नियोजित होगी *, ऐसा हो नही सकता। अत यदि कुछ प्रतियो या सस्करणो मे कहानियों का समावेश एक जैसे क्रम और स्थलो पर मिले तो यह मानना ही पड़ेगा कि उनका सम्बन्ध किसी मूल स्रोत से है ।

दूसरे—यह प्रमाण कि कितने ही संस्करणों या प्रतियो या रूपों मे परस्पर बहुत छोटी-छोटी महत्त्वपूर्ण बातों मे साम्य नियमितता भाषागत रूप-विधान मे मिलता है। साथ ही यह साक्ष्य भी कि साम्य प्रचुर मात्रा मे है और ऐसा है जिसे सयोग मात्र नही माना जा सकता। ऐसे अवतरणो का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित होता है।

तीसरा–प्रमाण (सबूत) कुछ दुर्बल बैठता है। वह प्रमाण यह है कि जो रूप या सस्करण हमारे समक्ष है वे एक वृहद् पूर्ण सस्करण के अंश है, और वह सस्करण सर्वसामान्य मूल का ही है।

एजरटन महोदय इन तीन कसौटियो मे से पहली दो को अधिक प्रामाणिक मानते है, यदि इन तीनो से विविध प्रतियो का अन्तर सम्बन्ध सिद्ध नही होता तो यह मानना होगा कि वे मूल पचतंत्र की स्वतन्त्र शाखाएँ है, जो एक-दूसरे से सम्बन्धित नही।

तब उन्होने यह प्रश्न उठाया है कि यह कैसे माना जाय कि मूल मे कोई 'पचतत्र' था भी, क्योकि कहानियाँ लोक प्रचलित हो सकती है *, जिन्हे सकलित करके संग्रहकर्त्ताओं ने यह रूप दे दिया। उन्होने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि पचतत्र के जितने भी हस्तलिखित ग्रन्थ मिलते है उनमे (1) वे सभी कहानियाँ समान रूप से विन्यस्त हैं, जिन्हें मूल माना जा सकता है। (2) और यह महत्त्वपूर्ण है कि वे सभी संस्करणों मे एक ही क्रम में हैं तथा (3) अधिकाशतः कथा (Frame Story) समान हैं। (4) गर्भित कथाएँ अधिकांश संस्करणों मे समान-स्थलो पर ही गुथी हुई मिलती है। इन चारों बातो से सिद्ध होता है कि पचतत्रों मे कहानियो के संग्रह का यह विशिष्ट विन्यास एक दैवयोग मात्र या संयोग-मात्र नही हो सकता। इस कसौटी से वे कहानिया अलग छँट जाती है जो इन विविध संस्करणों के संग्रह-कर्त्ताओ ने अपनी रुचि से कही अन्यत्र से लेकर सम्मिलित करदी है।

इन समस्त कसौटियों से अधिक प्रामाणिक कसौटी है सभी मूल कहानियों की भाषा और मुहावरे का साम्य । स्पष्ट है कि तब तक इतने संस्करणों में भाषा-साम्य नहीं हो सकता, जब तक कि वे किसी एक मूल से प्रतिलिपि मूल संस्करण से प्रतिलिपि रूप में प्रस्तुत न किये गये हों ।

इन कसौटियों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि एक मूल ग्रन्थ अवश्य था ।

यह भी है कि—(1) जो बातें सभी संस्करणों या ग्रन्थों में समान हैं, वे मूल में होनी चाहिये ।

(2) यदि कुछ बातें किन्हीं एक दो पुस्तकों में छूट भी हो तो, उनका कोई महत्त्व नहीं ।

(3) कुछ अत्यन्त सूक्ष्म बातें यदि स्वतन्त्र संस्करणों की अपेक्षाकृत कम संख्या में समान रूप से मिलती हो, तब भी उन्हें अनिवार्यतः मूल का नहीं माना जा सकता ।

(4) कुछ स्वतन्त्र संस्करणों में यदि अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण बातें समान रूप से मिलती हैं तो यह अधिक सम्भावना है कि वे मूल से ही आयी हैं । इनके सम्बन्ध में यह धारणा समीचीन नहीं मानी जा सकती कि इनका समावेश यों ही स्वतन्त्र रूप से हो गया है, क्योंकि ये अन्य स्वतन्त्र संस्करणों में नहीं मिलती । वरन् यह मानना अधिक संगत होगा कि ऐसी विशिष्ट महत्त्वपूर्ण बातें अन्यों में छोड़ दी गई है ।

(5) यदि पूरी की पूरी कहानियाँ कितनी ही स्वतन्त्र प्रतियों में समानरूपेण समाविष्ट मिलती हैं, और वे भी प्रायः सभी में एक ही जैसे स्थलों पर, तो वे भी मूल से आयी माननी होंगी । यदि ऐसी बड़ी कहानियाँ स्वतन्त्र रूप से कहीं किसी कहानी में जोड़ी गयी होंगी तो उसकी स्थिति बिल्कुल भिन्न होगी । प्रथम स्थिति में कहानी जहाँ स्वाभाविक रूप से अपने स्थान पर जुड़ी समीचीन प्रतीत होगी, वहाँ दूसरी स्थिति में वह थेगरी (Patch) जैसी लगेगी । एजरटन से ये कुछ प्रमुख बातें हमने यहाँ दी है । जो बातें पंचतंत्र के पाठ के पुनर्निर्माण के लिए दी गयी है, वे किसी भी ग्रन्थ के पुनर्निर्माण में, उस ग्रन्थ के रूप और विषय के अनुसार उचित संशोधन-पूर्वक उपयोग में लायी जा सकती है । पूर्व में दी गई पाठालोचन-प्रक्रिया भी ऐसे पाठालोचन में उपयोग में लानी ही पड़ेगी, क्योंकि एजरटन ने भी भाषा (Verbal) पक्ष को पूरा महत्त्व दिया है ।

पाठालोचन या पाठ की पुनर्रचना या पुनर्निर्माण में कुछ और पक्ष भी है, उन पक्षों के लिए ठोस-वैज्ञानिक-पद्धति स्थापित हो चुकी है । इनमें से कुछ का उल्लेख संक्षेप में डॉ॰ छोटे लाल शर्मा ने अपने निबन्ध 'हिन्दी-पाठ-शोधन विज्ञान' में संक्षेप में यों किया है :

[1]"कवि विशेष की व्यक्तिगत भाषा (Ideobet) को समझने-परखने के और भी तरीके हैं—

(1) हर्डन की सांख्यिकीय पद्धति—हर्डन प्रयोगावृत्ति को शैली का अभाव लक्षण स्वीकार करता है । उसका कहना है कि जब दो लेखकों में एक ही प्रकार की प्रयोगावृत्ति दीख पड़ती है तो उसकी शक्ति और क्षमता की पुष्टि की सम्भावना बढ़ जाती है । उसकी यह सहज स्वीकृति है कि भाषा में नियम और आकस्मिकता-दोनों ही तत्त्व काम करते हैं, यहाँ तक कि शब्दों के चुनाव में भी आकस्मिकता का आग्रह रहता है । यह आकस्मिकता समसामयिक लेखकों की तुलना के अनन्तर ग्रन्थ-विशेष की आकस्मिक प्रयोगावृत्ति से स्पष्ट होती है जो पाठ-शोध में ही नहीं रचनाओं के कालक्रमिक निर्णय एवं

पाठ-प्रामाणिकता आदि में विशेष सफल एवं उपादेय सिद्ध होती है।

(2) तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक पद्धति—उक्त पद्धति में छन्द पर विशेष विचार किया जाता है। परिणामतः भाषाओं के पारिवारिक सबधों का निर्धारण होता है और लुप्तप्रायः भाषाओं के उच्चार का आनुमानिक पुनरुद्धार प्रयोगवादी स्वन-वैज्ञानिको ने छद-निर्माण की व्याख्या अनुतान की अभिरचना के आधार पर की है जो उस भाषा के बोलने वाले प्रयोग में लाते हैं। छदो का अध्ययन तीन रूपों मे कि या जाता है (1) लेख वैज्ञानिक, (2) संगीतात्मक, और (3) ध्वनिक। लेख-विज्ञान मे ठीक-ठीक ध्वनियो एव अनुतानों का प्रयोग संगीतात्मक रूप में होता है। संगीतात्मक-अध्ययन मे छंद संगीत की लय के सदृश होता है जिसका ज्ञापन संगीत-चिह्नक के द्वारा हो सकता है। यह पद्य के आत्म-परकतालोकन के झुकाव को समृद्ध करता है। ध्वनिक अध्ययन स्वराघात, प्रबलता तथा संधि की विभक्त करता है और अर्थ पर कोई ध्यान नहीं देता है। यह पद्य की ध्वनि का अनुक्रम स्वीकार करता है और अर्थ तथा शब्द एवं वाक्यांश सीमा (Boundary) के लिए परेशान नहीं होता है। इस प्रकार भाषा के खण्डेतर पुनः निर्माण के अनन्तर खण्डीय पुर्ननिर्माण सरल हो जाते हैं क्योंकि खडेतर ध्वनि विस्तार खण्डीय ध्वनियो के संयोग के नियामक होते हैं। त्रुटियाँ प्रायः विपरीत दिशा से पुर्ननिर्माण के कारण होती है।

(3) सकल्पनात्मक पद्धति—उक्त पद्धति मे अभिव्यंजना की इकाइयो को पार्यतिक रूप मे सक्षिप्त किया जाता है और तब तर्क-संगत प्रमेयो का सरलीकरण प्रारम्भ होता है जो कहानी के अभिप्राय-परिगणन मे सहायक होते हैं, जिसके सहारे कथ्य की तुलना की जाती है। काव्य मे ये परिवेश के ग्रहण के तरीके को बताते है जिससे कविता का निर्माण होता है। इस प्रकार पाठ के संक्षिप्तीकरण से अलकरण-कोटि, निर्माण कला एव रचना-कार की वैयक्तिक शैली स्पष्ट हो जाती है। यह पद्धति सूक्ष्म सरचनात्मक सक्राम्य पद्धति से अनेक रूपों मे भिन्न है। सूक्ष्म सरचना एक धारणा मात्र है जो भाषा-विशेष के वाक्यो की प्रजनक होती है। व्याकरण की सरलता से इसकी प्रकृति एव अवयवो का निर्धारण होता है। सकल्पनात्मक प्रतिमान भावानयन है जो एक ही विषय से सम्बद्ध एक या अनेक वाक्यो के संक्षिप्तीकरण से उत्पन्न होता है। सूक्ष्म सरचना मे हर शब्द की कैफियत तलाश करनी होती है लेकिन सकल्पनात्मक प्रतिमान परिवर्त्य सबधो के सक्षिप्तीकरण का उद्धरण मात्र है। फिर सूक्ष्म सरचना मे भावानयन क्रमशः नहीं होता है, जबकि सकल्पनात्मक मे क्रमशः होता है।

इन तीनो पद्धतियों के योग से कथ्य एव भाषा दोनो का पुनः निर्माण प्रामाणिक रूप से सभव है और विकृतियो का निराकरण अत्यन्त सरल एवं सफल।[1]

□ □ □

1. शर्मा, छोटेलाल (डॉ०)—हिन्दी पाठ-शोधन विज्ञान—विश्वभारती पत्रिका (खण्ड 13, अङ्क 4), पृ० 330।

अध्याय 7

काल निर्धारण

पाण्डुलिपि प्राप्त होने पर पहली समस्या तो उसे पढ़ने की होती है। इसका अर्थ है लिपि का उद्घाटन। इस पर पहले 'लिपि समस्या' वाले अध्याय मे चर्चा हो चुकी है।

दूसरी समस्या उस पाडुलिपि के काल निर्धारण की होती है। प्रश्न यह है कि काल-निर्धारण की समस्या खडी क्यो और कैसे होती है ?

हमे जो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती है उन्हे काल की दृष्टि से दो वर्गों मे रखा जा सकता है

एक वर्ग उन पाण्डुलिपियो का है जिनमे काल-सकेत दिया हुआ है।

दूसरा वर्ग उनका है जिनमे काल सकेत का पूर्णत अभाव है।

काल-सकेत से समस्या

सामान्यत यह कहा जा सकता है कि जिस पाण्डुलिपि मे काल-सकेत है उसके सम्बन्ध मे तो कोई समस्या उठनी ही नही चाहिये। किन्तु वास्तव मे काल-सकेत के कारण अनेक कठिनाइयाँ और समस्याएँ उठ खडी होती है और कोई कोई समस्या तो ऐसी होती है कि सुलझने का नाम ही नही लेती। उदाहरणार्थ-पृथ्वीराज रासो मे सवतो का उल्लेख है। उनको लेकर विवाद आज तक चला है।

काल-सकेत' के प्रकार

वस्तुत समस्या स्वय काल सकेत मे ही अन्तर्भुक्त होती है क्योकि काल-सकेत के प्रकार भिन्न भिन्न पाण्डुलिपियो मे भिन्न भिन्न होते हैं। इसीलिए काल सकेत के प्रकारो से परिचित होना आवश्यक हो जाता है।

काल सकेत का पहला प्रकार हमे अशोक के शिलालेखों मे मिलता है। वह इस रूप मे है

द्वादसवसामि सितेन मया इद आजापित

इसमे अशोक ने बताया है कि मैने यह लेख अपने राज्याभिषेक के 12वें वर्ष मे प्रकाशित कराया।

अन्य लेखो मे मया, मेरे द्वारा या 'मैंने के स्थान पर देवनां प्रिय या 'प्रियदर्शी आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है, पर प्राय सभी काल-सकेतो का प्रकार यही है कि काल-गणना अपने अभिषक वर्ष से बतायी गयी है यथा--राज्याभिषेक के आठवें/इक्कीसवें वर्ष में लिखाया आदि।

अत काल सकेत का पहला प्रकार यह हुआ कि अभिलेख लिखाने वाला राजा

काल-गणना के लिए अपने राज्याभिषेक के वर्ष का उल्लेख कर देता है ।[1] इस प्रकार को 'राज्यवर्ष' नाम दे सकते हैं ।

अशोक के लेखों मे केवल राज्याभिषेक के 'वर्ष' का आठवाँ, बारहवाँ, बीसवाँ वर्ष आदि दिया हुआ है । शुंगों के शिलालेखो में भी 'राज्यवर्ष' ही दिया गया है ।

आन्ध्रों के शिलालेखो मे 'काल-सकेत' मे कुछ विस्तार आया है । उदाहरणार्थ : गौतमी पुत्र सातकर्णि के एक लेख मे काल-सकेत यो है —

"सबछरे, १० + ८ कस परवे २ दिवसे"

इसका अर्थ हुआ कि 18वें वर्ष मे वर्षा ऋतु के दूसरे पाख का पहला दिन ।

यहाँ 18वां वर्ष गौतमी पुत्र सातकर्णि के राजत्व-काल का है ।

इसमे केवल राज्याभिषेक से वर्ष-गणना का ही उल्लेख नही वरन् ऋतु पक्ष तथा दिन या तिथि का भी उल्लेख है ।

'सबच्छर' / सवत्सर शब्द वर्ष के लिए आया है । इस समय भी राज्य वर्ष का ही उल्लेख मिलता है यो तिथि-विषयक अन्य ब्यौरे इसमे है । ऋतुओ का उल्लेख है, मास का नहीं ।

पाख (पक्ष) का उल्लेख है, प्रथम या द्वितीय पाख का । दिवस का भी उल्लेख है ।

तब महाराष्ट्र के क्षहरात और उज्जयिनी के महाक्षत्रपो के शिलालेख आते है । इन्होने ही पहले ऋतु के स्थान पर मास का उल्लेख किया "बसे 40 + 2 बैशाख मासे"

इन्होंने ही पहले मास के बहुल (कृष्ण) या शुद्ध (शुक्ल) पक्ष का सन्दर्भ देते हुए तिथि दी "वर्ष द्विपचाशे 50 + 2 फगुण बहुलस द्वितीय वारे ।" इस उद्धरण मे 'बार' शब्द का भी पहले-पहल प्रयोग हुआ है, दिवस आदि के लिए, 'मार्ग शीर्ष बहुल प्रतिपदा' मे 'प्रतिपदा' या 'पडवा' तिथि है, कृष्ण अथवा बहुल पक्ष की । इनके किसी-किसी शिलालेख मे तो नक्षत्र का मुहूर्त तक दे दिया गया है, यथा .—

बैशाख शुद्धे पचम–धन्य तिथौ रोहिणी नक्षत्र मुहूर्ते"

पहले इन्ही के शिलालेखो मे नियमित सवत् वर्ष का उल्लेख हुआ, और उसके साथ राज्यवर्ष का उल्लेख भी कभी-कभी किया गया, यथा :

श्री-धरवर्मणा ....स्वराज्याभि वृद्धि करे वैजयिके संवतत्सरे त्रयोदशमे ।

श्रावण बहुलस्य दशमी दिवस पूर्वक मेत....20 + 1 अर्थात् श्रीधरवर्मा के विजयी एव समृद्धिशाली तेरहवे राज्य वर्ष मे और 201 वें (सवत्) मे श्रावण मास के कृष्णपक्ष की दशमी के दिन....' विद्वानो का मत है कि राज्यवर्ष के अतिरिक्त जो वर्ष 201 दिया गया है वह शक सवत् ही है । यह द्रष्टव्य है कि 'शक' या 'शाके' शब्द का उपयोग नही किया गया, केवल 'वर्ष या संवत्सरे' से काम चलाया गया है ।

1. अशोक के अभिलेख प्राचीनतम अभिलेख हैं । बस एक शिलालेख ही ऐसा प्राप्त हुआ है जो अशोक से पूर्व का माना जाता है । यह लेख अजमेर के अजायबघर मे रखा हुआ है और बडली से प्राप्त हुआ था । इसमे भी दो पक्तियो में काल संकेत है । एक पक्ति में 'वीराय भगवत' और दूसरी में 'चतुरासीति बस' । निष्कर्षतः यह वीर या महावीर के निर्वाण के चौरासीवें वर्ष में लिखा गया । अशोक पूर्व का लेख ओझाजी द्वारा विशिष्ट बताया गया है क्योंकि यह वीर-निर्वाण से काल-गणना देता है ।

संवत् के लेख के साथ 'शक' शब्द संवत् 500 के शिलालेखों से जुड़ा हुआ मिलता है। शक संवत् जिस घटना से आरम्भ हुआ वह 78 ई० मे घटी। वह थी चष्टण द्वारा अवन्ति की विजय। इसी विजय के उपलक्ष्य मे अवन्ति मे 78 ई० मे यह सवत् आरम्भ हुआ जिसे आरम्भ मे बिना नाम के काम मे लिया गया। इसके बाद 500 वे वर्ष से शक या शाके शब्द का प्रयोग नियमित रूप से होने लगा। शक स० 500 से 1263 तक के शिलालेखो मे वर्ष के साथ नीचे लिखी शब्दावली का प्रयोग किया गया :

(1) शकनृपति राज्याभिषेक सवत्सर
(2) शकनृपति सवत्सर
(3) शकनृप सवत्सर
(4) शकनृपकाल
(5) शक-संवत
(6) शक
(7) शाक[1]

स्पष्ट है कि आरम्भ मे 'राज्य वर्ष' के रूप मे इसे शकनृपति के राज्याभिषेक का सवत् माना गया। उस राज्याभिषेक का अभिप्राय शको की विजय के उपरान्त हुए अभिषेक से था। इसी शक सवत् के साथ शालिवाहन शब्द भी जुड़ गया और यह 'शाके शालिवाहन' कहलाने लगा। इस प्रकार यह दक्षिण तथा उत्तर मे लोक-प्रिय हो गया। शिलालेखों मे सबसे पहले हमे नियमित सवत् के रूप मे शक संवत् का ही उल्लेख मिलता है। अत 'काल सकेत' की एक प्रणाली तो राजा के शिलालेख यानी राजा द्वारा लिखाये गये शिलालेख के लिखे जाने के समय का उल्लेख उसी के राज्य के वर्ष के उल्लेख की प्रणाली मे मिलता है। तब, नियमित सवत् देने की परिपाटी मे दूसरे प्रकार का 'काल-सकेत' हमें मिलता है।

इन काल सकेतो से भी कुछ समस्याएँ प्रस्तुत होती है जिनमे से पहली समस्या राजा के अपने राज्य वर्ष के निर्धारण की है। अशोक के 8वे वर्ष मे कोई शिलालेख लिखा गया तो अशोक के सन्दर्भ मे तो उसके राज्यकाल के 8 वे वर्ष का ज्ञान इस शिलालेख से हमे उपलब्ध हो जाता है किन्तु इतिहास के कालक्रम मे किसी राजा का राज्य वर्ष किस प्रकार से अपने स्थान पर बिठाया जायेगा, यह समस्या खडी होती है। यह समस्या तब कुछ कठिन हो सकती है जब वह राजा कोई ऐसा राजा हो जिसके राज्यारोहण का वर्ष कही से भी उपलब्ध न होता हो। यथार्थ मे ऐसे काल-सकेत से ठीक-ठीक काल निर्धारण ऐसी स्थिति मे तभी हो सकता है कि जब राजा के राज्यारोहण-काल का ज्ञान हमे सन् सवत् की उस प्रणाली में उपलब्ध हो सके जिसे हम अपने सामान्य इतिहास मे काम में लाते हैं। जैसे, आधुनिक इतिहास मे हम ई० सन् का उपयोग करते है और उसी के आधार पर ई० सन् के पूर्व की घटनाओ को भी (ई० पू० द्वारा) द्योतित करते हैं।

जब 'काल-संकेत' दूसरी प्रणाली से दिया गया हो जिसमे किसी नियमित संवत् का निर्देश हो तो समस्या यह उपस्थित होती है कि उसे उस कालक्रम में किस प्रकार यथा-स्थान बिठाया जाय जिसका उपयोग हम वर्तमान समय मे इतिहास में करते हैं। जैसे—

1. Pandey, Rajbali–Indian Palaeography, p. 191.

अशोक के काल से पूर्व का लिखा जो एक शिलालेख अजमेर के बडली ग्राम मे मिला उसमें 'वीराय भगवत' पहली पंक्ति है और दूसरी पक्ति 'चतुराशि बसे' है, जिसका अर्थ हुआ कि महावीर स्वामी के निर्वाण के 84वें वर्ष मे। अब 84वें वर्ष का उल्लेख तो ऐसी घटना की ओर सकेत करता है जो एक प्रसिद्ध महापुरुष से जुड़ी हुई है, जिसके सम्बन्ध मे उनके धर्म के अनुयायी जैन धर्मावलम्बियो ने निर्भ्रान्ति रूप से 'महावीर संवत्' या 'वीर निर्वाण सवत्' की गणना सुरक्षित रखी है। जैन लेखक अपने ग्रन्थों मे निर्वाण सवत् का उल्लेख करते रहे है। श्वेताम्बर जैन मेरुतुङ्ग सूरि ने 'विचार श्रेणी' मे बताया है कि 'महावीर सवत्' और विक्रम स० मे 470 वर्षों का अन्तर आता है। इस गणना से महावीर सवत् का आरम्भ 527 ई० पू० मे हुआ, क्योकि विक्रम सवत् का आरम्भ 57 ई० पू० में होता है और 470 वर्ष का अन्तर होने से 57 + 470 = 527 ई० पू० महावीर का निर्वाण सवत् हुआ। इस विधि से 3 सवतों का पारस्परिक समन्वय हमें प्राप्त हो जाता है। विक्रम सवत् का 'वीर निर्वाण सवत्' से और दोनो का परस्पर 'ई० सन्' से। यदि 'वीर निर्वाण' के वर्ष का ज्ञान संदिग्ध हो तो इस प्रकार का 'काल-संकेत' किसी निर्णय पर नही पहुँच सकेगा। यह स्थिति किसी छोटे और अज्ञात राजा के राज्यारोहण काल की हो सकती है क्योंकि उसे जानने के कोई पक्के प्रमाण हमारे पास नही हैं, वही स्थिति कुछ ऐसे कम प्रचलित अन्य सवतो के सम्बन्ध मे भी हो सकती है। इसमे कोई सन्देह नही कि किसी एक राजा के राज्यारोहण के सन्दर्भ से काल के संकेत से अधिक उपयोगी काल-निर्धारण की दृष्टि से नियमित सवत् का उल्लेख होता है। यों मूलतः यह नियमित संवत् भी किसी घटना से सम्बद्ध रहता है, हम देख चुके हैं कि 'शक सवत्' शक नृपति के राज्यारोहण के काल का सकेत करता है, 'वीर संवत्' का सम्बन्ध महावीर निर्वाण से है किन्तु 'शक सवत्' नियमित हो गया क्योकि यह सर्वजन मान्य हो गया है।

ऊपर काल-निर्धारण विपयक दो पद्धतियो का उल्लेख किया गया है—(1) राज्यारोहण के काल के आधार पर, तथा (2) नियमित सवत् के उल्लेख से।[1] किन्तु ऐसे लेख भी हो सकते है जिनमे न राज्यारोहण से वर्ष की गणना दी गई हो, न नियमित सवत् का ही उल्लेख हो। ऐसी दशा मे लेखो मे सदर्भित समकालीन राजाओ का व्यक्तियों के आधार पर काल-निर्धारण किया जाता है, यथा—अशोक के तेरहवे शिलालेख मे अनेक समकालीन विदेशी शासको के नाम आये है। यदि उनकी तिथियाँ प्राप्त हो तो अशोक की तिथि पाई जा सकती है। यूनानी राजा अतियोकास द्वितीय का उल्लेख है। इनकी तिथि ज्ञात है। ये ई० पू० 261–46 तक पश्चिमी एशिया के शासक थे। द्वितीय टॉलेमी का भी उल्लेख है जो उत्तरी अफ्रीका मे ई० पू० 282–40 तक शासक था। इन समकालीन शासको की तिथियो के आधार पर अशोक के राज्यारोहण का वर्ष ई० पू० 270 निकाला गया है।

1. नियमित सवत् का उल्लेख कुषाण नरेशो के समय से मिलता है। आरम्भ के सवत् वर्षों मे सवत् का नाम नहीं दिया गया, पर यह निर्धारित हो चुका है कि वह शक-संवत् है जो 78 ई० से आरम्भ हुआ। इससे आगे द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय से गुप्तो के लेखो मे जो वर्षों का निर्देश है वह भी राज्य-वर्ष का न होकर गुप्त-सवत् के वर्ष का है। यथा—भानुगुप्त का एरण स्तम्भ का लेख, इसमें 191वे वर्ष का उल्लेख किया गया है, यह 191वां गुप्त संवत् है।

हर्षवर्धन की तिथियाँ 'हर्ष-संवत्' की सूचक हैं। नेपाल के लेखों मे भी हर्ष-सवत् है।

इस प्रकार से तिथि निर्धारण करने मे भी कठिनाइयाँ आती हैं : एक तो यह कठिनाई ठीक पाठ न पढ़े जाने से खड़ी होती है । गलत पाठ से गलत निष्कर्ष निकलेगा । 'हाथी गुंफा' के लेख में एक वाक्य यो पढ़ा गया—"पनंतरिय सत वस सते राज मुरिय काले ।" स्तेन कोनो ने इसका अर्थ दिया 'मौर्य काल के 165वें वर्ष मे ।' इसी के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष भी निकाला कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक संवत् चलाया था जो मौर्य-संवत् (मुरिय काले) कहा गया । अब कुछ विद्वान् इस पाठ को ही स्वीकार नही करते । उनकी दृष्टि में ठीक पाठ है–"पानतरीय सत सहसेहि, मुखिय कल वोच्छिन ।" इसमे वर्ष या संवत् या काल का कोई सकेत नहीं । अब यह सिद्ध-सा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने कोई मौर्य-संवत् नही चलाया था ।

किन्तु किसी न किसी 'काल-संकेत' से कुछ न कुछ सहायता तो मिलती ही है, और समकालिता एवं ज्ञात संवत् की पद्धति मे सन्तोषजनक रूप मे नियमित सवत् मे काल-निर्धारित किया जा सकता है ।

पर काल निर्धारित करने मे यथार्थ कठिनाई तब आती है, जब कोई काल सकेत रचना मे न दिया गया हो । अधिकाश प्राचीन साहित्य मे काल-सकेत नही रहते । वैदिक साहित्य का काल-निर्धारण कैसे किया जाय । इतिहास के लिए यह करना तो होगा ही । इस प्रकार की समस्या के लिए वर्ण्य-विषय मे मिलने वाले उन संकेतो या उल्लेखों का सहारा लिया जाता है, जिनमे काल की ओर किसी भी प्रकार से इंगित करने की क्षमता होती है । अब इस प्रकार से काल निर्धारण करने की प्रक्रिया को हम पाणिनि के उदाहरण से समझ सकते हैं

पाणिनि की अष्टाध्यायी एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ से उसकी रचना का 'काल-संकेत' नही मिलता । अत. अष्टाध्यायी मे जो सामग्री उपलब्ध है उसी के आधार पर समय का अनुमान विद्वानों ने किया है । ये अनुमान कितने भिन्न है, यह इसी से जाना जा सकता है कि एक विद्वान ने उसे 400 ई० पू० माना । गोल्डस्टुकर ने अष्टाध्यायी के अध्ययन के उपरान्त यह निर्धारित किया कि पाणिनि यास्क के बाद हुआ और बुद्ध से पूर्व था, क्योकि अष्टाध्यायी से विदित होता है कि वह बुद्ध से परिचित नही था । आर० जी० भाडारकर यह मानते है कि पाणिनि दक्षिण भारत से अपरिचित थे, अत. इनकी दृष्टि मे पाणिनि 7-8वी शताब्दी ई० पू० मे ही थे । 'पाठक' महोदय पाणिनि को महावीर स्वामी से कुछ पूर्व 'सातवी' शताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण में मानते है । डी० आर० भांडारकर ने पहले सातवी शताब्दी मे माना, बाद मे छठी शताब्दी ई० पू० के मध्य सिद्ध किया । चार पेंटियर पाणिनि को 550 ई० पू० मे विद्यमान मानते है, बाद मे इन्होंने 500 ई०पू० को अधिक समीचीन माना । ह्वोर्थलिक ने 350 ई० पू० का ही माना है । वेबर ने अष्टाध्यायी के एक सूत्र के भ्रमात्मक अर्थ के आधार पर पाणिनि को सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त का बताया ।

ये सभी अनुमान अष्टाध्यायी की सामग्री पर ही खड़े किये गए हैं । ऐसे अध्ययन का एक पक्ष तो यह होता है कि पाणिनि किन बातो से अपरिचित था, जैसे—गोल्डस्टुकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पाणिनि आरण्यक, उपनिषद्, प्रातिशाख्य, वाजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद तथा षड्दर्शनो से परिचित नहीं थे । अतः निष्कर्ष निकला कि

जिन बातों से वह परिचित नही वह उन बातों से पूर्व हुआ । तो वह उपनिषद् युग से पूर्व रहे होंगे ।

इसका दूसरा पक्ष है कि वह किनसे परिचित था , यथा—ऋग्वेद; सामवेद और कृष्णयजुर्वेद से परिचित थे । फलतः जिनसे परिचित थे उनकी समयावधि के बाद और जिनसे अपरिचित उनके लोक प्रचलित होने के काल से पूर्व पाणिनि विद्यमान रहे अर्थात् 400 ई० पू० ।

अब गोल्डस्टुकर के इस निष्कर्ष को अमान्य करने के लिए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अष्टाध्यायी से ही यह बताया है कि (1)पाणिनि, 'उपनिषद्' शब्द से परिचित थे, पाणिनि महाभारत से भी परिचित थे, वे श्लोक और श्लोककारो का उल्लेख करते हैं, 'नटसूत्र, शिशु क्रन्दीय, यमसभीय, इन्द्रनतंनीय जैसे सस्कृत के महानकाव्यो का भी ज्ञान रखते थे ।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अष्टाध्यायी के भौगोलिक उल्लेखों से इस तर्क को भी अमान्य कर दिया है कि पाणिनि 'दक्षिण' से अपरिचित थे । अन्तरयन देश, अश्मक, एव कलिंग अष्टाध्यायी में आये हैं ।

मस्करी परिव्राजकों के उल्लेख में मखली गोसाल से परिचित थे ।(पाणिनि)मखली गोसाल बुद्ध के समकालीन थे । अतः इस सन्दर्भ से और कुमारश्रमण और निर्वाण जैसे शब्दो के अष्टाध्यायी मे आने से बौद्ध-धर्म से उन्हे अपरिचित नही माना जा सकता ।

श्रविष्ठा (या धनिष्ठा) को नक्षत्र-व्यूह में प्रथम स्थान देकर पाणिनि ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनकी कालावधि की निम्नस्थ तिथि 400 ई० पू० हो सकती है ।

पाणिनि ने लिपि, लिपिकार, यवनानी लिपि तथा 'ग्रन्थ' शब्द का उपयोग किया है । यवनानी लिपि से कुछ विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला था कि भारत में यवनों से परिचय सिकन्दर के आक्रमण से हुआ, अतः अष्टाध्यायी में 'यवनानी लिपि' का आना यह सिद्ध करता है कि पाणिनि सिकन्दर के बाद हुए । पर यह 'यवनानी' शब्द आयोनियन (Ionian) ग्रीस निवासियों के लिए आया है, जिनसे भारत का सम्बन्ध सिकन्दर से बहुत पहले था ।

यहाँ काल-निर्धारण मे अन्तरंग साक्ष्य का मूल्य बताने के लिए पाणिनि के सम्बन्ध मे यह स्थूल चर्चा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के ग्रंथ India as Known to Panini (पाणिनि कालीन भारत) के आधार पर की गई है । विस्तार के लिए यही ग्रंथ देखें ।

यहाँ हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि किस ग्रथ या ग्रंथकार के समय निर्धारण में उसके ग्रंथ मे आयी सामग्री के आधार पर भी निर्भर किया जा सकता है । उसके ग्रन्थ के अध्ययन से एक ओर तो यह ज्ञात होता है कि वह किन बातों से परिचित नही था ।[1] तथा दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि वह किन बातों से परिचित था ।[2]

1. जैसे रुद्रट का समय निर्धारित करते हुए काणे महोदय ने बताया कि "वह ध्वनि-सिद्धान्त से पूर्णत. अपरिचित है ।" अत' ध्वनिकार का समसामयिक था या उससे कुछ पूर्व

2 काणे महोदय ने बताया हूं कि रुद्रट की भामह और उद्भट से बहुत निकटता है । रुद्रट ने भामह, दडी एवं उद्भट से अधिक अलकारो की चर्चा की है और इसकी प्रणाली भी वैज्ञानिक है । किसी बात के विकास के चरणों के अनुमान को भी एक प्रमाण माना जा सकता है ।

फिर यह आवश्यक होता है कि इन दोनो की सप्रमाण[1] व्याख्या करके और उनके ऐतिहासिक काल के सन्दर्भ से उस कवि की समयावधि की ऊपरी काल-सीमा और निचली काल-सीमा सावधानीपूर्वक निर्धारित की जाय। इस सम्बन्ध मे प्रचलित अनुश्रुतियो की भी परीक्षा की जानी चाहिये। प्राचीन साहित्य, ग्रंथ, हस्तलेख आदि के सम्बन्ध मे इस 'अन्तरंग-साक्ष्य' की काल-गत परिणति की प्रक्रिया का बहुत सहारा लेना पड़ा है।

यह बात ध्यान मे रखने की है कि अन्तरग साक्ष्य या अन्तरंग सगत कथनो की कालगत परिणति प्रामाणिक और निर्भ्रान्त रूप से स्थापित की जाय, जैसे--'श्राविष्ठा' का आदि नक्षत्र के रूप मे उल्लेख सिद्ध करता है। अत: तर्क और प्रमाण प्रबल होने चाहिए, उदाहरणार्थ—यवनानी लिपि विषयक तर्क की आयोनियनो से भारत का सम्बन्ध सिकन्दर से पूर्व से था, प्रबल और पुष्ट तर्क माना जा सकता है।

दुर्बल और असंगत तर्क आगे के विद्वानों द्वारा काट दिये जाते है। दूसरे प्रबल तर्क देकर काल-निर्धारण करने का प्रयत्न निरन्तर होता रहता है। जैसे---साहित्यदर्पण की भूमिका मे काणे[2] महोदय ने लिखा है कि—Attempts are made to fix the age of both भामह and दण्डी by reference to parallel passages from early writers and it is argued that they are later than these poets. Unless the very words are quoted I am not at all disposed to attach the slightest weight to parallelism of thought. There is no monopoly in the realm of thought as was observed by the ध्वनिकार (iv. II सवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसामा)। काणे महोदय ने यहाँ यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि केवल विचार-साम्य काल निर्धारण मे सहायक नही, समान वाक्यावली अवश्य प्रमाण बन सकती है पर केवल शब्दावली साम्य ही पर्याप्त नही, सन्दर्भगत अभिप्राय-साम्य भी हो तो प्रमाण अच्छा माना जा सकता है।

काल-संकेतो के रूप

काल निर्धारण मे ऐसे लेखको और ग्रन्थों के सम्बन्ध मे तो कठिनाई आती ही है, जिनके काल के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख प्राप्त नही होता, किन्तु जहाँ काल-सकेत दिया गया है वहाँ भी यथार्थ काल निर्धारण मे जटिल कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती है। ऊपर 'शिलालेखो' के काल-सन्दर्भ मे हमने यह देखा था कि एक लेख मे 'मुरिय' पढा गया और उसका अर्थ लगाया गया 'मौर्य सवत्' जबकि कुछ विद्वान यह मानते थे कि यह पाठ गलत है, गलत पढ़ कर गलत अर्थ किया गया, अत: मौर्य सवत् की धारणा निराधार है। किन्तु शिलालेखों में 'अक' भी कभी-कभी ठीक नही पढ़े जाते, इससे काल निर्धारण सदोष हो

1 प्रमाण के लिए बाह्य साक्ष्य का उपयोग किया जाता है। काणे ने रुद्रट के सम्बन्ध मे बताया है कि दसवी शताब्दी के आगे के कितने ही लेखको ने रुद्रट का उल्लेख किया है : "राजशेखर ने 'काव्य-मीमासा' में काकु वक्रोक्तिनाम शब्दालकारो मिति रुद्रट'।" रुद्रट के एक छन्द को भी उद्धृत किया है। प्रती हारिंदुराज ने बिना नामोल्लेख किये उसके छद उद्धृत किए हैं। धनिक की 'दश रूपावलोकन टीका मे उद्धृत है। लोचन मे भी उल्लेख है। मम्मट ने रुद्रट का नाम लेकर आलोचना की है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि रुद्रट 800-850 ई. के बीच हुए।

2. Kane, P. V -Sahityadarpan (Introduction), p. 37.

जाता है ।[1]

हम यहाँ यह देखेंगे कि ग्रन्थादि मे 'काल-संकेत' किस-किस प्रकार से दिये गए हैं ? और उनके सम्बन्ध मे क्या-क्या समस्याएँ खडी हुई हैं ?

इतिहास से हमे विदित होता है कि सबसे पहले शिलालेख मे जो ग्रजमेर के पास बडली ग्राम मे मिला था,

1 ग्रशोक से पूर्व मे वीर सवत् (महावीर निर्वाण सवत्) का उल्लेख दिया ।
2. ग्रशोक के ग्रभिलेखो मे राज्य-वर्ष का उल्लेख है ।
3. ग्रागे शको के समय मे राज्य-वर्ष के साथ 'शक सवत्' का वर्ष दिया गया, हाँ, वर्ष संख्या के साथ 'शक' का नाम सवत् के साथ नही लगाया गया । बाद में 'शक' नाम दिया गया ।
4. वर्ष या सवत्सर के साथ पहले ऋतुग्रो का उल्लेख, एव उनके पाखों का उल्लेख होने लगा । इसके साथ ही तिथि, मुहूर्त को भी स्थान मिलने लगा ।
5 बाद मे ऋतुग्रों के स्थान पर महीनो का उल्लेख होने लगा । महीनो का उल्लेख करते हुए दोनो पाखो को भी बनाया गया है । शुक्ल या शुद्ध ग्रौर बहुल या कृष्णपक्ष भी दिया गया ।
6 इसी समय नक्षत्र (यथा—रोहिणी) का समावेश भी कही-कही किया गया ।
7 वर्ष सख्या ग्रकों मे ही दी जाती थी पर किसी-किसी शिलालेख मे शब्दो के ग्रक बताये गए है ।
8 हिन्दी के एक कवि 'सबलश्याम' ने ग्रपने ग्रन्थ का रचना-काल यो दिया है :

सवत सत्रह सै सोरह दस, कवि दिन तिथि रजनीस वेद रस ।
माघ पुनीत मकर गत भानू
ग्रसित पक्ष ऋतु शिशिर समानू ।

कवि ने इसमें सवत् दिया है : सत्रह सौ सोरह दस

$1716 + 10 = 1726$

यह विक्रम सवत् है, क्योकि हिन्दी मे सामान्यत. इसी संवत् का उल्लेख हुग्रा है । संवत् का नामोल्लेख न होने पर भी हम इसे विक्रम सवत् कह सकते है ।

कवि ने तब दिन का उल्लेख किया है : 'कवि दिन' का उल्लेख भी ग्रद्भुत है । कवि दिन = शुक्रवार ।

तिथि ग्रंको मे न लिखकर शब्दो मे बतायी गयी है .

रजनीस	:	चन्द्रमा 1 +
वेद	:	4 +
रस	:	6 + = 11

ग्रर्थात् एकादशी ।

1. देखिए—गुरु गुगा के पूर्वज का शिलालेख, शोध पत्रिका (वर्ष 22, अङ्क 1), सन् 1971 मे श्री गोविन्द अग्रवाल का निबन्ध—'चौरा (बीकानेर) इतिहास के कुछ संदिग्ध स्थल ।'
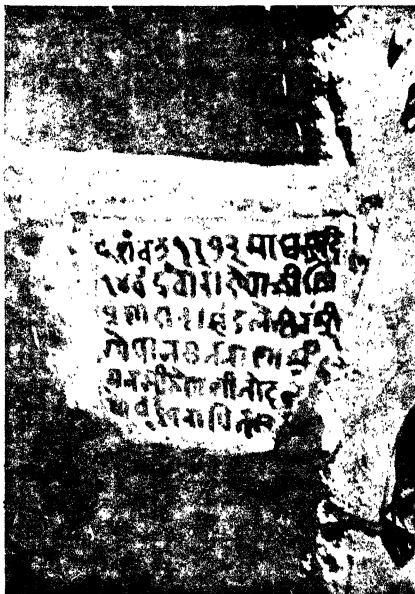
'ददरेवा' ग्राम में प्राप्त विद्यमान 'जैतसी' का शिलालेख

(जान कवि ने 'क्यामखा रासो' [सम्वत् 1273] मे क्यामखानी चौहानो की वंशावली प्रस्तुत की है, उसमे गोगाजी व जैतसी का भी उल्लेख है। अतः इसके आधार पर जैतसी गोगाजी के वंशज हैं।)

—माघ सुदि १४ चंद्रवार, (सम्वत् ११७३)

माघ महीने के असित पक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष में ऋतु शिशिर, तथा—

भानु मकर के – यह पवित्र संयोग

इसमें कवि ने ऋतु का भी उल्लेख किया है और महीने का भी।

स्पष्ट है कि यह कवि सामान्य परिपाटी से अपने को भिन्न सिद्ध करने के प्रयत्न में है।

काल संकेत की सामान्य पद्धति यह है कि यदि कवि शब्दों मे काल-सकेत देता है तो वह सवत् को शब्दाको मे रखता है, तिथि को नहीं। इस कवि ने तिथि को शब्दांको मे रखा है जो क्रमशः 1,4,6 होता है। अत. तीनो को जोडकर (11) तिथि निकाली गयी। पर संवत् को अंको मे दिया है, उसे भी वैशिष्ट्य के साथ सत्रह सै सोरह + दस। यहां भी संवत् जोड़ के प्राप्त होता है—सवत् सत्रह सै छब्बीस = 1726।

इस बात मे भी यह अनोखा है कि इसमे महीना भी दिया गया है और ऋतु भी साथ है। यह पद्धति किसी-किसी अभिलेख मे भी मिलती है।

काल–संकेत की यह एक जटिल पद्धति मानी जा सकती है।

सामान्य पद्धति

अब हम देखेगे कि सामान्य पद्धति क्या होती है सामान्य पद्धति मे सवत् अंको मे किन्तु अक्षरों मे दिया जायगा। 1726 को अक्षरो में 'सत्रह सै छब्बीस' लिखा जायगा। कही-कही पाडुलिपियो मे सवत् को अक्षरो मे देकर उसी के साथ अंकों मे भी लिख दिया गया है, यथा 'सत्रह सै छब्बीस १७२६', तिथि भी अंकों मे अक्षरों के द्वारा अर्थात् ग्यारस (११)।

सामान्य रूप से संवत् और तिथि के साथ दिन का, महीने का और पक्ष का उल्लेख भी किया जाता है।

इस रूप के अतिरिक्त जो कुछ भी वैशिष्ट्य लाया जाता है, वह कवि-कौशल माना जायेगा।

यह सन्-सवत् रचना के काल के लिये ही नही दिया जाता, इससे लिपि-काल भी द्योतित किया जाता है, लिपिकर्त्ता भी अपना वैशिष्ट्य दिखा सकता है।

कठिनाइयाँ

अब कुछ यथार्थ कठिनाइयों के उदाहरणो से यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कठिनाई का मूल कारण क्या है ?

पुष्पिका	संवत् पर टिप्पणियाँ
१. बीसल देव रासो की एक प्रति मे रचना-तिथि यों दी गई है : बारह सै बहोत्तराहां मँझारि, जेठ बदी नवमी बुधिवारि। नाल्ह रसाइण आरम्भइ। शारदा तुठी ब्रह्म कुमारि। कासमीरां मुख मंडनी।	१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'बारह सै बहोत्तराहां' का अर्थ 1212 किया है। बहोत्तर द्वादशोत्तर का रूपान्तर है। 2. बहोत्तर को बहत्तर (72) का रूपान्तर क्यो न माना जाय। लाला सीताराम ऐसा ही मानते हैं।

रास प्रगासों बीसल दे राइ ।

2. एक ग्रन्य प्रति में यों है—
सवत सहस सतिहुत्तरई जाणि ।
नल्ह कबीसरि कही ग्रमृतवाणि ।
गुण गुथ्यउ चउहाण का ।
सुकुलपक्ष पचमी श्रावणमास ।
रोहिणी नक्षत्र सीहामणउ ।
सौ दिन गिणि जोइसी जोउइ रास ।

3. इस पाठ से सवत् सत्तहुत्तर ग्रर्थात् 1077 निकलता है ।

3. एक ग्रन्य प्रति मे—
सवत तेर सतोत्तरइ जाणि
सुक पंचमी नइ श्रावण मास,
हस्त नक्षत्र रविवार सु

4. इसमे 1377 संवत् ग्राता है ।
5. इसका एक ग्रर्थ हो सकता है : सतोत्तरह=शत उत्तर एकसौ तेर=13 : ग्रर्थात् 1013

4. एक ग्रन्य मे—
सवत सहस तिहुत्तर जाणि
नाल्ह कबीसरि सरसिय वाणि

6. इससे सवत् 1073 निकलता है ।

5. डॉ० गुप्त ने एक ग्रन्य प्रति के ग्राधार पर एक संवत् 1309 ग्रौर बताया है । उन्होने इस प्रति को 'ग्र० सं०' नाम दिया है ।

'बीसलदेव रास' के रचना काल के सम्बन्ध मे कठिनाइयो का एक कारण तो यह है कि विविध उपलब्ध पांडुलिपियो मे सवत् विषयक पक्तियो मे पाठ-भेद है । पाँच प्रकार के पाठ-भेद ऊपर बताये गये है । इतने संवतों में से वास्तविक संवत कौन-सा है, इसे पाठालोचन के सिद्धान्त से भी निर्धारित नही किया जा सका । बहुत बड़े विद्वान पाठालोचक डॉ० गुप्त ने टिप्पणी मे दिये पूर्व संवत् को नही लिया शेष छः को लेकर किसी निर्णय पर न पहुँच सकने के कारण व्यंग्यात्मक टिप्पणी दी है जो पठनीय है : "चैत्रादि ग्रौर कार्तिकादि, दो प्रकार के वर्षों के ग्रनुसार इन छ की बारह तिथियाँ बन जाती है ग्रौर यदि 'गत' ग्रौर 'वर्तमान्' सवत् लिये जाये तो उपर्युक्त से कुल चौबीस तिथियां होती हैं" । डॉ० गुप्त ने पाठ-भेद की कठिनाई का समाधान निकालने की बजाय तद्विषयक कठिनाइयाँ ग्रौर बढ़ा के प्रस्तुत कर दी है । स्पष्ट है कि पाठालोचन के सिद्धान्त से किसी एक पाठ को वे प्रामाणिक नहीं मान सके । किन्तु यह भी सच है कि काल-निर्धारण मे ग्राने वाली कठिनाइयों की ग्रोर भी ठीक संकेत किया है · संवत् का ग्रारम्भ कहीं चैत्रादि से माना जाता है तो कहीं कार्तिकादि से—ग्रत ठीक-ठीक तिथि निर्धारण के समय इस तथ्य को भी ध्यान में रखना पड़ता है । दूसरे संवत् का उल्लेख 'गत' के लिये भी होता है, ग्रौर 'वर्तमान' के लिये भी होता है यथार्थ तिथि निर्धारण में इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होता है । ग्रतः काल-निर्धारण में ये भी यथार्थ कठिनाइयां मानी जा सकती हैं ।

पाठ-भेदों से उत्पन्न कठिनाई के बाद एक कठिनाई उचित ग्रर्थ विषयक भी दिखाई पड़ती है । मान लीजिये कि एक ही पाठ 'बारह सै बहोत्तराहां मभारि' ही मिलता तो

भी कठिनाई थी कि 'बहोत्तराहां' का अर्थ आचार्य शुक्ल की भाँति 1212 किया जाय या 12 से 72 (1272) किया जाय। आचार्य शुक्ल ने 1212 के साथ तिथि को पंचांग से पुष्ट कर लिया है, क्योंकि कवि ने केवल संवत् ही नही दिया वरन् महीना-जेठ, पक्ष वदी (कृष्ण पक्ष), तिथि नवमी और दिन बुधवार भी दिया है। 1212 को प्रामाणिक मानने के लिये यह विस्तृत विवरण पंचांग सिद्ध हो तो संवत् भी सिद्ध माना जा सकता था। पर पाठ-भेदो के कारण यह सिद्ध संवत् भी अप्रामाणिक कोटि मे पहुँच गया।

अतः अर्थान्तर की कठिनाई पचाग के प्रमाण से दूर होते-होते, पाठान्तर के झमेले से निरर्थक हो गई।

पाठ दोष की कठिनाई हस्तलेखो मे बहुत मिलती है, यथा—

"संवत् श्रुति शुभ नागशशि, कृष्णा कार्तिक मास
रामरसा तिथि भूमि सुत वासर कीन्ह् प्रकास[1]

यहाँ टिप्पणी यह दी गई है कि "शुभ के स्थान पर जुग किये बिना कोई अर्थ नही बैठता।" अत. 'शुभ' पाठ-दोष का परिणाम है। 'पाठ-दोष' को दूर करने का वैज्ञानिक साधन, पाठालोचन ही है, पर जहाँ मात्र ग्रन्थ-विवरण लिये गये हो वहाँ दोष की ओर इंगित कर देना भी महत्त्वपूर्ण माना जायगा, 'शुभ' के स्थान पर 'जुग' रखने का परामर्श पाठालोचन के अभाव मे अच्छा परामर्श माना जा सकता है। इस कवि की प्रकृति भी 'अंको' को शब्दो मे देने की है: इसीलिये तिथि तक भी राम=3 एवं रसा=1 (=13=त्रयोदशी) अकाना वामतो गतिः से बतायी है।

पाठ-दोष का यह रूप उस स्थिति का द्योतक है जिसमे मूल पाठ से प्रति प्रस्तुत करने मे दोष आ जाता है।

'पाठ-दोष' के लिये 'भ्रान्त-पठन' मूल कारण होता है। एक और उदाहरण तेरहवें खोज विवरण[2] से दिया जाता है—

किन्तु लिपिकारों ने प्रतिलिपि मे ऐसी भयकर भूले की हैं कि ग्रन्थारम्भ का समय 'एकादश सवत् समय और पाठ निराधार' हो गया है, जिसका अर्थ होगा 11+60=71 जो निरर्थक है। पहला शब्द 'एकादश' नही है, यह 'सत्रहसै' होना चाहिये अर्थात् 1700 +60=1760, जो समाप्ति काल के पद्य से सिद्ध हो जाता है :

"गये जो विक्रम वीर विताय। सत्रह सै अरू साठि गिनाय"

ऐसे ही एक लिपिकार ने 'साठि' का 'आठि' करके ५२ वर्ष का अन्तर कर दिया है। फिर भी यह तो बहुत ही आश्चर्यजनक है कि दो भिन्न-भिन्न लिपिकारो ने 'सत्रह सै' को 'एकादश' कैसे पढ लिया? अवश्य ही यह दोष उस प्रति मे रहा होगा, जिससे इन दोनो ने प्रतिलिप की है।

अथवा, यह विदित होता है कि इस प्रकार 'सत्रह सै' को 'एक दश' लिखने वाले दो व्यक्तियो मे से एक ने दूसरे से प्रतिलिपि की तभी एक के भ्रान्त पाठ को दूसरे ने भी

1. त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण, पृ० 28।
2. वही, पृ० 86।

दे दिया। एक कारण यह भी हो सकता है कि मूल की लेखन-पद्धति कुछ ऐसी हो कि 'सत्रह सै', 'एकादश' पढ़ा गया। 'साठ का आठ' भी भ्रान्त वाचना पर निर्भर करता है।

इसी प्रकार एक पाठ में है :

सौलह सै बालीस में संवत अवधारू
चैतमास शुभ पछ पुण्य नवमी भृगुवारू।

इसमें चालीस का ही 'बालीस' हो गया है। एक अन्य पाठ से 'चालीस' की पुष्टि होती है। स्पष्ट है कि यह 'बालीस' बयालीस (42) नहीं है।[1]

यह 'पाठ-दोष' या भ्रान्त वाचना कभी-कभी इतनी विकृत हो सकती है कि उसका मूल कल्पित कर सकना इतना सरल नहीं हो सकता जितना कि बालीस को चालीस रूप मे शुद्ध बना लेना।

ऐसा एक उदाहरण यह है—

री भव बक्र सोनाणइ नदु जुत
करी सम्य (समय) जानी,
असाढ़ सी सीत सुम पंचमी
सनी को बासर मानी।

इस काल द्योतक पद्य का प्रथम चरण इतना भ्रष्ट है कि इसका मूल रूप निर्धारित करना कठिन ही प्रतीत होता है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने जो कल्पना से रूप प्रस्तुत किया है वह उनकी विद्वता और पांडित्य से ही सिद्ध हो सका है। उन्होने सुझाव दिया है कि इसका मूल पाठ यह हो सकता है—

"विधि भव वक्त्र सुनाग इन्दुजुत करी समय जानी" और इसका अर्थ किया है :

विधि वक्त्र	:	4
भव वक्त्र	:	5
नाग	:	8
इंदु	:	1

अत: सवत् हुआ 1854

हमने यह देखा कि पुष्पिकाओं मे संवत् का उल्लेख होता था और यह सवत् विक्रम संवत् था। ऊपर के सभी उदाहरण विक्रम सवत् के द्योतक हैं, किन्तु ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं, जैसे ये हैं :

संमत सत्रह से ऐकानवे होई
एगारह सै सन पैतालिस सोई
अगहन मास पछ अजीआरा
तीरथ तीरोदसी सुकर सँवारा।

इसमें 'अजीआरा' का रूप तो 'उजियारा' अर्थात् शुक्ल : उज्वल पक्ष है 'तीरथ'

1. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का अठारहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृ० 18।

गलत छपा है यह 'तिथि है। 'तीरोदसी' त्रयोदशी का विकृत रूप है। किन्तु-जो विशेष रूप से दृष्टव्य है वह यह है कि इसमे सवत् 1791 दिया गया है और सन् 1145 दिया गया है। एक पुष्पिका इस प्रकार है

सन बारह सं असी है सवत देहु बताय
बोनइस सं बोनतीस मे सो लिखि कहे उ बुझाय।'[1]

यहाँ कवि ने सन् बताया 1280 और उसका सवत् भी बताया है 1929। सवत् तो विक्रमी है सन् है फसली। ऊपर भी सन् से फसली सन् ही अभिप्रेत है।

अब जायसी के उल्लेखो का लीजिये। वे आखिरी कलाम मे लिखते हैं—

'मा अवतार मार नव सदी
तीस बरिख कवि ऊपर बदी।

× × ×

सन् नव सं संतालिस अहै।
कथा आरम्भ बैन कवि कहै

जायसी[2] ने सन् का उल्लेख किया है। यह सन् है हिजरी तो स्पष्ट है कि हिन्दी रचनाओ मे हिजरी सन् का भी उल्लेख है और 'फसली सन् का भी।

भारत के अभिलेखो और ग्रथो म दो या तीन सवत् या सन् ही नही प्राय, कितने हो सवतो सनो का उल्लेख हुआ है। इसलिए उ हे अपने प्रचलित ईस्वी सन् और विक्रमी नियमित सवतो म उन्हे बिठाने मे कठिनाई होती है।

विविध सन् सवत्

हम यहाँ पहले उन सवतो का विवरण दे रहे है जो हमे भारत मे शिलालेखो और अभिलखो म मिले है। यह हम देख चुके है कि पहले बडली के शिलालेख मे वीर सवत् का उपयोग हुआ। यह शिलालेख महावीर के निर्वाण से 84 वे वष मे लिखा गया था। इस एक अपवाद को छोड कर बाद मे शिलालेखो और अन्य लेखो मे वीर सवत् का उपयोग नही हुआ हाँ जन ग्र थो मे इसका उपयोग आगे चलकर हुआ है।

फिर अशोक के शिलालेखो म और आगे राज्य-वष का उल्लेख हुआ है।

नियमित सवत्

सबसे पहले जो नियमित सवत् अभिलेखो के उपयोग म आया वह वस्तुत शक सवत् था।

शक-सवत्

शक-सवत् अपने 500 वें वर्ष तक प्राय बिना 'शक शब्द के मात्र 'वर्षे' या कभी-कभी मात्र सवत्सरे शब्द से अभिहित किया जाता रहा।

1 अठारहवाँ सैवार्षिक विवरण, पृ० 124।
2 जायसी लिखित पद्मावत के रचनाकाल के सम्बन्ध मे भी मतभेद हैं, पाठ-भेद से कोई इसे सन् नव से सताइस अहै मानते हैं विद्वानो मे इसका अच्छा विवाद रहा है।

शक 500 वें वर्ष से 1262 वें वर्ष के बीच इसके साथ 'शक' शब्द लगने लगा, जिसका अभिप्राय यह था कि 'शकनृपति के राज्यारोहण के समय से'।

शाके शालिवाहने

फिर चौदहवीं शताब्दी मे शक के साथ शालिवाहन और जोड़ा जाने लगा। 'शाके-शालिवहन-संवत्' वही शक-संवत् था, पर नाम उसे शालिवाहन का और दे दिया गया।

शक-सवत् विक्रम संवत् से 135 वर्ष उपरान्त अर्थात् 78 ई० में स्थापित हुआ। इस प्रकार विक्रम सं० से 135 वर्ष का अन्तर शक-संवत् में है और ईस्वी सन् से 78 वर्ष का।

पूर्वकालीन शक-संवत्

यह विदित होता है कि शको ने अपने प्रथम भारत-विजय के उपलक्ष्य में 71 या 61 ई० पू० मे एक सवत् चलाया था। इसे पूर्वकालीन शक-सवत् कह सकते है। विम कडफिस का राज्य-काल इसी सवत् के 191 वें वर्ष मे समाप्त हुआ था। यह सवत् उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ क्षेत्र मे उपयोग मे आया था। बाद का शक-सवत् पहले दक्षिण में आरम्भ हुआ फिर समस्त भारत मे प्रचलित हुआ। जैसा ऊपर बताया जा चुका है यह 78 वे ईस्वी संवत् में आरम्भ हुआ था।

कुषाण-संवत्

(यही कनिष्क सवत् भी कहलाता है)

इसकी स्थापना सम्राट् कनिष्क ने ही की थी। वह सवत् कुछ इस तरह लिखा जाता था + 'महाराजस्य देवपुत्रस्य कणिष्कस्य सवत्सरे 10 ग्रि 2दि9।" इसका अर्थ था कि महाराजा देव पुत्र कनिष्क के सवत्सर 10 की ग्रीष्म ऋतु के दूसरे पाख के नवमे दिन या नवमी तिथि को।

कनिष्क ने यह सवत् ई० 120 में चलाया था। इसका प्रचलन प्राय कनिष्क के वशजो मे ही रहा। 100 वर्ष के लगभग ही यह प्रचलित रहा होगा। इसके बाद उसी क्षेत्र मे पूर्वकालीन शक-संवत् का प्रचार हो गया।

कृत, मालव तथा विक्रम सवत्

कृत, मालव तथा विक्रम सवत् नाम से जो सवत् चलता है वह राजस्थान और मध्य-प्रदेश में संवत् 282 से उपयोग मे आता मिलता है।

ये नाम तो तीन हैं: पहले 'कृत-सवत्' का उपयोग मिलता है, बाद मे इसे मालव कहा जाने लगा और उसके भी बाद इसी को 'विक्रम-सवत्' भी कहा गया। आज विद्वान इस तथ्य को कि कृत, मालव तथा विक्रम-सवत् एक सवत् के ही नाम हैं निर्विवाद रूप से स्वीकार करते है। इन नामों के कुछ उदाहरण इस प्रकार है·

1 "कृतयोर्द्वयोर्वर्ष शतयोर्द्वय शीतयों : 200+80+2 चैत्र पूर्णमास्याम्"।[1]

2. श्री मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते। कष्टयब्दिके प्राप्ते समाशत चतुष्टये। दिने

1 Pandey, R.B.--Indian Palaeography, P. 199.

भ्राम्बोज शुक्लस्य पंचमयामथ सत्कृते ।[1] इसमे कृत को मालवगण का संवत् बताया गया है ।

3. मालवकालाच्छरदां षटत्रिंशत्-सयुते ष्वतीतेषु । नवसु शतेषु मघाविह ।[2]
इसमे केवल मालव-काल का उल्लेख हुआ है ।

४. विक्रम संवत्सर 1103 फाल्गुन शुक्ल पक्ष तृतीया ।

इसमें केवल 'विक्रम-सवत्' का उल्लेख है । 1103 के बाद विक्रम नाम का ही विशेष प्रचार रहा और प्राय समस्त उत्तरी भारत मे यह संवत् प्रचलित हो गया (बगाल को छोड़ कर) ।

यह संवत् 57 ई० पू० मे आरम्भ हुआ था । इसमे 135 जोड़ देने से शक-संवत् मिल जाता है ।

विक्रम-संवत् के सम्बन्ध मे ये बातें ध्यान मे रखने योग्य हैं :

1 उत्तर में इस संवत् का आरम्भ चैत्रादि है । चैत्र के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से यह चलता है ।

2. यह उत्तर मे पूर्णिमान्त है—पूर्णिमा को समाप्त माना जाता है ।

3 दक्षिण मे यह कार्तिकादि है । कार्तिक के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होता है और 'अमान्त' है, अमावस्या को समाप्त हुआ माना जाता है ।

गुप्त सवत् तथा वलभी संवत्

विद्वानो का निष्कर्ष है कि गुप्त-सवत् चन्द्रगुप्त-प्रथम द्वारा चलाया गया होगा । इसका आरम्भ 319 ई० मे हुआ । यह चैत्रादि संवत् है और चैत्र के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होता है । इसका उल्लेख 'गतवर्ष' के रूप मे होता है, जहाँ 'वर्तमान' वर्ष का उल्लेख है, वहाँ एक वर्ष अधिक गिनना होगा ।

वलभी (सौराष्ट्र) के राजाओं ने गुप्त-संवत् को ही अपना लिया था पर उन्होने अपनी राजधानी 'वलभी' के नाम पर इस संवत् का नाम 'गुप्त' से बदल कर 'वलभी' सवत् कर दिया था, क्योंकि वलभी संवत् भी 319 ई० मे आरम्भ हुआ, अत. गुप्त और वलभी मे कोई अन्तर नही ।

हर्ष-संवत

यह सवत् श्री हर्ष ने चलाया था । श्री हर्ष भारत का अन्तिम सम्राट माना जाता है । अलबेरूनी ने बताया कि एक काश्मीरी पचाग के आधार पर हर्ष विक्रमादित्य से 664 वर्ष बाद हुआ । इस दृष्टि से हर्ष-सवत् 599 ई० मे आरम्भ हुआ । हर्ष-सवत उत्तरी भारत मे ही नही नेपाल मे भी चला और लगभग 300 वर्ष तक चलता रहा ।

ये कुछ सवत् अभिलेखो और शिलालेखो, ताम्रपत्रो आदि के आधार पर प्रामणिक है । इन्हे प्रमुख सवत् कहा जा सकता है । इनको ऐतिहासिक हस्तलेखो के काल-निर्धारण मे सहायक माना जा सकता है ।

पर, भारत मे और कितने ही संवत् प्रचलित है जिनका ज्ञान होना इसलिये भी

1. वही, पृ० 200 ।
2. वही, पृ० 201 ।

आवश्यक है कि पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को न जाने कब किस सन् संवत् से साक्षात्कार हो जाय।

सप्तर्षि संवत्

लौकिक-काल, लौकिक-सवत्, शास्त्र-सवत्, पहाड़ी-संवत् या कच्चा-संवत्। ये सप्तर्षि-संवत् के ही विविध नाम हैं·

सप्तर्षि-संवत् काश्मीर में प्रचलित रहा है। पहले पंजाब मे भी था। इसे सप्तर्षि-संवत् सप्तर्षि (सातों तारों के विख्यात मडल) की चाल के आधार पर कहा गया है। ये सप्तर्षि 27 नक्षत्रों मे से प्रत्येक पर 100 वर्ष रुकते हैं। इस प्रकार 2700 वर्षों में ये एक चक्र पूरा करते है। यह चक्र काल्पनिक ही बताया गया है। फिर नया चक्र प्रारम्भ करते है। इस सवत् को लिखते समय 100 वर्ष पूरे होने पर शताब्दी का अंक छोड़ देते हैं, फिर 1 से प्रारम्भ कर देते हैं। इस संवत् का प्रारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से होता है और इसके महीने पूर्णिमांत होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि उत्तरी भारत में विक्रम-संवत् के होते हैं।

इसका अन्य सवतों से सम्बन्ध इस प्रकार है·

शक से—शताब्दी के अक रहित सप्तर्षि-सवत् में 46 जोड़ने से शताब्दी के अक-रहित शक (गत) संवत् मिलता है। 81 जोडने से चैत्रादि विक्रम (गत), 25 जोड़ने से कलियुग (गत), और 24 या 25 जोडने से ई०स० आता है।

कलियुग-सवत्[1]

भारत-युद्ध-सवत् एव युधिष्ठर-सवत् भी यही है :

यह सामान्यतः ज्योतिष ग्रन्थो मे लिखा जाता है, पर कभी-कभी शिलालेखो पर भी मिलता है।

इसका प्रारम्भ ई०पू० 3102 से माना जाता है।
चैत्रादि गत विक्रम-सवत् मे 3044 जोडने से,
गत शक-संवत् में 3179 जोडने से,
और ईसवी सन् में 3101 जोडने से
गत कलियुग-संवत् आता है।

बुद्ध-निर्वाण-संवत्

बुद्ध-निर्वाण के वर्ष पर बहुत मत-भेद हैं। प० गौरीशकर हीराचन्द ओझाजी 487 ई०पू० मे अधिक सम्भव मानते हैं। अतः बुद्ध-निर्वाण-संवत् का प्रारम्भ 487 ई०पू० से माना जा सकता है। बुद्ध-निर्वाण-संवत् का उल्लेख करने वाले शिलालेखादि संख्या में बहुत कम मिले हैं।

बार्हस्पत्य-संवत्सर

ये दो प्रकार के मिलते हैं· एक 12 वर्ष का दूसरा 60 वर्ष का।

1 कलियुग सवत् भारत-युद्ध की समाप्ति का द्योतक है और युधिष्ठिर के राज्यारोहण का भी। अतः इसे भारत-युद्ध-संवत् एव युधिष्ठिर-संवत् कहते हैं। कलियुग नाम से यह न समझना चाहिये कि इसी सवत् से कलि आरम्भ हुआ। कलियुग कुछ वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था।

बारह वर्ष का

ईसवी सन् की सातवी शताब्दी से पूर्व इस संवत् का उल्लेख मिलता है। बृहस्पति की गति के आधार पर इसका 12 वर्ष का चक्र चलता है। इसके वर्ष महीनो के नाम चैत्र, वैशाखादि पर ही होते हैं पर बहुधा उनके पहले 'महा' शब्द लगा दिया जाता है, जैसे—महाचैत्र, महाफाल्गुन आदि। अस्त होने के उपरान्त जिस राशि पर बृहस्पति का उदय होता है, उस राशि या नक्षत्र पर ही उस वर्ष का नाम 'महा' लगा कर बताया जाता है।

साठ (60) वर्ष का

दूसरा सवत्सर 60 वर्ष के चक्र का है। बृहस्पति एक राशि पर एक वर्ष के 361 दिन, 2 घड़ी और 5 पल ठहरता है। इसके 60 वर्षों मे से प्रत्येक को एक विशेष नाम दिया जाता है। इन साठ वर्षों के ये नाम है

1. प्रभव, 2. विभव, 3. शुक्ल, 4. प्रमोद, 5 प्रजापति, 6 अगिरा, 7. श्रीमुख, 8. भाव, 9. युवा, 10 धाता, 11 ईश्वर, 12. बहुधाय, 13 प्रमाथी, 14 विक्रम, 15. वृष, 16 चित्रभानु, 17. सुभानु, 18. तारण, 19. पार्थिव, 20 व्यय, 21. सर्वजित, 22 सर्वधारी, 23. विरोधी, 24. विकृति, 25 खर, 26 नन्दन, 27. विजय, 28 जय, 29 मन्मथ 30, दुर्मुख, 31 हेमलव, 32 विलबी, 33. विकारी, 34. शार्वरी, 35 प्लव, 36. शुभकृत, 37 शोभन, 38 क्रोधी, 39. विश्वावसु, 40. पराभव, 41. प्लवग, 42 कीलक, 43 सौम्य, 44 साधारण, 45 विरोधकृत, 46 परिधावी, 47. प्रभादी, 48. आनन्द, 49 राक्षस, 50. अनल, 51. पिगल, 52 कालयुक्त, 53. सिद्धार्थी, 54 रौद्र, 55. दुर्मति, 56 दुदुभी, 57 रुधिरोद्गारी, 58. रक्ताक्ष, 59 क्रोधन और 60. क्षय।

इस सवत्सर का उपयोग दक्षिण मे ही अधिक हुआ है उत्तरी भारत मे बहुत कम।

बार्हस्पत्य-सवत् का नाम निकालने की विधि वाराहमिहिर ने यो बतायी है—

जिस शक सवत् का वार्हस्पत्य वर्ष नाम मालूम करना इष्ट हो उसका गत शक सवत् लेकर उसको 11 से गुणित करो, गुणनफल को चौगुना करो, उसमे 8589 जोड दो जो जोड़ आये उसमे 3750 से भाग दो, भजनफल को इष्ट गत शक सवत् मे जोड़ दो जो जोड मिले उसमे 60 का भाग दो, भाग देने के बाद जो शेष रहे उस सख्या को यह उक्त प्रभवादि सूची मे जो नाम क्रमात् आये वही उस इष्ट गत शक सवत् का बार्हस्पत्य-वर्ष का नाम होगा।

दक्षिण बार्हस्पत्य-सवत्सर का नाम यो निकाला जा सकता है कि 38 गत शक सवत् मे 12 जोडो और योगफल मे 60 का भाग दो-जो शेष बचे उस सख्या का वर्ष नाम अभीष्ट वर्ष नाम है या इष्ट गत कलियुग-सवत् मे उक्त नियमानुसार पहले 12 जोड़ो, फिर 60 का भाग दो-जो शेष बचे उसी सख्या का प्रभवादि क्रम से नाम बार्हस्पत्य-वर्ष का अभीष्ट नाम होगा।

ग्रह परिवृत्ति-संवत्सर

यह भी 'चक्र आश्रित' संवत् है। इसमे 90 वर्ष का चक्र रहता है। 90 वर्ष पूरे होने पर पुनः 1 से आरम्भ होता है। इसमें भी शताब्दियों की सख्या नही दी जाती, केवल वर्ष संख्या ही रहती है, इसका आरम्भ ई० पूर्व 24 से हुआ माना जाता है।

इस संवत् को निकालने की विधि---

1 वर्तमान कलियुग संवत् मे 72 जोड़ कर 90 का भाग देने पर जो शेष रहे वह संख्या ही इस संवत्सर का वर्तमान वर्ष होगा ।

2. वर्तमान शक सवत् मे 11 जोड कर 90 का भाग दीजिये । जो शेष बचे उसी संख्या वाला इस संवत्सर का वर्तमान वर्ष होगा ।

हिजरी सन्

यह सन् मुसलमानो मे चलने वाला सन् है । मुसलमानों के भारत में आने पर यह भारत में भी चलने लगा ।

इसका आरम्भ 15 जुलाई 622 ई० तथा संवत् 679 श्रावण शुक्ला 2, विक्रमी की शाम से माना जाता है, क्योंकि इसी दिन पैगम्बर मुहम्मद साहब ने मक्का छोडा था, इस छोड़ने को ही अरबी में 'हिजरह' कहा जाता है । इसकी स्मृति का सन् हुआ हिजरी सन् । इस सन् की प्रत्येक तारीख सायकाल से आरम्भ होकर दूसरे दिन सायकाल तक चलती है । प्रत्येक महीने के 'चन्द्र दर्शन' से महीने का आरम्भ माना जाता है, अतः यह चन्द्र वर्ष है ।

इसके 12 महिनो के नाम ये हैं · 1-मुहर्रम, 2-सफर, 3-रबी उल् अव्वल, 4-रबी उल आखिर या रबी उस्सानी, 5-जमादि उल् अव्वल, 6-जमादिउल आखिर या जमादि उस्सानी, 7-रजब, 8-शाबान, 9-रमजान, 10-शव्वाल, 11-जिल्काद और 12-जिलहिज्ज । म० भ० ओझा जी ने बताया है कि 100 सौर वर्षों मे 3 चन्द्र वर्ष 24 दिन और 9 घडी बढ जाती है । ऐसी दशा मे ईसवी सन् (या विक्रम सवत्) और हिजरी सन् का परस्पर कोई निश्चित अतर नही रहता, वह बदलता रहता है । उसका निश्चय गणित से ही होता है[1] ।

'शाहूर' सन् या 'सूर' सन् या 'अरबो' सन्

इसका आरम्भ 15 मई, 1344 ई० तद्नुसार ज्येष्ठ शुक्ल 2,1401 विक्रमी मे जबकि सूर्य मृगशिर नक्षत्र पर आया था, 1 मुहर्रम हिजरी सन् 745 मे हुआ था । इसके महीनों के नाम हिजरी सन् के महीनों के नाम पर ही हैं । पर, इसका वर्ष सौर वर्ष होता है, हिजरी की तरह चन्द्र नही । जिस दिन सूर्य मृगशिर नक्षत्र पर आता है, 'मृगेरवि'; उसी दिन से इसका नया वर्ष आरम्भ होता है, अतः इसे 'मृग-साल' भी कहा जाता है ।

इस सन् मे 599-600 मिलाने से ईसवी सन् मिलता है, और 656-657 जोडने से विक्रम सवत् मिलता है । इस सन् के वर्ष अको की बजाय अक द्योतक अरबी शब्दो मे लिखे जाते हैं । यह सन् मराठी मे काम में लाया जाता था । मराठी मे अको के द्योतक अरबी शब्दो मे कुछ विकार अवश्य आ गया है, जो भाषा-वैज्ञानिक-प्रक्रिया मे स्वाभाविक है । नीचे अंको मे लिये अरबी शब्द दिये जा रहे हैं और कोष्ठक मे मराठी रूप । यह मराठी रूप ओझाजी ने मोलेसेवर्थ के मराठी अंग्रेजी कोश से दिये हैं :

1-अहद् (अहदे, इहदे)
2-अस्ना (इसन्ने)
3-सलासह (सल्लीस)
4-अबआ

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 190

5–खम्मा (खम्मस)
6–सित्त (सिन ऽ=सित्त)
7–सवा (सब्बा)
8–समानिश्रा (सम्मान)
9–तसश्रा (तिस्सा)
10–श्रशर
11–श्रहद् श्रशर
12–श्रस्ना (इसने) श्रशर
13 सलासह् (सल्लास) श्रशर
14–श्ररबा श्रशर
20–श्रशरीन्
30–सलासीन (सल्लासीन)
40–श्ररबईन्
50–खमूसीन्
60–सित्तीन (सित्तैन)
70–सबीन् (सब्बैन)
80–समानीन (सम्मानीन)
90–तिसईन (तिस्सैन)
100–माया (मया)
200–मश्रतीन (मयातैन)
300–सलास माया (सल्लास माया)
400–श्ररबा माया
1000–श्रलफ् (श्रलफ)
10000–श्रशर श्रलफ्

इन श्रंक-सूचक शब्दो मे सन् लिखने से पहिले शब्द से इकाई, दूसरे से दहाई, तीसरे से सैकड़ा श्रौर चौथे से हजार बतलाये जाते हैं जैसे कि 1313 के लिए 'सलासो श्रश्रो सलास माया व श्रलफ'[1] लिखा जायेगा।

फसली सन्

यह सन् श्रकबर ने चलाया। फसली शब्द से ही विदित होता है कि इसका 'फसल' से सम्बन्ध है। 'रबी' श्रौर 'खरीफ' फसलो का हासिल निर्धारित महीनो मे मिल सके इसके लिये इसे हिजरी सन् 971 म श्रकबर न श्रारम्भ किया। हिजरी 971 वि० स० 1620 मे श्रौर ईस्वी 1563 मे पड़ा। इस फसली सन् मे वर्ष तो हिजरी के रखे गये पर वर्ष सौर (चान्द्रसौर) वर्ष के बराबर कर दिया गया। महीने भी सौर (या चन्द्रसौर) मान के माने गये।

यह सन् श्रब तक भी कुछ न कुछ प्रचलित है, पर श्रलग-श्रलग क्षेत्र मे इसका श्रारम्भ श्रलग-श्रलग माना जाता है, यथा :

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 191।

पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बंगाल में इसका आरम्भ आश्विन, कृष्णा 1 (पूर्णिमान्त) से, अतः इस सन् मे 592–93 जोड़ने से ईसवी सन् और 649–50 जोड़ने से विक्रम सं० मिल जाता है।

दक्षिण में यह संवत् कुछ बाद मे प्रचलित हुआ। इससे उत्तरी और दक्षिणी फसली 'सनो' मे सवा दो वर्ष का अन्तर हो गया—दक्षिण के फसली सन् से विक्रम-संवत् जानने के लिये उसमें 647–48 जोडने होगे और ईसवी सन् के लिये 590–91 जोड़ने होंगे :

सवतो का सम्बन्ध

सन्	प्रचलित	प्रारम्भ	माम और वर्ष मौर	विक्रम स० निकालना	ईसवी सन् निकालना
1	2	3	4	5	6
विलायती सन्	उडीसा तथा बंगाल के कुछ भागों मे	सौर आश्विन अर्थात् कन्या सक्राति। जिस दिन संक्रान्ति का प्रवेश उसी दिन पहला दिन	मासक्रम चैत्रादि	649–50 जोडने से	592–93 जोडने से
अमली सन्	उडीसा के व्यापारियो मे एवं कचहरियों मे	भाद्रपद शुक्ला 12 मे			
बगाली सन् या बंगाब्द बंगीब्द	बंगाल मे	सौर वैशाख, मेष सक्रान्तिसे सक्रान्ति प्रवेश के दूसरे दिन से	महीने सौर (अतः पाख, एव तिथि नही)	650–51 जोड़ने से	593–94 जोडने से
	चिटगाँव मे	बगाली सन् से 45 वर्ष पीछे		695–96 जोडने से	638–39 जोडने से
इलाही सन्	अकबर ने हिजरी सन् के स्थान पर प्रचलित किया	अकबर के राज्यारोहण की तिथि 2 रबी उस्सानी हिजरी 963 से 25 दिन पीछे ईरानी वर्ष के पहिले महीने	ईरानी ईरानो महीनो के अनुसार इस सन् के महीनो के नाम 1–फरवरदीन 2–उर्दिबहिश्त, 3–खुर्दाद, 4–तीर,	1912 जोडने से	1555–56 जोडने से

1	2	3	4	5	6
		फरवरदीन के पहले दिन से, तदनुसार 11 मार्च 1556 ई० / चैत्र कृष्णा अमावस सं० 1612 से।	5–अमरदाद, 6–शहरेवर, 7–मेहर 8–आवां (आबान्), 9–आजर (आदर), 10–दे, 11–बहमन, 12–अस्फंदिआरमद् ईरानी सन् के अनुसार दिनों के अंक नहीं होते शब्दों में उनके नाम दिये जाते है। संख्या क्रम से नाम ये है 1–अहुर्मज्द, 2–बहमन, 3–उर्दिबहिश्त, 4–शहरेवर 5–स्पदारमद, 6–खुर्दाद, 7–मुरदाद (अमरदाद), 8–देपाहर, 9–आजर (आदर), 10–आवा (आबान्), 11–खुरशेद, 12–माह (म्होर), 13–तीर, 14–गोश, 15–देपमेहर, 16–मेहर, 17–सरोश, 18–रश्नह, 19–फरवरदीन, 20–बेहराम, 21–राम, 22–गोवाद, 23–देपदीन, 24–दीन, 25–अर्द (आशीश्वग): आस्ताद, 27–आस्मान्, 28–जमिआद, 29–मेहरेस्पंद, 30–अनेरा, 31–रोज़, 32–शव। इनमे से 30 तो ईरानियों के दिनों (तारीखों) के ही है और अन्तिम दो नये रखे गये हैं।[1]		

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 193।

1	2	3	4	5	6
कलचुरी सवत् या चेदिसवत् त्रैकूटक	1 किसने चलाया अज्ञात । 2 दक्षिण गुजरात कोकण मध्य प्रदेश के शिला लेखो मे । 3 चालुक्य गुजर सद्रक कलचुरी त्रैकूटक वश के राजाओ के है । ई सन् 1207 के बाद इसका प्रचलन बन्द ।	26 अगस्त 249 ई० तद्नुसार आश्विन शुक्ल 1 स० 306 से आरम्भ		305–6 जोडने से गत चैत्रादि विक्रम स०	248–49 जोडने से
भाटिक (भट्टीक) सवत्	जैसलमेर ।	भाटी राजाओ के पूवज भट्टिक द्वारा ।		680–81 जोडने से	623–24 जोडने से
कोल्लम (कोलम्ब) या परशुराम सवत्	मलाबार स कन्या कुमारी एव त्रिवेल्लि	उत्तरी मलाबार मे कन्या सक्राति सौर आश्विन से प्रारम्भ । दक्षिणी मलाबार मे सिंह-सक्रान्ति सौर भाद्रपद से ।	वष और महिनो के नाम सक्राति नाम मे या चैत्रादि नाम से वतमान सवत्		824–25 जोडने से
नेवार (नैपाल) सवत्	नपाल मे प्रचलित	20 अक्टूबर 879 इ तद्नुसार कार्तिक शु 1 936 वि स (चैत्रादि) से		गत नैपाल स मे 935–36 जोडने से	गत मे 878–79 जोडने से

संवतों और सनों का यह विवरण संक्षेप मे दिया गया है। हस्तलेखों मे विविध संवतों और सनों का उपयोग मिलता है। उन संवतों के परिज्ञान से ऐतिहासिक कालक्रम मे उन्हें बिठाने में सहायता मिलती है, इससे काल-निर्णय की समस्या का समाधान भी एक सीमा तक होता है। इस परिज्ञान की इतिहासकार को तो आवश्यकता है ही, पांडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिये भी है, और कुछ उससे अधिक ही है, क्योकि यह परिज्ञान पाडुलिपि-विज्ञानार्थी की प्रारम्भिक आवश्यकता है, जबकि इतिहासकार के लिये भी सामग्री प्रदान करने वाला यह विज्ञानार्थी ही है।

सन्-संवत् को निरपेक्ष कालक्रम (Absolute chronology) माना जाता है, फिर प्रत्येक सन् या संवत् अपने आप में एक अलग इकाई की तरह राज्य-काल-गणना की ही तरह काल-क्रम को ठीक बिठाने में अपने आप में सक्षम नहीं है। अशोक के राज्यारोहण के आठवें या बारहवें वर्ष का ऐतिहासिक कालक्रम में क्या महत्त्व या अर्थ है। मान लीजिये अशोक कोई राजा 'क' है, जिसके सम्बन्ध मे हमें यह ज्ञात ही नही कि वह कब गद्दी पर बैठा। इस 'क' के राज्य वर्ष का ठीक ऐतिहासिक काल-निर्धारण तभी सम्भव है जब हमे किसी प्रकार की अपनी परिचित काल-क्रम की शृंखला, जैसे ई० सन् या वि० स० मे 'क' के राज्यारोहण का वर्ष विदित हो, अतः किसी अन्य साधन से अशोक का ऐतिहासिक काल-निर्धारण करना होगा। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, अशोक ने तेरहवें शिलालेख मे समसामयिक कुछ विदेशी राजाओं के नाम लिये हैं जैसे-यूनानी राजा आतिओकस द्वितीय का उल्लेख है और उत्तरी अफ्रीका के शासक द्वितीय टालेमी का भी है। टालेमी का शासन-काल ई० पू० 288–47 था। डॉ० वासुदेव उपाध्याय[1] ने बताया है कि 'इस तिथि 282 में से 12 वर्ष (अभिषेक के 8वें वर्ष में तेरहवाँ लेख खोदा गया तथा अशोक अपने अभिषेक से चार वर्ष पूर्व सिंहासनारूढ़ हुआ था) घटा देने में ई० पू० 270 वर्ष अशोक के शासक होने की तिथि निश्चित हो जाती है।[2] अतः अशोक 'क' के समकालीन 'ख', 'ग' की निर्धारित तिथि के आधार पर 'क' के राज्यारोहण की तिथि निर्धारित की जा सकी।

इसी प्रकार विविध संवतों में भी परस्पर के सम्बन्ध का सूत्र जहाँ उपलब्ध हो जायगा वहाँ एक को दूसरे में परिणत करके परिचित या ख्यात कालक्रम-शृंखला बैठाकर सार्थक काल-निर्णय किया जा सकता है।

यथा 'लक्ष्मणसेन संवत्' के निर्धारण में ऐसे उल्लेखों से सहायता मिलती है जैसे 'स्मृति तत्त्वामृत' तथा 'नरपतिजय चर्या टीका' नामक हस्तलिखित ग्रन्थो मे मिले हैं। पहली में पुष्पिका में ल० सं० 505 शाके 1546' और दूसरी में 'शाके 1536 ल'

1. उपाध्याय, वासुदेव (डॉ०) प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० 210
2. सी. एम. डफ ने 'द क्रोनोलाजी ऑव इंडियन हिस्ट्री' में इस सम्बन्ध मे यो लिखा है "Among his Contemporaries were Antiokhos II of Syria (B C. 260-247), Ptolemy Philadelphos (285-247). Antigonos gonatos of Makedomia (278-242), Magas of kyrenc (d. 258), and Alexander of eperios (between 262 and 258), who have been identified with the kings mentioned in his thirteenth edict. Senart has come to somewhat different conclusions regarding Asoka's initial date Taking the synchronism of the greek kings as the basis of his calculation, he fixes. Asoka's accession in B. C. 273 and his coronation in 269.

सं० 494 लिखा है। लक्ष्मणसेन के एक संवत् के समकालीन समकक्ष दूसरे शक-संवत् का उल्लेख है। इससे दोनों का अन्तर विदित हो जाता है और हम जान जाते हैं कि यदि लक्ष्मणसेन संवत् मे 1041 जोड दिये जायें तो शक संवत् मिल जायेगा। शक संवत् से अन्य सवतो और सन् के वर्ष ज्ञात हो सकेंगे। फलतः किसी अन्य सवत् से सम्बन्ध होता है, तो काल-चक्र मे यथास्थान बिठाने में सहायता मिलती है।

कुछ ऐसे सन् या सवत् भी है, जिनसे किसी अज्ञात संवत् का सम्बन्ध ज्ञात हो जाय तब भी काल-क्रम मे ठीक स्थान जानना कठिन रहता है और इसके लिये विशेष गणित का सहारा लेना पडता है। जैसे हिजरी सन् से सवत् विदित भी हो जाय तब भी गणित की विशेष सहायता लेनी पडती है क्योंकि इसके महीनों और वर्षों का मान बदलता रहता है क्योंकि यह शुद्ध चान्द्र-वर्ष है। पचागो मे यदि इस सवत् का भी उल्लेख हो तो उसकी सहायता से भी इसको काल-क्रम मे ठीक स्थान या काल जाना जा सकता है।

संवत्-काल जानना

भारत मे काल-सकेत विषयक कुछ बातें ऊपर बतायी जा चुकी हैं। अब तक हम देख चुके है कि पहले राज्यवर्ष का उल्लेख और उस वर्ष का विवरण अक्षरो मे दिया गया, बाद मे अक्षरों और अकों दोनो मे, और फिर अको में ही। बाद मे ऋतुओं के भी उल्लेख हुए—ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त, ये तीन ऋतुएं बतायी गईं, उनके पाख (पक्ष) और उनके दिन भी दिये गये। आगे महीनों का उल्लेख भी हुआ। राज्य-वर्ष से भिन्न एक सवत् का और उल्लेख किया जाने लगा। नियमित संवत् के प्रचार से राज्य-वर्ष के उल्लेख की प्रथा धीरे-धीरे उठ गई, सवत् के साथ महीने, शुक्ल या कृष्ण पक्ष, तिथि और बार या दिन को भी बताया जाने लगा।

इतने विस्तृत विवरण के साथ और भी बातें दी जाने लगी—जैसे-शशि, सक्रान्ति, नक्षत्र, योग, करण, लग्न, मुहूर्त आदि।

इस सम्बन्ध मे यह जानना आवश्यक है कि भारत में दो प्रकार के वर्ष चलते हैं सौर या चान्द्र।

वर्ष का आरम्भ कार्तिकादि, चैत्रादि ही नहीं होता आषाढ़ादि और श्रावणादि भी होता है।

सौर वर्ष राशियो के अनुसार बारह महीनो मे विभाजित होता है, क्योंकि एक राशि पर सूर्य एक महीने रहता है, तब दूसरी राशि मे सक्रमण करता है, इसलिये वह दिन सक्रान्ति कहलाता है, जिस राशि में प्रवेश करता है उसी की सक्रान्ति मानी जाती है, उसी दिन से सूर्य का नया महीना आरम्भ होता है।

बारह राशियाँ इस प्रकार हैं।

1. मेष [मेष राशि से सौर वर्ष आरम्भ होता है, यह मेष राशि का महीना बगाल मे बैशाख और तमिलभाषी क्षेत्र मे चैत्र (या चित्तिरह) कहलाता है]। 2. वृष, 3. मिथुन, 4. कर्क, 5. सिंह, 6. कन्या, 7. तुला, 8. वृश्चिक, 9. धनुष, 10. मकर, 11. कुम्भ तथा 12 मीन। मेष से मीन तक सूर्य की राशि-यात्रा भी आरम्भ से अन्त तक एक वर्ष में होती है। पजाब तथा तमिलभाषी क्षेत्रों मे सौर माह का आरम्भ उसी दिन से माना जाता है जिस दिन संक्रान्ति होती है, पर बंगाल में संक्रान्ति के दूसरे दिन से महीने

का आरम्भ होता है। सौर माह राशियो के नाम से होता है। सौर माह मे तिथियाँ 1 से चलकर महीने के अन्तिम दिन तक की गिनती में व्यक्त की जाती हैं। सौर माह, 29, 30, 31 या 32 दिन का होता है, अतः इसकी तिथियाँ एक से चलकर 29, 30, 31, 32 तक चली जाती हैं। चान्द्र वर्ष मे ऐसा नही होता। उसमे महीना पहले दो पाखों में बाँटा जाता है। कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष बदी या सुदी ये दो पाख प्रायः 15+15 तिथियों के होते हैं। ये प्रतिपदा से अमावस होकर द्वितीया (दोज), तृतीया (तीज), चतुर्थी (चौथ), पचमी (पाँचे), षष्ठी (छठ), सप्तमी (सातें), अष्टमी (आठे), नवमी (नौमी), दशमी (दसमी), एकादशी (ग्यारस), द्वादशी (बारस), त्रयोदशी (तेरस) चतुर्दशी (चौदस), पूर्णिमा (15) और अमावस्या (30) तक चलती है। ये सभी तिथियाँ कहलाती है और 15 तक की गिनती में होती हैं। उत्तरी भारत मे चान्द्रवर्ष का मास पूर्णिमान्त माना जाता है क्योकि पूर्णिमा को समाप्त होता है और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होता है। नर्मदा के दक्षिण के क्षेत्र मे चान्द्रवर्ष का महीना अमान्त होता है और शुक्ल पक्ष (सुदी) की प्रतिपदा से आरम्भ होता है।

चान्द्रवर्ष के महीने उन नक्षत्रो के नाम पर रखे गये हैं जिन पर चन्द्रमा पूर्णकलाओ म युक्त होता है, यानी पूर्णिमा के दिन से नक्षत्र और महिनो के नाम इस प्रकार हैं :

1. चित्रा-चैत्र (चैत)
2. विशाखा-वैशाख (वैसाख)
3. ज्येष्ठा-ज्येष्ठ (जेठ)
4. अषाढ़ा-आषाढ़ (असाढ़)
5. श्रवण-श्रावण (सावन)
6. भद्रा-भाद्रपद (भादों)
7. अश्विनी-आश्विन (या आश्वयुज) = (क्वार)
8. कृतिका-कार्तिक (कातिक)
9. मृगशिरा-मार्गशीर्ष (आग्रहायन-अगहन)
   ('अग्रहायन' सबसे आगे का 'अयन'—यह नाम सभवतः इसलिये पड़ा कि बहुत प्राचीन काल मे वर्ष का आरम्भ चैत्र से न होकर 'मार्ग शीर्ष' से होता था—अतः यह सबसे पहला या अगला महिना था)।
10. पुष्य-पौष (पूस या फूस)
11. मघा-माघ
12. फाल्गु-फाल्गुण

काल-संकेतो में कभी-कभी 'योगों' का उल्लेख भी मिलता है। 'योग' सूर्य और चन्द्रमा की गति की ज्योतिष्कीय सगति को कहा जाता है। ऐसे योग ज्योतिष के अनुसार 27 होते हैं। इन्हें भी नाम दिया गया है। अतः नाम से 27 योग ये हैं—1. विष्कंभ, 2 प्रीति, 3. आयुष्मत, 4. सौभाग्य, 5. शोभन, 6. अतिगंड, 7. सुकर्मन, 8. घृति, 9. शूल, 10. गण्ड, 11. वृद्धि, 12. ध्रुव, 13. व्याघात, 14 हर्षण, 15 वज्र, 16. सिद्धि या असृज, 17. व्यतीपात, 18. वरीयस 19. परिघि, 20. शिव, 21. सिद्ध, 22. साध्य, 23. शुभ, 24. शुक्ल, 25. ब्रह्मन्, 26. ऐन्द्र तथा 27. वैधति।

'योग' की भाँति ही 'करण' का भी उल्लेख होता है। करण तिथि के अर्धांश को कहते है, और इनके भी विशिष्ट नाम रखे गये है पहले सात करण होते हैं जिनके नाम है . 1. बव, 2. बालव, 3. कौलव, 4 तैतिल, 5. गद, 6. वणिज एव 7. विष्टि (भांद्र या कल्याण)। ये सात चक्र के रूप मे आठ बार प्रयोग मे आते हैं और इस प्रकार 56 अर्द्ध तिथियो का काम देते हैं। ये 56 अर्द्ध तिथियाँ सुदी प्रतिपदा से लेकर बदी 14 (चौदस) तक पूरी होती है। अब चार अर्द्ध तिथियां शेष रहती हैं. बदी का चौदस से सुदी प्रतिपदा तक की—इन करणो के नाम हैं : 8 शकुनि, 9 चतुष्पद, 10 किन्तुघ्न और 11. नाग। काल सकेतो म कभी-कभी करण का नाम भी आ जाता है, जैसे 1210 विक्रमी के अजमेर के शिलालेख मे।

भारतीय कालगणना के आधार सीधे और सपाट न होकर जटिल है। इससे काल-निर्णय मे अनेक अड़चने पड़ती है .

पहले, तो यह जानना ही कठिन होता है कि यह सवत् कार्तिकादि, चैत्रादि, आषाढ़ादि या श्रावणादि है,

दूसरे—अमान्त है या पूर्णिमान्त है। फिर,

तीसरे— ये वर्ष कभी वर्तमान (या प्रवर्तमान) रूप मे कभी गत विगत या अतीत रूप मे लिखे जाते है। इनकी ओर पहले 'बीसलदेव रासो' के काल-निर्णय के सम्बन्ध मे डॉ० माताप्रसाद गुप्त का उद्धरण देकर ध्यान आकर्षित कर दिया जा चुका है।

इन सबसे बढ कर कठिनाई होती है इस तथ्य से कि तिथि लिखते समय लेखक से गणना म भी भूल हो जाती है।

यह त्रुटि उस गणक या ज्योतिषी के द्वारा की जा सकती है जो लेख लिखने वाले को बताता है। उसका गणित का ज्ञान या ज्योतिष का ज्ञान सदोष हो सकता है। पत्रो या पचागो म भी दोष पाये जाते है। आज भी कभी-कभी वाराणसी और उज्जैन पचागो मे तिथि के आरम्भ मे ही अन्तर मिलता है, जिसस विवाद खडे हो जाते है और यह विवाद पत्रो (पचागो) मे भी प्रकट हो उठता है। जब आज भी यह मौलिक त्रुटि हो सकती है, तब पूर्व-काल मे तो और भी अधिक सम्भव थी। गावो, नगरो की बात छोडिये कभी-कभी तो राजदरबारो मे भी अयोग्य ज्योतिषीयो के होने का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। कलचुरि 'रत्नदेव द्वितीय' के सन् 1128 ई० के सर्खो लेख से यह सूचना मिलती है कि दरबार मे ज्योतिषियो से ठीक गणित ही नही होती थी और वे 'ग्रहण' का समय ठीक निर्धारित नही कर पाते थे। तब पद्मनाभ नाम के ज्योतिषी ने बीज-सस्कार किया' जिससे तिथियो का ठीक निर्धारण हो सका। राजा ने पद्मनाभ को पुरस्कृत किया, अतः ज्योतिषीयो से भी भूल हो सकती है। ऐसी दशा मे काल सकेत सदोष हो जायेगे।

इससे किसी लेख या अभिलेख का काल-निर्धारण कठिन हो जाता है और यह आवश्यक हो जाता है कि दिये हुए काल-सकेत को परीक्षा के उपरान्त ही सही माना जाय। जैसा ऊपर बताया जा चुका है विविध ज्योतिष केन्द्रों के बने पचागों और पत्रो मे अलग-अलग प्रकार मे गणना होने के कारण तिथियो का मान अलग-अलग हो जाता है। इससे दी हुई तिथि की परीक्षा से भी सन्तोष नही हो पाता, वह तिथि एक पचांग से ठीक और दूसरे से, गलत सिद्ध होती है। इससे परीक्षक को विविध पचांगो की भिन्नता मे

संवत तिथि के अनुसन्धान के आधार का निर्णय करने या कराने की योग्यता भी होनी चाहिये। वैसे आधुनिक ज्योतिषी एल० डी० स्वामीकन्नुपिल्ले की 'इण्डियन ऐफिमेरीज' से भी सहायता ली जा सकती है।

शब्द में काल-संख्या

यह भी हम पहले देख चुके हैं कि भारत में शब्दों में अंकों को लिखने की प्रणाली रही है। इस प्रणाली से भी काल-निर्णय में कठिनाइयाँ खडी हो जाती हैं। यह कठिनाई तब पैदा होती है जब जो शब्द अंक के लिए दिया गया है, उससे दो-दो संख्याएँ प्राप्त होती है: जैसे सागर या समुद्र से दो संख्याएँ मिलती है, 4 भी और 7 भी। एक तो कठिनाई यही है कि सागर शब्द से 4 का अंक लिया जाय या 7 का। पर कभी कवि दोनों को ग्रहण करता है, जैसे—

'अष्ट-सागर-पयोनिधि-चन्द्र' यह जगदुर्लभ की कृति उद्धव चमत्कार का रचना-काल है। इसमे 'सागर' भी है और इसी का पर्याय 'पयोनिधि' है। क्या दोनो स्थानों के अंक 4-4 समझे जाये, या7-7माने जाये या किसी एक का 4 और दूसरे का 7, इस प्रकार इतने संवत् बन सकते हैं:

1448
1778
1748
1478

'नेत्र सम युग चन्द्र' से होगा 1+2=युग,=3, पुन: 3 (नेत्र)। इसमे युग को '4' भी माना जा सकता है और नेत्र को '2' भी।

वस्तुत: ऐसे दो या तीन अंक बतलाने वाले शब्दो मे व्यक्त संवत् को ठीक-ठीक निकालने मे अलंध्य कठिनाई भी हो सकती है। तभी उक्त सदर्भ से डी० सी० सरकार[1] ने यह टिप्पणी की है:

"Indeed it would have been difficult to determine the date of the composition of the work, inspite of the years in both the eras being quoted".

उक्त पुस्तक मे ये संवत् अंको मे भी साथ-साथ दिये गये है, अत. कठिनाई हल हो जाती है। किन्तु यदि अंको मे सवत् न होता तो उसे तिथि और दिन और पक्ष (शुक्ल या कृष्ण) तथा महीने के साथ पंचागों मे या 'इण्डियन एफीमेरीज' से निकाला जा सकता था।

अंक जब शब्दों में दिये जाते हैं, या अन्यथा भी, भारतीय लेखन मे, 'अंकाना वामतो गति:' की प्रणाली अपनायी जाती रही है अर्थात् अंक उलटे लिखे जाते हैं, मानो लिखना है '1233' तो '3 3 2 1' लिखा जायगा और शब्दों मे 'नेत्र राम पक्ष चन्द्र'–(नेत्र) 3, (राम) 3, (पक्ष) 2, (चन्द्र) 1, जैसे रूप मे लिखा जायगा किन्तु यह देखा गया है कि इस पद्धति का अनुकरण भी बहुधा नहीं किया गया है। कितनी ही पुष्पिकाओं (Calophones)

1. Sircar, D. C. – Indian Epigraphy, p. 229.

में सन् संवत् सीधी गति से ही दे दिया गया है। इससे भी कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

यथा-संवत् 13 संतालीसं समै माहा तीज सुद ताम ।।
सखहीयो पोहता सरग हांयांपूरं हाम ।[1]

या

सतरं सं पचानवे कोतुक उत्तम वास ।
वद पष आठमवार रवि कीनो ग्रन्थ प्रगास ।।[2]

या

संवत् सत्रह सं वरष ता ऊपरि चौबीस ।।
सुकल पुष्य कातिक विषं दसमी सुन रजनीस ।।[3]

या

संवत सत्रहसं गये वर्ष दशोत्तर और।
भादव सुदि एकादशी गुरुवार सिर मौर ।।[4]

या

सवत् सोलह सोलोतरं आषतीज दीवस मनषरं ।।
जोडी जैसलमेर मझार बांच्या सूख पामे ससार ।।[5]

या

अष्टादस बत्तीस मे। बदि दसमी मधुमास ।
करी दीन बिरदावली। या अनुरागी दास ।।[6]

या

संमत पनरे सं पीचोतरं पुनम फागुण मास ।।
पच सहेली वरणवी कवि छीहल परगास ।।[7]

या

बदि चैतह् साठं बरस तिथि चौदिसिगुरुवार।
बंधे कवित्त सुवित्त परि कुंभल मेर मझारि ।।[8]

या

समत उगणी और बतीसा ।।
चौदह् भादू दीत को वासा ।।

1. मेनारिया, मोतीलाल—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग) पृ० 2।
2. वही, पृ० 10।
3. वही, पृ० 22।
4. वही, पृ० 36।
5. वही, पृ० 37।
6. वही, पृ० 45।
7. वही, पृ० 50।
8. वही, पृ० 53।

उत्तम पुला रो पक्ष बुद होई ।
लिख्यो प्रतीति कर प्रानो सोई ।[1]

अथवा

माघ सुदी तिथि पूरना पग पुष्प प्ररू गुरुवार
गिनि प्रठारह सै बरस युनि, तीस सवत सार ।।[2]

अब हम यहाँ डी० सी० सरकार की 'इण्डियन ऐपीग्राफी' से एक राजवश के लेखों मे दिये गये उनके राज्यारोहण (Regnal) सवत् का ऐतिहासिक कालक्रम मे संगत स्थान निर्धारण करने की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए पूरी गवेषणा को सक्षेप मे दे रहे हैं, साथ ही प्रक्रिया को समझाने के लिए टिप्पणियाँ भी दी जा रही हैं। यह हम इसलिए कर रहे है कि इस एक उदाहरण से सीधी और जटिल तथा परिस्थितिपरक साक्षियो का एक-साथ ज्ञान हो सकेगा।

प्रश्न 'भौमकार-सवत्' स सम्बन्धित है। भौमकार वश ने 200 वर्षों के लगभग उड़ीसा मे राज्य किया। इनके लेखो तथा इनके अधीनस्थ राज्यों के लेखो मे इस संवत् का उल्लेख मिलता है।

डी.सी. सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
1. भौमकार राजाओ का सवत् इस वंश के प्रथम राजा के राज्यारोहण काल से ही आरम्भ हुआ होगा। इस वश के अठारह राजाओ ने लगभग दो शताब्दी उडीसा पर राज्य किया। धर्म महादेवी सम्भवत: इस वश को अन्तिम शासिका थी जिसका राज्य भौमकार सवत् के 200वे वर्ष के लगभग समाप्त हो गया।	1. यह पहली स्थापनाएँ हैं जो इस वश के शिलालेखो एव अन्य लेखों से मिले सवतो के आधार पर विद्वान इतिहासकार ने की हैं। इसी राजवश के मिले संवतों के तारतम्य को मिलाकर इतनी स्थापना तो की ही जा सकती थी। प्रश्न अब यह है कि दो-सौ वर्ष यह सवत् चला। ये 200 वर्ष हमारे आधुनिक ऐतिहासिक कालक्रम के मानक में ई० सन् मे कहाँ रखे जा सकते हैं ?
2. एकमात्र अभिलेख-विज्ञान (पेलियोग्राफी) ही की सहायता से काल-निर्णय किया जा सकता था सो कीलहार्न ने दण्डी महादेवी की गजम प्लेटो का काल अभिलेख लिपि-विज्ञान के आधार पर तेरहवी शताब्दी ई० के लगभग माना है। इन प्लेटो मे एक में भौमकार संवत् 180 वर्ष पडा है।	2. कीलहार्न का अनुमान लिपि की विशेषता के आधार पर था, पर सरकार ने ऐतिहासिक घटनाक्रम देकर उसे असम्भव सिद्ध कर दिया है—फलत: ऐतिहासिक घटनाक्रम यदि निश्चित है तो उसके विरुद्ध कोई अनुमान नहीं माना जा सकता।

4. वही, पृ० 79।
5. वही, पृ० 108।

डी. सी. सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
सरकार कीलहार्न के इस अनुमान को काट करते हैं-इसके लिए वे गंगवश के अनन्तवर्मन कोडगगा की पुरी-कटक क्षेत्र की विजय का उल्लेख करते हैं। इस गग राजा का समय 1078-1147 (47) ई० निश्चित है, अत उडीसा के पुरी कटक क्षेत्र पर गगवश का अधिकार 12 वी शती के प्रथम चरण मे हो गया था। तब भौमकार इस क्षेत्र मे 13वी शती तक कैसे विद्यमान रह सकते हैं? दूसरे, उक्त गगराजा ने पुरी-कटक को सोमवंशियो से छीना था या जीता था। अत. भौमकारो का शासन इस क्षेत्र पर उन सोमवशियो से भी पूर्व रहा होगा, जो गगवश से पूर्व पुरी-कटक क्षेत्र पर शासन कर रहे थे। अतः कीलहार्न का अनुमान इन ऐतिहासिक घटनाओ से कट जाता है। फलत. भौमकारो का समय 1100 ई० से पूर्व होगा।	सरकार ने इन ऐतिहासिक घटनाओ का उल्लेख किया है — 1. गग राजा की विजय 1078 2 इस राजा ने सोमवशियो 1147 से जीता ई. के बीच इससे यह निष्कर्ष भी निकाला कि गग-वश की विजय से पूर्व तो भौमकार वश का राज्य होगा ही, वरन् वह सोमवश के शासन से भी पूर्व होगा।
2. बी—इसी प्रसंग मे सरकार यह भी कहते है कि भौमकारो ने अपने लेखों मे सदा अक प्रतीको (numeral symbols) का उपयोग किया है, सख्या (Figure) का नहीं। इस तथ्य से यही सिद्ध होता है कि उनका 1000 ई० के बाद राज्य नही चला।	कीलहार्न के अनुमान के आधार को सरकार ने अभिलेख-लिपि-विज्ञान से भी काटा है—अक प्रतीको का प्रयोग 1000 ई० तक रहा। बाद मे सख्या का प्रयोग होने लगा। अतः सिद्ध है कि लेखो मे 'सख्या' का प्रयोग प्रचलित होने से पूर्व, यानी 1000 ई० से पूर्व के भौमकारो के लेख हैं, क्योंकि उनमे अंक-प्रतीक हैं। अतः भौमकार भी 1000 ई० से पूर्व हुए। इस प्रकार सरकार ने भौमकारो के काल की निचली सीमा भी निर्धारित कर दी। अभिलेख-लिपि-विज्ञान अक्षरों के

डी. सी. सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
	रूपों तथा लेखन-वैशिष्ट्यो के आधार पर काल-निर्धारण में सहायक होता है—जब कोई अन्य साधन न हो तो इसे आधार माना जा सकता है।
3 फिर सरकार ने सिल्वियन लेवी का सुझाव दिया है कि चीनी स्रोतो मे जिस महायानी बौद्ध राजा का नाम मिलता है, जो बु–चग्र (ग्रोड-उडीसा) का राजा था और जिसने स्व-हस्ताक्षरयुक्त एक पांडुलिपि चीनी सम्राट को 795 ई० मे भिजवाई थी, वह भौमकार वश का राजा शुभाकर प्रथम था। चीनी मे इस राजा के नाम का अनुवाद यो दिया है : भाग्यशाली सम्राट, जो वही करता है जो सुकृत्य है, सिंह. इस चीनी विवरण के आधार पर लेवी ने शुभाकर प्रथम को वह राजा माना है और इसका मूल नाम शुभकरसिंह (या केसरिन) होगा, यह कल्पना की है। आर० सी० मजूमदार ने चीनी विवरण के आधार पर उक्त शुभाकर प्रथम के पिता को वह राजा माना है जिसने 795 ई० मे पुस्तक भेजी थी– इसका नाम था 'शिवकर प्रथम उन्मत्त सिंह '। इन आधारों पर भौमकार-वश के राज्य की दो शताब्दियाँ, 750–950 ई० या 775–975 ई० के बीच स्थिर होती हैं।	3. उसमे सरकार ने उन साक्षियो का उल्लेख किया है, जो विदेश से मिली है, और समसामयिक है। चीनी मे भारतीय भौमकारों के किसी राजा के नाम का जो अर्थ दिया है, उससे एक विद्वान् ने एक राजा के, दूसरे ने दूसरे के नाम को तद्वत् स्वीकार किया है। चीनी मे इस घटना का सन् दिया हुआ है, जिससे ई० सन् हमे विदित हो जाता है और उक्त रूप मे काल-निर्णय सम्भव हो जाता है।
4. भांडारकर ने भी इनका काल-निर्णय किया-इस आधार पर कि भौमकार-संवत् और 606 ई० वाले 'हर्ष सवत्' को एक माना जाय। इस गणना से भौमकार 606–806 ई० मे हुए। सरकार की आलोचना है कि अभिलेख	4. सरकार ने भाडारकर की लिपि-पठन की भूल बताकर लिपि-विज्ञान के उस महत्त्व को और सिद्ध किया है, जिससे वह काल-निर्णय मे सहायक होता है।

डी.सी. सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
लिपि-विज्ञान से भौमकारो का समय बाद का बैठता है। सरकार ने यह भी दिखाया है कि भांडारकर ने 100 और 200 के जो प्रतीक इन लेखो में आये हैं उन्हे पढने मे भूल कर दी है—लु–100 और लू-200। ये 'लु' को 'लू' पढ गये है।	
5. अब सरकार महोदय एक अन्य ज्ञात काल से इस अज्ञात की गुत्थी सुलझाना चाहते हैं। इसके लिए इन्होने धृतिपुर और वंजुलवक के भज राजाओ का आधार लिया है, उनमे से रणभज को सोमवंशी सम्राट् महाशिव गुप्त ययाति प्रथम (970–1000 ई०) का समकालीन सिद्ध किया है और उधर पृथ्वी महादेवी उपनाम त्रिभुवन महादेवी द्वितीय को उक्त सोमवशी सम्राट् की पुत्री बताया है। इस भौमकर शती के लेखो का एक सवत् 158 है। यह भौमकर सवत् है। पृथ्वी महादेवी के बौड (Baud) प्लेट का संवत् 158 और उसके पिता सोमवंशी महाशिवगुप्त ययाति प्रथम का अपने राज्य के नवम् वर्ष का दान—लेख सरकार ने प्रायः एक ही समय के माने हैं। यह नवम् राज्य-वर्ष सन् 978 ई० मे पड़ता है। अतः भौमकार सवत् का आरम्भ इसमें से 158 पृथ्वी महादेवी के लेख का वर्ष घटा देने से 820 ई० आता है। यही सन् अनुमानतः भौमकार संवत् के आरम्भ का सन् हो सकता है, इसके बाद नहीं।	ये समस्त तर्क और युक्तियाँ ज्ञात सन्-संवतो के समसामयिक सवतों की स्थापना कर उनसे भौमकारो के संवत् का सम्बन्ध बिठाकर इस अज्ञात सवत् के आरम्भ को ज्ञात करने के लिए दिये गये हैं। इसमे कोई सन्देह नहीं कि कई ज्ञात सम्बन्धों की सन्धि बिठाकर अज्ञात की समस्या हल करने की पद्धति महत्त्वपूर्ण है।
6. अन्त में, सरकार ने शुभु भज के लेख में आये विस्तृत तिथि-विवरण को	6 उक्त ऐतिहासिक घटना और राज्य-कालों के साम्यों से जो वर्ष मिलता है

डी. सी. सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
लिया है। इसमे भौमकार वंश सवत् 198 के साथ यह विवरण भी दिया है : विषुव-संक्रान्ति, रविवार, पंचमी, मृगशिरा नक्षत्र। अब इस सबकी पचाग मे खोज करने पर उस काल में 23 मार्च, 1029 ई० को ही उक्त तिथि बैठती है। इस गणना से भौम-कर-सवत् 831 ई० से प्रारम्भ हुआ।	उसमे और इसमें 11 वर्ष का अन्तर है। यह अन्तिम ज्योतिषीय प्रमाण अधिक अकाट्य लगता है, क्योंकि जो विवरण तिथि का लेख मे है उस विवरण की तिथि एक-एक शताब्दी मे दो-चार ही हो सकती है, अतः यह निष्कर्ष प्रामाणिक माना जा सकता है।

इस एक उदाहरण से विस्तारपूर्वक हमने उस पद्धति का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है, जिससे अज्ञात तक पहुँचने के प्रयत्न किये जाते है। ये समस्त प्रयत्न अन्तिम को छोड कर बाह्य साक्ष्यो और प्रमाणो पर ही निर्भर करते हैं।

अब हमे यह देखना है कि जहाँ किसी भी प्रकार के सन्-सवत् का उल्लेख न हो वहाँ काल-निर्णय या निर्धारण की पद्धति क्या अपनायी जाती है।

साक्ष्य . बाह्य अन्तरग

ऐसे लेखपत्र या ग्रन्थ का काल-निर्णय करने मे जिन बातो का आश्रय लेना पडता है उनमे से कुछ ये है :

1 बाह्य साक्ष्य :

क–बाह्य उल्लेख—अन्य कवियो द्वारा उल्लेख
ख–अनुश्रुतियो–कवि-विषयक लोक-प्रचलित अनुश्रुतियाँ
ग–ऐतिहासिक घटनाएँ
घ–सामाजिक परिस्थितियाँ
ङ–सांस्कृतिक-उपादान

2. अन्तरग साक्ष्य :

क–अन्तरग साक्ष्य का स्थूल पक्ष
1. लिपि
2. कागज–लिप्यासन
3. स्याही
4. लेखन-पद्धति
5. अलंकरण
6. अन्य

ख–अन्तरंग साक्ष्य : सूक्ष्म पक्ष
1. विषयवस्तु से
2. ग्रन्थ मे आये उल्लेखो से

(क) ऐतिहासिक उल्लेख
(ख) कवियों-ग्रन्थकारो के उल्लेख
(ग) समय-वर्णन
(घ) सांस्कृतिक बातें
(ङ) सामाजिक परिवेश
3 भाषा वैशिष्ट्य से
(क) व्याकरणगत
(ख) शब्दगत
(ग) मुहावरागत

3. वैज्ञानिक
क–प्राप्ति-स्थान की भूमि का परीक्षण
ख–वृक्ष परीक्षण
ग–कोयले से
आदि

बाह्य साक्ष्य

जब किसी ग्रंथ में रचना-काल न दिया गया हो तो इसके निर्णय के लिए बाह्य साक्ष्य महत्त्वपूर्ण रहता है।

इसका एक रूप तो यह होता है कि सन्दर्भ ग्रन्थ मे देखा जाय। ऐसी पुस्तकें और सन्दर्भ ग्रन्थ मिलते हैं जिनमे कवि और इनके ग्रन्थो का विवरण दिया होता है, उदाहरणार्थ, 'भक्तमाल और उसकी टीकाएँ' मे कितने ही भक्त कवियो के उल्लेख हैं। उनकी सामग्री में आये संकेतों से कवि या उसकी कृति के काल-निर्धारण में सहायता मिल सकती है। अन्य साक्षियो और प्रमाणो के अभाव मे कम से कम 'भक्तमाल' में आये उल्लेख से काल-निर्धारण की दृष्टि से निचली सीमा तो मिल ही जाती है, क्योंकि जिन कवियों का उल्लेख उसमे हुआ है, वे सभी 'भक्तमाल' के रचना-काल से पूर्व ही हो चुके होंगे। दूसरे शब्दो मे उनका समय 'भक्तमाल' के रचना-काल के बाद नही जा सकता।

किन्तु इस सम्बन्ध मे भी एक बात ध्यान मे रखनी होगी कि 'भक्तमाल' जैसी कृतियों में, जैसे सभी कृतियो मे सम्भव है प्रक्षिप्तांश या क्षेपक हो, ऐसे अंश हों जो बाद मे जोड़े गये हो। प्रक्षेपो की विशेष चर्चा पाठालोचन वाले अध्याय मे की गयी है, अतः ऐसे सन्दर्भ ग्रन्थ के उसी अंश के ऊपर निर्भर किया जा सकता है जो मूल है, क्षेपक नहीं। इन सन्दर्भ ग्रन्थों मे ऐसे ग्रन्थ भी हो सकते है जो पूरी तरह किसी कवि पर ही लिखे गये हों— जैसे 'तुलसी–चरित' और 'गोसाईं-चरित।'

तुलसी चरित महात्मा रघुवरदास रचित है। ये तुलसी के शिष्य थे। यह ग्रन्थ आकार में महाभारत के समान कहा गया है और 'गोसाईं चरित' के लेखक वेणी माधव-दास हैं। यह बृहद् ग्रन्थ था जो आज उपलब्ध नही। वेणीमाधवदास ने इस 'गोसाईं चरित' से दैनिक पाठ के लिए एक छोटा संस्करण तैयार किया–यह 'मूल गुसाईं चरित' कहलाया, यह उपलब्ध है। वेणीमाधवदास गोस्वामी तुलसीदास के अन्तेवासी थे। इसमें इन्होंने

तुलसीदास की क्रमबद्ध विस्तृत जीवन-कथा दी है और जहाँ-तहाँ सवत् भी यानी काल-सकेत भी दिये हैं। अत तुलसी की जीवन घटनाओ और उनकी विविध कृतियों की तिथियाँ हमें इस ग्रथ से प्राप्त हो जाती है—इससे बड़ी भारी काल-निर्णय सम्बन्धी समस्या हल होती प्रतीत होती है।

इसमे तुलसी विषयक सवत् निम्न रूप मे दिये गये हैं :

1. जन्म–सं० 1554 (रजिया राजापुर)
2. माता की मृत्यु तुलसी जन्म से चौथे दिन ।
3. विवाह–स० 1583 मे ।

4.	पत्नी का शरीर त्याग एव तुलसी को विरक्ति	स० 1589 में
5	सूरदास तुलसी से मिले और अपना 'सागर' दिखाया	,, 1616 में
6.	रामगीतावली कृष्णगीतावली का सग्रह	,, 1628 में
7.	रामचरितमानस का आरम्भ	,, 1631 में
8.	दोहावली सग्रह	,, 1640 मे
9.	वाल्मीकि रामायण की प्रतिलिपि	,, 1641 मे
10.	सतसई रची	,, 1642 मे
11.	मित्र टोडर की मृत्यु	,, 1669 में
12.	जहांगीर मिलने आया	,, 1670 मे
13.	मृत्यु	,, 1680 मे श्रावण श्यामा तीज

किन्तु स्वय ऐसे सभी बहिसाक्ष्यो की प्रामाणिकता भी सबसे पहले परीक्षणीय होती है। 'मूल गुसाई चरित' की प्रामाणिकता की जब ऐसी ही परीक्षा की गई तो विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह 'मूल गुसाई चरित' अप्रामाणिक है। यह क्यो अप्रामाणिक है, इसके लिए डॉ० उदयभानुसिंह[1] ने 14 कारण और तर्क सकलित किये हैं जो इस प्रकार हैं :

'मूल गोसाई चरित' स० 1687 की कार्तिक शुक्ला नवमी को रचा गया ।

'मूल गोसाई चरित' अविश्वसनीय पुस्तक है। इसकी अविश्वसनीयता के मुख्य कारण हैं :

1. यह पुस्तक ऐसे अलौकिक चमत्कारो से भरी पड़ी है जिन पर विश्वास करना किसी विवेकशील के लिए असम्भव है ।

2. इसमे कहा गया है कि तुलसी के बाल्यकाल मे उनके भरणपोषण की चिन्ता चुनिया, पार्वती, शिव और नरहर्यानिंद ने की। स्पष्ट है कि तुलसी जीविका के विषय में निश्चित रहे। इसके विपरीत, कवि के स्वर मे स्वर मिलाकर यह भी कह दिया गया है कि उस बालक का द्वार-द्वार डोलना हृदय-विदारक था। ये परस्पर विरोधिनी उक्तियाँ असंगत हैं ।

3. इसके अनुसार एक प्रेत ने तुलसी को हनुमान का दर्शन करा कर राम दर्शन

1. सिंह, उदयभानु (डॉ०)—तुलसी काव्य मीमासा, पृ० 23–25 ।

का मार्ग प्रशस्त किया। किन्तु अन्तस्साक्ष्य से सिद्ध है कि तुलसी भूतप्रेत पूजा के विरोधी हैं।[1]

4. इसमें 'विनय पत्रिका' को 'रामविनयावली' नाम दिया गया है। कोई ऐसी प्रति नहीं मिलती जिसमे यह नाम उपलब्ध हो। हाँ, रामगीतावली नाम अवश्य पाया जाता है।

5 इसके अनुसार गीतावली' (सं० 1616–18) कवि की सर्वप्रथम कृति है। 'कृष्णगीतावली' (स० 1628), 'कवितावली' (स० 1628–42), 'रामचरित मानस' (1631–33), 'विनय पत्रिका' (1639), 'रामललानहछू' (1639), 'जानकी मंगल' (1639), 'पार्वती मगल' (1639) और दोहावली (1640) बारह वर्षों के आयाम मे लिखी गयी। स० 1670 मे चार पुस्तकों की रचना हुई 'बरबै रामायण', 'हनुमान बाहुक', 'वैराग्य सदीपनी' तथा 'रामाज्ञा प्रश्न'। इसमे अनेक असगतियाँ अवेक्षणीय है। 'गीतावली'-जैसी प्रौढ कृति प्रारम्भिक बतलायी गयी है और 'वैराग्य सदीपनी' एव 'रामाज्ञा-प्रश्न' के सदृश अप्रौढ कृतियाँ अन्तिम। तीस वर्षों (1640-70) तक कवि ने कोई रचना नही की। क्या उसकी प्रतिभा मूच्छित हो गई थी ?

6. इसमे 'रजियापुर' (राजापुर) को तुलसी का जन्म स्थान कहा गया है। लेकिन ऐतिहासिक स्रोतों मे सिद्ध है कि स० 1813 तक उस स्थान का नाम 'विक्रमपुर' रहा है।

7. इसके अनुसार स० 1616 मे सूरदास ने चित्रकूट पहुँचकर तुलसी को 'सागर' दिखाया और आशीष माँगा। स० 1616 तक तो तुलसी ने एक भी रचना नही की थी। और उनकी कीर्ति 'रामचरित मानस' की रचना (सं० 1631) के बाद फैली। उन्हे 'सागर' दिखाने की क्या तुक थी ? यह भी हास्यास्पद लगता है कि वयोवृद्ध, प्रतिष्ठित और अधे सूरदास ने चित्रकूट जाकर उन्हे 'सागर' दिखाया।

8. इसमे वर्णित है कि स० 1616 मे मीराबाई ने तुलसी को पत्र लिखा था। मीरा स० 1603 तक दिवगत हो चुकी थी, 1616 मे उन्होंने पत्र कैसे लिखा ?

9. यद्यपि लेखक ने केशवदास-सम्बन्धी घटनाओं के निश्चित समय का स्पष्ट निर्देश नही किया है तथापि सन्दर्भ से अवगत है कि वे 1643 के लगभग तुलसी से मिले और स० 1650 के लगभग केशव के प्रेत ने तुलसी को घेरा। स्वय केशवदास के अनुसार 'रामचन्द्रिका' का रचना काल स० 1658 है,[2] न कि स० 1643। और, यह गप्प की हद है कि केशव ने रात भर में 'रामचन्द्रिका' का निर्माण कर डाला–अपने को अप्राकृत कवि सिद्ध करने के लिए। इसके अतिरिक्त स० 1651 के लगभग केशव का प्रेत तुलसी से कैसे मिला ? यह तथ्य निर्विवाद है कि उनका देहान्त सं० 1670 के बाद हुआ। उन्होंने अपनी 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' का रचना काल सं० 1669 बतलाया है।[3]

1. दोहावली, 65 , रामचरितमानस, 2/167।
2. सोरह सै अट्ठावना कातक सुदि बुधवार।
   रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लीनो अवतार। रामचन्द्रिका, 1/6
3. सोरह सै उनहत्तरा माधव मास विचार। जहाँगीर सक साहि की करी चन्द्रिका चार।।
   जहाँगीर जस चन्द्रिका, 2.

10. दिल्लीपति (अकबर) और जहांगीर वाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं का इतिहास मे कोई संकेत नही मिलता। अतः वे तथ्य-विरुद्ध हैं।

11. 'चरित' के अनुसार टोडर की सम्पत्ति का बँटवारा उनके उत्तराधिकारी पुत्रों के बीच किया गया। परन्तु बँटवारे का पंचायतनामा उपलब्ध है। इस 'पचायतनामे' से प्रमाणित है कि यह बँटवारा उनके पुत्र और पोत्रों के बीच हुआ था।[1]

12 इसमे कहा गया है कि तुलसी के शाप के फलस्वरूप हाथी ने गंग को कुचल डाला। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि जिस गग को हाथी से कुचलवाया गया था वह औरगजेब का समकालीन था। औरगजेब स० 1715 मे बादशाह हुआ था। इसलिये सं० 1639 मे गग की कथित दुर्घटना सम्भव नही हो सकती।

13. इसके अनुसार नाभादास 'विप्रसत' थे। इस विषय मे कोई साक्ष्य नही है। परम्परा मे उनको 'हनुमानवशी' अथवा डोम माना गया है।

14. 'चरित' मे उल्लिखित तिथियो मे से तुलसी के जन्म (सं० 1554, श्रावण शुक्ला 7, कर्क के बृहस्पति-चन्द्रमा, वृश्चिक के शनि), यज्ञोपवीत (सं० 1651,[2] माघ-शुक्ला 5, शुक्रवार), विवाह (स० 1583, ज्येष्ठ शुक्ला 13, गुरुवार), पत्नी निधन (स० 1589, आषाढ कृष्णा 10, बुधवार), मानस-समाप्ति (स० 1633, मार्गशीर्ष शुक्ला 5, मगलवार) और स्वर्गवास (स० 1680, श्रावण कृष्ण 3, शनिवार), की तिथियाँ गणना योग्य हैं। पुरातत्व-विभाग से जाँच करवा कर डॉ० रामदत्त भारद्वाज ने बतलाया है[3] कि इनमे से केवल यज्ञोपवीत और विवाह की तिथियाँ ही सत्यापित है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने पत्नी-देहान्त की तिथि को भी शुद्ध माना है। शेष चार तिथियाँ किसी भी गणना-प्रणाली मे शुद्ध नही उतरती।[4] तुलसी के अतेवासी की यह अनभिज्ञता 'चरित' की प्रामाणिकता को खंडित करती है।"

सख्या 5 मे डॉ० सिंह ने तुलसी की विविध कृतियो के काल को अप्रामाणिक बतलाने के लिये उनकी प्रौढ़ता को आधार बनाया है। यह साहित्यिक तर्क महत्त्वपूर्ण है। 'गीतावली' कवि की प्रारम्भिक कृति नही हो सकती, वह प्रौढ़ कृति है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने अपने शोध प्रबन्ध 'तुलसीदास' मे इन ग्रन्थो के रचनाकाल का निर्धारण वैज्ञानिक विधि से किया है। वह द्रष्टव्य है।

सख्या 7 मे दिया सवत् इसलिये अमान्य बताया गया है कि वह असंगत है : सूर तो 'सागर' पूरा कर चुके थे, और तुलसी 1616 तक एक भी रचना नही कर पाये थे—तब सूर जैसे अधे और वृद्ध व्यक्ति का 1616 मे तुलसी जैसे अविख्यात व्यक्ति से आशीष लेने जाने मे सगति नही बैठती।

सख्या 8 मे घटना को असम्भवता के आधार पर अप्रामाणिक बताया गया है। मीरां की मृत्यु 1603 तक हो चुकी थी, 1616 मे पत्र लिखना असम्भव बात है।

सख्या 9 मे अप्रामाणिकता का आधार 'तथ्य-विरोध' है। तथ्य यह है केशव ने

1. पचायतनामे के शब्द हैं—अनंदराम बिन टोडर बिन देवराय व कँधई बिन रामभद्र बिन टोडर मज़कूर।
2. यह संवत् 1561 होना चाहिए।
3. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० 48।
4. तुलसीदास, पृ० 47।

रामचन्द्रिका 1658 मे रची। मूल गुसांई चरित मे 1643 व्यंजित होती है। फिर, तथ्य है कि केशव की मृत्यु 1670 के बाद हुई, तब 1651 मे केशवका प्रेत तुलसी से कैसे मिला, यह तथ्य-विरोधी बात है—ग्रतः ग्रमान्य है।

संख्या 14 मे जो सवत् दिये गये हैं उनमे तिथियाँ तथा ग्रन्य विस्तार भी हैं जिनसे उनकी परीक्षा 'गणना' द्वारा की जा सकती है। 'पुरातत्त्व विभाग' की गणना से तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त की गणना से कई तिथियाँ ग्रमान्य हैं, क्योंकि वे सत्यापित नही होती। 'गणना' का ग्राधार सबसे ग्रधिक वैज्ञानिक ग्रौर प्रामाणिक होता है।

इस प्रकार हमने इस एक उदाहरण से देखा है कि 'प्रौढ़ता-द्योतक क्रम की ग्रव-हेलना, ग्रसगति, ग्रसम्भावना, तथ्य विरोध एव 'गणना' से ग्रसिद्ध होना कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे प्रामाणिकता ग्रमान्य हो जाती हैं।

ऐसा 'बहि साक्ष्य' यदि प्रामाणिक हो तो बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है। ग्रत यह ग्रत्यन्त ग्रावश्यक है कि बहि साक्ष्य को महत्त्व देते समय उसकी प्रामाणिकता की परीक्षा हो जानी चाहिये। जो प्रामाणिक है, वही महत्त्व का हो सकता है। कितने ही ऐसे कवि या व्यक्ति हो सकते हैं जिनका पता ही बहि साक्ष्य से लगता है। जैसे – उपर्युक्त 'तुलसी चरित' ग्रौर उसके लेखक का पहला उल्लेख 'शिवसिंह सेंगर' के 'शिवसिंह सरोज' मे मिलता है। पर वह ग्रन्थ उपलब्ध नही हुग्रा। जो उपलब्ध हुग्रा वह बनावटी ग्रन्थ है।

इसी प्रकार सस्कृत ग्राचार्य भामह ने दो स्थानो पर एक मेधाविन् का उल्लेख किया है। 'त एत उपमादोषा सप्त मेधाविनोदिताः' (II–40) तथा 'यथासख्यमथोत्प्रेक्षामलकार बिदु'। सख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्',[1] इनसे विदित होता है कि किसी मेधावी या मेधाविन् ने उपमा के सात दोष बनाये हैं, तथा वह 'यथासख्य' ग्रलकार को 'सख्यान' नाम देता है, ग्रौर उसको ग्रलकार नही कहता। इस उल्लेख से 'मेधाविन्' का नाम सामने ग्राता है जिससे पहले विद्वान् परिचित नही थे। तब, भामह के बाद इसकी पुष्टि नेमिसाधु से भी हो जाती है, मेधाविन् या मेधाविरुद्र नाम का ग्राचार्य हुग्रा है— यह भी ग्रलकारशास्त्र का ग्राचार्य था। भामह के उल्लेख से 'मेधाविन्' की निचली काल सीमा भी निर्धारित हो जाती है। भामह की कालावधि काणे ने 500 ग्रौर 600 ई० के बीच दी है। 500 भामह के काल की ऊपरी सीमा ग्रौर 600 निचली ग्रवधि। 'मेधाविन्' भामह से पूर्व हुए थे।

इस प्रकार बाह्य उल्लेखो से ग्रज्ञात कवि का पता भी चलता है, ग्रौर उसकी निचली कालावधि भी ज्ञात हो जाती है।

ऐसे प्रसंग पांडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिये चुनौती का काम करते हैं कि वह प्रयत्न करे ग्रौर ऐसे कवि की किसी कृति का उद्घाटन करे।

ग्रनुश्रुति या जन श्रुति

लोक मे प्रचलित प्रवादो को एकत्र कर परीक्षापूर्वक प्रामाणिक मान कर उनके ग्राधार पर काल विषयक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जैसे-यह जनश्रुति कि मीराँ ने तुलसी को पत्र लिखा था, ग्रौर तुलसी ने भी उत्तर दिया था। यदि यह सत्यापित हो

1. Kane, P.V.—Sahityadarpan (Introduction), P. XIII.

सकता तो दोनों समकालीन हो जाते और कालक्रम मे तुलसी पहले रखे जाते क्योंकि वे इतनी ख्याति पा चुके थे कि मीरां उनसे परामर्श माँग सकी। मीरां उनसे उम्र में छोटी सिद्ध होती, पर जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि यह जनश्रुति सत्यापित नहीं होती। मीरां तुलसी से पहले ही दिवंगत हो चुकी थी। अतः जनश्रुति का मूल्य उस समय तक नगण्य है जब तक कि अन्य ठोस आधारो से वह प्रामाणिक न सिद्ध हो जाय। फिर भी, जनश्रुति का संकलन और अध्ययन अपेक्षित तो है ही। उसमें से कभी-कभी महत्त्वपूर्ण खोई कड़ी मिल सकती है।

इतिहास एवं ऐतिहासिक घटनाएँ

ऐतिहासिक घटनाएँ बाह्य साक्ष्य हैं। इनकी सहायता प्रायः किसी अन्तःसाक्ष्य के सहारे से ली जा सकती है। स्वतन्त्र रूप से भी इतिहास सहायक हो सकता है। जैसे–वामन के सम्बन्ध मे राजतरंगिणी मे उल्लेख है कि वह जयापीड़ का मन्त्री था और ब्यूहलर ने बताया है कि काश्मीरी पंडितो में यह जनश्रुति है कि यह जयापीड़ का मन्त्री वामन ही 'काव्यालंकार-सूत्र' का रचयिता और 'रीति' सम्प्रदाय का प्रवर्तक है। इस ऐतिहासिक आधार पर 'वामन' का काल 800 ई० के लगभग निर्धारित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध का कोई सन्दर्भ हमें वामन की कृति मे नही मिलता। इतिहास का उल्लेख और अनुश्रुति से पुष्टि-ये दो बातें ही इसका आधार है। हाँ, अन्य बहि.साक्ष्यों से पुष्टि अवश्य होनी है। अत किसी भी ऐसे स्वतन्त्र ऐतिहासिक उल्लेख की अन्य विधि से भी पुष्टि की जानी चाहिये।

कवि के अन्तःसाक्ष्य के सहारे इतिहास या ऐतिहासिक घटना के आधार पर काल-निर्णय करने की दृष्टि से 'भट्टि' को ले सकते हैं।

भट्टि ने 'भट्टि काव्य' मे लिखा है कि 'काव्यमिदं विहितं मया वलाम्या श्रीधरसेन-नरेन्द्रपालितायाम्"।

इससे प्रकट होता है कि भट्टि ने राजा श्रीधरसेन के आश्रय में वलभी मे 'भट्टि काव्य' की रचना की, किन्तु रचने का काल नही दिया। अब इनका काल-निर्धारण करने के लिए वलभी के श्रीधरसेन का काल निश्चित करना होगा, और इसके लिये इतिहास से सहायता लेनी होगी। इतिहास से विदित होता है कि 'श्रीधरसेन प्रथम' का कोई लेख नही मिलता। श्रीधरसेन द्वितीय का सबसे पहला लेख वलभी स० 252 का है जो 571 ई० का हुआ। श्रीधरसेन चतुर्थ का अन्तिम लेख वलभी संवत् 332 का मिला है, जो ई० सन् 651 का हुआ। इसी प्रकार श्रीधरसेन के उत्तराधिकारी द्रोणसिंह का लेख बलभी सवत् 183 अर्थात् 502 ई० का मिला है। अतः भट्टि का समय 500 से 650 ई० के बीच होना चाहिये। मन्दसौर के सूर्य मन्दिर के शिलालेख का सन् 473 ई० है। इसके लेखक वत्सभट्टि को बी० सी० मजूमदार ने 'भट्टि काव्य' से साम्य के आधार पर भट्टि माना है। तब भट्टि श्रीधरसेन प्रथम के समय मे हुए जो 500 ई० से पहले था।

स्पष्ट है कि श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुए, अतः समस्या रही कि किस श्रीधरसेन के समय भट्टि हुए, तब 'काव्य साम्य' के आधार पर वत्सभट्टि और 'भट्टि काव्य' रचयिता भट्टि को एक मान कर वत्सभट्टि के 413 ई० के लेख से भट्टि को प्रथम श्रीधरसेन के समय 500 ई० से पहले का मान लिया गया।

'कृति' में काल का संकेत न होने पर अन्त.साक्ष्य के किसी सूत्र को पकड़ कर इतिहास की सहायता से काल-निर्धारण के रोचक उदाहरण मिलते हैं। एक है नाट्य-शास्त्र के काल-निर्णय की समस्या। अनेक विद्वानो ने अपनी तरह से 'नाट्य-शास्त्र' का रचना-काल निर्धारित करने के प्रयत्न किये है, पर काणे महोदय ने प्रो० सिल्वियन लेवी का एक उदाहरण दिया है कि उन्होने 'नाट्य-शास्त्र' मे सम्बोधन सम्बन्धी शब्दों मे 'स्वामी' का आधार लेकर और चष्टन जैसे भारतीय शक शासक के लेख मे चष्टन के लिये 'स्वामी' का उपयोग देखकर, यह सिद्ध किया कि भारतीय 'नाट्य-कला' का आरम्भ भारतीय शकों के क्षत्रपों के दरबारों मे हुआ—अर्थात् विदेशी शक-राज्यों की स्थापना से पूर्व भारतवासी नाटक से अनभिज्ञ थे। नाट्य-शास्त्र मे 'स्वामी' शब्द का सम्बोधन भी शक शासकों के दरबारों मे प्रचलित शिष्ट प्रयोगों से लिया गया है। इन क्षत्रपों के राज्यकाल मे ही प्राकृत भाषाओं का स्थान सस्कृत लेने लगी—या, भाषा विषयक प्रवृत्ति का परिवर्तन विदेशी शासन का प्रभाव था जो नाट्य-शास्त्र से विदित होता है। काणे महोदय की यह टिप्पणी इस विषय पर दृष्टव्य है.

"Inspite of the brilliant manner in which the arguments are advanced, and the vigour and confidence with which they are set forth, the theory that the Sanskrit theatre came into existence at the court of the **Kshatrapas** and that the supplanting of the Prakrits by classical sanskrit was led by the foreign **Kshatrapas** appears, to say the least, to be an imposing structure built upon very slender foundations"[1]

इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास की सहायता लेते समय भी बहुत सावधानी बरतनी चाहिये। यह भी परीक्षा कर लेनी चाहिये कि कहीं प्रक्रिया उलटी तो नहीं। चष्टन के लेख मे 'स्वामी' का प्रयोग कहाँ से कैसे आ गया? क्या यह शक शब्द है? जब ऐसा नहीं तो स्पष्ट है कि लेखक या सूत्रधार या शिल्पकार, जिसने चष्टन का लेख तैयार किया या उत्कीर्ण किया वह, भारतीय नाट्य-शास्त्र से परिचित था, वहीं से सम्बोधन के लिये सस्तुत शब्दो में से 'स्वामी' शब्द को लेकर उसने चष्टन के लिये उसका प्रयोग किया। यह स्थिति अधिक सगत है।

अत: यह भी देखना होगा कि किसी स्थापना के लिये क्या कोई अन्य विकल्प भी है, यदि कोई अन्य विकल्प भी हो तो उसका समाधान भी कर दिया जाना चाहिये।

इतिहास के कारण कवि द्वारा दिये काल सकेत को लेकर संकट या झमेले भी खड़े हो सकते, हैं, इसे भी ध्यान मे रखना होगा। इसके लिये 'जायसी' के पद्मावत का उदाहरण महत्त्वपूर्ण है। इसको डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दो मे उनके ग्रन्थ 'पद्मावत' के मूल और संजीवनी भाष्य की भूमिका से उद्धृत किया जा रहा है:

"जायसी कृत दूसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उल्लेख पद्मावत में है। उसमें सूरवंशी सम्राट शेरशाह का शाहे वक्त के रूप में वर्णन किया गया है:

सेरसाहि दिल्ली सुलतानू। चारिउ खंड तपइ जस भानू। 13।1

1. Kane, P.V.—Sahityadarpan (Introduction), P. VIII.

जायसी के वर्णन से विदित होता है कि शेरशाह उस समय दिल्ली के सिंहासन पर बैठ चुका था और उसका भाग्योदय चरम सीमा पर पहुँच गया था। हुमायूं के ऊपर शेरशाह की विजय चौसा युद्ध मे 26 जून, 1539 को और कन्नौज के युद्ध में 17 मई, 1540 को हुई। दिल्ली के सुलतान पद पर उसका अभिषेक 26 जनवरी, 1542 को हुआ। जायसी ने पद्मावत के आरम्भ मे तिथि का उल्लेख इस प्रकार किया है :

सन नौ सै सैंतालिस अहै। कथा आरंभ बैन कवि कहै ।।24।।

इसका 947 हिजरी 1540 ई० होता है। उस समय शेरशाह हुमायूं को परास्त करके हिन्दुस्तान का सम्राट बन चुका था, यद्यपि उसका अभिषेक तब तक नही हुआ था। 947 के कई नीचे लिखे पाठान्तर मिलते हैं :—

1.	गोपाल चन्द्र जी की तथा माताप्रसाद जी की कुछ प्रतियाँ	927 हि०=1521 ई०
	पद्मावत का अलाउल कृत बंगला अनुवाद[1]	927 हि०=1521 ई०
2.	भारत कलाभवन काशी की कैथी प्रति[2]	936 हि०=1530 ई०
3.	1109 हि० (1697 ई०) मे लिखित माताप्रसाद की प्रति द्वि० 3	945 हि०=1539 ई०
4.	माताप्रसाद जी की कुछ प्रतियाँ, तथा रामपुर की प्रति	947 हि०=1540 ई०
5.	बिहार शरीफ की प्रति	948 हि०=1542 ई०

927, 936, 945, 947, 948 इन पाँच तिथियो मे हस्तलिखित प्रतियो के साक्ष्य के आधार पर 927 पाठ सबसे अधिक प्रामाणिक जान पड़ता है। पदमावत की सन् 1801 की लिखी एक अन्य प्रति मे भी ग्रन्थ रचना-काल 927 मिला था (खोज रिपोर्ट, 14 वाँ त्रैवार्षिक विवरण, 1929–31, पृ० 62)। 927 पाठ के पक्ष मे एक तर्क यह भी है कि यह अपेक्षाकृत क्लिष्ट पाठ है। विपक्ष मे यही युक्ति है कि शेरशाह के राज्यकाल से इसका मेल नही बैठता। शुक्ल जी ने प्रथम सस्करण मे 947 पाठ रखा था, पर द्वितीय सस्करण मे 927 को ही मान्य समझा क्योंकि अलाउल के अनुवाद मे उन्हें यही सन् प्राप्त हुआ था। अवश्य ही यह एक ऐसी साक्षी है जो उस पाठ के पक्ष मे विशेष ध्यान देने के लिये विवश करती है। 927 या 947 की सख्या ऐसी नही जिसके पढ़ने या अर्थ समझने मे रुकावट होती। अतएव उसके भी जब पाठ-भेद हुए तो उसका कुछ सविशेष कारण ऐसा होना चाहिये जो सामान्यतः दूसरे प्रकार के पाठान्तरों मे लागू नही होता। मैंने अर्थ करते समय शेरशाह वाली युक्ति पर ध्यान देकर 947 पाठ को समीचीन लिखा था, किन्तु

1. यह अनुवाद 1645–1652 के बीच सुदूर अराकान राज्य के मन्त्री मगन ठाकुर ने अलाउल नामक कवि से कराया था—
सेख मुहम्मद जती। जखने रचिले पुथी।
संख्या सप्तविंश नव शत।
2. सन नौ सै छत्तीस जब रहा।
कथा उरेहि बएन कवि कहा।
(भारत कला भवन, काशी की कैथी प्रति)

अब प्रतियों की बहुल सम्मति एवं क्लिष्ट पाठ की युक्ति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि 927 मूल पाठ था और जायसी ने पद्मावत का आरम्भ इसी तिथि में अर्थात् 1521 में कर दिया था। ग्रन्थ की समाप्ति कब हुई, कहना कठिन है, किन्तु कवि ने उस काल के इतिहास की कई प्रमुख घटनाओं को स्वयं देखा था। बाबर के राज्य काल का तो स्पष्ट उल्लेख है ही (आखिरी कलाम 8।1)। उसके बाद हुमायूँ का राज्यारोहण (836 हि०), चौसा मे शेरशाह द्वारा उसकी हार (945 हि०), कन्नौज मे शेरशाह की उस पर पूर्ण विजय (947 हि०), फिर शेरशाह का दिल्ली के सिंहासन पर राज्याभिषेक (948 हि०), ये घटनाएँ उनके जीवन काल मे घटी। मेरे मित्र श्री शम्भुप्रसाद जी बहुगुणा ने मुझे एक बुद्धिमत्तापूर्ण सुझाव दिया है कि पद्मावत के विविध हस्तलेखो की तिथियाँ इन घटनाओं से मेल खाती है। हि० 927 मे प्रारम्भ करके अपना काव्य कवि ने कुछ वर्षों मे समाप्त कर लिया होगा। उसके बाद उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ समय-समय पर बनती रही। भिन्न तिथियो वाले सब सस्करण समय की आवश्यकता के अनुकूल चालू किये गये। 927 वाली कवि लिखित प्रति मूल प्रति थी। 936 वाली प्रति की मूल प्रति हुमायूँ के राज्यारोहण की स्मृति रूप मे चालू की गई। हि० 945 वाली प्रति जिसका माताप्रसाद जी गुप्त ने पाठान्तर मे उल्लेख किया है, शेरशाह की चौसा युद्ध मे हुमायूँ पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त चालू की गई। 947 वाली चौथी प्रति शेरशाह की हुमायू पर कन्नौज विजय की स्मृति का सकेत देती है। पाँचवी या अन्तिम प्रति 948 हि० की है, जब शेरशाह दिल्ली के तख्त पर बैठ कर राज्य करने लगा था। मूल ग्रन्थ जैसे का तैसा रहा, केवल शाहे वक्त वाला अश उस समय जोड़ा गया। पद्मावत जैसे महाकाव्य की रचना के लिये चार वर्षों का समय लगा होगा। सम्भावना है कि उसके बाद कवि कुछ वर्षों तक जीवित रहा हो। पद्मावत के कारण उसके महान् व्यक्तित्व की कीर्ति फैल गई होगी। शेरशाह के अभ्युदय काल में कवि का बादशाह से साक्षात् मिलन भी बहुत सम्भव है। इस सम्बन्ध म पदमावत का यह दोहा ध्यान आकृष्ट करता है :

दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज।
पातसाहि तुम्ह जग के जग तुम्हार मुहताज ॥13।8–9

दोहे के शब्दो मे जो आत्मीयता है और प्रत्यक्ष घटना जैसा चित्र है, वह इंगित करता है कि जैसे वृद्ध कवि ने स्वय सुलतान के सामने हाथ उठा कर आशीर्वाद दिया हो। इस घटना के बाद ही शाहे वक्त की प्रशसा वाला अश शुरू मे जोड़ा गया होगा। रामपुर की प्रति मे इस अश का स्थान भी बदला हुआ है। उसमें माताप्रसाद जो के दोहो की संख्या का पूर्वापर क्रम यह है—दो 12, 20 (गुरू महदी····), 18 (सैयद असरफ·······), 19 (उन्ह घर रतन·······) 13, 14, 15, 16, 17, 21 अर्थात् शेरशाह वाले पाँच दोहो को गुरु-परम्परा के वर्णन के बाद रखा गया है। इससे अनुमान होता है कि बाद मे बढ़ाए हुए इस अंश का ठीक स्थान कहाँ हो, इस बारे मे प्रतियों की कम से कम एक परम्परा मे विकल्प अवश्य था।"[1]

इस उद्धरण से काल-निर्णय मे झमेले के लिये तीन कारण सामने आते हैं, पहला पाठ-भेद–5 पाठ-भेद मिले। पाठालोचन से भी इस सम्बन्ध मे अन्तिम प्रकाट्य निर्णय

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ०)—पद्मावत, पृ० 45–47।

नहीं किया जा सका। यों 927 हिजरी का पक्ष डॉ० अग्रवाल को भी भारी लगता है। कारण यही है कि यह कई प्रतियों मे है।

दूसरा—काल-संकेत मे केवल सन् का उल्लेख है, विस्तृत तिथि-विवरण—तिथि, दिन, महीना, पक्ष नहीं दिया गया, अतः गणना और पचांग से शुद्ध 'काल' की परीक्षा नहीं हो सकती।

तीसरा कारण है, ऐतिहासिक उल्लेख :

"सेरसाहि दिल्ली सुलतानू
चारिउ खड तपइ जस भानू ॥"

यह शेरशाह का दिल्ली का सुलतान होना ऐतिहासिक काल-क्रम मे 927, 936, 945 हिजरी से मेल नहीं खाता। 947 कुछ ठीक बैठता है। पर "तपे जस भानू" तो 948 हि० में ही सम्भव था। इस ऐतिहासिक घटना ने 927 से असगत होकर यथार्थ झमेला खड़ा कर दिया है।

इसके समाधान मे ही यह अनुमान प्रस्तुत करना पड़ा कि जायसी ने पद्मावत की रचना आरम्भ तो 927 हिजरी मे की, केवल 'शाहेवक्त' विषयक पंक्तियाँ सन् 948 हि० मे लिखीं।

सन् के विविध पाठ-भेदों को विविध ऐतिहासिक घटनाओं का स्मारक मानने की कल्पना भी इतिहास की पृष्ठभूमि से सगति बिठाने की दृष्टि से रोचक है। प्रामाणिक कितनी हैं, यह कहना कठिन है।

सामाजिक परिस्थितियाँ एवं सांस्कृतिक उल्लेख

यह पक्ष भी उभयाश्रित है। अतरग से उपलब्ध सामाजिक एव सांस्कृतिक सामग्री की संगति बाह्य साक्ष्य से बिठाकर काल-निर्णय मे सहायता ली जाती है। बाह्य साक्ष्य काल-निर्धारण में प्रमुख रहता है अत. इसे बाह्य साक्ष्य मे रखा जा सकता है।

यह भी तथ्य है कि सामाजिक और सांस्कृतिक आधार को काल-क्रम निर्धारण मे उपयोगी बनाने के लिए उनका स्वय का काल-क्रम किसी अन्य आधार से, वह अधिकांशतः ऐतिहासिक हो सकता है, सुनिश्चित करना होगा।

यह भी ध्यान मे रखना होगा कि सामाजिक और सांस्कृतिक सामग्री को बिल्कुल अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। दोनों का इतना अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है कि दोनों को एक मान कर चलना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

सांस्कृतिक एव सामाजिक साक्ष्य से काल-निर्धारण का उदाहरण डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'बसन्त विलास और उसकी भाषा' शीर्षक पुस्तक से मिलता है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त से पूर्व 'बसन्त विलास' के काल-निर्णय का प्रयत्न प्रो० डबल्यू० नारमन ब्राउन और उनसे पूर्व श्री कान्तिलाल बी० व्यास कर चुके थे। इन दोनो ने भाषा को आधार मान कर ऊपरली और निचली काल सीमाएँ निर्धारित की थीं—वे थीं 1400–1424 के बीच।

इसका खडन और अपने मत का सकेत उक्त पुस्तक की भूमिका मे रचना-काल शीर्षक मे संक्षेप में यों दिया है :

"कृति के रचना-काल का उसमे कोई उल्लेख नहीं है। उसकी प्राचीनतम प्राप्त

प्रति सं० 1508 की है[1], इसलिये यह उसकी रचना-तिथि की एक सीमा है। सं० 1508 की प्रति का पाठ अवश्य ही कुछ-न-कुछ प्रक्षेप-पूर्ण हो सकता है, क्योंकि वही सबसे बड़ा है, और पाठान्तरो की दृष्टि से अनेक स्थलो पर उससे भिन्न प्रतियो के पाठ अधिक प्राचीन ज्ञात होते हैं, इसलिये, रचना का समय सामान्यत उससे काफी पहले का होना चाहिये। यह स्पष्ट है जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रायः विद्वानो ने रचना की उक्त प्राचीनतम प्राप्त प्रति की तिथि से उसे एक शताब्दी पूर्व माना है। किन्तु मेरी समझ मे यहाँ उन्होंने अटकल से ही काम लिया है। पूरी रचना आमोद-प्रमोद और क्रीडापूर्ण नागरिक जीवन का ऐसा चित्र उपस्थित करती है जो मुख्य हिन्दी प्रदेश मे 1250 वि० की जयचन्द पर मुहम्मद गौरी की विजय के अनंतर और गुजरात मे 1356 वि० के अलाउद्दीन के सेनापति उलुगखा की विजय के अनंतर इस्लामी शासन के स्थापित होने पर समाप्त हो गया था। इसलिये रचना अधिक से अधिक विक्रमीय 14वी शती के मध्य, ईस्वी 13वी शती—की होनी चाहिये।"[2]

फिर डॉ० गुप्त ने विस्तारपूर्वक 'बसन्त विलास' के उद्धरणो से उस जन-जीवन का विवरण दिया है और तब निष्कर्षत लिखा है कि :

"इस व्याख्या से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि तेरहवी शती ईस्वी की मुसलमानो की उत्तर-भारत-विजय से पूर्व का ही नागरिक जीवन रचना मे चित्रित है। मुसलमानो के शासन के अन्तर्गत इस प्रकार की स्वच्छन्दता से नगर के युवक-युवतियो को नगर के क्रीडा-वनों में मिलने की कोई कल्पना नही कर सकता है जैसी वह इस काव्य मे वर्णित हुई है। कवि किसी पूर्ववर्ती ऐतिहासिक युग का इसमे वर्णन भी नही करता है, वह अपने ही समय के बसन्त के उल्लास-विलास का वर्णन करता है, इसलिये मेरा अनुमान है कि 'बसन्त-विलास' का रचना-काल स० 1356 के पूर्व का तो होना ही चाहिये और यदि वह स० 1250 से भी पूर्व की रचना प्रमाणित हो तो मुझे आश्चर्य न होगा। सम्भव है उसकी भाषा का प्राप्त रूप इस परिणाम को स्वीकार करने मे बाधक हो। किन्तु भाषा प्रतिलिपि-परम्परा मे घिसकर धीरे-धीरे अधिकाधिक आधुनिक होती जाती है। इसलिये भाषा का स्वरूप प्राप्त परिणाम को स्वीकार करने मे बाधक नही होना चाहिये।"[3]

इस उद्धरण से उस प्रणाली का उद्घाटन होता है जिससे सास्कृतिक-सामाजिक सामग्री को काल-निर्धारण का आधार बनाया जा सकता है।

इसमें सांस्कृतिक सामाजिक जीवन का, बसन्त के अवसर का आमोद-प्रमोद वर्णित है। डॉ० गुप्त ने इस आधार को लेकर एक ऐतिहासिक घटना के परिप्रेक्ष्य मे देखने का प्रयत्न किया है। वह घटना है उत्तरी भारत और गुजरात पर इस्लामी विजय और शासन—इनका काल विदित है 1250 तथा 1356। कल्पना यह है कि इस समय के बाद ऐसा जीवन जिया नहीं जा सकता था; न कवि उसका ऐसा सजीव वर्णन ही कर सकता था।

1. (अ) बाह्य साक्ष्य की दृष्टि से काल संकेत युक्त प्रतिलिपि भी महत्त्वपूर्ण होती है, यह इससे सिद्ध होता है।
   (आ) यथा—श्री मजुलाल मजमुदार—गुजराती साहित्य ना स्वरूपो पद्य विभाग पृ० 225।
2. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०)–बसंत विलास और उसकी भाषा, पृ० 4–5।
3. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०)–बसंत विलास और उसकी भाषा, पृ० 8।

वैसा वर्णन उस काल में रहने वाला कवि ही कर सकता है। 'बसन्त विलास' से उसकी वर्तमानकालिकता प्रकट है। स्पष्ट है कि एक प्रकरण का मेल इतिहास काल-क्रम वाली एक घटना से स्थिर किया गया, तब काल-विषयक निष्कर्ष पर पहुँचा गया।

इस काल-निर्धारण में भाषा का साक्ष्य बाधक प्रतीत होता था क्योंकि गुप्त से पूर्व दो विद्वानों ने भाषा के साक्ष्य पर ही 1400–1425 के बीच काल-निर्धारित किया था, अत इस तर्क को इस सिद्धान्त से काट दिया कि 'प्रतिलिपि परम्परा' में भाषा अधिकाधिक आधुनिक होती जाती है।

स्पष्ट है कि सांस्कृतिक बाह्य साक्ष्य + इतिहास-सिद्ध कालक्रमयुक्त घटना से यहाँ निष्कर्ष निकाला गया है।

जिस प्रकार समाज और संस्कृति को उक्त रूप में काल-निर्धारण के लिये साक्ष्य बनाया जा सकता है, उसी प्रकार धर्म, राजनीति, शिक्षा, आर्थिक तत्त्व, ज्योतिष आदि भी अपनी-अपनी तरह से काल सापेक्ष होते है, अत. काल-निर्धारण में मात्र किसी एक आधार से काम नहीं चल पाता, जितनी भी बातों में काल-सूचक बीज होने की सम्भावना हो सकती है, उनकी परीक्षा की जाती है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि का काल-निर्णय करने में साहित्यिक तर्क (Literary argument),[1] मस्करी परिव्राजक एक विशेष शब्द,[2] बुद्ध धर्म[3], श्राविष्ठा प्रथम नक्षत्र[4], नन्द से सम्बन्ध[5], राजनीतिक सामग्री (data), यवनानी लिपि का उल्लेख, पशु विषयक[6] कथान्त स्थान नाम, क्षुद्रक-मालव[7] पाणिनि और कौटिल्य[8], सिक्कों का साक्ष्य, व्यक्ति-नाम (गोत्रनाम एवं नक्षत्र-नाम के आधार पर), पाणिनि और जातक, पाणिनि तथा मध्यम पथ आदि की परीक्षा की। स्पष्ट है कि काल-निर्धारण में एक नहीं अनेक प्रकार के साक्ष्यों की परीक्षा करनी होती है। पहले के तर्कों और प्रमाणों की समीचीनता सिद्ध या असिद्ध करनी होती है। बाह्य साक्ष्य में से बहुत से अंतरंग साक्ष्य से गुँथे हुए है।

अंतरंग साक्ष्य

अंतरंग साक्ष्य को दो पक्षों में बाँट सकते हैं, एक है स्थूल पक्ष, दूसरा है सूक्ष्म। स्थूल पक्ष का सम्बन्ध उन भौतिक वस्तुओं से होता है जिनसे ग्रंथ निर्मित हुआ है। इसे वस्तुगत पक्ष कह सकते है, जैसे-ग्रन्थ का कागज, ताडपत्र आदि। उसका आकार-प्रकार भी कुछ अर्थ रखते ही है। स्याही भी इसमें सहायक हो सकती है। इसी स्थूल पक्ष का एक और पहलू है लेखन। लेखन व्यक्तिगत पहलू माना जा सकता है। व्यक्ति अर्थात् लेखक

1. वस्तुत यह तर्क गोल्डस्टुकर के इस तर्क को काटने के लिये दिया है कि पाणिनि आरण्यक, उपनिषद, प्रातिशाख्य, वाजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद और षड्-दर्शन से परिचित नहीं थे, अत यास्क के बाद पाणिनि हुए थे।
2. यह सिद्ध करने के लिये कि इस व्यक्ति से पाणिनि परिचित थे, अत इसके बाद ही हुए।
3. गोल्डस्टुकर के इस तर्क का खंडन करने के लिये कि पाणिनि बुद्ध से पूर्व हुए।
4. ज्योतिष पर आधारित साक्ष्य।
5. ऐतिहासिक आधार।
6. एक विशेष जाति सम्बन्धी।
7. गणों का संघ एवं सैन्य संगठन तथा युद्ध-विद्या सम्बन्धी।
8. कुछ विशिष्ट शब्दों से यौनों परिचित थे, इस आधार पर काल निर्धारण में सहायता।

या लिपिकार का लिखने का अपना ढंग होता है। इसमें लिपि का पहला स्थान है : इसमें देखना होता है कि कौनसी लिपि मे लेखक ने लिखा है ? यही नहीं, वरन् यह भी देखना होता है कि जिस लिपि में उसने लिखा है, उसके किस रूप मे और अक्षर के किस प्रकार में लिखा है। लिपि का भी इतिहास होता है, और उसकी वर्णमाला के अक्षरों का भी होता है। प्रत्येक लेखक कालगत स्थिति मे अपनी पद्धति मे लिखता है। इसे भी क्या काल-निर्धारण का आधार बनाया जा सकता है, यह देखना होता है। लेखन में अलकरणो का भी स्थान होता है। लिपि को भी विविध प्रकार से अलंकृत किया जाता है, तथा लेख में जहाँ-तहाँ मंगल उपकरणो से तथा अन्य प्रकार से सजाया जाता है। क्या इनसे भी काल-निर्णय मे कोई सहायता मिल सकती है, यह भी देखना होगा। पृष्ठांकन प्रणाली का अन्तर भी इसी वर्ग मे आयेगा। सचित्र ग्रन्थ हो तो चित्र-योजना पर भी काल-निर्धारण की दृष्टि से विचार करना होगा। इनके बाद हमे यह अनुसंधान भी करना होगा कि क्या कोई और ऐसा तत्त्व हो सकता है जो व्यक्तिगत पक्ष मे आता हो और उक्त वस्तुओं मे न आ पाया हो। अब हम पहले वस्तुगत पक्ष मे कागज को लेते है।

कागज=लिप्यासन

यहां कागज का व्यापक अर्थ लिया गया है, इसीलिए इसे 'लिप्यासन' नाम दिया गया है। यह हम पहले देख चुके है कि लिप्यासन मे पत्थर, ईंट, धातु, चमडा, पत्र छाल, कागज आदि सभी आते है।

हम यह देख चुके हैं कि लिप्यासनो के प्रकारो से लेखन के विभिन्न युगो से सम्बन्ध है। ईंटों पर लेखन ईसा के 3000 वर्ष पूर्व तक हुआ, यह माना जा सकता है। इसी प्रकार 3000 ई०पू० से पेपीरस के गरडो (Rolls) का युग चलता है। ई०पू० 1000 से 800 के बीच कोडेक्स या चर्म-पुस्तकों का युग आरम्भ हुआ माना जा सकता है। तब कागज का आरम्भ चीन से होकर यूरोप पहुँचा। सन् 105 ई० से कागज का प्रचार ऐसा हुआ कि अन्य लिप्यासनो का उपयोग समाप्त हो गया। भारत मे कागज सिकन्दर के समय में भी बनता था किन्तु ईंटो के बाद पत्थर, और उसके बाद ताड-पत्र एव भूर्ज-पत्रो का उपयोग विशेष होता रहा। भूर्ज-पत्र से भी अधिक ताड-पत्र का उपयोग भारत मे हुआ है।

कागज का प्रचार सबसे अधिक हुआ है।

ये लिप्यासन काल-निर्धारण मे केवल इसीलिये सहायक माने जा सकते हैं कि इन पर भी काल का प्रभाव पड़ता है। काल का प्रभाव अलग-अलग भौगोलिक परिस्थितियो मे अलग-अलग पड़ता है। नेपाल मे ताड-पत्रीय संस्कृत ग्रन्थों के अनुसन्धान के विवरण मे यह उल्लेख है कि ताड़पत्र-ग्रन्थो के लिये नेपाल का वातावरण, जलवायु अनुकूल है। वहाँ कालगत प्रभाव जलवायु से कुछ परिसीमित हो जाता है। फिर भी, प्रभाव पड़ता तो है ही। इसी काल-प्रभाव को अभी तक केवल अनुमान से ही बताया जाता रहा है। यह अनुमान पांडुलिपि-विज्ञानवेत्ता या पांडुलिपियों से सम्बन्धित व्यक्ति के अनुभव पर निर्भर करता है। अनुभवी व्यक्ति ग्रन्थ के कागज का रूप देख कर यह बात बता सकता है कि अनुमानतः यह पुस्तक कितनी पुरानी हो सकती है। यह अनुभवाश्रित अनुमान अन्य प्रयोग से पुष्ट भी होना चाहिये। यदि प्रमाण से पुष्ट नहीं होता तो यह तभी तक दुर्बल

आधार के रूप में बना रहेगा जब तक कि या तो इसे खंडित नहीं कर दिया जाता या पुष्ट नहीं कर दिया जाता।

हाँ, एक स्थिति ऐसी हो सकती है जिससे अनुभवाश्रित अनुमान अधिक महत्त्व का हो सकता है। दो हस्तलेखों की तुलना मे एक पुरानी प्रति अपनी जीर्णता-शीर्णता आदि के कारण निश्चय ही कुछ वर्ष दूसरे से पहले की मानी जा सकती है। अनुसंधान विवरणों और हस्तलेखो के काल-निर्णायक तर्कों मे प्रति की प्राचीनता भी एक आधार होती है।

वास्तविक बात यह है कि काल-क्रम की दृष्टि से कागजो के सम्बन्ध में दो बातो पर अनुसधानपूर्वक निर्णय लिया जाना चाहिये। एक तो कागजों के कई प्रकार मिलते है। हाथ के बने कागज भी स्थान भेदो से कितने ही प्रकार के हैं, और इसी प्रकार मिल के बने कागजो के भी कितने ही भेद हैं। इनमे परस्पर काल-क्रम निर्धारित किया जाना चाहिये।

हमारे यहाँ 20 वीं शताब्दी से पूर्व हाथ का बना कागज ही काम मे आता था। प्राय सभी पाँडुलिपियाँ उन्ही कागजो पर लिखी मिलती हैं।

अब यह आवश्यक है कि कोई वैज्ञानिक विधि रासायनिक या रश्मिक आधार पर ऐसी आविष्कृत की जाय कि ग्रन्थ के कागज की परीक्षा करके उनके काल का वैज्ञानिक अनुमान लगाया जा सके।

जब तक ऐसा नही होता तब तक अनुभवाश्रित अनुमान से जो सहायता ली जा सकती है, ली जानी चाहिये।

स्याही

स्याही को भी काल-निर्णय मे कागज की तरह ही सहायक माना जा सकता है। काल का प्रभाव स्याही पर भी पडता ही है, पर उसको जानने के लिए और उस प्रभाव से समय को आंकने के लिए कोई निर्भ्रांत साधन नही है।

इन दोनो के सम्बन्ध मे एक विद्वान[1] का कथन है कि "जब किसी संग्रह के ग्रन्थो को देखते हैं तो उसकी विभिन्न प्रतियाँ विभिन्न दशाओ मे मिलती हैं। कोई-कोई ग्रन्थ तो कई शताब्दी पुराना होने पर भी बहुत स्वस्थ और ताजी अवस्था मे मिलता है। उसका कागज भी अच्छी हालत में होता है, और स्याही भी जैसी की तैसी चमकती हुई मिलती है, परन्तु कई ग्रन्थ बाद की शताब्दियो के लिखे होने पर भी उनके पत्र तड़कने से और अक्षर रगड़ से विकृत पाये जाते है।"

इस कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि कागज और स्याही को काल-निर्णय का साधन बनाते समय बहुत सावधानी अपेक्षित है, और उन समस्त तथ्यों को ध्यान में रखना होगा जिनसे कागज और स्याही पर कालगत प्रभाव या तो पडा ही नही, या बहुत कम पड़ा, या कम पड़ा, या सामान्य पड़ा, या अधिक पड़ा।

पांडुलिपि-विदों ने काल-निर्णय मे जहाँ इन दोनो का उपयोग किया है वहाँ तुलना के आधार पर ही किया है।

लिपि

लिपि काल-निर्धारण मे सहायक हो सकती है, क्योंकि उसका विकास होता आया

1. श्री गोपाल नारायण बहुरा की टिप्पणियाँ।

है, उस विकास मे अक्षरों के लिपि-रूपो मे परिवर्तन हुए हैं, जिन्हे काल-सीमाओं मे बाँधा गया है। अक्षर का एक लिपि-रूप एक विशेष काल-सीमा में चला, फिर उसमें विकास या परिवर्तन हुआ और नया रूप एक विशेष काल-सीमा मे प्रचलित रहा। आगे भी इसी प्रकार होता गया और विविध अक्षर-रूप विविध काल-सीमाओं में प्रचलित मिले। इस कारण एक विशेष अक्षर-रूप वाली लिपि को उस विशेष काल-अवधि का माना जा सकता है, जिसमे लिपि-वैज्ञानिको ने उसे प्रचलित सिद्ध किया है।

शिलालेखो एव अभिलेखों मे लिपि के विकास की इन कालावधियो को सुविधा के लिये नाम भी दे दिये गये है।

अशोक-कालीन ब्राह्मी लिपि की कालावधि ई०पू० 500 से 300 ई० तक मानी गई। इस बीच मे इसके अक्षर-रूपो मे कुछ परिवर्तन हुए मिलते है। इन परिवर्तनो से एक नया रूप चौथी शती ई० मे उभर उठता है।

इसे **गुप्तलिपि** का नाम दिया गया, क्योंकि गुप्त सम्राटो के काल मे इसका अशोक कालीन ब्राह्मी से पृथक् रूप उभर आया। गुप्तलिपि का यह रूप छठी शती ई० तक चला। अन्य परिवर्तनो के साथ इसमें एक वैशिष्ट्य यह मिलता है कि सभी अक्षरो मे कोण तथा सिरे या रेखा का समावेश हुआ। इसी को 'सिद्ध मातृका' का नाम दिया गया है।

इस लिपि मे **छठी से नवमी** शताब्दी के बीच फिर ऐसा वैशिष्ट्य उभरा जो इसे गुप्तलिपि से पृथक् कर देता है। ये वैशिष्ट्य है (1) गुप्तलिपि के अक्षरो की खडी रेखाएँ नीचे की ओर बायीं दिशा म मुड़ी मिलती है तथा (2) मात्राएँ टेढ़ी और लम्बी हो गई है, इसलिये इन्हे 'कुटिलाक्षर' या 'कुटिल लिपि' कहा गया। कही-कही 'विकटाक्षरा' भी नाम है।

'सिद्ध मातृका' से 'नागरी लिपि' का विकास हुआ। इसका आभास तो सातवी शती से ही मिलता है, पर नवमी शताब्दी से अभिलेख और ग्रन्थ इस लिपि मे लिखे जाने लगे। 11 वी शती मे इसका व्यापक प्रयोग होने लगा।

यह स्थूल काल-विधान दिया गया है, यह बताने के लिए कि विशेष युग मे लिपि का विशेष रूप मिलता है, अत किसी विशेष लिपि-रूप से उसके काल का भी अनुमान लगाया जा सकता है, और लगाया भी गया है।

ग्रन्थो मे उपयोग मे आने पर भी लिपि-विकास रुकता नही, मन्द हो सकता है। यही कारण है कि ग्रन्थो की लिपियो मे भी काल-भेद से रूपान्तर मिलता है, अत. उसके आधार को काल-निर्णय का आधार किसी सीमा तक बनाया जा सकता है :

इसके लिये 'राउलवेलि' के सम्बन्ध मे यह उद्धरण उदाहरणार्थ दिया जा सकता है। 'राउलवेलि' एक कृति या ग्रन्थ ही है, जो शिलालेख के रूप मे धार से प्राप्त हुआ है। यह प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बम्बई मे सुरक्षित है।

इस शिलांकित कृति मे रचना-काल नहीं दिया गया। इसकी अतरग सामग्री से किसी ऐतिहासिक व्यक्ति या घटना का भी संधान नही मिलता। इस कारण इतिहास से भी काल-निर्धारण मे सहायता नही मिलती। अतः इस कृति के सम्पादक डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा :

"रचना का नाम 'राउल बेल'=राजकुल-विलास है, इसलिये शिलालेख के व्यक्ति राजकुल के प्रतीत होते हैं। किन्तु प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से इन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। लेख के अन्त मे दोनो छोरों पर दो आकृतियां है, जिनमे से एक भग्न है, जो शेष है वह कमल-वन की है, और जो भग्न है निश्चय ही वह भी उसी की रही होगी। इस प्रकार की आकृतियां लेखो के अन्त मे उनकी समाप्ति सूचित करने के लिये दी जाती है। ऐसी परिस्थितियों में लेख का समय निर्धारण केवल लिपि-विन्यास के आधार पर सम्भव है। इसकी लिपि सम्पूर्ण रूप से भोज देव के 'कूर्मशतक' वाले धार के शिलालेख से मिलती है (दे० इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 8, पृ० 241)। दोनों मे किसी भी मात्रा मे अन्तर नही है, और उसके कुछ बाद के लिखे हुए अर्जुनवर्म देव के समय के 'पारिजात मंजरी' के धार के शिलालेख की लिपि किंचित् बदली हुई है (दे० इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 8, पृ० 96) इसलिये इस लेख का समय 'कूर्मशतक' के उक्त शिलालेख के आस-पास ही अर्थात् 11वी शती ईस्वी होना चाहिये।"[1]

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि लिपि भी काल-निर्धारण मे सहायक हो सकती है। लिपि का विशेष रूप काल से सम्बद्ध है, और ज्ञात कालीन रचना की लिपि से तुलना पर साम्य देखकर काल-निर्णय किया जा सकता है। 'कूर्मशतक' भोजदेव की कृति है, उसका काल भोजदेव के काल के आधार पर ज्ञात माना जा सकता है। जिस काल में 'कूर्मशतक' की रचना हुई, उसके कुछ समय बाद की शिलांकित 'पारिजात मजरी' की लिपि भिन्न है, अत 'राउलबेल' की लिपि उससे पूर्व की और 'कूर्मशतक' के समकालीन ठहरती है तो रचनाकाल 11 वी शती माना जा सकता है।

इसमे 1 लिपि साम्य, और 2 लिपि-भेद के दो साक्ष्य लिये गये है। वास्तव मे, लिपि के अक्षरो और मात्राओ के रूप ही नही अलंकरणो के रूप को भी काल-निर्धारण मे साक्ष्य मानना होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से तो 'भारतीय लिपि और भारतीय अभिलेख' विषयक रचनाओ में लिपियो के कालगत भेदो और उनके अक्षरो और मात्राओ के रूपो मे अन्तर का उल्लेख सोदाहरण और सचित्र हुआ है। किन्तु ग्रन्थो की लिपियो का इतना गहन और विस्तृत अध्ययन नही हुआ। लिपि के आधार पर ग्रन्थो के काल-निर्धारण की दृष्टि से शताब्दी क्रम से ग्रन्थो मे मिलने वाले लिपि-अन्तरों और वैशिष्ट्यो का अध्ययन होना चाहिये। इसका कुछ प्रयत्न 'लिपि-समस्या' वाले अध्याय मे किया भी गया है।[2] पर, वह अपर्याप्त ही है।

इस सम्बन्ध मे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य क०मु० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान-विद्यापीठ के अनुसन्धानाधिकारी विद्वद्वर प० उदयशंकर शास्त्री का है। इन्होने परिश्रमपूर्वक काल-क्रम से मिलने वाले अक्षर, मात्रा और अंकों के रूप शिलालेख आदि के साथ ग्रन्थों के आधार पर भी दिये है। इस अध्ययन को पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को और आगे बढ़ाना चाहिये। इनका यह फलक हमने 'लिपि समस्या' शीर्षक अध्याय में दिया है। उसमें कुछ और रूप भी हमने जोड़े है।

1. गुप्त, माताप्रसाद, (डॉ०)—राउल बेल और उसकी भाषा, पृ० 19।
2. द्रष्टव्य—अध्याय-5।

लिपि रचना-काल-निर्धारण मे तभी यथार्थ सहायता कर सकती है जब काल-क्रम से प्राप्त प्रायः सभी या अधिकाश हस्तलेखो से अक्षर, मात्रा और अंक के रूप तुलनापूर्वक कालक्रमानुसार दिये जायें और कालक्रमानुसार उनके वैशिष्ट्य भी प्रस्तुत किये जायें।

लेखन-पद्धति, अलकरण आदि

वैसे तो लेखन-पद्धति, अलकरण आदि का भी सम्बन्ध कालावधि से होता ही है, क्योकि लिखने की पद्धति, उसे अलकृत करने के चिह्न और उपादान, इनसे सम्बन्धित सकेताक्षरों और चिह्नो का प्रयोग, मागलिक तत्त्वो का अंकन, सभी का काल-सापेक्ष प्रयोग होता है। इनसे प्रयोग को काल-क्रम मे बाँध कर अध्ययन किया जा सकता है, और तब काल-निर्धारण मे इनकी सहायता ली जा सकती है। यथा—

संकेताक्षरों की कालावधि :

पाँचवी शताब्दी ईस्वी पूर्व	1. स, समु, सव, सम्व या सवत्—	सवत्सर के लिए
	2. प	पक्ष के लिए
	3. दि या दिव	दिवस के लिए
	4. गि, ग्रु०, ग्र०	ग्रीष्म के लिए
	5. व या वा	वर्ष (प्रा० वासी) के लिए
	6. हे या हेम आदि	हेमन्त के लिए
पाँचवी शती से और आगे	1. दू०	दूतक के लिए
	2. रू०	रूपक के लिए
	3. द्वि०	द्वितीया के लिए
	4 नि०	'निरीक्षित' के लिए, निबद्ध के लिए
	5. महाक्षनि (सयुक्त शब्द)	महाक्षपटलिक-निरीक्षित के लिए
	6. श्रीनि	श्रीहस्त श्रीचरण निरीक्षित के लिए
	7. श्री नि महासाम	श्री हस्तनिरीक्षित एव महा-सधिविग्रहिक निरीक्षित के लिए।

वस्तुत. काल-निर्णय मे सहायक होने की दृष्टि से अभी सकेताक्षरो को काल-क्रम और कालावधि मे बाँध कर प्रस्तुत करने के प्रयत्न नही हुए।

लेखन-पद्धति मे ही सम्बोधन और उपाधिबोधक शब्द भी स्थान रखेंगे। हम देख चुके है कि शब्दों के लेख में 'स्वामी' सम्बोधन को देख कर और नाट्यशास्त्र में राजा के लिये उसे प्रयुक्त बताया देख कर कुछ विद्वान नाट्य कला का आरम्भ भी विदेशी शक-शासकों से मानने लगे थे।

सम्बोधन और उपाधिबोधक शब्दो को काल-क्रम से इस प्रकार रखा जा सकता है—

272–232 ई०पू०	1. राजन् (अशोक जैसे सम्राट के लिए) देवी (राज्ञी–रानी)
द्वितीय शती ई०पू०	2. महाराजा (भारतीय यूनानी शासकों के लिए)
प्रथम अर्द्धांश	3. महाराजो (महादेवी) तृतर (संस्कृत त्रातृ: रक्षक राजा के लिए)
द्विताय शती ई०पू०	4. अप्रकरण (स. अप्रत्यग्र, अप्रतिद्वन्द्वी रहित)
	5. राजन् (यह शब्द भी प्रयोग मे था)
प्रथम शती ई०पू०	6. महरजस रजरजस (या रजदिरजस) महतस (सं० महाराजस्य राजराजस्य महत: या राजाधिराजस्य महत:)
चौथी शती ईसवी (गुप्त काल)	7. महाराजाधिराज या भट्टारक महाराज राजाधिराज । महाराजाधिराज परमभट्टारक
	8. महाराज (7. के आधीन राजा)
6 ठी शती ईसवी	9. राजाधिराज परमेश्वर
9वी, 10वी शती ई०	10. पंच महाशब्द –'प्राप्त पंचमहा शब्द' या 'समाधिगत पंच महाशब्द :'

पंचमहाशब्द—1. महाप्रतिहार
या 2. महासंधिविग्रहिक
अशेष महाशब्द—3 महाअश्वशालाधिकृत
4. महाभाण्डागारिक
5. महासाधनिक
अथवा
1. महाराज
2. महासामन्त
3. महाकार्ताकृतिक
4. महादण्डनायक
5. महाप्रतिहार
अथवा
पंचमहाशब्दपंच महावाद्य आदि

ऐसी उपाधियो और नामो की एक लम्बी सूची बनायी जा सकती है और प्रत्येक की कालावधि ऐतिहासिक काल-क्रमणिका मे स्थिर की जा सकती है, तब ये काल-निर्धारण मे अधिक सहायक हो सकते हैं।

इसी प्रकार से अन्य वैशिष्ट्य भी लेखन-पद्धति मे काल-भेद से मिलते हैं, जिन्हें काल-तालिका मे यथा-स्थान निबद्ध करना चाहिये और पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को स्वयं ऐसी कालक्रम तालिकाएँ बना लेनी चाहिये ।

इसी प्रकार अलंकरण-विधान भी काल-क्रमानुसार मिलते हैं, अतः इनकी भी सूची प्रस्तुत की जा सकती है और काल-क्रम निर्धारित किया जा सकता है।

अन्तरंग पक्ष : सूक्ष्म साक्ष्य

ऊपर स्थूल-पक्ष पर कुछ विस्तार से चर्चा की गई है। अब सूक्ष्म साक्ष्य पर भी संक्षेप में दिशा-निर्देश उचित प्रतीत होता है। सूक्ष्म साक्ष्य मे वह सबकुछ समाहित किया जाता है जो स्थूल पक्ष में नही आ पाता। इसमे पहला साक्ष्य भाषा का है।

भाषा

भाषा का विकास और रूप-परिवर्तन भी काल-विकास के साथ होता है, अत भाषा का गम्भीर अध्येता उसकी रूप-रचना और शब्द-सम्पत्ति तथा व्याकरणगत स्थिति के आधार पर विकास के विविध चरणो को कालावधियो मे बाँट कर, काल-निर्धारण मे सहायक के रूप मे उसका उपयोग कर सकता है। इसका एक उदाहरण 'बसन्त विलास' के काल-निर्धारण का दिया जा सकता है। यह हम देख चुके है कि 'बसन्त-विलास' मे काल विषयक पुष्पिका नही है। तब डॉ० माताप्रसाद गुप्त से पूर्व जिन विद्वानो ने 'बसन्त विलास' का सम्पादन किया था उन्होने भाषा के साक्ष्य को ही महत्त्व दिया था। उनके तर्क को डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने सक्षेप मे यो दिया है :

"श्री व्यास (श्री कान्तिलाल बी० व्यास) ने 1942 मे प्रकाशित अपने पूर्वोक्त संस्करण मे कृति की रचना-तिथि पर बड़े विस्तार से विचार किया है (भूमिका पृ० 29–37)। उन्होने बताया है कि स० 1517 के लगभग लिखते हुए रत्नमन्दिर गणि ने अपनी 'उपदेशतरगिणी' मे 'बसन्त-विलास' का एक दोहा उद्धृत किया है, और रचना की सबसे प्राचीन प्रति, जो कि चित्रित भी है, स० 1508 की है, इससे स्पष्ट है कि रचना विक्रमीय 16वी शती को प्रारम्भ मे ही पर्याप्त ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थी।" (यहाँ तक बाह्य साक्ष्यो का उपयोग किया गया है) "साथ ही उन्होंने लिखा है कि भाषा की दृष्टि से विचार करने पर कृति की तिथि की दूसरी सीमा स० 1350 वि० मानी जा सकती है। भाषा-सम्बन्धी इस साक्ष्य पर विचार करने के लिए उन्होंने सं० 1330 में लिपिबद्ध 'आराधना', स० 1369 मे लिपिबद्ध 'अतिचार' स० 1411 मे लिखित 'सम्यक्त्व कथानक' स० 1415 मे लिखित 'गौतम रास' सं० 1450 मे लिखित 'मुग्धावबोध औक्तिक,' सं० 1466 मे लिखित 'श्रावक अतिचार', सं० 1478 मे लिखित 'पृथ्वी चन्द्र चरित्र' तथा स० 1500 मे लिखित 'नमस्कार बालावबोध' से उद्धरण देते हुए उनकी भाषाओं से 'बसन्त-विलास' की भाषा की तुलना की है और लिखा है कि 'बसन्त-विलास' की भाषा 'श्रावक अतिचार' (सं० 1466) तथा 'मुग्धावबोधऔक्तिक, (स० 1450) से पूर्व की और 'सम्यक्त्व कथानक' (स० 1411) तथा 'गौतम रास' (स० 1412) के निकट की ज्ञात होती है। इस भाषा सम्बन्धी साक्ष्य से तथा इस तथ्य से कि रत्नमन्दिर गणि के समय (सं० 1517) तक कृति ने पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी, यह परिणाम निकाला जा सकता है कि 'बसन्त-विलास' की रचना सं० 1400 के आस-पास हुई थी। इसलिए मेरी राय में विक्रमीय 15 वीं शती का प्रथम चतुर्थांश ही (सं० 1400–1425) 'बसन्त विलास' का सम्भव रचनाकाल होना चाहिये (भूमिका पृ० 37)।"[1]

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०)—बसंत-विलास और उसकी भाषा, (भूमिका), पृ० 4।

डॉ० गुप्त के इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि 'बसन्त-विलास' के काल-निर्धारण में भाषा-साक्ष्य के लिए 1330 से लेकर 1500 संवत् तक के काल-युक्त प्रामाणिक ग्रन्थों को लेकर उनसे तुलनापूर्वक बसन्त-विलास के काल का निर्धारण किया गया है। इसमे मुख्य साक्ष्य भाषा का ही है।

भाषा का साक्ष्य सहायक के रूप में अन्य साक्ष्यों और प्रमाणों के साथ आ सकता है।

वस्तुविषयक साक्ष्य

वस्तु-विषयक साक्ष्य में वस्तु सम्बन्धी बातें आती हैं, उदाहरणार्थ, भारत के नाट्य-शास्त्र के काल निर्धारण मे एक तर्क यह दिया जाता है कि नाट्यशास्त्र में केवल चार अलंकारो का उल्लेख है : काणे महोदय ने लिखा है :

"(h) All ancient writers on alankara, Bhatti (between 500-650 A.C.), Bhamaha, दण्डी, उद्भट, define more than thirty figures of speech, भरत defines only four, which are the simplest viz. उपमा, दीपक, रूपक and यमक. भरत gives a long disquisition on metres and on the prakrits and would not have scrupled to define more figures of speech if he had known them. Therefore he preceded these writers by some centuries atleast. The foregoing discussion has made it clear that the नाट्यशास्त्र can not be assigned to a later date than about 300 A.C.".[1]

इसमें काल-निर्धारण का आधार है :

1. अलंकारों की संख्या
2. अलंकारों की सरल प्रकृति
3. ज्ञात प्राचीनतम अलकार-शास्त्रियों द्वारा बताये गये संख्या मे 35 अलंकार।
4. यदि भरत को चार से अधिक अलकार विदित होते या उस काल मे प्रचलित होते तो वह उनका वर्णन अवश्य करते, जैसे छन्द-शास्त्र और प्राकृत भाषाओं का किया है : निष्कर्ष—उन के समय चार अलकार ही शास्त्र में स्वीकृत थे।
5. चार की संख्या से 35-36 अलकारों तक पहुँचने मे 200-300 वर्ष तो अपेक्षित ही हैं। यह काणे महोदय का अपना अनुमान है—जिसके पीछे हैं नये अलकारों की उद्भावना मे लगने वाला सम्भावित समय।

स्पष्ट है कि यहाँ 'वस्तु के अंश' को आधार मान कर काल-निर्णय में सहायता ली गई है।

इसी प्रकार 'वस्तु' का उपयोग काल-निर्धारण के लिए किया जा सकता है। पाणिनि के काल-निर्धारण में डॉ० अग्रवाल ने वस्तुगत सन्दर्भों से ही काल-निर्धारण किया है, उपनिषद्, श्लोक श्लोककार मस्करी नट सूत्र, शिशुक्रन्दीय, यमसभीय, इन्द्रजननीय, अन्तरयन देश, दिष्ट मति, निर्वाण, कुमारी श्रमणा चीवरयते, औत्तराधर्य, श्रविष्ठा यवनानी लिपि तथा अन्य भी पाणिनि के सूत्रो मे आने वाले शब्दो से काल-निर्धारण मे

1. Kane, P. V., Sahitya darpan—(Introduction), p. XI.

सहायता ली गई है। ये सभी वर्ण्य वस्तु के अंश हैं। ये सभी ग्रंथ मत साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, ज्योतिष आदि के उल्लेख हैं, अतः उनकी सहायता से इन शब्दों से काल-सन्दर्भ ढूँढा जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि काल-निर्धारण एक समस्या है, जिसे अंत.साक्ष्य के आधार पर अनेक विधियों से सुलझाने का प्रयत्न किया जा सकता है। पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को इस दिशा मे सहायक सिद्ध हो सकने के लिए विविध विषयगत काल-क्रमानुसार तालिकाएँ प्रस्तुत करनी चाहिये।

वैज्ञानिक प्रविधि

काल-निर्धारण विषयक हमारा क्षेत्र 'पांडुलिपि' का ही है, किन्तु जब पाडुलिपि भूमि-गर्भ में दबी मिले और सन्-सवत् या तिथि आदि के जानने का कोई साधन न हो तो कुछ अन्य वैज्ञानिक साधनो का उपयोग किया जा सकता है, किया जाता है जैसे— मोहनजोदड़ों से मिलने वाली सामग्री। इसके काल-निर्धारण के लिए एक प्रणाली तो पहले से प्रचलित थी, पृथ्वी पर जमे पर्तों के आधार पर :

"As the result of exacavations carried out at the statue of Ramses II, at Memphis in 1850, Horner ascertained that 1 feet 4 inches of mud accumulated since that monument had been erected, i e at the rate of 3½ inches in the century"

इसी प्रकार भूमि के मिट्टी के पर्त्तों के अनुसार जिस गहराई पर वस्तु मिली है, उसका आनुमानिक काल निर्धारित किया जा सकता है, प्राय किया भी जाता रहा है। यदि उस भूमि पर वृक्ष उगे हुए है तो वृक्षो के तने को काट कर देखने पर उसमे एक के ऊपर एक कितने ही पर्त दिखाई पडते है, उनके आधार पर उस वृक्ष का भी समय निर्धारित किया जा सकता है। भूमि और वृक्ष दोनो के पर्त्तो से उस वस्तु का काल प्राप्त हो सकता है। ये दोनों ही प्रणालियाँ वैज्ञानिक है। ज्योतिष की गणना की पद्धति भी वैज्ञानिक ही है। पर अभी हाल ही मे सयुक्त राज्य के प्रो० एम० सी० लिब्बी ने रेडियोऐक्टिव कार्बन से काल-निर्धारण की वैज्ञानिक विधि का उद्‌घाटन किया। टाटा इस्टीट्यूट ऑव फडामेण्टल रिसर्च नामक बम्बई स्थित सस्थान ने 1951 से 'रेडियो-कार्बन काल-निर्धारण विभाग' स्थापित कर रखा है, इसकी प्रयोगशाला मे 'कार्बन' रेडियोधर्मिता के आधार पर काल-निर्धारण की विशद पद्धति विकसित करली है। इससे वस्तुओं के काल-निर्धारण का कार्य सम्पन्न किया जाता है। इसके परिणामो मे 100 वर्षों का ही हेर-फेर रहता है, अन्यथा बहुत ही ठीक काल ज्ञात हो जाता है।

इस अध्याय मे हमने काल-निर्धारण सम्बन्धी समस्याओं, कठिनाइयो और उनके समाधान के प्रयत्नों का सक्षेप मे उल्लेख किया है—यह उल्लेख भी संकेतरूप मे ही है, केवल दिशा-निर्देशन के लिए। वस्तुत. व्यक्तियों की प्रतिभा अपनी समस्याओं और कठिनाइयो के समाधान के लिए अपना रास्ता स्वयं निकालती है।

कवि निर्धारण समस्या

कवि-निर्धारण की समस्या तो बहुत ही जटिल है। कितनी ही उलझनें उसमें आती हैं, कितने ही सूत्र गुंथे रहते हैं, वे सूत्र भी अनिश्चित प्रकृति वाले होते हैं।

इससे कभी-कभी जटिल समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। कभी-कभी यह जानना कठिन हो जाता है कि कृति का कवि कौन है।

इस समस्या के कई कारण हो सकते हैं :

1. कवि ने नाम ही न दिया हो जैसे ध्वन्यालोक मे।
2. कवि ने नाम ऐसा दिया हो कि वह सन्देहास्पद लगे।
3. कवि ने कुछ इस प्रकार अपने नाम दिये हो कि प्रतीत हो कि वे अलग-अलग कवि हैं—एक कवि नही—सूरदास, सूर, सूरज आदि या ममारिक और मुवारक या नारायणदास और नाभा।
4. कवि का नाम ऐसा हो कि उसके ऐतिहासिक अस्तित्व को सिद्ध न किया जा सके, यथा, चन्दवरदायी।
5. ग्रन्थ सम्मिलित कृतित्व हो, कही एक कवि का तो कही दूसरे का नाम दिया गया हो। जैसे—'प्रवीण सागर' का
6. ग्रन्थ अप्रामाणिक हो और कवि का जो नाम दिया गया हो, वह झूठा हो यथा-'मूल गुसाईं चरित', बाबा बेणीमाधवदास कृत।
7. कवि मे पूरक कृतित्व हो इससे यथार्थ के सम्बन्ध मे भ्रान्ति होती हो, जैसे—चतुर्भुज का मधुमालती और पूरक कृतित्व उसमे गोयम का।
8. विद्वानो मे किसी ग्रन्थ के कृतिकार कवि के सम्बन्ध मे परस्पर मतभेद हो।
9. ग्रन्थ के कई पक्ष हों, यथा—मूल ग्रन्थ, उसकी वृत्ति और उसकी टीका। हो सकता है मूल ग्रन्थ और वृत्ति का लेखक एक ही हो या अलग-अलग हों—जिससे भ्रम उत्पन्न होता हो। उदाहरणार्थ ध्वन्यालोक की कारिका एव वृत्ति।
10. लिपिकार को ही कवि समझ लेने का भ्रम, आदि। ऐसे ही और भी कुछ कारण दे सकते हैं।

एक उदाहरण ले—संस्कृत मे 'ध्वन्यालोक' के लेखक के सम्बन्ध मे समस्या खड़ी हुई। 'ध्वन्यालोक' का अलंकार-शास्त्र या साहित्य शास्त्र के इतिहास मे वही महत्त्व है जो पाणिनि की अष्टाध्यायी का भाषा-शास्त्र मे और वेदान्तसूत्र का वेदान्त मे। ध्वन्यालोक से ही साहित्य-शास्त्र का ध्वनि-सम्प्रदाय प्रभावित हुआ। ध्वन्यालोक के तीन भाग हैं : पहले में हैं 'कारिकाएँ', दूसरे मे हैं वृत्ति, यह गद्य मे कारिकाओ की व्याख्या करती है, तीसरा है उदाहरण।—इन उदाहरणों मे से अधिकांश पूर्वकालीन कवियों के हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये तीनो अश एक लेखक के लिखे हुए हैं या दो के। दो इसलिए कि वृत्ति और उदाहरण वाले अश तो नि.संदेह एक ही लेखक के है, अतः मुख्य प्रश्न यह है कि क्या कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति हैं? यह प्रश्न इसलिए जटिल हो जाता है कि 'ध्वन्यालोक' के 150 वर्ष बाद अभिनवगुप्त पादाचार्य ने इस पर लोचन नामक टीका लिखी और ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें उन्होने आनन्दवर्धन को वृत्तिकार माना है, कारिकाकार नही।

इस 'ध्वन्यालोक' की पुष्पिका मे इसका नाम 'सहृदयालोक' भी दिया गया है और काव्यालोक भी । 'सहृदयालोक' के आधार पर एक विद्वान[1] ने यह सुझाव दिया कि 'सहृदय' कवि का या लेखक का नाम है, इसी ने कारिकाएँ लिखीं । 'सहृदय' को कवि मानने मे प्रो० सोवानी ने लोचन के इन शब्दों का सहारा लिया है : 'सरस्वत्यास्तत्त्व कविसहृदयाख्य विजयतात् ।' यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ सहृदय का अर्थ सहृदय अर्थात् साहित्य का आलोचक या वह जो हृदय के गुणों से युक्त है, हो सकता है । 'कवि सहृदय' का अर्थ 'सहृदय' नाम का कवि नहीं वरन् कवि एवं सहृदय व्यक्ति है । 'सहृदय' के द्वयर्थक होने से किसी निर्णय पर निश्चयपूर्वक नहीं पहुँचा जा सकता ।

किन्तु सहृदय नामक व्यक्ति ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादक था इसका ज्ञान हमे 'अभिधावृत्ति-मातृका' नामक ग्रंथ से, मुकुल और उसके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज के उल्लेखों से विदित होता है । तो क्या 'कारिका' का लेखक 'सहृदय' था ।

राजशेखर के उल्लेखो से यह लगता है कि आनन्दवर्धन ही कारिकाकार है और वृत्तिकार भी—अर्थात् कारिका और वृत्ति के लेखक एक ही व्यक्ति है ।

उधर प्रतिहारेन्दुराज यह मानते हुए कि कारिकाकार 'सहृदय' है, आगे इगित करते हैं कि वृत्तिकार भी 'सहृदय' ही है ?

प्रतिहारेन्दुराज ने आनन्दवर्धन के एक पद्य को 'सहृदय' का बताया है । उधर 'वक्रोक्ति जीवितकार' ने आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार माना है । समस्या जटिल हो गई—क्या सहृदय कोई व्यक्ति है ? लगता है, यह व्यक्ति का नाम है । तब क्या यही कारिकाकार है और वृत्तिकार भी । या वृत्तिकार आनन्दवर्धन हैं, और क्या वे ही कारिकाकार भी है ? क्या कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति है या दो अलग-अलग व्यक्ति हैं ?

इस विवरण से यह विदित होता है कि समस्या खड़ी होने का कारण है ·

1 कवि ने ध्वन्यालोक में कही अपना नाम नहीं दिया ।

2. एक शब्द 'सहृदय' द्वयर्थक है–व्यक्ति या कवि का नाम भी हो सकता है और सामान्य अर्थ भी इससे मिलता है ।

3. किसी ने यह माना कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक है और वह सहृदय है, नहीं वह आनन्दवर्धन है, एक अन्य मत है ।

4 किसी ने माना कारिकाकार भिन्न है और वृत्तिकार भिन्न है ।

इन सबका उल्लेख करते हुए और खण्डन-मण्डन करते हुए काणे महोदय ने निष्कर्षतः लिखा है कि :

"At present I feel inclined to hold (though with hesitation) that the लोचन is right and that प्रतीहारेन्दुराज, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र and others had not the correct tradition before them It seems that सहृदय was eithers the name or title of the कारिकाकार and that आनन्दवर्धन was his pupil and was very closely associated with him. This would serve to explain the confusion of authorship that arose within a short time. Faint indications of this relationship may be traced in the ध्वन्यालोक. The word "सहृदय मनः

1. Kane, P. V.—Sahityadarpan (Introduction), p. LX.

प्रीतये' in the first कारिका is explained in the वृत्ति as 'रामायणमहाभारत प्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्ध व्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते'. It will be noticed that the word प्रीति is purposely rendered by the double meaning word आनन्द (pleasure and the author आनन्द). The whole sentence may have two meanings 'may pleasure find room in the heart of the men of taste etc.' and 'may आनन्द (the author) secure regard in the heart of the (respected) सहृदय who defined (the nature of ध्वनि) to be found in the रामायण &c.' Similary the words सहृदयोदयलाभ हेतो: in the last verse of the वृत्ति may be explained as 'for the sake of the benefit viz. the appearance of man of correct literary taste' or 'for the sake of securing the rise (of the fame) of सहृदय (the author).[1]

काणे महोदय के उक्त अवतरण से स्पष्ट है कि विविध साक्ष्यों, प्रमाणों से उन्हें यही समीचीन प्रतीत हुआ कि 'सहृदय' और 'आनन्दवर्धन' को अलग-अलग मानें, सहृदय और आनन्द मे गुरु-शिष्य जैसा निकट-सम्बन्ध परिकल्पित करें, और 'सहृदय' एवं 'प्रीति' जैसे शब्दो को श्लेष मानकर एक अर्थ को 'सहृदय' नाम के व्यक्ति तथा दूसरे को 'आनन्द' नाम के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त माने। कवि ने 'सहृदय' को ध्वनिकार का नाम नहीं माना, 'उपाधि' माना है, क्योंकि 'ध्वनि' मे 'सहृदय' शब्द का बहुल प्रयोग हुआ है, इसलिए उन्हे यह उपाधि दी गई। उपाधि दी गई या 'सहृदय' उपाधि है इसका कोई अन्य बाह्य या अन्तरंग प्रमाण नही मिलता।

जो भी हो, इस उदाहरण से कवि-निर्धारण विषयक समस्या और समाधान की प्रक्रिया का कुछ ज्ञान हमे होता है।

कभी दो कवियों के नाम-साम्य के कारण यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अमुक कृति किस कवि की है।

'काल-निर्धारण' के सम्बन्ध मे 'बीसलदेव रासो' का उल्लेख हो चुका है। कुछ विद्वानों ने यह स्थापना की कि बीसलदेव रासो का रचयिता 'नरपति' वही 'नरपति' है जो गुजरात का एक कवि है जिसने स० 1548 ई० तथा 1503 ई० में दो अन्य ग्रन्थों की रचना की। इन विद्वानों ने दोनों को एक मानने के लिए दो आधार लिये—

1—भाषा का आधार, और

2—कुछ पक्तियों का साम्य

इस स्थापना को अन्य विद्वानों ने स्वीकार नही किया। उनके आधार ये रहे—

1—नाम— गुजराती नरपति ने कहीं भी 'नाल्ह' शब्द अपने नाम के साथ नही जोड़ा, जैसा कि बीसलदेव रासो के कवि ने किया है।

2—भाषा— भाषा 'बीसलदेव' रास की 16 वीं शती की नहीं, 14 वीं शती की है।

1. Kane, P. V. -- Sahityadarpan (Introduction), p. LXIV.

3—साम्य- (क) कुछ पंक्तियों में ऐसा साम्य है जो उस युग के कितने ही कवियों में मिल सकता है ।

(ख) जो सात पंक्तियाँ तुलनार्थ दी गई हैं, उनमें से चार वस्तुतः प्रक्षिप्त अंश की हैं, शेष तीन का साम्य बहुत साधारण है, जिसे यथार्थ में आधार नहीं बनाया जा सकता ।

4-विषय-भेद-गुजराती नरपति की दोनों रचनाएँ जैन धर्म सम्बन्धी हैं । ये जैन थे, अतः वस्तु की प्रकृति और कवि के विश्वास-क्षेत्र मे स्पष्ट अंतर होने से दोनों एक नहीं हो सकते ।

यह विवाद यह स्पष्ट करता है कि एक नाम के कई कवि हो सकते हैं और उससे कौनसी रचना किस कवि की है, यह निर्धारण करना कठिन हो जाता है । नाम साम्य के कारण कई भ्रान्तियाँ खडी हो सकती हैं , यथा-एक 'भूषण' विषयक समस्या को उदाहरणार्थ ले सकते है . 'भूषण' कवि का नाम नहीं उपाधि हैं । अतः खोजकर्त्ताओं ने 'भूषण' का असली नाम क्या था, इस पर अटकलें भी लगायी । जब एक विद्वान को 'मुरलीधर कवि भूषण' की कृतियाँ मिलीं तो उन्हे बहुत प्रसन्नता हुई और उन्होंने घोषित किया कि 'भूषण' का मूल नाम 'मुरलीधर' था । इस प्रकार यह भ्रम प्रस्तुत हुआ कि 'भूषण' और 'मुरलीधर कवि भूषण' दोनो एक हैं । तब अन्तरंग और बाह्य साक्ष्य से यह निष्कर्ष निकाला गया कि दोनों कवि भिन्न हैं । क्यों भिन्न है, उसके कारण तुलनापूर्वक निम्नलिखित बताये गये है :

महाकवि भूषण	मुरलीधर कवि भूषण
1. इनके पिता का नाम रत्नाकर है ।	1. इनके पिता का नाम रामेश्वर है ।
2. इनका स्थान त्रिविक्रमपुर (तिकवांपुर) है तथा गुरु का नाम धरनीधर था ।	2 इन्होने स्थान का नाम नही दिया ।
3. इनके आश्रयदाता हृदयराम सुत रुद्र ने इन्हें 'भूषण' की उपाधि दी । "कुल सुलक चित्रकूट पति साहस शील समुद्र । कवि भूषण पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र ।" (शिवराज भूषण)।	3. इनके आश्रयदाता देवी सिंह देव ने इन्हे 'कवि भूषण' की उपाधि दी ।
4 इनके एक आश्रयदाता शिवाजी थे ।	4. इनके एक आश्रयदाता हृदयशाह गढ़ाधिपति थे ।
5. इन्होने केवल अलकार ग्रन्थ लिखा जिसका वर्ण्य इतना अलकार नही जितना शिवराज का यशवर्णन था ।	5 इन्होंने रस, अलंकार और पिंगल तीनो पर रचना की । पिंगल को इन्होंने कृष्ण-चरित्र बना दिया है ।
6 इनका रचना-काल 1730 के लगभग है ।	6. इनका रचना-काल 1700-1723 हैं।
7. इनकी भनिता है 'भूषण भनत' और अधिकाश इन्होने इसी रूप मे या केवल भूषण नाम से छाप दी है ।	7. इन्होंने 'कविभूषण' छाप बहुधा दी हैं । कभी-कभी केवल 'भूषण' छाप भी है, 'भनत' शब्द का प्रयोग संभवतः नही किया ।
8. इन्होने अपने ग्रन्थो को 'भूषण' नाम दिया ।	8. इन्होंने अपने समस्त ग्रन्थो को 'प्रकाश' नाम दिया।

महाकवि भूषण	मुरलीधर कवि भूषण
9. इनकी प्राप्त सभी रचना वीररस की है।	9. इनकी रचना मे श्रृंगार और कृष्ण-चरित का प्राधान्य है।
10. रचना के अध्याय के अन्त की कथा या ग्रन्थ के अंत की पुष्पिका बहुत सामान्य हैं, अतः 'कविभूषण' की पद्धति से बिल्कुल भिन्न है।	10 इनकी पुष्पिकाओ मे आश्रयदाता का विशद वर्णन तथा अपने पूरे नाम मुरलीधर कवि भूषण के साथ पिता के नाम का भी उल्लेख है।
11 ये शिवाजी के भक्त थे, शिवाजी को अवतार मानने वाले।	11. ये कृष्ण-भक्त थे।[1]

कोई-कोई कृति किसी कवि विशेष के नाम से रची गई होती है पर उस कवि का ऐतिहासिक अस्तित्व कही न मिलने पर यह कह दिया जाता है कि यह नाम ही बनावटी है। पृथ्वीराज रासो को अप्रामाणिक, 16वी–17वी शती का और प्रक्षिप्त मानने के लिए जब विद्वान चल पड़े तो, यह भी किसी ने कह दिया कि इतिहास से किसी ऐसे चन्द का पता नही चलता जो पृथ्वीराज जैसे सम्राट का लंगोटिया यार रहा हो और पृथ्वीराज पर ऐसा प्रभाव रखता हो, जैसा रासो से विदित होता है और जो सिद्ध कवि है। अतः यह नाम मात्र किसी चतुर की कल्पना का ही फल है, किन्तु एक जैन ग्रंथ मे चन्दबरदायी के कुछ छन्द मिल गये तो मुनि जिनविजय जी ने यह मिथ्या धारणा खण्डित कर दी। तो अब चन्दबरदायी का अस्तित्व तो बाह्य साक्ष्य से सिद्ध हो गया। रासो फिर भी खटाई मे पड़ा हुआ है।

इसी प्रकार की समस्या तब खड़ी होती है जब एक कवि के कई नाम मिलते हैं—जैसे महाकवि सूरदास के सूरसागर के पदो मे 'सूरदास' 'सूरश्याम', 'सूरज', 'सूरस्वामी' आदि कई छापे मिलती हैं। क्या ये छापे एक ही कवि की है, या अलग-अलग छाप वाले पद अलग-अलग कवियो के हैं। यद्यपि आज विद्वान प्रायः यही मानते हैं कि ये सभी छापे 'सूरदास' की हैं, फिर भी, यह समस्या तो है ही और इन्हे एक कवि की ही छापें मानने के लिये प्रमाण और तर्क तो देने ही पड़ते हैं।

'नलदमन' नामक एक काव्य को भी सूरदास का लिखा बहुत समय तक माना गया, किन्तु बाद में जब यह ग्रन्थ प्राप्त हो गया तब विदित हुआ कि इसके लेखक सूरदास सूफी है, और महाकवि सूरदास से कुछ शताब्दी बाद मे हुए। अब यह ग्रन्थ क० मुं० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा से प्रकाशित भी हो गया है।

अत. हमने देखा कि कितने ही प्रकार से 'कवि' कौन है या कौनसा है की समस्या भी पांडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिये महत्त्वपूर्ण है।

एक और प्रकार से यह समस्या सामने आती है : कवि राज्याश्रय मे या किसी अन्य व्यक्ति के आश्रय में है। ग्रन्थरचना कवि स्वय करता है, पर उस कृति पर नाम-छाप अपने आश्रयदाता की देता है। इसके कारण यह निर्धारण करना आवश्यक हो जाता है कि वस्तुतः उसका रचनाकार कौन है?

उदाहरण के लिये 'श्रृंगारमंजरी' ग्रन्थ है, कुछ लोग इसे 'चिन्तामणि' कवि की रचना मानते हैं, कुछ उनके आश्रयदाता 'बड़े साहिब' अकबर साहि की। इस सम्बन्ध में

1. शर्मेन्द्र (डॉ.)—ब्रज साहित्य का इतिहास, पृ० 366।

ब्रज साहित्य के इतिहास से ये पंक्तियाँ उद्धृत करना समीचीन प्रतीत होता है।[1]

"कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि यह शृंगारमंजरी बड़े साहिब अकबर साहि की लिखी हुई है, क्योंकि पुस्तक के बीच-बीच में बड़े साहिब का उल्लेख है, परन्तु ध्यान से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह ग्रन्थ चिन्तामणि ने बड़े साहिब अकबर साहि के लिये लिखा। इसके अन्त का उदाहरण है :

'इति श्रीमान् महाराजधिराज मुकुटतटघटित मनि प्रभाराजिनी राजित चरणराजीव-साहिराज गुरुराज तनुज बड़े साहिब के अकबर साहि विरचिता शृंगार मंजरी समाप्ता।"

निश्चय है कि लेखक स्वयं अपने लिए इस प्रकार से विशेषण नहीं लिख सकता था। ये विशेषण बड़े साहिब के लिए 'चिन्तामणि' ने ही प्रयुक्त किये होंगे। 'शृंगार मंजरी' के प्रारम्भिक छंदों में 'चिन्तामणि' का नाम भी आया है, यथा :

> मोहत है मन्तन विबुधन सौ मंडित कहे कवि चिन्तामनि सब सिद्धिन को घरु।
> पूरन कै लाख अभिलाष सब लोगनि के जाके पंचमास्य सदा लागत कनक झरु।।
> सुन्दर सरूप सदा सुमन मनोहर है जाके दरसन जग नैननि को तापहरु ।।
> पीर पातसाहि साहिराज रत्नाकर ते प्रकटित भये हैं बड़े साहिब कल्पतरु।

इन्हीं बड़े साहिब को 'शृंगार मंजरी' के रचयिता के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए चिन्तामणि ने लिखा है—

> "गुरुपद कमल भगति मोद मगन ह्वै सुवरन जुगल जवाहिर रचत है"
> "निज मत ऐसी"
> "भाँति थापित करत जाते औरनि के मत लघु लागत लचत है"।
> "सकल प्रवीन ग्रन्थ लपनि विचारि कहे चिन्तामणि रस के समूहन सचत है"।
> "साहिराज नन्द बड़े साहिब रसिकराज'शृगार मजरी' ग्रन्थ रुचिर रचत है"।

इससे प्रकट होता है कि यह ग्रन्थ बड़े साहिब के लिये उनके नाम पर चिन्तामणि ने ही लिखा। अपने आश्रयदाता के नाम से ग्रन्थ प्रारम्भ और समाप्त करने की परिपाटी उस समय प्रचलित थी। डॉ॰ नगेन्द्र की मान्यता है कि "यह ग्रन्थ बड़े साहिब ने मूलत आंध्र की भाषा में रचा, फिर संस्कृत में अनूदित हुआ। उसकी छाया पर चिन्तामणि ने रचा।" यह भी सम्भव है।

ऐसे ही यह प्रश्न उठा है कि 'ममारिख' और 'मुबारक' छाप वाले कवि दो हैं या एक ही हैं'। एक ही पद्य में एक सग्रह में 'मुमारिख' का प्रयोग हुआ है और दूसरे संग्रह में एक छाप है 'मुबारक' तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दोनों नाम एक ही के हैं। 'मुबारक' ही उच्चारण-भेद से 'मुमारख', या 'ममारिख' हो गया है, किन्तु उक्त प्रमाण अपने आपमें प्रबल नहीं है। कुछ और भी प्रमाण ढूंढने होंगे कि तर्क अकाट्य हो जाय। पूरक कृतित्व में भी कवि विषयक भ्रान्ति हो सकती है।

चतुर्भुजदास कृत 'मधुमालती' में दो पूरक कृतित्व हुऐ हैं : 1--माधव नाम के कवि द्वारा, 2--गोयम (गौतम) कवि द्वारा।

पूरक कृतित्व में किसी पूर्व के या प्राचीन ग्रन्थ में किसी कवि को कोई कमी दिखाई

1. सत्येन्द्र, (डॉ॰) ब्रज साहित्य का इतिहास, पृ॰ 249

पड़ती है तो वह उसकी पूर्ति करने के लिये अपनी ओर से कुछ प्रसंग बढ़ा देता है, और इसका उल्लेख भी वह कहीं या पुष्पिका में कर देता है। गोयम कवि ने उस प्रसंग का उल्लेख कर दिया है, जो उसने जोड़े है, अतः उसके कृतित्व को 'चतुर्भुजदास' के कतित्व से अलग किया जा सकता है, और यह निर्देश किया जा सकता है कि किस अंश का कवि कौन है।

पर 'प्रक्षेपों' के सम्बन्ध मे यह बताना सम्भव नहीं। प्रक्षेप वे अंश होते हैं जो कोई अन्य कृतिकार किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ में किसी प्रयोजन से बढ़ा देता है और अपना नाम नहीं देता। आज पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रक्रिया से प्रक्षेपो को अलग तो किया जा सकता है, पर यह बताना असम्भव ही लगता है वह अंश किस कवि ने जोड़े हैं।

कभी-कभी एक और प्रकार से कवि-निर्धारण सम्बन्धी समस्या उठ खड़ी होती है। वह स्थिति यह है कि रचनाकार का नाम तो मिलता नहीं पर लिपिकार ने अपना नाम आदि पुष्पिका में विस्तार से दिया है। कभी-कभी लिपिकार को ही कृतिकार समझने का भ्रम हो जाता है, अतः लिपिकार कौन है और कृतिकार कौन है, इस सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए ग्रन्थ की सभी पुष्पिकाओं को बहुत ध्यानपूर्वक देखना होगा तथा अन्य प्रमाणों की भी सहायता लेनी होगी।

कभी मूल पाठ मे आये कवि नाम का अर्थ संदिग्ध रहता है। यद्यपि एक परम्परा उसका ऐसा अर्थ स्वीकार कर लेती है, जो शब्द से सिद्ध नही होता, यथा-'सन्देश रासक' मे कवि का नाम 'अद्दहमाण' दिया हुआ है, 'सन्देशरासक' की दो सस्कृत टीकाओ मे अद्दहमान का 'अब्दुलरहमान' मूल रूप स्वीकार किया है। उनके पास कवि को 'अब्दुल-रहमान' मानने का क्या आधार था, यह विदित नही। शब्द स्वयं इस नाम को संकेतित करने मे भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ असमर्थ है। अब्दुल का 'अद्' और रहमान का 'हमाण' कैसे हुआ होगा। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी को यह टिप्पणी देनी पड़ी है—'किन्तु यहाँ भी कवि ने शब्द गठन में कुछ स्वतन्त्रता का परिचय दिया है। अब्दुल रहमान में रहमान मुख्य पद है। इसमें से आरम्भ के अक्षर को छोड़ना उचित नही था।' डॉ० द्विवेदी ने यह टिप्पणी यही मान कर की है कि संस्कृत टीकाकारो ने जो नाम सुझाया है 'अब्दुल रहमान' वह ठीक है। कवि अपने नाम के साथ भी श्लेष के मोह से खिलवाड़ कर सकता है और उसको कोई विकृत रूप दे सकता है, यह कुछ अधिक जचने वाली बात नहीं लगती। हो सकता है 'अद्दहमाण' 'अब्दुलरहमान' न होकर कुछ और नाम हो। समस्या तो यह है ही। कुछ ने इसे समस्या ही माना है, पर क्योंकि कोई और उपयुक्त समाधान सप्रमाण नही है, अतः लकीर पीटी जा रही है?

तो पाठ का रूप ही ऐसा हो सकता है कि या तो कवि का नाम ठीक प्रकार से निकाला ही न जा सके, या जो निकाला जाय वह पूर्णतः सतोषप्रद न हो तो आगे अनुसंधान की अपेक्षा रहती है।

इसी प्रकार किसी काव्य की कवि ने स्पष्ट रूप से कोई पुष्पिका न दी हो, जिसमे कवि-परिचय हो या कवि का नाम ही हो, तो भी कवि का नाम उसकी छाप से जाना जा सकता है, पर ऐसी भी कृतियाँ हो सकती है, जिनमें कुछ शब्द इस रूप में प्रयुक्त हुए हो कि वे नाम-छाप से लगें; उदाहरणार्थ 'बसन्त विलास' में कवि ने आरम्भ किया है कि मै

पहले सरस्वती की अर्चना करता हूँ फिर 'बसन्त विलास' की रचना करता हूँ, पर कहीं अपना नाम या अपनी नाम-छाप नहीं दी। किन्तु दो शब्द कुछ इस रूप में प्रयुक्त हुए हैं कि उन्हें नाम-छाप भी मान लिया जा सकता है। एक है 'त्रिभुवन', दूसरा 'गुणवन्त'। डॉ॰ गुप्त द्वारा सम्पादित ग्रन्थ में सख्या 3 के छंद मे—

बसन्त तणा गुण महमह्या सवि सहकार।
त्रिभुवनि जय जयकार पिकारव करइं अपार ।।[1]

छंद—17

बनि बिलसई श्रीग्र नन्दनु चन्दन चन्द चु मीत।
रति अनइ प्रीतिसिउं सोहए मोहए त्रिभुवन चीतु ।।[2]

इन दोनों छंदों मे 'त्रिभुवन' कवि की नाम-छाप जैसा लगता है, क्योंकि इसकी यहाँ अन्य सार्थकता विशेष नही। 'त्रिभुवन' शब्द यहाँ भी न हो तो भी अर्थ पूरा मिलता है। पहले में 'कोकिल जयजयकार' कर रहा है से अर्थ पूरा हो जाता है। त्रिभुवन या तीनों लोकों में जय-जयकार कर रहा है, से कोई विशेष अभिप्राय प्रकट नही होता। इसी प्रकार दूसरे छंद मे 'चित्त को मोहता' है से अर्थ पूर्ण है। 'त्रिभुवन' का 'चित्त मोहता' है मे 'त्रिभुवन' कवि छाप से सार्थकता रखता प्रतीत होता है, 'तीनो लोको का चित्त मोहित करता है' या मोहित होता है में कोई वैशिष्ट्य नही लगता।

इसी प्रकार अन्तिम 84वे छंद मे 'गुणवन्त' शब्द आया है :

इणि परि साह ति रीझवी सीझवी आणई ठांइ
धन-धन ते गुणवन्त बसन्त विलासु जे गाइ ।।[3]

इसमें अन्तिम पंक्ति का यह अर्थ अधिक सार्थक लगता है कि गुणवन्त नामक कवि कहता है कि वे धन्य हैं जो बसन्त विलास गायेंगे। इसका यह अर्थ करना कि 'वे गुणवन्त जो बसन्त विलास गायेंगे धन्य होगे' उतना समीचीन नही लगता क्योंकि 'गुणवन्त' शब्द के इस अर्थ मे कोई वैशिष्ट्य नही प्रतीत होता है। यदि यह बसन्त-विलास का अन्तिम छंद माना जाय, जैसा डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त ने माना है, तो काव्यान्त में गुणवन्त कवि की छाप हो, यह सम्भावना और बढ़ जाती है। यह प्रस्ताविक उक्ति (Hypothesis) ही है : क्योंकि—

1. किसी अन्य विद्वान ने इन्हे नाम-छाप के लिये स्वीकार नहीं किया। इसके रचनाकार कवि का नाम सोचने का प्रयास नही किया।
2. 'नाम' के अतिरिक्त जो इस शब्द का अर्थ होता है वह अर्थ उतना सार्थक भले ही न हो, पर अर्थ देता है ही।
3. ऊपर जो तर्क दिये गये हैं उनकी पुष्टि मे कुछ और ठोस तर्क तथा प्रमाण होने चाहिये। 'त्रिभुवन' या 'गुणवन्त' नाम के कवियों की विशेष खोज करनी होगी।

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ॰) बसंत विलास और उसकी भाषा, पृ॰ 19
2. वही पृ॰ 21
3. वही पृ॰ 29

इस प्रकार केवल काल-निर्णय के सम्बन्ध में ही समस्याएँ नहीं खड़ी होती 'कवि-निर्धारण' के सम्बन्ध में भी उठती हैं। इस समस्या के भी कितने ही पक्ष होते है। उनमे से कुछ पर हमने उदाहरणसहित कुछ प्रकाश डाला है। सभी उदाहरण इस क्षेत्र के कार्य-कर्त्ताओं और विद्वानों से ही लिये गये हैं।

पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को अपनी प्रतिभा से इस दिशा मे उपयोगी कार्य करना होगा, और उसको काल-निर्णय और कवि-निर्णय की समस्या के लिये और अधिक ठोस वैज्ञानिक आधार निर्मित करने होंगे। इस अध्याय में जितना इस समस्या पर उदाहरणार्थ कुछ ग्रन्थों के मंथन का सहारा लिया गया है, ठोस सिद्धान्तों तक पहुँचने के लिये उसे और भी अधिक ग्रन्थों का मंथन करना होगा।

अध्याय 8

शब्द और अर्थ की समस्या

पाण्डुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से अब तक जो चर्चाएँ हुई हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं, इसमे सन्देह नही। पर, ये सभी प्रयत्न पाण्डुलिपि की मूल-समस्या अथवा उसके मूल-रूप तक पहुँचने के लिए सोपानो की भाँति थे। पाण्डुलिपि का लेखन, लिप्यासन, लिपि, काल या कवि मात्र से सम्बन्ध नही, उसका मूल तो ग्रन्थ के शब्दार्थों मे है, अतः 'शब्द और अर्थ' पाण्डुलिपि मे यथार्थतः सबसे अधिक महत्त्व रखते है।

शब्द और अर्थ में शब्द भी एक सोपान ही हैं। यह सोपान ही हमें कृतकार के अर्थ तक पहुँचाता है। शब्द के कई प्रकार के भेद किये गये हैं।

शब्द भेद

एक भेद है : रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़। यह भेद शब्द के द्वारा अर्थ-प्रदान की प्रक्रिया को प्रकट करता है। ये प्रक्रियाएँ तीन प्रकार की हो सकती हैं.

रूढ़-शब्द का एक मूल रूप मानना होगा, यह मूल शब्द कुछ अर्थ रखता है, और उस शब्द के मूल रूप के साथ यह अर्थ 'रूढ़' हो गया है। सामान्यत इस शब्द-रूप से मिलने वाले रूढ़ अर्थ के सम्बन्ध मे कोई प्रश्न नही उठता कि 'घोडा' जो अर्थ देता है, क्यो देता है? 'घोडा शब्द-रूप का जो अर्थ हमे मिलता है, वह रूढ़ है क्योकि इन दोनो का अभिन्न सम्बन्ध न जाने कब से इसी प्रकार का रहा है, अत शब्द के साथ उसका अर्थ परम्परा या रूढि से सर्वमान्य हो गया है। इसी प्रकार 'विद्या' भी रूढ़ शब्द है और 'बल' भी वैसा ही किन्तु विद्याबल', 'विद्यार्थी', 'विद्यालय' आदि शब्दो के अर्थ मे प्रक्रिया कुछ भिन्न है। यहाँ रूढ शब्द तो है ही पर एक से अधिक ऐसे शब्द परस्पर मिल गये है, इनका योग हो गया है, अत ये यौगिक हो गये हैं। इनमे से प्रत्येक शब्द अपने रूढ़ अर्थ के साथ परस्पर मिला है, और ये परस्पर मिलकर यानी 'यौगिक' होकर अर्थाभिव्यक्ति को वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। 'विद्या-बल' से उस शक्ति का अर्थ हमे मिलता है जो विद्या मे अन्तर्निहित है, और विद्या मे से विद्या के द्वारा प्रकट हो रहा है।

तीसरी प्रक्रिया मे दो या अधिक शब्द परस्पर इस प्रकार का योग करते हैं कि उनके द्वारा जो अर्थ मिलता है, वह निर्मायक शब्दों के रूढ़ार्थों से भिन्न होता हुआ भी, रूप मे यौगिक उस शब्द को, एक अलग रूढ़ार्थ प्रदान करता है, यथा जलजे शब्द जल+ज (= उत्पन्न) दो शब्दो का 'यौगिक' है, यौगिक अर्थ मे जल से उत्पन्न सभी वस्तुएँ, मछली, सीप, मूगा, मोती, इससे सांकेतिक होंगी, किन्तु इसका अर्थ 'कमल' नाम का पुष्प विशेष होता है। उसका यह अर्थ इस शब्द के रूप के साथ रूढ़ हो गया है। जल+ज का अर्थ जल से उत्पन्न मोती, सीप, घोंघे, सेवार आदि सभी ग्राह्य हो तो शब्द यौगिक रहेगा पर केवल पुष्प विशेष से इसका अर्थ रूढ़ि ने बाँध दिया है, अतः इसे 'योगरूढ़' कहा जाता है।

शब्द के ये भेद अर्थ-प्रक्रिया को समझने में सहायक हो सकते हैं, पर ये भेद

पांडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए सीधे-सीधे उपयोगी नहीं हैं, और पांडुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से सीधे-सीधे ये भेद कोई समस्या नहीं उठाते। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों के लिए प्रत्येक भेद समस्याओं से युक्त है। 'शब्द' का रूप और उसके साथ अर्थ की रूढ़ता स्वयं एक समस्या है।

फिर व्याकरण की दृष्टि से संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि के भेद भी हमे यहाँ इष्ट नहीं, क्योंकि इनका क्षेत्र भाषा और उसका शास्त्र है।

शब्दों के भेद विविध शास्त्रों के अनुसार और आवश्यकता के अनुसार किये जाते हैं। यहाँ संक्षेप मे इन विविध भेदों की संकेत रूप मे एक तालिका दे देना उपयोगी होगा। ये इस प्रकार हैं :—

शास्त्र एवं विषय	शब्द-भेद
1. व्याकरण, रचना एव गठन	1. रूढ़, 2. यौगिक, (अत:केन्द्रित) एवं 3 योगरूढ़ (बहि:केन्द्रित)
2. व्याकरण : भाषा-विज्ञान बनावट	1. समास शब्द, 2. पुनरुक्त शब्द, 3. अनुकरण मूलक, 4. अनर्गल शब्द, 5. अनुवाद युग्म शब्द, 6. प्रतिध्वन्यात्मक शब्द।
3. व्याकरण+भाषा-विज्ञान : शब्द विकास	1. तत्सम, 2. अर्द्ध-तत्सम, 3. तद्भव, 4. देशज, 5. विदेशी।
4. व्याकरण . कोटिगत	(क) 1. नाम, 2. आख्यात, 3. उपसर्ग, 4. निपात।
कोटिगत (शब्दभेद)	(ख) 1. संज्ञा, 2. सर्वनाम, 3. विशेषण, 4. क्रिया, 5. क्रिया विश्लेषण, 6. समुच्चय बोधक, 7. सम्बन्ध सूचक, 8. विस्मयादि-बोधक।
5. प्रयोग सीमा के आधार पर (विशेषत: पारिभाषिक)	1. काव्य शास्त्रीय, 2. संगीतशास्त्रीय, 3. सौन्दर्यशास्त्रीय, 4. ज्योतिषशास्त्रीय आदि विषय सम्बन्धी।
6. अर्थ-विज्ञान	1. समानार्थी (पर्यायवाची), 2. एकार्थ-वाची, 3. नानार्थवाची (अनेकार्थी,)4. समान-रूपी भिन्नार्थवाची (श्लेषार्थी) आदि।
7. काव्य-शास्त्र	वाचक, लक्षक और व्यंजक

हमारा क्षेत्र है पांडुलिपि में आये या लिखे गये शब्द, जो लिखे गये वाक्य के अंश हैं, और जिनसे मिलकर ही विविध वाक्य बनते हैं, जिनकी एक वृहद् शृंखला ही ग्रन्थ बना देती है। ग्रन्थ रचना मे प्रयुक्त शब्दावली निश्चय ही सार्थक होती है। अर्थ-ग्रहण शब्द-रूप पर निर्भर करता है, जैसे-शब्द हो, 'मानुस हों तो' तो इनका अर्थ होगा कि 'यदि मैं मनुष्य

होऊँ' और यदि शब्द-रूप हो, मानु सहीं तो' तो अर्थ होगा कि' 'यदि मैं मान (रूठने को
1 2 3 4 5
सहन करूं तो' इससे स्पष्ट है कि अक्षरावली दोनों में बिल्कुल एक-सी है : 'मा नु स हों तो'।
केवल शब्द रूप खड़े करने से भिन्नता आई है। पहले पाठ मे 1, 2, 3 अक्षरों को एक शब्द माना गया है और '3' भी स्वतन्त्र शब्द है और 4 भी, दूसरे पाठ में शब्द-रूप बनाने में 1+2 को एक शब्द, 3+4 को दूसरा, 5 को स्वतन्त्र शब्द पूर्ववत्।

फलत. पहले पाठ मे जो शब्द-रूप बनाए गए, उनसे एक अर्थ मिला। उन्हीं अक्षरो से दूसरे पाठ मे अन्य शब्द-रूप खड़े किये गये जिससे उस अक्षरावली का अर्थ बदल गया।

इस उदाहरण से अत्यन्त स्पष्ट है कि अर्थ का आधार 'शब्द-रूप' है। 'शब्द-रूप' मे मूल आधार 'अक्षरयोग' है, ये अक्षर-योग हमे लिपिकार या लेखक द्वारा लिखे गये पृष्ठो से मिलते हैं।

पाण्डुलिपि मे शब्द-भेद हम निम्न प्रकार कर सकते हैं :

1. मिलित शब्द

इसमे शब्द अपना रूप अलग नही रखते। एक-दूसरे से मिलते हुए पूरी पंक्ति को एक ही शब्द बना देते हैं, ऐसा प्राय: पांडुलिपि-लेखन की प्राचीन प्रणाली के फलस्वरूप होता है, यथा "मानुसहोतोवहींसखा नवसोमिलिगोकुलगोपगुवारनि"

इसमें से शब्द-रूप खडे करना पाठक का काम रहता है और वह अपनी तरह से शब्द खड़े कर सकता है : यथा-मानु' सहों' तोव' हींर' सखान'........आदि शब्द होगें या 'मानुस' हो' तो' वही रसखान........आदि शब्द होगे। मिलित शब्दो से पाठक उन्हें अपने ढंग से 'भंग' करके मुक्त शब्दों का रूप दे सकता है और अपनी तरह से अर्थ निकाल सकता है।

2. विकृत शब्द

(अ) मात्रा विकृत
(ब) अक्षर विकृत
(स) विभक्त अक्षर विकृति युक्त
(द) युक्ताक्षर विकृति युक्त
(त) घसीटाक्षर विकृति युक्त
(थ) अलंकरण निर्भर विकृति युक्त

3. नव रूपाक्षरयुक्त शब्द
4. लुप्ताक्षरी शब्द
5. आगमाक्षरी
6. विपर्याक्षरी शब्द
7. संकेताक्षरी शब्द (Abbreviated Words)
8. विशिष्टार्थी शब्द (Technical Expression)[1]

1. Sircar, D. C. Indian Epigraphy P. 327.

9. संख्यावाचक शब्द
10. वर्तनीच्युत शब्द
11. प्रमाद् स्थानापन्न शब्द
12. अपरिचित शब्द

पांडुलिपि को दृष्टि मे रखकर हमने जो शब्द-भेद निर्धारित किये हैं वे ऊपर दिए गए हैं। किसी ग्रन्थ के अर्थ तक पहुँचने के लिए हमने शब्द को इकाई माना है। इनमें से बहुत-से शब्द विकृति के परिणाम हो सकते हैं। पाठालोचक इनका विचार अपनी तरह से करता है। उस पर पाठालोचन वाले अध्याय में लिखा जा चुका है। पर डॉ० चन्द्रभान रावत[1] ने इस विषय पर जो प्रकाश डाला है, उसे इन शब्द भेदो के अन्तरंग को समझने के लिए, यहाँ दे देना समीचीन प्रतीत होता है।

"मुद्रण-पूर्व-युग में पुस्तके हस्तलिखित होती थी। मूल प्रति की कालान्तर मे प्रतिलिपियाँ होती थीं। प्रतिलिपिकार आदर्श या मूल-पाठ की यथावत् प्रतिलिपि नहीं कर सकता। अनेक कारणों से प्रतिलिपि में कुछ पाठ सम्बन्धी विकृतियां आ जाना स्वाभाविक है। इन अशुद्धियों के स्तरो को चीरते हुए मूल आदर्श-पाठ तक पहुँचना ही पाठानुसन्धान का लक्ष्य होता है। विकृतियों की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है: उन समस्त पाठो को विकृत-पाठ की संज्ञा दी जायेगी जिनके मूल लेखक द्वारा लिखे होने की किसी प्रकार की सम्भावना नही की जा सकती और जो लेखक की भाषा, शैली और विचारधारा से पूर्णतया विपरीत पड़ते हैं।[2] इन अशुद्धियो के कारण ही पाठानुसन्धान की आवश्यकता होती है। इस प्रक्रिया के ये सोपान हो सकते हैं:

1. मूल लेखक की भाषा, शैली और विचारधारा से परिचय,
2. इस ज्ञान के प्रकाश में अशुद्धियों का आकलन,
3. इन सम्भावित अशुद्धियों का परीक्षण,
4. पाठ-निर्माण,
5. पाठ-सुधार तथा
6. आदर्श-पाठ की स्थापना

पाठ-विकृतियों के मूल कारणो का वर्गीकरण इस प्रकार दिया जा सकता है[3]:

(स्रोतगत : मूल पाठ विकृत हो।
(सामग्रीगत : पन्ने फटे हों, अक्षर अस्पष्ट हों।
1. बाह्य विकृतियाँ (क्रमगत : पन्नों का क्रमनियोजन दोषपूर्ण हो या छन्दक्रम
(दूषित हो।
(एक से अधिक स्रोत हों।

1. अनुसंधान—पृ० 269-271
2. वर्मा, विमलेश कान्ति-पाठ विकृतियाँ और पाठ सम्बन्धी निर्धारण में उनका महत्त्व—परिषद पत्रिका (वर्ष 3, अंक 4) पृ० 48
3. Encyclopaedia Britanica-Postgate Essay.

2. अंतरंग विकृतियाँ
(प्रतिलिपिकार की असावधानी ।
(प्रतिलिपिकार का भ्रम . प्रक्षेप, वर्णभ्रम, अङ्कभ्रम ।
(प्रतिलिपिकार का अपना आदर्श और सही करने की इच्छा ।

कुछ अशुद्धियाँ दृष्टि-प्रसाद के कारण हो सकती हैं और कुछ मनोवैज्ञानिक । दृष्टि-प्रसाद में पाठ्यह्रास, पाठ्यवृद्धि और पाठ-परिवर्तन आते हैं । मनोवैज्ञानिक में आदर्श के अनुसार मूल पाठ की अशुद्धियों को समझकर उनको सुधारने की प्रवृत्ति आती है । हाल ने इन पर एक और प्रकार से विचार किया है ।[1] इन्होंने पाठ विकृतियों के तीन भेद किये हैं : भ्रम तथा निवारण के उपाय, पाठ-ह्रास और पाठ-वृद्धि ।

भ्रम 13 प्रकार के माने गये हैं : समान-अक्षर सम्बन्धी भ्रम, सादृश्य के कारण शब्दों का गलत लिखा जाना, संकोचों की अशुद्ध व्याख्या, गलत एकीकरण, अथवा गलत पृथक्करण, शब्द-रूपों का सन्नीकरण और समीपवर्ती रचना को आश्रय देना, अक्षर या वाक्य-व्यत्यय, संस्कृत का प्राकृत में या प्राकृत का संस्कृत में गलत ढंग से प्रतिलिपित होना, उच्चारण-परिवर्तन के कारण अशुद्धि, अंक-भ्रम, व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भ्रम, अपरिचित शब्दों के स्थान पर परिचित शब्दों का प्रयोग, प्राचीन शब्दों के स्थान पर नवीन शब्दों का प्रयोग तथा प्रक्षेप अथवा अज्ञात भाव से की गई भूलों का सुधार ।

पाठ-ह्रास में शब्दों का लोप आता है । यह लोप साधारण भी हो सकता है और आदि-अन्त के साम्य के कारण भी हो सकता है । पाठवृद्धि में (1) परवर्ती अथवा पार्श्ववर्ती सन्दर्भ के कारण पुनरावृत्ति, (2) पंक्तियों के बीच अथवा हाशिये पर लिखे पाठ का समावेश, (3) मिश्रित पाठान्तर अथवा (4) सदृश लेख के प्रभाव के कारण वृद्धि ।

अनुसन्धान के इस क्षेत्र में डॉ० माताप्रसाद गुप्त का स्थान प्राधिकारिक है । उन्होंने विकृतियों के आठ प्रकार माने हैं (1) सचेष्ट पाठ विकृति, (2) लिपि-जनित, (3) भाषा-जनित, (4) छन्द-जनित, (5) प्रतिलिपि-जनित, (6) लेखन-सामग्री-जनित, (7) प्रक्षेप-जनित और (8) पाठान्तर-जनित ।[2] लिपिकार के द्वारा सचेष्ट पाठ-विकृति में अपने ज्ञान और तर्क से संशोधन करने की प्रवृत्ति ही है । अन्य सभी कथित प्रकार स्वयं स्पष्ट है । भाषा जनित भ्रमों में शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग, तद्भव शब्दों को संस्कार-शोध के उद्देश्य से तत्सम रूप देना और आवश्यकतानुसार भाषा को परिनिष्ठित बनाने का उद्योग करना आते हैं ।

ऊपर हमने जो शब्द भेद दिये हैं, उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि पांडुलिपि के सम्पर्क में आने पर अन्य बातों के साथ लिपि की समस्या हल हो जाने पर पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को पांडुलिपि की भाषा से परिचित होना होता है, और उसके लिए पहली 'इकाई' शब्द है, पांडुलिपि में शब्द हमें किन रूपों में मिल सकते हैं, उन्हीं को इन भेदों में प्रस्तुत किया गया है । ये शब्द-भेद पांडुलिपि को समझने के लिए आवश्यक हैं, अतः आवश्यक है कि इन भेदों को कुछ विस्तार से समझ लिया जाय ।

1. Hall, F. W. — Companion to Classical Text की लिपिभेद कारिका सम्बन्धी, परिषद् पत्रिका (वर्ष 3, अङ्क 4), पृ. 50 पर उद्धृत ।
2. अनुसन्धान की प्रक्रिया ।

मिलित शब्दों के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से आरम्भ में ही दिया गया है। मिलित शब्दों में पहली समस्या शब्द के यथार्थ रूप को निर्दिष्ट करना है अर्थात् ऊपर दिये गये उदाहरण में यह निर्दिष्ट करना होगा कि 'मानु सहों' या 'मानुस हों' में से कवि को अभिप्रेत शब्दावली कौनसी हो सकती है। इसके लिए पूरे चरण को ही नहीं, पूरे पद को शब्दों में स्थापित करना होगा, और तब पूरे सन्दर्भ में शब्द-रूप का निर्धारण करना होगा।

इस प्रक्रिया में भग-पद और अभंग पद-श्लेष को भी दृष्टि में रखना होगा।

मिलित शब्दावली में से ठीक शब्दरूपों को न पकड़ने के कारण अर्थ में कठिनाई पड़ेगी ही। यहाँ इसके कुछ उदाहरण और देना समीचीन होगा। 'नवीन' कवि कृत 'प्रबोध सुधासर' के छन्द 901 के एक चरण मे 'शब्द-रूप' यों ग्रहण किये गये है : 'तू तौ पूजें आँख तले वह तौ नखत ले' 'शब्द-रूप देने वाले को पूरे सन्दर्भ का ध्यान न रहा। मिलित शब्दावली से ये शब्द-रूप यो ग्रहण किये जाने चाहिये थे' 'तू तौ पूजें आखत ले' आदि। आंख तले से अर्थ नहीं मिलता। आखत=अक्षत=चावल से अर्थ ठीक बनता है।

साथ ही, किसी शब्द का रूप भौतिक कारणों से क्षत-विक्षत हुआ है तो उसकी पूर्ति करनी होती है। शिला पर होने से कोई चिप्पट उखड़ जाने से अथवा किसी स्थल के घिस जाने से' कागज फट जाने से, दीमक द्वारा खा लिये जाने से अथवा अन्य किसी कारण से शब्द-रूप क्षत-विक्षत हो सकता है। इस स्थिति मे पूरे पाठ की परिकल्पना कर शब्द के क्षतांश की पूर्ति करनी होगी। ऐसे प्रस्तावित या अनुमानित शब्दाश को कोष्ठकों में ( ) रख दिया जाता है : उदाहरण के लिए 'राउलवेल' की पंक्तियाँ दी जा सकती हैं :

पहली पंक्ति

(1) .... नमः सिध (2) ....

रोडे राउल वेल बखाणा

जइ (3) .... इ आयणु ज (4) ....

जा जेम्ब जाणइ सो तेम्ब बखाणइ।

हासे तो से राजइ राणइ

..........(5) ....(6) ....(7)

दूसरी पंक्ति

आ (8) उ माव इ

इतने से अंश मे अर्थात् पहली पंक्ति और दूसरी पंक्ति के आरम्भ मे 8 स्थल ऐसे हैं जो क्षत है। अब पाठ-निर्माण की दृष्टि से (1) पर (ऊं) की कल्पना की जा सकती है। (2) के स्थान पर (म्यः।।) रखा जा सकता है। संख्या 3 के क्षत स्थान की पूर्ति में कल्पना सहायक नही हो पाती हैं, अतः इसे बिन्दु........लगाकर ही छोड़ दिया जायेगा। 4 के खाली स्थान पर ज के साथ (णी) ठीक बैठता है। 5 का अंश पूरे उपवाक्य का होगा, इसी प्रकार सख्या 6 का भी इसकी पूर्ति के लिए। शब्दों तक भी कल्पना से नही

पहुँचा जा सकता, अतः इन्हे बिन्दुओं से रिक्त ही दिखाना होगा। 6 संख्या पर छन्द समाप्ति की (1) हो सकती हैं। 7 वें पर (ल) ठीक रहेगा, किन्तु ऐसे पाठोद्धार मे जो शब्द अक्षत उपलब्ध हैं अर्थ तक पहुँचने के लिए उनमें भी किसी संशोधन का सुझाव देना आवश्यक हो सकता है जिससे कि वाक्य का रूप व्याकरणिक की दृष्टि से ठीक अर्थ देने में सक्षम हो जाय। ऐसे सुझावों को छोटे कोष्ठको ( ) में रखा जा सकता है।

दूसरे प्रकार के शब्दों को विकृत शब्द कह सकते है। विकारों के कारणो को दृष्टि में रखकर 'विकृत शब्दों' के 6 भेद किये गये है :

पहला विकार मात्रा-विषयक हो सकता है, जो विकार मात्रा की दृष्टि से आज हमे सामान्य लेखन मे मिलता है, वह इन पाडुलिपियों मे भी मिल जाता है। हम देखते हैं कि बहुत से व्यक्ति 'रात्रि' को 'रात्री' लिख देते हैं। किसी-किसी क्षेत्र विशेष मे तो यह एक प्रवृत्ति ही हो गई है कि लघु मात्रा के लिए दीर्घ और दीर्घ के लिए लघु लिखी जाती है। अभाद् किसी अन्य मात्रा के लिए अन्य मात्रा लिख दी जा सकती है। इसका एक उदाहरण डॉ० माहेश्वरी ने यह दिया है :

139 धीरं > धोरं। ई > ओ

(अ) यहाँ लिपिक ने 'ी' की मात्रा को कुछ इस रूप मे लिखा कि वह 'ओ' पढ़ी गयी।[1] इसी प्रकार 'ओ' की मात्रा को ऐसे लिखा जा सकता है कि वह 'ई' पढ़ी जाय। 1846 में मनरूप द्वारा लिखित मोहन विजय-कृत 'चन्द-चरित्र' के प्रथम पृष्ठ की 13 वीं पंक्ति मे दांयी ओर से सातवें अक्षर से पूर्व का शब्द 'अनुप' मे मात्रा विकृति है, यह यथार्थ मे 'अनूप' है। इसी के पृ० 3 पर ऊपर से सातवीं पंक्ति मे 16 वे अक्षर से पूर्व शब्द लिखा है, 'अगुढ़' जो मात्रा-विकृति का ही उदाहरण है। इसकी पुष्टि दूसरे चरण की तुक के शब्द 'दिगमूढ' से हो जाती है। 'दिगमूढ' मे लिपिक ने दीर्घ 'ऊ' की मात्रा ठीक लगाई है। 'मात्रा-विकृति' के रूप कई कारणो से बनते है 1—मात्रा लगाना ही भूल गये। यथा डॉ० माता प्रसाद गुप्त को 'सन्देश रासक' के 24 मे छन्द मे द्वितीय चरण मे 'णिहुई' शब्द मिला है, डॉ. गुप्त मानते है कि यहाँ 'आ' मात्रा भूल से छूट गई है। शब्द होगा 'णिहाई'। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने बताया है कि 'उ' बाद मे 'उ' तथा 'ओ' दोनो ध्वनियो के लिए प्रयुक्त होने लगा था। यथा—सन्देश रासक छद 72 ओसहे > उसहे। 2–यह विकृति दो मात्राओं मे अभेद स्थापित हो जाने से हुई हैं। ऐसे ही 'दिव' का 'दय'। 3–यह अनवधानता से हुआ है। 4–'स्मृति-भ्रम' से भी विकृति होती है, जैसे —'फरिसउ' लिखा गया 'फरुसउ' के लिए। 5वां कारण वह अनवधानता है जिसमे मात्रा कही की कहीं लग जाती है। यह 'मात्रा-व्यत्यय' इस शब्द मे देखा जा सकता है—'बिसु ठल्यं लिखा मिला है 'विस ठुलय' के लिए।[2]

(आ) अक्षर-विकृत शब्द उन्हे कहेगे जिनमे 'अक्षर' ऐसे लिखे गये हों कि उन्हें कुछ का कुछ पढ़ लिया जाय। डॉ० माहेश्वरी ने ऐसे अक्षरों की एक सूची प्रस्तुत की है,

1. 'सन्देश रासक' मे 100वें छन्द मे दूसरे चरण में 'पाडिल्लो' शब्द मिला है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त का मत है कि यह 'पडिल्ली' होगा यहाँ 'ई' का मात्रा-लेखन या पाठ प्रमाद से 'ओ' की मात्रा हो गयी। (भारतीय साहित्य—जनवरी, 1960, पृ० 103)। इससे भी डॉ० माहेश्वरी के उदाहरण की पुष्टि होती है। ऐसी मात्रा विकृति का कारण 'स्मृति-भ्रम' भी हो सकता है।
2. भारतीय साहित्य (जनवरी 1960), पृ० 101, 104, 108।

भ्रामक अक्षर रूप

ठ	ढ	ब	ऊ	ऊ	ब
ठ	छ	ब	ड	ऋ	ष

ए	ऋ	ध्य	य=ध्र
ए	क्र	ध्य	पंक्ति 403 में

य > थ । थ > य
माय > माथ
ऋ = ऊ । ऊ = ऋ
ऋगी = ऊगी
ध > ब । (ब = ध)
ड = क । ऊ = ड (ऊ ड)
डावड़ा > कावड़ा
ष > ब । (ब = ष)
लाष > लाब
रा > ए । ए > रा । (रा = ए)
क्र > त्रु । (क्र = क्र ; 'ा' 'उ'
ख > च
हेखो > हेचो
ध्य = थ । (थ = ध्य)
चध्यो > चयो
सांध्या > साया
ध्य > स । (स्य = ध्य)
पध्य > पस

यह 'उ' की मात्रा भी हो सकती है। बंगाली लिपि का प्रभाव है।

(इ) विभक्त अक्षर=विकृत शब्द, यथा—'ऊर्ध्व' को विभक्त करके 'ऊरध' लिखना इसी कोटि मे आयेगा। 'ऊरध' 'तद्भव' माना जायेगा और पाडुलिपि की दृष्टि से यहाँ विभक्त-अक्षर है। 'ऊर्ध्व' का 'ऊर्ध' फिर 'ऊरध'। इसमें 'र' को 'ध' से विभक्त करके लिखा गया है। 'आत्म' को 'चन्द-चरित्र' में 'आतम' लिखा गया है। 'परिसह थी आतम गुण पुष्टी सुगतिनी प्राप्ति विचारं है'

(पन्ना 82 चन्दचरित्र का हस्तलेख)

ऐसे ही अध्यात्म को 'अध्यातम' लिखा गया है।

'लुबधो' मिलेगा, लुब्धो के लिए। 'चन्दचरित्र' (पन्ना 79 पूर्व)

—— (ई) युक्ताक्षर-विकृति-युक्त शब्द—शब्द परस्पर विभक्त न होकर युक्त हों और तब उनमें से किसी में भी यदि कोई विकार आ जाता है तो वे ऐसे ही वर्ग में आयेंगे, यथा— 'कीर्तिलता' द्वितीय पल्लव छं० 7 मे 'महाजन्हि' का एक पाठ 'महजन्हि' मिलता है। यह विकृति हमारे इसी वर्ग के शब्दो मे आयेगी।

इसी सम्बन्ध मे आवट्टवट्ट विवट्टवट्ट' पर 'कीर्तिलता' के सजीवनी भाष्य मे डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल[1] ने जो टिप्पणी दी है वह इस प्रकार हैं

"आवट्ट वट्ट विवट्ट— श्री बाबूरामजी के सस्करण मे 'अति बहुत भाति विवट्ट वट्टहि' पाठ है और पाद टिप्पणी मे वट्ट पाठान्तर दिया है। वस्तुत यहाँ पाठ-सशोधन की समस्या इस प्रकार है। मूल सस्कृत शब्द आवर्त-विवर्त के प्राकृत मे आवत्त-विवत्त और आवट्ट विवट्ट ये दो रूप होते है। (पासद्द 152, 998, 999)। सयोग से विद्यापति ने 'कीर्तिलता' मे तीनो शब्द-रूपो का प्रयोग किया है :

1—आवर्त विवर्त रोलहो, नअर नहि नर समुद्दओ (2। 112)

2—आवत्त विवत्त पअ परिवत्ते जुग परिवत्तन माना (4। 114)

इस प्रकार यह लगभग निश्चित ज्ञात होता है कि यहाँ अति बहुत्त वट्ट का मूल पाठ आवट्ट वट्ट ही था। विवट्ट वट्ट तो स्पष्ट ही हैं।

आवट्ट वट्ट विवट्ट वट्ट' मे युक्ताक्षरो की विकृति की लीला स्पष्ट है। कीर्तिलता मे ही एक स्थान पर यह चरण हैं :

'पाइग्ग पअ भरे भउ पल्लानिअ उ तुरग' यहाँ 'पाइग्गा' शब्द 'पायग्गाट्ट का युक्ताक्षर विकृत शब्द हैं 'गा' का 'ग्गा' कर दिया गया है।

इसी प्रकार 'ढोला मारू रा दूहा' 16 मे 'ऊलबे सिर हथ्थड़ा' इस दोहे के 'ऊलंबी' शब्द का एक पाठ 'उक्कबी'[2] भी हैं। इसमे 'ल' को क 'युक्ताक्षर' मानकर लिखा गया है, अतः यह भी इस वर्ग का शब्द रूप है।

'चन्दचरित्र' की पाडुलिपि मे 83 वे पृष्ठ पर ऊपर से दूसरी पक्ति में 'सज्जन उद्धरज्यो जी' को इस रूप मे लिखा गया हैं।

सऊन उद्धरज्यजी

इसमे युक्ताक्षर 'ज्य' को जिस रूप मे लिखा गया है उस रूप को विकृति माना जा सकता है।

कवि हरचरणदास की 'कवि-प्रिया भरण' टीका है केशव की कवि प्रिया पर है उसकी एक पांडुलिपि 1902 की प्रतिलिपि है। उसमें 149वें पृष्ठ पर कवि ने अपना जन्म सवद् दिया है। प्रतिलिपिकार ने उसे यों लिखा है :

7 सत्रहसो सटि मही कवि को जन्म विचारि।

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण (डॉ०)—कीर्तिलता, पृ० 60-61।
2. मनोहर, शम्भूसिंह—ढोला मारू रा दूहा, पृ० 156।

युक्त अक्षर-विकृत-रूप' शब्द रेखांकित है। यह है छ्यासठ = 66।

इस पृष्ठ से आगे के पन्ने मे कृष्ण से अपना सम्बन्ध बताने के लिये लिखा है कि

> "पुरोहित श्रीनन्द के मुनि सांडिल्ल महान।
>
> हैं तिनके हम गोत मैं मोहन मो जजमान ॥16॥"

यहाँ 'साडिल्ल' मे 'युक्ताक्षर विकृति' स्पष्ट है, शांडिल्य 'सांडिल्ल' हो गये हैं। यहाँ भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसकी व्याख्या की जा सकती है, यह और बात है। अग्रसमीकरण से ल्य का 'य' 'ल' मे समीकृत हो गया है, पर युक्ताक्षर की दृष्टि से विकृति भी विद्यमान है, इसीलिए इसे हम इस वर्ग मे रखते हैं।

(उ) घसीटाक्षर विकृति युक्त शब्द

कभी-कभी कोई पाडुलिपि 'घसीट' मे लिखी जाती है। त्वरा मे लिखने से लेख घसीट मे लिख जाता है। घसीट मे अक्षर विकृत होते ही है। चिठ्ठी-पत्रियो में, सरकारी दस्तावेजो मे, दफ्तरी टीपो मे, ऐसे ही अन्य क्षेत्रो मे घसीट मे लिखना नियम ही समझना चाहिये। अधिकारी व्यक्ति त्वरा मे लिखता है और उसे अभ्यास ही ऐसा हो गया होता है कि उसका लेखन घसीट मे ही हो जाता है। इसी कारण कितने ही विभागो मे घसीट पढ़ने का भी अभ्यास कराया जाता है और इस विषय मे परीक्षाएँ भी ली जाती है। स्पष्ट है कि घसीटाक्षरो को अभ्यास के द्वारा ही पढा जा सकता है। अभ्यास मे यह आवश्यक होता है कि घसीट-लेखक की लेखन-प्रवृत्ति को भली प्रकार समझ लिया जाय। उससे घसीट पढने मे सुविधा होती है।

(ऊ) घसीट की भाँति ही व्यक्ति-वैशिष्ट्य की दृष्टि से अलकरण-निर्भर-विकृति-युक्त शब्द भी कभी-कभी किन्ही पाडुलिपियो मे मिल जाते है। अलंकरण युक्त अक्षर को भी पहले समझने पढने मे कठिनाई होती है।

'अलकरण' का अर्थ है किसी भी 'अक्षर' को उसके स्वाभाविक रूप में सन्तुलित प्रकार से न लिखकर कुछ कलामय या अनोखा रूप देकर लिखना, उदाहरणार्थ : 'प'। यह 'प' का सन्तुलित रूप है अब इसको लिपिकार कितने ही रूपों में लिख सकता है, अलकरण की प्रवृत्ति से अक्षररूपों के साथ शब्द-रूप भी बदलते हैं। हम अलंकरण की प्रवृत्ति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे एक अक्षर के आधार पर देख सकते हैं। इसके लिए 'अ' अक्षर को ले सकते है। देवनागरी में 'अलकरण' की प्रवृत्ति ई० पू० की पहली शताब्दी से ही दृष्टिगोचर होने लगती है। इसे शताब्दी-क्रम से नीचे के फलक से समझा जा सकता है :

अशोक कालीन	ई० पू० पहिली पभोसा लेख	मथुरा	ई० पहिली मथुरा	दूसरी श० नासिक
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

दूसरी से चौथी	तीसरी	477–78 ई०	571–72
कूड़ा	जगायपेट	पाली	

छठी शताब्दी
ऊष्णीष विजय धारणी पुस्तक की होर्युजी (जापान)
मठ की प्रति के अन्त मे दी गई वर्ण माला से

7 वीं शताब्दी मामलपुर	661 ई० कुडेश्वर

689 ई०	8वी शती	837 ई०	861	861
झालरापाटन	मावलीपुर	जोधपुर	पटिग्राला	घटिग्राला

11वी शती	1122 ई०	1185 ई०
उज्जैन	तर्पडिधी	ग्रसम

12 वी
हस्ताकाल (पूरी वर्णमाला से)

इसी प्रकार ग्रन्य ग्रक्षरो मे भी ग्रक्षारालकरण मिलते हैं। ग्रन्थों में भी इसका विविध रूप मे प्रयोग मिलता है, ग्रत ग्रलकरण के प्रभाव को समझकर ही 'शब्द-रूप' का निर्णय करना होगा। हस्तलेखो मे से पाडुलिपियो मे मिलने वाले ग्रलकरणो का कम सकलन हुग्रा है, किन्तु भारतीय शिलालेखों के ग्रलकरणो पर चर्चा ग्रवश्य हुई है। डॉ० ग्रहमद हसन दानी ने 'इंडियन पेलियोग्राफी' मे इस पर व्यवस्थित ढग से प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध मे उनकी पुस्तक से एक चित्रफलक ग्रलकरण के स्वरूप को भारतीय लिपि में दिखाने के लिए यहाँ देने का हम ग्रपने लोभ का सवरण नही कर सकते (चित्र पृ. 323 पर)

(ए) नवरूपाक्षर युक्त-शब्द

कभी-कभी पांडुलिपि में हमें ऐसे शब्द मिल जाते हैं जिनमें कोई-कोई ग्रक्षर ग्रनोखे रूप में लिखा मिलता है। यह ग्रनोखा रूप एक तो उस युग में उस ग्रक्षर का प्रचलित रूप ही थी, दूसरे लिपिकार की लेखनी से विकत होने के कारण ग्रौर ग्रनोखा हो गया। इन दोनों प्रकारों पर 'लिपि समस्या' वाले ग्रध्याय में चर्चा हो चुकी है।

प्रसंवृत वर्णमाला

(ऐ) लुप्ताक्षरी शब्द

पाडुलिपि मे ऐसे शब्द भी मिल जाते हैं, जिनमें कोई अक्षर ही छूट गया है। ऐसे शब्दो का उद्धार 'प्रसग' को देखकर प्रयुक्त शब्द को जानकर लुप्ताक्षर की पूर्ति से होता है। कीर्तिलता मे एक चरण है, 'बादशाह जे वीराहिमसाही'। इसमे इबराहिम शाह का 'विराहिम साह' हो गया है। सदेश रासक मे 'सभ्रासिय' मे 'सज्झसिय' का 'ज' लुप्त है। लंक है 'लक्क'।

(ओ) आगमाक्षरी

पांडुलिपियों में ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनमे एक या दो अक्षरों का आगम होता है।

(औ) विपर्य्य स्ताक्षरी शब्द

मात्रा का विपर्यय तो देख चुके हैं, वर्ण-विपर्यय भी होता है। कभी-कभी भाषा-वैज्ञानिक नियमो से और कभी-कभी लेखक प्रमाद से भी अक्षर-विपर्यय हो जाता है।

(अं) संकेताक्षरी शब्द

संकेताक्षरी शब्दो की चर्चा ऊपर हो चुकी है । पूरे शब्द को जब उसके एक छोटे अंश के द्वारा ही अभिहित कराया जाता है तो यह निरर्थक-सा छोटा अक्षर-संकेत पूरे शब्द के रूप मे ही ग्राह्य होता है । 'स०' का प्रयोग 'सम्बत्सर' के लिए हुआ मिलता है । ऐसे ही प्रयुक्त संकेतो की सूची एक पूर्व के अध्याय में दी जा चुकी है । पांडुलिपि-विज्ञानार्थी अपने लिए ऐसी सूचियाँ स्वयं प्रस्तुत कर सकता है । नाम-संकेत की दृष्टि से 'अद्हमाणा' हम देख चुके हैं कि इसमे 'अब्दुल' का सकेत 'अद्' और 'रहमाण' का संकेत हमान' है । ऐसे शब्द जिनमे संख्या से उस संख्या की वस्तुओं का ज्ञान होता है, सकेताक्षरी ही माने जायेंगे । कीर्तिलता में आया 'दान पंचम' भी ऐसा ही शब्द है ।

(अः) विशिष्टार्थी शब्द

पांडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए विशिष्टार्थी शब्दो का भेद महत्त्वपूर्ण है । यह रूप-गत नही है । कुछ शब्दो के कुछ विशिष्ट अर्थ होते है, और जब तक उन विशिष्ट अर्थों तक पाडुलिपि-विज्ञानार्थी नही पहुँचेगा उस स्थल का ठीक अर्थ नही हो सकेगा । ऐसे शब्दो के विशिष्ट क्षेत्रो का पता न होने के कारण सामान्य अर्थ किये जाते हैं, जिससे अर्थाभास मिलता है; यथार्थ अर्थ नही । ऐसे शब्दो से सामान्य अर्थ तक पहुँचने मे भी शब्दो और वाक्यो के साथ खीचातानी करनी पडती है,

यथा—

"कही कोटि गदा, कही वादि बदा
कही दूर रिक्काविए हिन्दु गन्दा ।।"[1]

अब इसका एक अर्थ हुआ—'कराडो गु'डे', कही 'बादी बदे' आदि । दूसरा अर्थ हुआ 'बहुत से गदे लोग और बांदि बदे' आदि । डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने बताया है कि 'गदा' और 'वादि' विशिष्टार्थी शब्द है गन्दा फा० गोयन्द . अर्थात्-गुप्तचर, वादी भी विशिष्टार्थक है : वादी=फरियादी

इसी प्रकार कीर्तिलता 2/190 का चरण है
मषदूम नरावइ दोम जन्यो हाथ ददस दस णारओ ।[2]

इसमे प्राय: सभी शब्द विशिष्टार्थ देने वाले है । उन अर्थों से अपरिचित व्यक्ति इस पंक्ति का अर्थ खींचतान कर ऐसे करेंगे .

"मखदूम डोम की तरह दसो दिशाओं से हाथ में भोजन ले आता है" (?) या

"मखदूम (मालिक) दशो तरफ डोम की तरह हाथ फैलाता है ।"

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि "इस एक पक्ति में सात शब्द पारिभाषिक प्राकृत और फारसी के हैं ।" ये शब्द विशिष्ट या पारिभाषिक शब्द है यह न जानने से ठीक-ठीक अर्थ तक नही पहुँचा जा सकता । इनके विशिष्ट अर्थ ये बताये गये हैं :

1. अग्रवाल. वासुदेवशरण, (डॉ०)—कीर्तिलता, पृ० 93
2. वही, पृ० 108

1. मलखून : भूत प्रेत साधक मुसलमानी धर्म-गुरु
2. नरावइ : ओसबिया—अर्थात् जो नरक के जीवों या प्रेतात्माओं का अधिपति हो।
3. दोष : यातना देना
4. हाथ : शीघ्र, जल्दी
5. ददस : हृदस (अरबी)—प्रेतात्माओं को अगूठी के नग मे दिखाने की प्रक्रिया।
6. दस दिखाता है।
7. णारग्रो : नरक के जीव, प्रेतात्माएँ

कीर्तिलता[1] मे एक पंक्ति है :

"सराफे सराहे भरे बे वि बाजू ।।"

"तोलन्ति हेरा लसूला पेग्राजू"। अर्थ करने वालो ने इसमे विशिष्टार्थक शब्दो को न पहचान सकने के कारण सराफे मे लहसुन व प्याज और हल्दी तुलवा दी है। ठीक है, लसूला का अर्थ लहसुन स्पष्ट है। प्याज का अर्थ भी स्पष्ट है। एक ने 'हेरा' को हलदी मान लिया। किंचित् ध्यान देने से यह विदित हो जाता है कि एक तो इन अर्थों मे 'प्रसग' पर ध्यान नही रखा गया। वर्णन सराफे का है। सराफे मे जौहरी बैठते हैं'। वहाँ हलदी, लहसुन, प्याज जैसे खाने मे काम आने वाले पदार्थ कहाँ ? तो 'प्रसंग' पर ध्यान नही दिया गया। दूसरे, इन शब्दों के विशिष्ट अर्थ पर भी ध्यान नहीं गया। लसूला का अर्थ लहसुनिया नाम का रत्न, 'पेग्राजू' का अर्थ 'फीरोजा' नाम का रत्न, और हेरा 'हीरा' हो सकता है, इस पर ध्यान नही गया, जो जाना चाहिये था। इसी प्रकार 'कीर्तिलता'[2] में ही एक अन्य चरण है :

"चतुस्सम पल्लव करो परमार्थ पुच्छहि सिग्रान"।

इसमे 'चतुस्सम' शब्द है। किसी विद्वान के द्वारा इसमें आये 'चतुस्सम' का सामान्य अर्थ 'चौकोन' या 'चौकोर' कर लिया गया। वस्तुत यह विशिष्टार्थक शब्द है। इसे लेकर हस्तलेखों के पाठो मे भी गड़बड़झाला हुई है। वह गडबड़झाला क्या है और इसका यथार्थ रूप और अर्थ क्या है, यह डॉ० किशोरीलाल के शब्दो मे पढ़िये

"डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार जायसी-कृत पद्मावत में प्राप्त 'चतुरसम' पाठ को न समझने के कारण इसका पाठ 'चित्रसम' किया गया। फारसी मे चित्रसम और 'चतुरसम' एक-सा पढ़ा जा सकता है, अतः 'चतुरसम' पाठ सम्पादक को क्लिष्ट लगा और 'चित्रसम' सरल। जायसी के मान्य विद्वान आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'चित्रसम' पाठ ही माना। यही नही कहीं-कहीं उन्होंने 'चित्रसब' पाठ भी किया है—

करिस्नान चित्र सब लारहुँ—जायसी ग्रन्थावली पृ० 121 ।। शुद्ध पाठ 'चतुरसम' ही है। इसे डॉ० अग्रवाल ने पूर्ववर्ती रचनाओं से प्रमाणित भी किया है, यथा-जायसी से दो शताब्दी पूर्व के 'वर्ण रत्नकार' मे भी चतु:सम का प्रयोग मिला है—'चतुःसम हथ लिये

1. वही, पृ० 95
2. वही, पृ० 145

मण्डु'—(वर्णरत्नाकर पृ० 13) वर्णरत्नाकर से भी दो शती पूर्व हेमचन्द्र के 'अभिधान चिन्तामणि' से भी उन्होने इसे प्रमाणित किया है—

कर्पूरागुरुककोल कस्तूरी चन्दनद्रवं. । 3।302
स्याद यक्षकर्दमो मिश्रं वर्तिगात्रानुलेपकी ।
चंदनागरु कस्तूरी कुंकुमंस्तु चतुःसमन् ।
चन्दनादि चत्वारि समान्यत्र चतुः समम्
अभिधान चिन्तामणि 3।303

सबसे पुष्ट प्रमाण रामचरित मानस मे मिला है—

बीथी सीचीं चतुरसम चौकें चारु पुराई
बालकाड 296।10, काशिराज संस्करण

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी 'चित्रसम' पाठ ही अपनी जायसी ग्रन्थावली-काशिराज सस्करण मे माना था लेकिन मानस के ऐसे प्रयोग को देख लेने पर उन्होंने अपने पूर्व पाठ को त्याग दिया। चतुरसम 'सस्कृत' के 'चतु सम' शब्द का विकृत रूप है, जिसका अर्थ-चंदन, अगरु, कस्तूरी और केसर का समान अश लेकर निर्मित सुगंध है।"[1]

शिलालेखो और अभिलेखो मे आने वाले पारिभाषिक और विशिष्टार्थक शब्दो पर विस्तार से विचार किया गया है, डी० सी० सरकार कृत 'इंडियन एपीग्राफी' में आठवें अध्याय में जिसका शीर्षक है 'टेकनीकल ऐक्सप्रेशन'।

(क) संख्या-वाचक शब्द

शिलालेखो, अभिलेखों और पाडुलिपियो मे ऐसे शब्द मिलते हैं जिनका अपना अभिधार्थ नही लिया जाता। उनसे जो सख्या-बोध होता है, वही ग्रहण किया जाता है मानो वह शब्द नही सख्या ही हो। इस पर ऊपर के अध्याय मे विचार किया जा चुका है। यहाँ तो इस ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए इसे शब्द-भेद माना है कि पांडुलिपि मे आये शब्दो का एक वर्ग संख्या का काम भी देता है, अत; ऐसे शब्द-रूपों को संख्या-रूप में ही मान्यता दी जानी चाहिये।

(ख) वर्तनी च्युत शब्द

ये ऐसे शब्द होगे जिनमे वर्तनी की भूल हो गई हो, जैसे-'चदचरित्र' मे पहले पन्ने मे दूसरी पक्ति मे 'सिंधु शलिल प्रवाह' आया है। यहाँ 'शलिल' वर्तनी च्युति है। 'मात्रा विकृति' कही-कही छद की तुक या अन्य कारणों से जान-बूझ कर कवि को करनी पड़ती है, उसे विकृति या वर्तनी-च्युति नही माना जायगा, किन्तु ऊपर के उदाहरण में 'स' के स्थान पर 'श' वर्तनी च्युति ही है। इसी प्रकार उसी पन्ने पर 11वीं पक्ति में है : 'जब वार सार'

इसमें भी 'जबूतरूसार' मे 'तरु' को 'तरू' लिखने में वर्तनी च्युति है।

(ग) स्थानापन्न शब्द (भ्रमात् अथवा अन्यथा)

किसी चरण मे एक शब्द ऐसा आया है कि अध्येता को समझ में नहीं आ रहा,

1. किशोरीलाल-सम्मेलन-पत्रिका (भाग 56, अंक 2–3), पृ० 179–180

अतः वह यह मान लेता है कि यह कोई शब्द नहीं है तब, उसके स्थान पर कोई अन्य सार्थक शब्द रखकर अपना अर्थ निकाल लेता है । इस प्रकार रखे गये शब्द ही स्थानापन्न कहे जायेंगे । पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को ऐसे शब्दों को पहचानने का अभ्यास अवश्य होना चाहिये ।

इसका एक उदाहरण डॉ० अग्रवाल द्वारा सम्पादित 'कीर्तिलता' से ही और लेते हैं । 'कीर्तिलता' 2।190 के चरण पर पारिभाषिक शब्दावली की दृष्टि से विचार किया जा चुका है । उसी में 'णारओ' पर डॉ० अग्रवाल ने जो टिप्पणी दी है उससे 'स्थानापन्नता' पर प्रकाश पड़ता है । उनकी टिप्पणी इस प्रकार है .[1]

"णारओ—नरक के जीव, प्रेतात्मा । सं० नारक>प्रा० णारय-नरक का जीव (पासद्द० 478) । यहाँ श्री बाबूराम सक्सेना जी की प्रति मे 'ख' प्रति का पाठ 'नारओ' पाद-टिप्पणी मे दिया हुआ है, वही वस्तुतः मूल-पाठ था । जब इस पंक्ति का शुद्ध अर्थ ओझल हो गया तब अर्थ को सरल बनाने के लिए द्वारओ यह अप-पाठ प्रचलित हुआ । स्पष्ट है कि मूल 'नारओ' के स्थान पर 'द्वारओ' शब्द किसी लिपिकार ने स्थानापन्न कर दिया । 'णारओ' से वह परिचित नहीं था, अत. उसे अपनी सूझ-बूझ से 'द्वारओ' शब्द ठीक लगा ।"

फलत पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को हस्तलेखो मे स्थानापन्नता की बात भी ध्यान मे रखनी होगी ।

(घ) अपरिचित शब्द

हस्तलेख या पाडुलिपियाँ सहस्रों वर्ष पूर्व तक की मिलती है । वह युग हमारे युग से अनेक रूपो मे भिन्न होता है । लिपि भिन्न होती है, शब्द-कोष भी भिन्न होता है, शब्दो के अर्थ भी भिन्न होते है । लिपि की समस्या हल हो जाने पर शब्दो की समस्या सामने आती है । ऊपर जो शब्द-रूप बताये गये है, उनके साथ ही ऐसे शब्द भी हो सकते है, जिनसे हम अपरिचित हो । एक लिपिकार ने अपरिचित शब्द के साथ जो व्यवहार किया उसे हम अभी ऊपर देख चुके है । उसने अपरिचित शब्द को हटा ही दिया । उसका तर्क रहा होगा कि "वह स्वय जब 'णारओ' शब्द को नही जानता तो ऐसा कोई शब्द हो ही नही सकता' । उसने अपनी सूझबूझ से उससे मिलता-जुलता परिचित शब्द वहाँ रख दिया पर उसका उस तरह सोचना समीचीन नही था , अत अपरिचित शब्द को अपरिचित मान कर उसके अनुसधान मे प्रवृत्त होना चाहिये और उस युग की शब्दावली को देखना चाहिए, जिस युग का वह ग्रन्थ है, जिसमे वह अपरिचित शब्द मिला है ।

अपरिचित शब्दरूप मे ऐसे शब्द भी आयेगे जिनके सामान्य अर्थ से हम भले ही परिचित हों पर उसका विशिष्ट अर्थ भी होता है । वे किसी ऐसे क्षेत्र के शब्द हो सकते हैं, जिनसे हमारा परिचय नही, और विशेषत. उस युग के विशिष्ट क्षेत्र की शब्दावली से जिस युग मे वह पांडुलिपि प्रस्तुत की गयी थी । प्राचीन काव्यो मे ऐसे विशिष्ट शब्द पर्याप्त मात्रा में मिल सकते हैं ।

प्रथमतः परिचित लगने वाले किन्तु मूलतः विशिष्टार्थक ऐसे शब्द-रूपो की चर्चा

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ०)—कीर्तिलता, पृ० 110

ऊपर हो चुकी है । यहाँ 'अपरिचित रूप' की दृष्टि से 'कीर्तिलता' से एक और उदाहरण दे रहे है .

कीर्तिलता के 2।33 वे दोहे का पाठ डॉ० अग्रवाल[1] ने यो दिया है :

"हट्टहि हट्ट भमन्तम्रो दूम्रम्रो राज कुमार ।।214
दिट्ठिट कुतूहल कज्ज रस तो इट्ठ दरबार ।।215 ।।"

इस दोहे मे 'कज्ज रस' दो शब्द है । इन शब्दो के रूपों से प्रथमत हम अपरिचित नही प्रतीत होते , किन्तु युगीन शब्दावली की दृष्टि से ये विशिष्टार्थक है अत इन्हें अपरिचित माना जा सकता है। प्रसग दरबार का है अत उस सन्दर्भ मे इसका अर्थ ग्रहण करना होगा । डॉ० अग्रवाल की 'कज्ज' और 'रस' पर टिप्पणी पठनीय है । वे लिखते हैं :

"215. कज्ज = आवेदन, न्यायालय या राजा के सामने फरियाद । स० कार्य > प्रा. कज्ज का यह एक पारिभाषिक अर्थ भी था । कार्य = अदालती फरियाद । (स्वैरालापे स्त्री वयस्याप्चारे कार्यारम्भे लोकवादाश्रये च । क श्लेष कष्टशब्दाक्षराणा पुष्पापीडे कण्टकाना यथैव ।। पद्मप्राभृतकम् श्लोक 18 ।। कार्यारम्भ का अर्थ यहाँ लिखित फरियाद या अदालती अर्जी दावा है । 'पादताडितकम्' मे अर्जी देने वाले वादी या फरियादी लोगो का कार्यक कहा गया है, "अधिकरणगताऽपि कोशला कार्यकाणाम्" । कालिदास ने भी कार्य शब्द इस अर्थ मे प्रयुक्त किया है । वहिर्निष्क्रम्य ज्ञायता क क कार्यार्थीति (मालविकाग्निमित्र, आप्टे, मोनियर विलियम्स स० कोश) । रस-स० रस$\sqrt{}$ > प्रा० रस = चिल्लाकर कहना ।

कज्ज रस = अपनी फरियाद कहने के लिए ।

स्पष्ट है कि कज्ज या कार्य और रस दोनों अपरिचित शब्द है पर प्रसग विशेष मे अर्थ पर पहुँचने के लिए मूलत अपरिचित हैं । ऐसे शब्दों को विशिष्टार्थक कोटि मे रखा जा सकता है, पर क्योंकि ये रूपत विशिष्टार्थक नही सामान्य ही लगते है, अत इन्हें 'अपरिचित' कोटि मे रखा जा सकता है ।

अब एक उदाहरण अपरिचित शब्द की लीला का 'काव्य निर्णय' के दोहे मे देखिये ।

'चन्दमुखिन के कुचन पर जिनको सदा विहार ।

'अहह करे ताही करन चरबन फेरबदार ।।' 'चरबन फेरबदार' पर टिप्पणी करते हुए डॉ० किशोरीलाल[2] ने जो लिखा है उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है । इसमे अपरिचित शब्दों की लीला स्पष्ट हो सकेगी । डॉ० किशोरीलाल ने सम्मेलन पत्रिका मे लिखा है :

"इस (चरबन फेरबदार) का पाठ विभिन्न प्रतियों मे किस प्रकार मिलता है उसे देखें—

(1) भारत जीवन प्रेस काशीवाली प्रति का पाठ-'चखन फेरवदार'
(2) वेलवेडियर प्रेस प्रयाग वाली प्रति का पाठ-'चिरियन फेरवदार'
(3) वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई की प्रति का पाठ-'चखदन फेरवदार'
(4) कल्याण दास ज्ञानवापी वाराणसी का पाठ-'चखन फेरवदार'

1. वही, पृ० 120-121
2. किशोरीलाल, (डॉ०)—सम्मेलन पत्रिका (भाग 56, संख्या 2-3) पृ० 181-182

वास्तव मे फेरवदार[1] का अर्थ शृगालिनी है, उसे न समझने के कारण 'फंखदार' आदि पाठ स्वीकार किया गया और चर्वण के अर्थ से अनभिज्ञ रहने के कारण 'चखन' आदि मन-गढ़न्त पाठों की कल्पना करनी पड़ी। इस प्रकार के पाठ-गढ़न्त के नमूने अन्यत्र भी मिलते है। ब्रजभाषा के पुराने टीकाकार सरदार कवि ने "रसिक-प्रिया" की टीका में इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख किया है कि किस तरह लौच (रिश्वत) शब्द से परिचित न रहने के कारण लागो ने किसी-किसी प्रति मे लोच कर दिया है। 'लोच' शब्द वाली पक्तियाँ हैं :

"जालगि लोच लुगाइन दै दिन नानन नावत साँझ पहाऊँ"

'रसिक प्रिया', केशवदास 5/12 प्र० स० पृ० 75 नवल किशोर प्रेस, लखनऊ।

पापाण-मुद्रणालय, मथुरा से प्रकाशित ग्वालकवि कृत 'कवि-हृदय-विनोद' मे एक शब्द 'बाधनीपौरि' मिला है। इस शब्द से परिचित न रहने के कारण 'ग्वाल रत्नावली' के सम्पादक ने 'बांधनी' और 'पौरि' दो भिन्न शब्दो की कल्पना करली और 'पौरि' की टिप्पणी दी है 'घर मे' जो अर्थ की दृष्टि से नितान्त अशुद्ध है। 'सक्षिप्त शब्द-सागर' मे भी इस शब्द के शुद्ध अर्थ को देखा जा सकता था। वहाँ इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है : 'बाधनीपौरि'-पशुओ के बाधने का स्थान (संक्षिप्त शब्द सागर, पृ० 803)। बाधनीपौरि वाली पक्तियाँ है —"फिर बाधनी-पौरि सुहावनि है (कविहृदयविनोद, पृ० 89)। इसी प्रकार 'कविहृदयविनोद' के अन्य छन्द के पाठ की दुर्गति ही नही की गई वरन् उसका बड़ा विचित्र रूप देखने को मिला है.

"खासो है तमासो चलि देख सुखमा सो वीर,
कुंज मे भवासी है मयूर मंजु लाल की।
चारु चादनी की वर विमल विछावन पै,
चदवा तन्यौ है, रविनाती रगलाल की।"

अतिम अश होना तो चाहिये-'री बनाती रगलाल की।' किन्तु सम्पादक जी ने उसे 'रविनाती' (सूर्य का नाती) समझा।[2]

इस उद्धरण से और इसमे दिये उदाहरणो से अपरिचित शब्दो की पाडुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से लीला सिद्ध हो जाती है।

कुपठित

इन रूपो के अतिरिक्त शब्द की दृष्टि से 'कुपठित' शब्द की ओर भी ध्यान जाना चाहिये। 'कुपठित' शब्द उन शब्दो को कहते हैं, जो लिपिकार ने तो ठीक लिखे हैं किन्तु पाठक द्वारा ठीक नही पढ़े जा सके। एक शब्द था त्रसरेणु। 'त्रसरेणु' ही लिखा गया था किन्तु 'त्र' के चिमटे की दोनो रेखाएँ परस्पर मिल-सी रही थीं, अत 'व' पढ़ी गई। 'व' पढने से अर्थ ठीक नही बैठ रहा था, तब सम्पादक ने आतिशी शीशे (Magnifying glass) की सहायता ली तो समझ में आया कि वह 'व नही त्र है, और 'कुपठित' शब्द सुपठित हो

1. यह शब्द 'फेक-दार' होगा। फेक=शृगाल, अतः फेरव=शृगाल और दार=दारा, स्त्री=शृगालिनी
2. किशोरीलाल,-सम्मेलन-पत्रिका (भाग 56, संख्या 2-3), पृ० 181-82

गया, तथा अर्थ ठीक बैठ गया , अतः ऐसे कुपठित शब्दों के जाल से भी बचने के उपाय पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को करने होंगे ।

यहाँ तक हमने शब्दरूपों की चर्चा की । लिपि के उपरान्त शब्द ही इकाई के रूप में उभरते हैं—और ये शब्द ही मिलकर चरण या वाक्य का निर्माण करते हैं । ये चरण या वाक्य ही किसी भाषा की यथार्थ इकाई होते है । शब्द तो इस इकाई को तोडकर विश्लेषित कर अर्थ तक पाठक द्वारा पहुँचने की सोपानें है । यथार्थ अर्थ शब्द में नहीं सार्थक शब्दावली की सार्थक वाक्य-योजना मे रहता है । वस्तुत. किसी भी पाडुलिपि का निर्माण या रचना किसी अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए ही होती हैं । यह विश्लेषित शब्द यदि अपने ठीक रूप में ग्रहण नही किया गया तो अर्थ भी ठीक नहीं मिल सकता । भर्तृहरि ने 'वाक्य-पदीय' मे बताया है :

"आत्मरूप यथा ज्ञाने ज्ञेय रूपच दृश्यते
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपश्च प्रकाशते ।"

अर्थात् ज्ञान जैसे अपने को और अपने ज्ञेय को प्रकाशित करता है उसी प्रकार शब्द भी अपने स्वरूप को तथा अपने अर्थ को प्रकाशित करता है ।[1]

शब्द के साथ अर्थ जुडा हुआ है । अर्थ से ही शब्द सार्थक बनता है । यह सार्थकता शब्द में यथार्थत. पदरूप से आती है । वह वाक्य मे जो स्थान रखता है, उसके कारण ही उसे वह अर्थ मिलता है जो कवि या कृतिकार को अभिप्रेत होता है ।

अर्थ समस्या

पाडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए अर्थ की समस्या भी महत्त्व रखती है । अर्थ ही तो ग्रथ की आत्मा होती है । 'शब्द-रूप' की समस्या तो हम देख चुके हैं कि मिलित शब्दावली मे से ठीक शब्द-रूप पर पहुँचने के लिए भी अर्थ समझना आवश्यक है और ठीक अर्थ पाने के लिए ठीक शब्द-रूप । यहाँ एक और उदाहरण 'कीर्तिलता' से लेते है । डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने यह भूमिका देते हुए कि "इन पूर्व टीकाओ मे कीर्तिलता के अर्थों की जो स्थिति थी उसकी तुलना वर्तमान सजीवनी टीका के अर्थों से करने पर यह समझा जा सकेगा कि कीर्तिलता के अर्थों की समस्या कितनी महत्त्वपूर्ण थी और उसे किस प्रकार उलझा हुआ छोड दिया गया था ।" अपने इस कथन को पुष्ट करने के लिए उन्होंने बहुत-से स्थलो की चर्चा की है । इसी सन्दर्भ मे पहली चर्चा है इस पक्ति की .

(1) भेम्र करन्ता मम उवइ दुज्जन वैरिण होइ । 1/22

डॉ० अग्रवाल ने इस पर लिखा है कि—

"बाबूरामजी ने 'मेम्रक हन्ता मुज्झुजइ' पाठ रखा है जो 'क' (प्रति) का है । अक्षरो को गलत जोड़ देने से यहाँ उन्होने अर्थ किया है—यदि दुर्जन मुझे काट डाले अथवा मार डाले तो भी वैरी नहीं । उन्होंने टिप्पणी मे 'भेम्र कहन्ता' देते हुए अर्थ दिया है—'यदि दुर्जन मेरा भेद कह दे ।' शिवप्रसाद सिह ने इसे ही अपनाया है । वास्तव मे 'भ्र' प्रति से इसके मूल पाठ का उद्धार होता है । मूल का अर्थ है—मर्म का भेद करता हुआ दुर्जन पास

1. डॉ० किशोरीलाल के निबन्ध 'प्राचीन हिन्दी काव्य पाठ एवं अर्थ विवेचन' से उद्धृत । सम्मेलन पत्रिका (भाग 56, सं० 2-3), पृ० 187 ।

आवे तो भी सभु नहीं होगा । 'उवई' < प्राकृत-अवहट्ट धातु है, जिसका अर्थ पास आना है ।[1]

इस विवेचन से एक ओर तो यह स्पष्ट होता है कि 'मिलित शब्दावली' में से शब्द-रूप बनाते समय अक्षरों को गलत जोड़ देने से गलत शब्द बन जाता है । भेअकहन्ता । करन्ता, में से 'भेअक' बनाने मे 'कहन्ता' या 'करन्ता' के 'क' को भेअ से जोड़कर 'भेअक' बना दिया है, यह गलत शब्द बन गया । इससे अर्थ गलत हो गया, उलझ गया और समस्या बना रह गया ।

दूसरी यह बात विदित होती है कि एक अपरिचित शब्द 'उवह' पूर्व टीकाकारों ने ग्रहण नही किया । यह प्राकृत-अवहट्ट का रूपान्तर था ।

अत. अर्थ-समस्या के दो कारण ये प्रकट हुए .

1. मिलित शब्दावली में से ठीक शब्द-रूप का न बनना, और
2. किसी अपरिचित शब्द को परिचित शब्दों की कोटि मे लाने की असमर्थता ।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'सन्देश-रासक' के समस्यार्थक स्थलों पर प्रकाश डालते हुए 'आरद्द' शब्द के सम्बन्ध मे बताया है कि 'आरद्द' शब्द का यह अर्थ (अर्थात् जुलाहा) अज्ञातपूर्व अवश्य है । देशीनाममाला कोश मे उन्हे यह शब्द नही मिला, हाँ, 'आरद्ध' मिला और 'आरद्ध' अग्र समीकरण से 'आरद्द' हो सकता है । 'आरद्ध' के अर्थ कोश मे दिये हैं : प्रबद्ध, सतृष्ण और गृह में आया हुआ । तन्तुवाय या जुलाहा अर्थ नही हैं । उक्त टीकाकारो ने इसका अर्थ 'जुलाहा' किया है—आगे कवि ने अपने को कोरिय या कोरिया लिखा भी हैं , अत. जुलाहा तो वह था । इसलिए डॉ० द्विवेदी ने यह निर्देश भी दिया है कि "किसी शब्द के अन्य ग्रन्थो में न मिलने मात्र से उसके अर्थ के विषय में शका उठाना उचित नहीं हैं । सम्भव है किसी अधिक जानकार को वह शब्द अन्यत्र मिल भी जाय ।"[2]

इस कथन से यह तो सिद्ध हो गया कि 'आरद्द' शब्द पक्की तरह से अपरिचित शब्द है, रूप में भी और अर्थ मे भी, वरन् उसके अर्थ का स्रोत केवल टीकाएँ हैं । इन टीकाओ ने यह अर्थ आरद्द का किस आधार पर किया, किस प्रमाण से इसे सिद्ध किया, यह भी हमे विदित नही ।

अत: कहीं-कही अर्थ-समस्या उक्त प्रकार से एक नया रूप ले लेती है । शब्द अपरिचित अर्थ परिचित किन्तु अप्रामाणिक आधार पर जिसका स्रोत तक ज्ञात नहीं । अर्थ परिचित हैं क्योकि ग्रन्थ की टीका मे मिल जाता है । टीका का स्रोत क्या है यह अविदित है ।

इसी पद्य मे एक और प्रकार से अर्थसमस्या पर विचार किया गया है । वह है 'मी र से ण (नं) स्स' पर व्याकरण की दृष्टि से विचार । पद्य में 'मी र से ण स्स' शब्द है, टीकाकारो ने 'मी र से नाख्य' रूप मे इसकी व्याख्या की है । अर्थ की यह समस्या डॉ० द्विवेदी ने यों प्रस्तुत की हैं ।

'आरद्दो मीरसेणस्स' का अर्थ 'आरद्दो मीरसेनाख्य:' नहीं हो सकता । 'मीरसेणस्स' षष्ठयन्त पद है, उसकी व्याख्या 'मीर सेनाख्य:' प्रथमांत पद के रूप में नहीं होनी चाहिये ।'

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण (डॉ०)—कीर्तिलता, पृ० 19–20 ।
2. द्विवेदी, हजारीप्रसाद—संदेश रासक, पृ० 11 ।

स्पष्ट है कि टीकाकारों ने व्याकरण रूप पर (मीरसेन का प्रयोग षष्ठ्यन्त में है इस पर) ध्यान नहीं दिया, अतः अर्थ की समस्या जटिल हो गयी। अर्थ की दृष्टि से व्याकरण के प्रयोग पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है।

इसे भी स्पष्ट करते हुए डॉ० द्विवेदी लिखते हैं कि 'कम से कम आरद्द' की 'गृह आगत' करने मे 'मीरसेणस्स' की संगति बैठ जाती है। 'आरद्द' शब्द का अर्थ 'तन्तुवाय' न भी होता हो तो यह अर्थ ठीक बैठ जाता है। "मीरसेन के घर आया हुआ, (विशेषण विच्छित्ति वश जुलाहा भी) उसी का पुत्र कुल-कमल प्रसिद्ध अद्दहमाण हुआ।" यह अर्थ ठीक जमता है।[1]

व्याकरण पर ध्यान न देने से भी अर्थ-समस्या जटिल हो जाती है, यह इस उदाहरण से सिद्ध है।

सन्देश रासक के ही एक शब्द के सम्बन्ध मे डॉ० द्विवेदी ने यह स्थापना की है कि शब्द के जिस रूपान्तर को अर्थ के लिए ग्रहण किया गया हैं वह न केवल व्याकरण-सम्मत ही होना चाहिये, भाषा-शास्त्र द्वारा अनुमोदित भी होना चाहिये, तभी ठीक अर्थ प्राप्त हो सकता है। यह स्थापना उन्होने 'अद्धड्डीणउ' शब्द पर विचार करते हुए की है। इस शब्द का अर्थ टिप्पणककार ने बताया है'अर्द्धोद्विग्न' (= आधा उद्विग्न) और अवचूरिका-कार ने 'अध्वोद्विग्न' (= रास्ता चलने से उद्विग्न या थका हुआ–सा)। यह अर्थ इसलिए किया गया कि दोनो ने उड्डीण को उद्विग्न का रूपान्तर मान लिया। द्विवेदी जी ने बताया हैं कि सं० रा० मे उद्विग्न का रूपान्तर 'उव्विन्न' हुआ है, और कई स्थलो पर आया है फिर यहाँ उद्विग्न का रूप उव्विन्न ही होना चाहिये था 'उड्डीण' नही। उड्डीण' भाषा शास्त्र से उद्विग्न का रूपान्तर नही ठहर सकता, अतः इसका अर्थ उद्विग्न भी नही किया जा सकता। 'उड्डीण' का अर्थ 'उडता हुआ' और पूरे शब्द का अर्थ होगा आधा उडता हुआ-सा।[2]

अर्थ की समस्या का एक कारण होता है–किसी शब्द-रूप के बाह्य-साम्य से अर्थ कर बैठना। सं०रा० मे एक शब्द है 'कोसिल्लि इसका बाह्यसाम्य कुशल' से मिलता है, अत. टिप्पणक और अवचूरिका मे (श०22) इसका अर्थ 'कुशलेन अर्थात् कुशलतापूर्वक' कर दिया गया। पर 'देशीनाममाला' मे इस शब्द का अर्थ दिया गया है प्राभृतम्। स्पष्ट है कि टिप्पणक और अवचूरिका मे लेखको ने इस शब्द के यथार्थ अर्थ को ग्रहण करने का प्रयत्न नही किया। प्राभृतम् अर्थ ठीक है, यह डॉ० द्विवेदी का अभिमत है।[3]

शब्द-रूप को अर्थ की दृष्टि से समीचीन मानने मे छन्द की अनुकूलता भी देखनी होती है। डॉ. द्विवेदी ने स०रा० मे 'उत्तहवइण केणइ विरहज्झल पुणाबि अगं परिहिसयहिं' में बताया है कि छन्द की दृष्टि से इसमे दो मात्राएँ अधिक होती हैं। उनका सुझाव है कि 'सी' तथा 'ज' प्रति के पाठ में 'विरहहुव' शब्द है, 'विरहज्झल' के स्थान पर यही ठीक है। 'हुव' का अर्थ अग्नि है। इसी अर्थ मे स०रा० मे अन्यत्र भी आया है। इसी प्रकार छन्द-दोष भी दूर हो जाता है, इसीलिए डॉ० द्विवेदी इसे कविसम्मत भी मानते हैं।

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद—संदेश-रासक, पृ० 12।
2. वही, पृ० 21।
3. वही, पृ० 53।

इस प्रकार हमने पांडुलिपि की दृष्टि से अर्थ की समस्या को विविध पहलुओं से देखा है। इसमें हमने पांडुलिपियों के अर्थ-विशेषज्ञों के साक्ष्यों का सीधे उपयोग किया है।

किन्तु इसी के साथ सामान्यतः अर्थ-ग्रहण के उपायों का शास्त्र में (काव्य-शास्त्र में) जिस रूप में उल्लेख हुआ हैं, उसका भी विवरण अत्यन्त संक्षेप में दे देना उचित होगा।

काव्य शास्त्र द्वारा प्रतिपादित तीन शब्द शक्तियों से सभी परिचित हैं, वे हैं अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना।

एक शब्द के कोष में कई अर्थ होते हैं। स्पष्ट है कि कितने ही शब्द अनेकार्थी होते हैं, किन्तु एक रचना में एक समय में एक ही अर्थ ग्रहण किया जा सकता है ऐसी 14 बातें काव्य-शास्त्रियों ने बतायी हैं जिनके कारण अनेकार्थी शब्दों का एक ही अर्थ माना जाता हैं, ये 14 बातें हैं 1 संयोग, 2 वियोग, 3 साहचर्य, 4 विरोध, 5 अर्थ, 6 प्रकरण, 7 लिंग, 8 अन्य सान्निधि, 9 सामर्थ्य, 10 औचित्य, 11 देश, 12 काल, 13. व्यक्ति, एवं 14 स्वर।

किसी भी शब्द का एक अर्थ पाने के लिए इन बातों की सहायता ली जाती है। इनका विस्तृत ज्ञान किसी भी काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ (जैसे--काव्य प्रकाश) से किया जा सकता है। वस्तुतः इतना तो किसी भी अर्थ को प्राप्त करने के लिए प्रारम्भिक ज्ञान ही माना जा सकता है।

इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने जो चेतावनी दी है, वह ध्यान में रखने योग्य है। वे कहते हैं, "प्राचीन कवियों के प्रयुक्त शब्दों का अर्थ करने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। एक ही शब्द विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता हैं।" इस वाक्य में आचार्य महोदय ने देशभेद से शब्दार्थ-भेद की ओर संकेत किया है, अतः अर्थ-ग्रहण के लिए ग्रन्थ और लेखक के देश का भी ध्यान रखना होता है। यही बात काल के सम्बन्ध में भी है। कालभेद से भी शब्दार्थ-भेद हो जाता है।

विशिष्ट ज्ञान जो पांडुलिपि-विज्ञानार्थी में अपेक्षित है, उसकी ओर कुछ संकेत ऊपर किये गये हैं। विविध विद्वानों के अर्थानुसंधान के प्रयत्न भी उनके उद्धरणों और उदाहरणों सहित बताये गये हैं। इनसे अर्थ तक पहुँचने की व्यावहारिक प्रक्रियाओं का ज्ञान होता है। उससे मार्ग का निर्देश मात्र होता है।

□ □ □

अध्याय 9

रख-रखाव

पांडुलिपियों के रख-रखाव की समस्या

पांडुलिपियों के रख-रखाव की समस्या भी अन्य समस्याओं की भाँति ही बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम यह देख चुके हैं कि पांडुलिपियाँ ताड़पत्र, भूर्जपत्र, कागज, कपड़ा, लकड़ी, रेशम, चमड़े, पत्थर, मिट्टी, चाँदी, सोने, ताँबे, पीतल, काँसे, लोहे, संगमरमर, हाथीदाँत, सीप, शंख आदि पर लिखी गई है, अतः रख-रखाव की दृष्टि से प्रत्येक की अलग-अलग देख-रेख आवश्यक होती है।

डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने बताया है कि "दक्षिण की अधिक ऊष्ण हवा मे ताड़पत्र की पुस्तकें उतने अधिक समय तक रह नही सकती जितनी कि नेपाल आदि शीत देशो मे रह सकती हैं।"[1]

यही कारण है कि उत्तर मे नेपाल मे ताड़पत्र पुस्तको की खोज की गई तो ताड़-पत्र की पुस्तके अच्छी दशा मे मिलीं। इसी कारण से 11वी शताब्दी से पूर्व के ग्रन्थ कम मिलते हैं। 11वी शती से पूर्व के ताड़पत्र के ग्रन्थ इस प्रकार मिले हैं—

दूसरी ईस्वी शताब्दी	एक नाटक की पांडुलिपि का अंश जो त्रुटित है।	
चौथी ईस्वी शताब्दी	ताड़पत्र के कुछ टुकड़े।	काशगर से मैकर्टिन द्वारा भेजे हुए।
छठी ईस्वी शताब्दी	1. प्रज्ञापारमिता-हृदय-सूत्र।) 2. ऊष्णीष-विजय-धारणी (बौद्ध ग्रन्थ)।)	जापान के होरियूजी मठ में।
सातवीं ईस्वी शताब्दी	स्कन्द-पुराण।	नेपाल ताड़पत्र संग्रह।
नवी (859 ई०) शताब्दी	परमेश्वर-तन्त्र।	कैंब्रिज संग्रह में।
दसवीं (906 ई०) शताब्दी	लंकावतार।	नेपाल के ताड़पत्र संग्रह में।

और बस।

यही स्थिति भोजपत्र पर लिखी पुस्तकों की है। ये भूर्जपत्र या भोजपत्र पर लिखी पुस्तकें अधिकांश काश्मीर से मिली हैं—

1. भारतीय प्राचीन लिपि-माला, पृ० 143।

दूसरी-तीसरी शताब्दी ई०	धम्मपद भाषा—प्राकृत, लिपि—खरोष्ठी ।	खोतान (मध्य एशिया) से प्राप्त ।
चौथी शताब्दी ई०	संयुक्तागम सूत्र (सस्कृत)	खोतान से प्राप्त ।
छठी ,, ,,	मि० वेबर को प्राप्त ग्रन्थ	
आठवी ,, ,,	अकगणित	वखशाली से प्राप्त ।

इन पर महामहोपाध्याय ओझाजी की टिप्पणी है कि "ये पुस्तकें स्तूपो के भीतर रहने या पत्थरो के बीच गड़े रहने से ही उतने दीर्घकाल तक बच पायी हैं, परन्तु खुले वातावरण में रहने वाले भूर्जपत्र के ग्रन्थ ई०स० की 15वी शताब्दी से पूर्व के नही मिलते, जिसका कारण यही है कि भूर्जपत्र, ताड़पत्र या कागज अधिक टिकाऊ नही होता ।"[1]

इन उल्लेखो से विदित होता है कि—

1. ताडपत्र-भूर्जपत्र आदि यदि कही स्तूप आदि मे या पत्थरों के बीच बहुत भीतर दाब कर रखे जाएँ तो कुछ अधिक काल तक सुरक्षित रह सकते हैं ।
2. ऐसे खुले ग्रन्थ 4–5 शताब्दी से पूर्व के नही मिलते अर्थात् 4–5 शताब्दी तो चल सकते है, अधिक नही ।

इसी प्रकार की कागज के ग्रन्थो की भी स्थिति है ।

पाचवी शताब्दी ई०	4 ग्रन्थ (मि० बेवर को मिले) भारतीय गुप्त-लिपि मे लिखे	कुगिअर (म०ए०) मे यारकद से 60 मील दक्षिण, जमीन में गड़े मिले ।
,,	सस्कृत ग्रन्थ	काशगर (म०ए०) मे

कागज के सम्बन्ध मे भी ओझाजी[2] ने यही टिप्पणी दी है कि "भारतवर्ष के जल-वायु मे कागज बहुत अधिक काल तक नही रह सकता ।"

ऊपर उदाहरणार्थ जो तथ्य दिये गये है उनसे यह सिद्ध होता है कि ताड़पत्र, भूर्ज-पत्र, या कागज या ऐसे ही अन्य लिप्यासन यदि बहुत नीचे या बहुत भीतर दाब कर रखे जायें तो दीर्घजीवी हो सकते हैं । पर यह बात भी ध्यान देने योग्य हैं कि ऐसे दबे हुए ग्रन्थ भी ई० सन् की पहली-दूसरी शताब्दी से पूर्व के प्राप्त नही होते ।

इसका एक कारण तो भारत पर विदेशी आक्रमणो का चक्र हो सकता है । ऐसे कितने ही आक्रमणकारी भारत मे आये जिन्होने मन्दिरों, मठो, बिहारो, पुस्तकालयों, नगरों, बाजारो को नष्ट और ध्वस्त कर दिया, जला दिया ।

अपने यहाँ भी कुछ राजा ऐसे हुए जिन्होंने ऐसे ही कृत्य किये । अजयपाल के सम्बन्ध में टॉड ने लिखा है कि—

1. भारतीय प्राचीन लिपि-माला, पृ० 144।
2. वही, पृ० 145।

"इसके शासन मे सबसे पहला कार्य यह हुआ कि उसने अपने राज्य के सब मन्दिरों को, वे आस्तिकों के हो अथवा नास्तिकों के, जैनो के हों अथवा ब्राह्मणों के, नष्ट करवा दिया ।[1] इसी मे आगे यह भी बताया गया है कि समधर्मानुयायियो के मतभेदो और वैमनस्यो के कारण भी लाखो को क्षति पहुची है । उदाहरणार्थ-तपागच्छ और खरतरगच्छ नामक मुख्य (जैन धर्म के) भेदो के आपसी कलह के कारण ही पुराने लेखों का नाश अधिक हुआ है और मुसलमानो द्वारा कम ।"[2] टॉड को यह तथ्य स्वयं विद्वान् जैनों के मुख से सुनने को मिला ।

अत ग्रन्थो और लेखो के नाश मे साम्प्रदायिक विद्वेष का भी बहुत हाथ रहा है, सम्भवत बाहरी आक्रमणों से भी अधिक । यद्यपि अलाउद्दीन के आक्रमण का उल्लेख करते हुए टॉड ने लिखा है कि "सब जानते है कि खून के प्यासे अल्ला (अभिप्राय अलाउद्दीन से है) ने दीवारो का तोडकर ही दम नही ले लिया था वरन् मन्दिरो का बहुत-सा माल नीवो मे गडवा दिया, महल खडे किये और अपनी विजय के अन्तिम चिह्नस्वरूप उन स्थलों पर गधों से हल चलवा दिया, जहाँ वे मन्दिर खड़े थे ।"[3]

अत इन स्थितियो के कारण ग्रन्थो के रख-रखाव के साथ ग्रन्थागारो या पोथी-भडारो को भी ऐसे रूप मे बनाने की समस्या थी कि किसी आक्रमणकारी को आक्रमण करने का लालच ही न हो पाये । इसीलिये ये भण्डार तहखानो मे रखे गये । टॉड ने बताया है कि "यह भण्डार नये नगर के उस भाग मे तहखानो मे स्थित है जिसको सही रूप मे अणहिलवाडा का नाम प्राप्त हुआ है । इसकी स्थिति के कारण ही यह अल्ला (उद्दीन) की गिद्ध-दृष्टि से बचकर रह गया अन्यथा उसने तो इस प्राचीन आवास मे सभी कुछ नष्ट कर दिया था ।"[4]

टॉड महोदय का यही विचार है कि भू-गर्भ स्थित होने के कारण यह भण्डार बच गया, क्योकि ऊपर ऐसा कोई चिह्न भी नही था जिससे आक्रमणकर्त्ता यह समझ कर आकर्षित होता कि यहाँ भी कोई नष्ट करने योग्य सामग्री है ।

'जैन ग्रन्थ भडार्स इन राजस्थान' मे डॉ० कासलीवाल जी ने भी बताया है कि · अत्यधिक असुरक्षा के कारण ग्रथ भण्डारो को सामान्य पहुँच से बाहर के स्थानों पर स्थापित किया गया । जैसलमेर मे प्रसिद्ध जैन-भण्डार इसीलिए बनाया गया कि उधर रेगिस्तान मे आक्रमण की कम सम्भावना थी । साथ ही मन्दिर मे भूगर्भस्थ कक्ष बनाये जाते थे और आक्रमण के समय ग्रन्थों को इन तहखानो मे पहुँचा दिया जाता था । सागानेर, आमेर, नागौर, मौजमाबाद, अजमेर, जैसलमेर, फतेहपुर, दूनी, मालपुरा तथा कितने ही अन्य (जैन) मन्दिरों में आज भी भूगर्भित कक्ष है, जिनमे ग्रन्थ ही नहीं मूर्तियाँ भी रखी जाती हैं । आमेर में एक वृहद् भण्डार था, जो भू-गर्भ कक्ष मे ही था और अभी केवल तीस वर्ष पहले ही ऊपर लाया गया । जैसलमेर के प्रसिद्ध भण्डार का सम्पूर्ण अश तहखाने मे ही सुरक्षित था । ऐसे तहखानो में ही ताड़पत्र की पुस्तकें तथा कागज की बहुमूल्य पुस्तकें रखी

1. टॉड, जैम्स—पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ० 202 ।
2. वही, पृ० 298 ।
3. वही, पृ० 237 ।
4. वही, पृ० 246 ।

जाती थी। लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि इससे भी बड़ा भण्डार जैसलमेर में अब भी भूगर्भस्थ-कक्ष मे है।"[1]

सामान्य पहुँच से दूर स्थानों पर ग्रन्थ-भण्डारो के रखने के कई उदाहरण मिलते हैं। डॉ० रघुवीर ने मध्य एशिया मे तुन्ह्वांङ स्थान की यात्रा की थी। यह स्थान बहुत दूर रेगिस्तान से घिरा हुआ है। यहाँ पहाड़ी मे खोदी हुई 476 से ऊपर गुफाएँ हैं जिनमें अजन्ता जैसी चित्रकारी है, और मूर्तियाँ है। यहाँ पर एक बन्द कमरे मे, जिसमें द्वार तक नही था, हजारो पाडुलिपियाँ बन्द थीं, आकस्मिक रूप से उनका पता चला। एक बार नदी मे बाढ़ आ गई, पानी ऊपर चढ आया और उसने उस कक्ष की दीवार में सध कर दी जिसमे किताबें बन्द थी। पुजारी ने ईंटो को खिसका कर पुस्तको का ढेर देखा। कुछ पुस्तके उसने निकाली। उनसे विश्व के पुराशास्त्रियो मे हलचल मच गई। सर औरील स्टाइन दौड़े गये और 7000 खरड़े (Rolls) या कुंडली ग्रन्थ वहां के पुजारी से खरीद कर उन्होंने ब्रिटिश म्यूजियम को भेज दिये। 'ट्रेजर्स ऑव द ब्रिटिश म्यूजियम' मे इसका विवरण यो दिया गया है :

"Perhaps his (Stein's) most exciting discovery, however, was in a walled-up chamber adjoining the caves of the thousand Buddhas at Tunhuang on the edge of the Gobi Desert. Here he found a vast library of Chinese Manuscript rolls and block prints, many of them were Buddhist texts translated from the Sanskrit The climate which had driven away the traders by depriving them of essential water supplies had favoured the documents they had left behind. The paper rolls seemed hardly damaged by age. Stein's negotiations with the priest incharge of the sanctuary proved fruitful He purchased more than 7,000 paper rolls[2] and sent them back to the British Museum. Among them are 380 pieces bearing dates between A D. 406 and 995. The most celebrated single item is a well-preserved copy of the **Diamond Sutra**, printed from wooden blocks, with a date corresponding to 11 May, A D. 868. This scroll has been acclaimed as 'the world's oldest printed book', and it is indeed the earliest printed text complete with date known to exist."[3]

सभी ग्रन्थ अच्छी दशा मे मिले। कहाँ सातवी-आठवी ईस्वी शताब्दी से पूर्व के ग्रन्थ कहाँ बीसवी शताब्दी ई०, इतने दीर्घकाल तक अच्छी दशा में अच्छी तरह सुरक्षित (Well Preserved) ग्रन्थो के रहने का कारण एक तो दूर-दराज का रेगिस्तानी पहाड़ी

1 Kashwal, K. C. (Dr.)—Jain Grantha Bhandars in Rajasthan, p. 23–24.
2. आचार्य रघुवीर की डायरी के आधार पर उक्त लेख में डॉ० लोकेशचन्द ने बताया है कि यह 17 न० की गुफा थी। इसमे 30,000 वलयिताएँ (Paper rolls) थी। उन्होंने यह भी बताया है कि स्टाइन के बाद पेरिस के प्राध्यापक पेलियो आये, यहाँ 6 महीने रहे और बहुत-सी वलयिताएँ ले गये। शेष 8000 पेइचिङ् में रखी गईं। — धर्मयुग, 23 दिसम्बर, 1973
3, Francis, Frank (Ed.)—Treasures of the British Museum, p. 251.

縮尺 1/1000
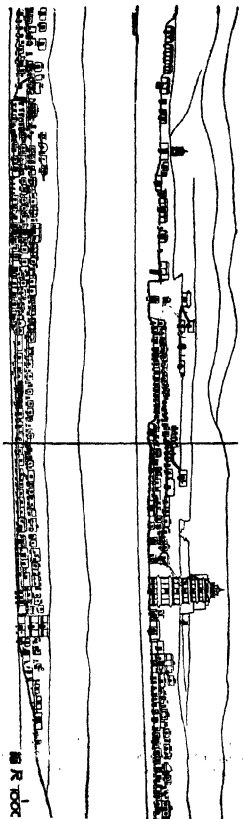
तुन्ह्वाङ की 476 गुफाओं का डॉ० लोकेशचन्द्र द्वारा प्रस्तुत किया गया रेखाचित्र--विशाल रेगिस्तानी क्षेत्र में ये फैली हुई हैं। हान् वंश के समय जहाँ चीनी सैनिकों की मशाले देश की रक्षा करती थीं। इन्हीं मशालों के कारण इसका नाम तुन् (धधकती) ह्वाङ् (केतु) पड़ा। रेगिस्तान, पहाड़, नदी के कारण यह सुरक्षित स्थान माना गया।

स्थान दूसरे, रखने की व्यवस्था—जिस कक्ष मे उन्हे रखा गया था वह अच्छी तरह बन्द कर दिया गया था, यहाँ तक कि बौद्ध पुजारी को भी उनका पता ही नही था कि वहाँ कोई ग्रन्थ-भण्डार भी है। उसका आकस्मिक रूप से ही पता लगा।[1]

इसी प्रकार हम बचपन मे यह अनुश्रुति सुनते आये थे कि सिद्ध लोग हिमालय की गुफाओ मे चले गये हैं। वहाँ वे आज भी तपस्या कर रहे है। डॉ० बशीलाल शर्मा ने 'किन्नौरी लोक-साहित्य' पर अनुसंधान करते हुए एक स्थान पर लिखा है :

'निङपा-लामा भी कन्दराओ मे प्राचीन ग्रन्थो व लामाओ की खोज करने लगे और उनके शिष्यो ने इन स्थानो मे साधना आरम्भ की। उन लोगो का कथन था कि इन गुप्त स्थानो पर पद्मसम्भव द्वारा रचित ग्रन्थ है तथा इस धर्म मे विश्वास करने वाले कुछ महात्मा भी कन्दराओ मे छिपे बैठे है।"[2]

इन्होंने मौखिक रूप से मुझे बताया था कि वे एक बौद्ध लामा के साथ एक कन्दरा मे होकर एक विशाल बिहार मे पहुँचे, जहाँ सबकुछ सोने से युक्त जगमगा रहा था। इन्हें वहाँ एक ग्रन्थ देखना और समझना था, अत. हिमालय की कन्दराओ और गुफाओं मे ग्रन्थ-भण्डारों की बात केवल कपोल-कल्पना ही नही है।

तात्पर्य यह है कि सुरक्षा और स्वस्थता की दृष्टि से हिमालय की गुफाओ मे भी ग्रन्थ रख गये। बिहारो मे तो पुस्तकों का संग्रह रहता ही था, उसकी पूजा भी की जाती थी। श्री राम-कृष्ण कौशल ने 'कमनीय किन्नौर'[3] मे बताया है कि "15 आषाढ़ की कानम् मे 'कजुरजनो' उत्सव मनाया जाता है। उस अवसर पर सब शिक्षित अथवा अशिक्षित जन श्रद्धाभाव से कानम् बिहार के वृहद् पुस्तकालय के दर्शनों के लिए जाते हैं। कानम् का यह पुस्तकालय ज्ञान-मन्दिर के रूप मे प्रतिष्ठित है।"

इन उल्लेखो से स्पष्ट होता है कि ग्रन्थो की रक्षा की दृष्टि से ही पुस्तकालयो के स्थान चुने जाते थे और उन स्थानो मे सुरक्षित कक्ष भी उनके लिए बनाये जाते थे। साथ ही उनका ऊपर का रूप भी ऐसा बनाया जाने लगा कि आक्रमणकारी का ध्यान उस पर न जाय।

'भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला' के लेखक मुनि श्री पुण्यविजय जी[4] ने 'पुस्तकु अने ज्ञान भण्डारोनु रक्षण' शीर्षक मे बताया है कि पुस्तकों और ज्ञान-भण्डारो के रक्षण की आवश्यकता चार कारणो से खडी होती है :

(1) राजकीय उथल-पुथल
(2) वाचक की लापरवाही

1. आचार्य रघुवीर के सुपुत्र डॉ० लोकेशचन्द्र ने अपने लेख 'मध्य-एशिया की अथकती गुफाओं में आचार्य रघुवीर' शीर्षक लेख (धर्मयुग 23 दिसम्बर, 1973) मे बताया है कि "यह शिलालेख मोगाओकू गुफा मे है जो तुनह्वा की सबसे पहली गुफा है। थाङ्कालीन शिलालेख के अनुसार सन् 366 मे भारतीय भिक्षु लोजुन ने इसका मगलारम्भ किया था।" (पृ० 28)। तो स्पष्ट है कि 4थी शताब्दी ईस्वी मे इन गुफाओ का आरम्भ हो गया था।
2. शर्मा, बशीलाल (डॉ०) – किन्नौरी लोक-साहित्य (अप्रकाशित शोध-प्रबंध), पृ० 501।
3. कौशल, रामकृष्ण—कमनीय किन्नौर, पृ० 22।
4 भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 109।

(3) चूहे, कंसारी आदि जीव-जन्तुओं के आक्रमण, और

(4) बाहर का प्राकृतिक वातावरण ।

राजकीय उथल-पुथल की दृष्टि से रक्षा के लिए उन्होंने लिखा है, "आ तेमज आना जेवा बीजा उथल-पाथलना जमानामा ज्ञान भण्डारोनी रक्षा माटे बहारथी सादां दिखातां मकानों मां तेने राखवान्तं आवता ।" यद्यपि मुनि पुण्यविजय जी यह मानते हैं कि कितने ही बड़े मन्दिरो मे जो भूगर्भस्थ गुप्त स्थान हैं वे बडी मूर्तियों को सुरक्षित रखने के लिए हैं क्योंकि उनको अनायास ही स्थानान्तरित नही किया जा सकता था । इससे भी यह बात सिद्ध है कि मन्दिरों मे गुप्त स्थान थे और हैं और, उनमे ग्रन्थ-भण्डारों को भी सुरक्षित किया गया । कुछ ग्रंथ-भण्डारों के तहखानों में होने के प्रमाण कर्नल टॉड की साक्षी से ही मिल जाते है, तो ये दोनों उपाय राजकीय उथल-पुथल से रक्षा करने के लिए काम मे लाये जाते थे ।

वाचकों और पाठको की लापरवाही से बचाने के लिए जो बातें की जाती थी उनमे से एक तो यह कि वाचको के ऐसे संस्कार बनाये जाते थे कि जिससे वे पुस्तको के साथ प्रमाद न कर सकें । दूसरे, इसी सांस्कृतिक शिक्षण की व्याप्ति भारत के घर-घर मे देखी जा सकती है, यथा जहाँ लिखने-पढ़ने की कोई वस्तु, पुस्तक हो, दवात हो, लेखनी हो, कागज का टुकडा ही क्यो न हो, नीचे जमीन पर कही गिर जाये, अशुद्ध स्थल पर गिर जाय अशुद्ध हाथों से छू जाए तो उसे पश्चाताप के भाव से सिर पर लगा कर तब यथा-स्थान रखने की सांस्कृतिक परम्परा आज भी मिलती है । इससे ग्रन्थों और तद्विषयक सामग्री की रक्षा की भावना सिद्ध होती है ।

पुस्तको को पढ़ने के लिए या तो चौकी का उपयोग होता था या सम्पुटिका (टिखटी) का उपयोग किया जाता था । इससे पुस्तक का जमीन से स्पर्श नही होता था । यह भी नियम था कि स्वच्छ होकर, हाथ-पैर धोकर पुस्तक पढी जानी चाहिये । वैसे यह नियम यद्यपि हमारे समय मे धीरे-धीरे केवल धार्मिक पुस्तकों के लिए लागू होने लगा था । फिर भी, इसकी प्रकृति से भी पता चलता है कि पुस्तको की सुरक्षा की दृष्टि से उनके प्रति अत्यधिक आदर-भाव पैदा किया जाता था, वे पुस्तकें किसी भी विषय की क्यो न हों । इसी को मुनिजी ने इन शब्दो मे बताया है 'पुस्तकनू अपमान थाइ नही, ते बगड़े नही, तेने पानु बने के उडे नही, पुस्तक ने शर्दी गर्मी वगेरेनी असर न लागे ये माटे पुस्तक ने पाठांनि वचमा राखी तेने ऊपर कवुल्टी अने बंधन वीटानि तेने सांपडा ऊपर राखता । जे पाना वाचनमा चालू होय तेमने एक पाटी ऊपर मू हकी, तेने हाथनो पासेवो ना लागे ये माटे पानू अने अंगुठानी वचमा काम्बी के छेवटे कागज ना टुकडो जे बुंकाई राखो ने वाचता । चौमासानी ऋतुमा शर्दी भरमा वातावरणो समयानां पुस्तक ने भेज न लागे अने ते चोटीन जाय ये माटे खास वाचननो उपयोगी पानाने बहारराखी बाकीनां पुस्तक ने कवली कपडु वगेरे लपेटी ने राखता ।"[1] इन विवरणो से स्पष्ट है कि वाचन-पठन के लिए टिखटी पर पुस्तक रखी जाती थी । सब प्रकार से स्वच्छ होकर पढ़ने बैठते थे । पन्ने न खराब हो इसलिए काम्बी या पटरी जैसी वस्तु पंक्तियों के सहारे रखकर पढ़ते थे, इस प्रकार से उँगलियाँ नहीं लग पाती थीं । गर्मी–सर्दी से बचाने के लिए ग्रन्थों को कपड़ों के बंधे,

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 113 ।

बस्ते में बन्द करके रखते थे या उन्हें संदूक या पेटी में। उनके ऊपर ग्रन्थ-विषयक ग्रावश्यक सूचना भी रहती थी।

चूहे तथा कंसारी एवं ग्रन्य जीव-जन्तुग्रों से रक्षा के लिए मुनिजी ने प्राचीन-जैन-परम्परा में घोड़ा बच या सं० उग्रगधा पुस्तकों की संग्रह-पेटियो मे डाली जाती थी। कपूर का उपयोग भी इसीलिए किया जाता था। इसी के लिए यह विधान था कि पुस्तकें दोनो ग्रोर से दावड़ों से दाब कर पुट्ठों को पार्श्वों मे रख कर खूब कस कर बांध दे। फिर इन्हें बस्तों में बांध कर पेटी मे रख दें।

बाहरी प्राकृतिक वातावरण से रक्षा

इस सम्बन्ध मे मुनिजी ने बताया है कि धूप मे ग्रन्थ नही रखे जाने चाहिये। यदि ग्रथों में चौमासे या बरसात की नमी बैठ गई हो तो धूप से बचा कर ऐसे गर्म स्थान मे रख कर सुखाना चाहिये, जहां छाया हो।

पुस्तकों में नमी के प्रभाव से पन्ने कभी-कभी चिपक जाते हैं। ऐसा स्याही के बनाने में गोंद मात्रा से ग्रधिक पड़ जाने से होता है। नमी से बचाने के लिए एक उपाय तो यही बताया गया है कि पुस्तक को बहुत कस कर बाँधना चाहिये, इससे कीड़े-मकोड़ो से ही रक्षा नहीं होती, वातावरण के प्रभाव से भी बच जाते हैं।

दूसरा उपाय यह बताया गया है कि चिपकने वाली स्याही वाले पन्नों पर गुलाल छिडक देना चाहिये, इससे पन्ने चिपकेंगे नही।

चिपके हुए पन्नों को एक-दूसरे से ग्रलग करने के लिए यह ग्रावश्यक है कि ग्रावश्यक नमी वाली हवा उसे दी जाय ग्रौर तब धीरे-धीरे सम्भाल कर पन्नो को एक-दूसरे से ग्रलग किया जाय या चौमासे की भारी बरसात की नमी का लाभ उठा कर पन्ने सम्भाल कर धीरे-धीरे ग्रलग किये जाये, ग्रौर बाद मे उन पर गुलाल छिडक दिया जाय, ग्रर्थात् भुरक दिया जाय।

ताड़-पत्र की पुस्तको के चिपके पन्नो को ग्रलग-ग्रलग करने के लिए भीगे कपड़े को पुस्तक के चारो ग्रोर लपेट कर ग्रपेक्षित नमी पहुँचायी जाय, ग्रौर पन्ने जैसे-जैसे नम होते जायें, उन्हे ग्रलग-ग्रलग किया जाय।

इस प्रकार जैन-शास्त्रीय परम्परा मे ग्रन्थ-सुरक्षा के उपाय बताये गये हैं।

ग्रौर, इसी दृष्टि से हम 1822 ई० में लिखे ग्रह्लिवाड़े के ग्रन्थ-भण्डार (पोथी-भण्डार) के टॉड के बर्णन से कुछ उद्धरण पुनः देते हैं.

क–"ग्रब हम दूसरे उल्लेखनीय विषय पर ग्राते हैं वह है, पोथी-भण्डार ग्रथवा पुस्तकालय जिसकी स्थिति जिस समय मैंने उसका निरीक्षण किया उस समय तक बिल्कुल ग्रज्ञात थी।"

ख–"तहखानों में स्थित है।"

ग–"मेरे गुरु जी .... वहाँ पहुँचते ही सबसे पहले वे भण्डार की पूजा करने के लिए जा पहुँचे। यद्यपि उनकी सम्मानपूर्ण उपस्थिति ही कुलुफ(मोहर) तोड़ने के लिए पर्याप्त थी परन्तु नगर-सेठ के ग्राज्ञा-पत्र बिना कुछ नहीं हो सकता था। पंचायत बुलाई गई ग्रौर उनके समक्ष मेरे यति ने ग्रपनी पत्रावली ग्रथवा हेमाचार्य की ग्राध्यात्मिक शिष्य-परम्परा में होने का वंश-वृक्ष उपस्थित किया, जिसको देखते ही उन लोगों पर जादू का-सा ग्रसर हुआ ग्रौर उन्होंने मुझको झट तहखाने में उतर कर ग्रुग्रों पुराने भण्डार की पूजा करने के

लिए आमन्त्रित किया।

घ–तहखाने के तग अत्यन्त घुटनपूर्ण वातावरण के कारण उनको इस (ग्रन्थ) अन्वेषण से विरत होना पड़ा।

ङ सूची की एक बडी पोथी है और इसको देख कर इन कमरो ने भरे हुए ग्रथो की सख्या का जो अनुमान मुझे उन्होने बताया उसे प्रकट करने मे मुझे अपनी एव मेरे गुरु की सत्य शीलता को सन्देह मे डालने का भय लगता है।'

च वे ग्रन्थ (I) सावधानी से सन्दूको मे रखे हुए थे जो

(II) मुग्ग अथवा कग्गार की लकडी (Caggar wood) के बुरादे से भरे हुए थे। यह मुग्द का बुरादा कीटाणुओ से रक्षा करने का अचूक उपाय है।

छ–सूची म और सन्दूको की सामग्री म बहुत अन्तर था।

ज इस सग्रह की रखवाली बड सन्देहपूर्ण ढग से की जाती है और जिनका इसमे प्रवश है वे ही इसके बारे मे कुछ जानते है।'

इन विवरणो से विदित होता है कि भारत म प्राचीन काल म ग्रन्थो की रक्षा क प्रति बहुत सचेतन दृष्टि थी इसक लिए स्थान के चुनाव उसको आक्रमणकारी की दृष्टि से बचाने के उपाय उनके रख रखाव म अत्यन्त सावधानी तथा अत्यन्त पूज्यभाव मे उनके उपयोग की सास्कृतिक आचारिकता पैदा करन के प्रयत्न निरन्तर रहे है।

रख रखाव की जिस व्यवस्था का कुछ सकेत ऊपर किया गया है, उसी की पुष्टि ब्यूह्लर[1] के इस कथन से भी होती है

(93) Wooden covers, cut according to the size of the sheets were placed on the Bhurja and palm leaves which had been drawn on strings and this is still the custom even with the paper MSS[553] In Southern India the covers are mostly pierced by holes through which the long strings are passed The latter are wound round the covers and knotted This procedure was usual already in early times[554] and was observed in the case of the old palm leaf MSS from Western and Northern India But in Nepal the covers of particularly valuable MSS (Pustaka) which have been prepared in this manner are usually wrapped-up in dyed or even embroidered cloth Only in the Jaina libraries the palm leaf MSS sometimes are kept in small sacks of white cotton cloth, which again are fitted into small boxes of white metal The collections of MSS which frequently are catalogued and occasionally in monasteries and in royal courts are placed under librarians, generally are preserved in boxes of wood or cardboard Only in Kashmir, where in accordance with Muhammadan usage the MSS are bound in leather, they are put on shelves, like our books.

1 Buhler, G — Indian Palaeography, p 147–48.
553 Beruni, India I 171 (Sachau)
554 Cf Harsacarita, 93 where the sutravestanam of a MS is mentioned

डॉ. ब्यूह्लर के उक्त कथन से उन सभी बातों की पुष्टि हो जाती है, जो हमने अन्य स्रातो से दी हैं। कर्नल टॉड ने कृमि, कीटो से रक्षा के लिए जिस बुरादे का उल्लेख किया है, उसकी चर्चा ब्यूह्लर महोदय ने नही की। अच्छे बडे भण्डारो में सूची-पत्र (कैटेलॉग) भी रहते थे, यह सूचना भी हमे टॉड महोदय से मिल गयी थी। यह अवश्य प्रतीत हुआ कि लम्बे उपयोग के कारण जो ग्रथ इधर-उधर हो गये उनसे सूचीपत्र का ताल-मेल नहीं बिठाया जाता रहा ; इसीलिए सूचीपत्र और सन्दूको के ग्रन्थों मे अन्तर पाया गया। सिले थैली-नुमा बस्तों मे ग्रन्थो को रखने की प्रथा भी केवल जैन ग्रथागारो मे ही नही, अन्य ग्रंथागारों मे भी मिलती है। ग्रथागारो मे ग्रथो के वेष्टनो के ऊपर ग्रंथनाम, ग्रथकर्त्तानाम, लिपिकर्त्तानाम, रचनाकाल, लिपिकाल, ग्रथप्रदाता का नाम, श्लोक सख्या आदि सूचनाएँ दाबों पर, पाटों या पुट्ठो पर लिखी जाती थी। इससे बस्ते या पेटी के ग्रंथों का विवरण मिल जाता था।

बर्नेल महोदय ने जाने कैसे यह आरोप लगा दिया था कि ब्राह्मण पाडुलिपियो को बुरी तरह रखते है। इसका ब्यूह्लर ने ठीक ही प्रतिवाद किया है कि यह समस्त भारत के सम्बन्ध मे सही नही है, समस्त दक्षिण भारत के लिए भी ठीक नही। ब्यूह्लर ने बताया है कि गुजरात, राजपूताना, मराठा प्रदेश तथा उत्तरी एवं मध्य भारत मे कुछ अव्यवस्थित संग्रहो के साथ, ब्राह्मणो तथा जैनो के अधिकार मे विद्यमान अत्यन्त ही सावधानी से सुरक्षित पुस्तकालयो को देखा है।

इस कथन से भी यह सिद्ध होता है कि भारत मे ग्रथो की सुरक्षा पर सामान्यतः अच्छा ध्यान दिया जाता था।

प्राचीन काल मे पाश्चात्य देशो मे पेपीरस के खरीतो (Scrolls) को सुरक्षित रखने के लिए पार्चमेण्ट के खोखे बनाये जाते थे और उनमे खरीतो को रखा जाता था।[1] बहुत महत्त्व के कागज-पत्रो को रखने के लिए भारत मे भी लोहे या टीन के ढक्कन वाले खोखो का उपयोग कुछ समय पूर्व तक होता रहा है।

कागज मे विकृतियाँ कुछ अन्य कारणो से भी होती है, उनमे से एक स्याही भी है। श्री गोपाल नारायण बहुरा ने इस सम्बन्ध मे जो टिप्पणी प्रस्तुत की है उसमे उन बातो का उल्लेख किया है जिनसे पाडुलिपियाँ रुग्ण हो जाती हैं। इन बातों मे ही स्याही के विकार से भी पुस्तके रुग्ण हो जाती है यह भी बताया है।[2] साथ ही इन विकारों से सुरक्षित रखने के उपायों का भी उल्लेख किया है।[3]

यहाँ तक हमने प्राचीनकालीन प्रयत्नों का उल्लेख किया है किन्तु आधुनिक युग तो वैज्ञानिक युग है। इस युग के वैज्ञानिक प्रयत्नों से पांडुलिपियो की सुरक्षा के बहुत उपयोगी साधन उपलब्ध हुए है। अभिलेखागारो (आर्काइव्स), पांडुलिपि संग्रहालयो (मैन्युस्क्रिप्ट

1. The Encyclopedia Americana (Vol. IV), p. 224.
2. देखें द्वितीय अध्याय, पृ० 52–61।
3. "The ink used in making records is also important in determing the longevity of the record, certain kinds of ink tend to fade, the writing disappearing completely after a length of time. Other inks due to their acid qualities eat into the paper and destroy it. An ink in an alkaline medium containing a permanent pigment is what is required,"

—Basu, Purendu—Archives and Records : What are They ?

लाइब्रेरी) आदि मे अब इन नये वैज्ञानिक ज्ञान और उपादानों और साधनों के कारण हस्तलेखागारो की उपयोगिता का क्षेत्र भी बढ़ गया है ।

क्षेत्र को बढ़ाने वाले साधनो में दो प्रमुख हैं : एक है, माइक्रोफिल्म तथा दूसरा है, फोटोस्टैट । माइक्रोफिल्म के एक फीते पर कई हजार पृष्ठ उतारे जा सकते हैं, इस पर एक फीते पर कितने ही ग्रन्थ अंकित हो जाते है । ऐसा एक फीता छोटे-से डिब्बे में बन्द कर रखा जा सकता है । इस प्रकार ग्रन्थ अपने लेखन-वैशिष्ट्य के साथ पृष्ठ या पन्ने के यथार्थ चित्र के साथ माइक्रोफिल्म पर उतार कर सुरक्षित हो जाता है । इसे वे शत्रु नहीं स्पर्श कर पाते जिनके कारण मूल ग्रन्थ की वस्तु को हानि पहुँचती है । हाँ, माइक्रोफिल्म की सुरक्षा की वैज्ञानिक विधियाँ भी हैं, जिनसे कभी किसी प्रकार की क्षति की आशंका होते ही उसे सुरक्षित किया जा सकता है ।

किन्तु माइक्रोफिल्मांकित ग्रन्थ को आसानी से किसी भी व्यक्ति को माइक्रोफिल्म की प्रति करके दिया जा सकता है । इस पर व्यय भी अधिक नहीं होता । हाँ, माइक्रोफिल्मांकित ग्रन्थ को पढ़ने के लिए 'रीडर' (पठन-यन्त्र) की आवश्यकता होती है । बड़े सग्रहालयों मे ये बहुत बड़े आकार के यन्त्र भी मिलते हैं । साथ ही 'मेजी-यन्त्र'[1] भी होता है । ऐसे पठन-यन्त्र भी हैं, जिनके साथ ही फिल्म-कैमरा भी लगा रहता है । क. मुं. हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा में माइक्रोफिल्म कैमरा के साथ रीडर भी है । इस रीडर से पुस्तक का यथार्थ आकार ही दर्शित होता है ।

इसी प्रकार फोटो-स्टैट (Photo-stat) यन्त्र से ग्रन्थ की फोटो-प्रतियाँ निकाली जा सकती हैं । ये ग्रन्थ-प्रतियाँ यथार्थ ग्रन्थ की भाँति ही उपयोगी मानी जा सकती हैं । ऐसी प्रतियाँ कोई भी पाठक प्राप्त कर सकता है, अतः सुरक्षा भी बढ़ती है, साथ ही उपयोगिता का क्षेत्र भी बढ जाता है ।

आज पुस्तकालयों एवं अभिलेखागारो आदि के रख-रखाव ने स्वयं एक विज्ञान का रूप ग्रहण कर लिया है । इस पर अंग्रेजी मे कितने ही ग्रंथ मिलते हैं । भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार (National Archives of India) मे अभिलेखागार के रख-रखाव (Archives-keeping) मे एक डिप्लोमा-पाठ्यक्रम का प्रशिक्षण भी दिया जाता है । पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को यह प्रशिक्षण भी प्राप्त करना चाहिए ।

हम यहाँ संक्षेप मे कुछ सकेतात्मक और काम-चलाऊ बातों का उल्लेख किये देते हैं जिससे इसके स्वरूप का कुछ आभास मिल सके और पांडुलिपि-विज्ञान का एक पक्ष अछूता न रह जाय ।

हम यह संकेत ऊपर कर चुके हैं कि जलवायु और वातावरण का प्रभाव सभी पर पड़ता है, तो वह लेखों और तत्सम्बन्धी सामग्री पर भी पड़ता है । किसका, कैसा, क्या प्रभाव पड़ता है, वह नीचे की तालिका में बताया गया है :

जलवायु	वस्तु	प्रभाव
1 गर्म और शुष्क जलवायु	कागज	तड़कने लगता (Brittle) है
	चमड़ा तथा पुट्ठा	सूख जाता है

1. मेज पर रख कर उपयोग में लाया जाने वाला यन्त्र ।

जलवायु	वस्तु	प्रभाव
2. अधिक नमी (humidity)	कागज	सिकुड़ जाता है एवं सील जाता है ।
3. तापमान में अत्यधिक वैविध्य [जाड़ों में 10°सें. (50° फा०) तथा गर्मी में 45° (113° फा०) तक] ।	कागज, चमड़े एवं पुट्ठे	लोच पर प्रभाव पड़ता है ।
4. तापमान 32° से० (90° फा० एव नमी 70 प्रतिशत		कीड़े-मकोड़ों, पुस्तक–कीट, सिल्वर–फिश, कौक्रोच, दीमक और फफूँद या चैंपा उत्पन्न हो जाता है ।
5. वातावरण मे अम्ल-गैसों का होना — विशेषतः सल्फर हाइड्रोजन से विकृत वातावरण ।	कागज आदि	बुरा प्रभाव । जल्दी नष्ट हो जाते हैं ।
6. धूल कण	कागज, चमड़ा, पुट्ठा आदि	इनसे अम्ल-गैसों की घनता आती है और फफूँदाणु पनपते हैं ।
7. सीधी धूप	कागज आदि	कागज आदि पर पड़ने वाली सीधी धूप को पुस्तकों का शत्रु बताया गया है । इससे कागज आदि विवर्ण हो जाते हैं, नष्ट होने लगते हैं तथा स्याही का रंग भी उड़ने लगता है ।

उपाय :

भंडारण-भवन को 22° और 25° सें० (72° – 78° फा०) के बीच तापमान और नमी (humidity) 45° और 55 प्रतिशत के बीच रखा जाय ।

साधन :

वातानुकूलन-यन्त्र द्वारा वातानुकूलित भवन में उक्त स्थिति रह सकती है ।

बहुत व्यय-साध्य होने से यदि यह सम्भव न हो तो अत्यधिक नमी को नियन्त्रित करने के लिए जल-निष्कासक रासायनिकों का उपयोग कर सकते है । ये हैं : ऐल हाइड्रस कैलसियम क्लोराइड और सिलिका गैल (Silica gel) ।

20–25 घन मीटर क्षमता के कक्ष के लिए 2–3 किलोग्राम सिलिका गेल पर्याप्त है । इसे कई तश्तरियों में भर कर कमरे मे कई स्थानों पर रख देना चाहिये । 3–4 घंटे

के बाद यह सिलिका गेल और नमी नहीं सोख सकेगा क्योंकि वह स्वयं उस नमी से परिपूरित हो चुका होगा, अतः सिलिका गेल की दूसरी मात्रा उन तश्तरियों में रखनी होगी। पहले काम में आये सिलिका गेल को खुले पात्रों में रख कर गरम कर लेना चाहिये, इस प्रकार वह पुनः काम मे आने योग्य हो जाता है।

उक्त साधनों से वातावरण की नमी तो कम की जा सकती है, पर यह नमी कभी-कभी कमरों मे सीलन (Dampness) होने से भी बढ़ती है। इस कारण यह आवश्यक है कि भंडारण के कमरो को पहले ही देख लिया जाय कि उनमें सीलन तो नहीं है। भवन बनाने के स्थान या बनाने की सामग्री या विधि मे कोई कमी रह गई है, इससे सीलन है, अतः मकान बनाते समय ही यह ध्यान रखना होगा कि भंडार-भवन सीलन-मुक्त विधि से बनाया जाय। यही इसका एकमात्र उपाय है। नमी और सील को कम करने में खुली स्वच्छ वायु का उपयोग भी लाभप्रद होता है. अतः भंडारण मे खिडकियाँ आदि इस प्रकार बनायी जानी चाहिये कि भंडार की वस्तुओं को खुली हवा का स्पर्श लग सके। कभी-कभी बिजली के पंखों से भी हवा की जा सकती है।

किन्तु साथ ही इस बात का ध्यान भी रखना होगा कि भंडार-कक्ष मे वस्तुओ पर, कागज-पत्रों पर सीधी धूप न पड़े। इससे होने वाली हानि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यदि ऐसी खिडकियाँ हो जिनमे से धूप सीधे ग्रन्थो पर पडती है, तो इन खिडकियो मे शीशे लगवा कर पर्दे डाल देने चाहिये, और इस प्रकार धूप के स्पर्श से रक्षा करनी चाहिये।

पांडुलिपियाँ रखने की अलमारियो का भी सुरक्षा की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। एक तो अलमारियाँ खुली होनी चाहिये जिससे उन्हे खुली हवा लगती रहे और सील न भरे। दूसरे, ये अलमारियाँ लोहे की या किसी धातु की हों, और इन्हे दीवाल से सटा कर न रखा जाय, और परस्पर अलमारियों मे भी कुछ फासला रहना चाहिये इससे सील नही चढ़ेगी। ये अलमारिया ही आदर्श मानी जाती है। दीवालों में बनायी हुई सीमेन्ट की अलमारियाँ भी ठीक नहीं बतायी गई है। धातु की अलमारियो मे सबसे बडी सुविधा यह है कि इन पर मौसम और कीटो (दीमक आदि) का प्रभाव नही पडता, जो लकडी पर पड़ता है, फिर इन्हे अपनी आवश्यकता, सुरक्षा और उपयोगिता के अनुसार व्यवस्थित भी किया जा सकता है।

पांडुलिपियों के शत्रु :

भुकडी (Mould) और फफूंद नामक दो शत्रु हैं जो पांडुलिपियो मे ही पनपते है। फफूंद तो पुस्तको मे पनपने वाला वनस्पतीय-फंगस (Fungus) होता है जबकि मोल्ड में शेष सभी अन्य सूक्ष्म अवयवाणु आते है जो पांडुलिपियों मे हो जाते है। यह पाया गया है कि ये 4 5° सें० (40° फा०) पर धीरे-धीरे बढ़ते है, पर 27–35° सें० (80–95° फा०) पर इनकी बहुत बढ़वार होती है। 38° सें० (100° फा०) से अधिक तापमान मे इनमें से बहुत-से नष्ट हो जाते हैं, अतः इन्हें रोकने के लिए भंडारण भवन का तापमान 22–24° सें० (72–75° फा०) तक रखा जाना चाहिये। साथ ही नमी (ह्यूमिडिटी) 45–55 प्र० श० के बीच रहनी चाहिये।

यदि भंडारण-कक्ष को उक्त मात्रा में तापमान और नमी का अनुकूलन सम्भव न हो तो एक दूसरा उपाय थाईमल रसायन से वाष्प-चिकित्सा (Fumigation) है।

थाईमल चिकित्सा की विधि :

एक वायु विरहित (एयरटाइट) बाक्स या बिना खाने की अलमारी लें। इसमें नीचे के तल से 15 सें० मी० की ऊँचाई पर तार के जालों का एक बस्ता लगाये, उस पर ग्रन्थों को बीच से खोल इस प्रकार रखें कि उसकी पीठ ऊपर रहे और वह ˄ रूप मे रहे। थाईमल वाष्प-चिकित्सा के लिए जो ग्रन्थ इस यन्त्र मे रखे जाये उनमे उक्त अवयवाणुओं ने जहाँ घर बनाये हो पहले उन्हे साफ कर दिया जाय। इस सफाई द्वारा फफूंदादि एक पात्र मे इकट्ठी कर जला दी जाय। उसे भंडार में न बिखरने दिया जाये। इसके बाद ग्रन्थ को यन्त्र में रखे। इसके नीचे तल पर 40–60 वाट का विद्युत लैंप रखें और उस पर एक तश्तरी मे थाइमल रख दें जिससे लैंप की गर्मी से गर्म होकर वह थाइमल पाडुलिपियों को वाष्पित कर सके। एक क्यूबिक मीटर के लिये 100–150 ग्राम थाइमल ठीक रहता है। 6–10 दिन तक पाडुलिपियो को वाष्पित करना होगा और प्रतिदिन दो से चार घन्टे विद्युत लैम्प जला कर वाष्पित करना अपेक्षित है।

इससे ये सूक्ष्म अवयवाणु मर जायेंगे, पर जो क्षत और धब्बे इनके कारण उन पर पड चुके हैं, वे दूर नही होगे।

जहाँ नमी को 75 प्रतिशत से नीचे करने के कोई साधन उपलब्ध नहीं हो वहाँ मिथिलेटेड स्पिरिट में 10 प्रतिशत थाईमल का घोल बनाकर, ग्रन्थागार मे कार्य के समय के बाद संध्या को कमरे मे उसको फुहार कर दिया जाय और खिड़कियाँ तथा दरवाजे रात-भर के लिये बन्द कर दिये जायें। इन अणुओ के कमरे मे ठहरे हुए सूक्ष्म तंतु, जो पुस्तकों पर बैठ कर फफूंद आदि पैदा करते है, नष्ट हो जायेगे। इस प्रकार ग्रन्थागार की फफूंद आदि से रक्षा हो सकेगी।

कीड़े-मकोड़े :

कई प्रकार के कीड़े-मकोड़े भी पांडुलिपियो और ग्रन्थों को हानि पहुँचाते हैं। ये दो प्रकार के मिलते है : एक प्रकार के कीट तो ग्रन्थ के ऊपरी भाग को, जिल्द आदि को, जिल्दबन्दी के ताने-बाने को, चमड़े को पुट्ठे आदि को, हानि पहुँचाते हैं। इनमे एक तो सबके सुपरिचित हैं कोक्रोच, दूसरे हैं, रजत कीट (सिल्वर फिश)। यह कीट बहुत छोटा, पतला चाँदी जैसा चमकना होता है।

इनके सम्बन्ध मे पहला प्रयत्न तो यह किया जाना चाहिये कि इनकी संख्या-वृद्धि न हो। इसके लिए एक बात तो यह ध्यान मे रखनी होगी कि भंडार-गृह मे खाने-पीने की चीजे नही आनी चाहिये। इनसे ये आकर्पित होते है, फिर फलते-फूलते है। दूसरे, दीवालो में कही दरारे और सेंधे हो तो उन्हे सीमेंट से भरवा दिया जाय, इससे कीड़ो के छिपने और फलने-फूलने के स्थान नही रहेंगे, और उनकी वृद्धि रुकेगी। साथ ही नेफ्थलीन की गोलियाँ अलमारियो मे हर छः फीट पर रख दी जायें, इससे ये कीट भागते है। किन्तु इन कीटो से पूरी तरह मुक्ति पाने के लिए तो जहरीली दवाओ का छिड़काव करना होगा, ये हैं— डी० डी० टी०, पाट्रोक्ष्यम, सोडियम फ्लोराइड आदि, इन्हे पुस्तको पर नही छिड़कना चाहिये। अँधेरे कोनो, दरारो, छिद्रो और दीवालो आदि पर छिड़कना ठीक रहता है। इन जहरीले छिडकावो का जहर ग्रन्थो पर छिडका गया तो ग्रन्थ भी दाग-धब्बो से युक्त हो जायेंगे।

ये कीट तो ऊपरी सतह को ही हानि पहुँचाते है, पर दो ऐसे कीट हैं जो ग्रन्थ के

भीतर भाग को भी नष्ट करते हैं। इनमें से एक हैं, पुस्तक कीट (Book-worm), तथा दूसरा सोसिड (Psocid) है।

ये दोनों कीट ग्रन्थ के भीतर घुसपैठ कर भीतर के भाग को नष्ट कर देते हैं। बुक-वोर्म या पुस्तक-कीट के लारवे तो ग्रन्थ के पन्नों मे ऊपर से लेकर दूसरे छोर तक छेद कर देता है, और गुफाएँ खोद देता है। लारवा जब उड़ने लगता है तो दूसरे स्थानों पर पुस्तक-कीटों को जन्म देता है। इस प्रकार यह रोग बढ़ता है। सोसिड को पुस्तकों का जूं भी कहा जाता है। ये भीतर ही भीतर हानि पहुँचाते हैं, अतः इनकी हानि का पता पुस्तक खोलने पर ही विदित होता है।

इनको दूर करने का इलाज वाष्प चिकित्सा है, पर यह वाष्प-चिकित्सा घातक गैसों से की जाती है—ये गैसे हैं, एथीलीन ग्राक्साइड (Ethylene Oxide) एव कार्बन डाई ग्राक्साइड मिला कर वातशून्य (Vaccum) वाष्पन करना चाहिये। इसके लिए विशेष यन्त्र लगाना पडता है। यह यन्त्र व्यय-साध्य है, अतः बड़े ग्रन्थागारों की सामर्थ्य मे तो हो सकता है, पर छोटे ग्रन्थागारों के लिए यह असाध्य ही है, अत. एक दूसरी विधि भी है पैरा-डाइक्लोरो-बेनजीन (Para-dichloro benzene) या तरल किल्लोप्टेरा (Liquid Kelloptero) जो कार्बन टेट्राक्लोराइड और एथेलीन डाइक्लोराइड का सम्मिश्रण होता है, लिया जा सकता है। इससे वाष्प-चिकित्सा के लिये एक स्टील की ऐसी अलमारी लेनी होगी, जिसमे हवा न घुस सके। इसमे खानो के लौह तख्तो म छेद कर दिये जाने चाहिये। इन तख्तों पर सम्पूर्ण लेखो को बिछा दिया जाता है और नत्थियो तथा ग्रन्थो को इस रूप मे बीच खोल कर रख दिया जाता है।

यदि पैरा-डाइक्लोरो-बेनजीन से वाष्पित करना है तो शीशे के एक जार (Jar) मे एक घन मीटर के लिए 1·5 किलोग्राम उक्त रासायनिक घोल भर कर उक्त तख्तो के सबसे नीचे के तल मे रख देना चाहिये और अलमारी बन्द कर देनी चाहिये। इसकी गैस हलकी होती है, अतः ऊपर की ओर उठती है। यह रसायन स्वयमेव सामान्य तापमान मे ही वाष्पित हो उठती है। सात-आठ दिन तक रुग्ण ग्रन्थो को वाष्पित होने देना चाहिये।

यदि किल्लोप्टेरा मे वाष्पित करना है तो यह रसायन प्रति एक घन-मीटर के लिए 225 ग्राम के हिसाब मे लेकर इसका पात्र सबसे ऊपर के तन्त्र में या खाने मे रखना चाहिये। इसकी गैस या वाष्प भारी होती है अतः यह नीचे की ओर गिरती है। सात-आठ दिन इससे भी रुग्ण सामग्री को वाष्पित करना चाहिये। इससे ये कीट, इनके लारवे आदि सब नष्ट हो जायेंगे।

पर संधियों मे या जिल्द बधने के स्थान पर बनी नालियो मे इनके जो अंडे होगे वे नष्ट नही हो पायेंगे, और ये अंडे 20–21 दिनों मे लारवे के रूप में परिणत होते हैं, अतः पूरी तरह छुटकारा पाने के लिए उक्त विधि से 21–22 दिन बाद फिर वाष्पित करने की आवश्यकता होगी।

दीमक :

सभी जानते हैं कि दीमक का आक्रमण अत्यन्त हानिकर होता है। ऊपर जिन जन्तुओं का उल्लेख किया गया है वे दीमक की तुलना मे कहीं नहीं ठहरते। दीमक का घर भूगर्भ में होता है। वहाँ से चल कर ये मकानों में, लकड़ी, कागज आदि पर आक्रमण करती

हैं। ये अपना मार्ग दीवालों पर बनाती हैं जो मिट्टी से ढकी छोटी पतली सुरंगो के रूप में यह मार्ग दिखायी पडता है। पुस्तकों को भीतर से, बाहर से सब ओर से, खाती है, पहले भीतर ही भीतर खाती है।

इनको जीवित मारने का कोई लाभ नही होता क्योकि दीमकों की रानी औसतन 30 हजार अडे प्रतिदिन देती है। कुछ को मार भी डाला गया तो इनके आक्रमण मे कोई अन्तर नही पड़ सकता। इससे रक्षा का एक उपाय तो यह है कि नीचे की दीवाल के किनारे-किनारे खाई खोदी जाय और उसे कोलतार तथा क्रियोसोट (Creosote) तेल से भर दिया जाय। इन रासायनिक पदार्थों के कारण दीमक मकान मे प्रवेश नही कर सकेगी।

यदि दीमक मकान मे दिखायी पड जाय तो पहला काम तो यह किया जाना चाहिये कि वे समस्त स्थान, जहाँ से इनका प्रवेश हो सकता है, जैसे-दरारे, दीवालों के जोड या सभी फर्श मे तडके हुए स्थान और छिद्र तथा दीवालो मे उभरे हुए स्थान, इन सभी को तुरन्त सीमेन्ट और ककरीट से भर कर पक्का कर दिया जाय। यदि ऐसा लगे कि फर्श कही-कही से पोला हो गया है या फूल आया है या अन्दर जमीन खोखली है, तो ऊपर का फर्श हटा कर इन सभी पोले स्थानों और खोखलो को सफेद संखिया (White arsenic), डी० डी० टी० चूर्ण, पानी मे सोडियम आर्सेनिक 1 प्रतिशत का घोल या 5 प्रतिशत डी० डी० टी० का घोल, 1 60 (4–5 लीटर प्रति मीटर) के हिसाब से उनमे भर दे। जब ये स्थान सूख जाये तब इन्हे ककरीट सीमेन्ट से भर कर फर्श पक्का कर दिया जाय। ऐसी दीवाले भी कही से पोली या खोखली दिखायी पडे तो इनकी चिकित्सा भी इसी विधि से करदी जानी चाहिये। यदि लकडी की बनी चीजे, किवाड़े आदि दीवालो से जुडी हुई हो तो ऐसे समस्त जोड़ो पर क्रियोसोट तेल चुपड देना होगा, यदि दीमक का प्रकोप अधिक है तो प्रति छठे महीने जोडो पर यह तेल लगाना होगा।

दीमक वाले मकान मे दीवालो मे बनी अलमारियो का उपयोग निषिद्ध है। यदि लकडी की अलमारियाँ या रैक हैं तो इन्हे दीवालों से कम से कम 15 से० मी० दूर रखे और इनकी टागे कोलतार, क्रियोसोट तेल या डीलड्राइन ऐमलसन से हर छठे महीने पोत देना चाहिये। जमीन मे दीमक हो तो आवश्यक है कि इन अलमारियो की टागो को धातु के पात्रो मे रखे और इन पात्रो मे कोलतार या क्रियोसोट तेल भर दे। इससे भी पहले लकड़ी की जितनी भी चीजे है सभी को 20 प्रतिशत जिक क्लोराइड को पानी मे घोल बनाकर उससे पोत दे।

सबसे अच्छा तो यह है कि लकडी की वस्तुओं का उपयोग किया ही न जाय और स्टील के रैकों और अलमारियो का उपयोग किया जाय।

इस प्रकार इस भयानक शत्रु से रक्षा हो सकती है।

इन सभी बातो के साथ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भंडारण के स्थान पर धूल से, मकड़ी के जालों से और ऐसी ही अन्य गन्दगियों से स्वच्छ रखना बहुत आवश्यक है।

भंडारण के स्थान पर खाने-पीने की चीजें नहीं आनी चाहिये, उसमें रासायनिक पदार्थ भी नही रखे जाने चाहिये। सिगरेट आदि पीना पूर्णतः वर्जित होना चाहिये।

आग बुझाने का यन्त्र भी पास ही होना चाहिये।

रख-रखाव में केवल शत्रुओं से रक्षा ही नहीं करनी होती है, परन्तु पांडुलिपियों को ठीक रूप में और स्वस्थ दशा मे रखना भी इसी का एक अंग है। जब पांडुलिपियाँ कही से प्राप्त होती है तो अनेक की दशा विकृत होती है।

इसमे नीचे लिखी बातें या विकृतियाँ सम्मिलित है

1 सिकुडने, सिलवट, गुडी-मुड़ी हुए पत्र।
2 किनारे गुडी-मुडी हुए कागज (पत्र)।
3 कटे-फटे स्थल या किनारे।
4 तडकने वाले या कुरकुरे कागज।
5 पानी से भीगे हुए कागज।
6. चिपके कागज।
7. धुंधले या धुले लेख।
8 जले कागज।
9. कागजों पर मुहरो की विकृतियाँ।

इन विकृतियों को दूर करने के अनेक उपाय है, पर सबसे पहले एक कक्ष चिकित्सा के लिए अलग कर देना चाहिये। इसमे निम्नलिखित सामग्री इस कार्य के लिए अपेक्षित है :

1. मेज जिस पर ऊपर शीशा जुडा हो।
2. छोटा हाथ प्रेस (दाब देने के लिए)।
3. पेपर ट्रीमर (Paper Trimmer)
4. कैंची (लम्बी)
5. चाकू
6. Poring Knives
7. प्याले (पीतल के या इनामिल किये हुए)।
8. तश्तरियाँ (पीतल की या इनामिल की हुई)।
9. ब्रुश (ऊंट के बाल के 205–1.25 से० मी० चौड़ा)।
10. Paper Cutting Slices (सीग के बने हो तो अच्छा है)।
11. फुटा
12. सुइयाँ (बड़ी और छोटी)।
13. बोदकिन (छेद करने के लिए)।
14. तख्त इनामिल किए हुए।
15. शीशे की प्लेटें।
16. देगची लेई बनाने के लिए।
17. बिजली की इस्तरी।

मरम्मत या चिकित्सा की विधि

क–अपेक्षित सामग्री

डॉ० के० डी० भार्गव ने ये सामग्रियाँ बतायी हैं :

1. हाथ का बना कागज :—यह कागज केवल चिथड़ों का बना होना चाहिये। ये

चिथड़े सूती वस्त्रों के या क्षोम (linen) का या दोनों से मिलकर, इसका बना हो, यह सफेद या क्रीम के रंग का हो। इसकी तोल 9–10 कि० ग्रा० (आकार 51×71 सें० मी० फ० 500 कागज) होनी चाहिये। इसका पी० एच० 5·5 से कम न हो। अन्य वैशिष्ट्यों के लिए मूल पुस्तक देखें।[1]

2. ऊति (टिशू) पत्र :— पांडुलिपियों की चिकित्सा के लिये निम्न विशेषताओं वाला पत्र होना चाहिये

(1) इसमे एलफा सैल्यूलोज 88 प्रतिशत से कम न हो,

(2) तौल और आकार 25–35 कि० ग्रा० (63 5×127 सें० मी० 500 पत्रों)।

(3) राख 0·5 प्रतिशत से अधिक नहीं।

(4) पी० एच० 5·5 से कम नही।

इसमे तैल या मोम के तत्त्व न हों।

3. शिफन (Chiffon) नालिवसन :—जिसमें जालरंध्र की संख्या 33×32 प्रति वर्ग से० मी० (83×82 प्रति इंच) हो। इसकी मोटाई 0·085 मि० मी० (औसतन) हो। पी० एच० 6 0–6·5।

4. तैल कागज या मोमी कागज — यह ऐसा हो कि पानी न छने और डैक्सट्राइन या लेई (Starch Paste) की चिपकन को न पकड़े। साथ ही, इसके तैल और मोम के अंश कागज पर धब्बे न डाले।

इनकी तौल निम्न प्रकार की हो तो अच्छा है,

तैल कागज : 22·7 कि० ग्रा० (61×46 से० मी० 500 पत्र)

मोमी कागज ,, ,,

5. मलमल : यह चित्रों और चार्टों पर चढ़ाई जाती है। यह मध्यम आकार की यानी फुलस्कैप के दुगने आकार से भी बड़ी हो। बढ़िया किस्म की औसत से 0·1 मि. मी. मोटाई की। इसके सूत मे कोई गांठ नहीं होनी चाहिये।

6. लंकलाट :—(Long cloth)

7. सैल्यूलोज एसीटेट फायल :—यह पर्ण पांडुलिपि का परतोपचार (लेमीनेशन) करने के काम आता है, यह पर्ण 107 सें. मी. (42 इंच) चौड़े बेलनों के रूप में मिलता है। परतोपचार के लिए यह पर्ण ·0223 मि. मी. मोटाई का अच्छी लोच वाला, अर्द्ध-आर्द्रता कवचित (Semi-moisture proof), इसमें नाइट्रेट अंश न हो।

चिकित्सा :

1. चौरस करना

पांडुलिपि-पत्र के किनारे मुड़े-मुड़े हों तो उन्हें चौरस कर देना चाहिये। इसके लिए पहले भीगे ब्लॉटिंग कागज को पन्नों के किनारों पर कुछ देर रख कर उन्हें नम किया जाय

1. Bhargava, K. D.-Repair and Preservation of Records.

फिर रखे ब्लॉटिंग कागज उस पर रखकर ग्राइरन को कुछ गरम करके उसको त्वरित कर दिया जाय और हाथ के कागज की कतरन चिपका कर किनारे ठीक कर दिये जायें। यदि लिखावट दोनों ओर हो तो टिश्यू कागज का उपयोग किया जाय। यदि पत्र बीच मे जहाँ-तहाँ कटा-फटा हो तो उन स्थानो पर पत्र की पीठ पर हाथ के कागज की चिप्पियाँ चिपका दे। यदि दोनों ओर लिखावट हो तो टिश्यू-कागज चिपका दें।

चिपकाने मे गोद और पेस्ट का उपयोग नही होना चाहिये क्योंकि ये भीगने पर फूलते हैं और गरमी मे सूखते हैं और सिकुड़ते है। इसके लिए मैदा की लेई जिसमें थोड़ा नीला थोथा हो तो अच्छा रहता है, किन्तु दो-तीन दिन बाद फिर नई लेई बनानी चाहिये। टिश्यू कागज का उपयोग किया जाय तो यह लेई नही, डेक्सट्राइन (dextrine) या स्टार्च की पतली लेई काम में लानी चाहिये।

2. अन्य चिकित्साएँ :

पूरा पृष्ठ पर्णन, टिश्यू चिकित्सा, शिफन् चिकित्सा तथा परतोपचार। तड़कने वाले (Brittle) कागजो का सैल्यूलाइज एसीटेट पर्ण से परतोपचार करना आधुनिक पद्धति है। इसके लिए समीचीन परतोपचारक प्रेस (दाब-यन्त्र) की आवश्यकता होती है, उसके अन्य उपकरण भी होते है। सब मिलाकर बहुत व्यय पडता है, एक लाख रुपया तो आसानी से लग सकता है, किन्तु इसके लिये विकल्प भी है, जहाँ इतना कीमती यन्त्रादि नही लिए जा सकते वहाँ विकल्प वाली पद्धति से परतोपचार (Lamination) किया जा सकता है।

(क) पूर्ण पृष्ठ पर्णन

पाडुलिपि का कागज तिरकना हो गया हो, उसका पूर्ण पृष्ठ पर्णन द्वारा चिकित्सा कर दी जाती है। पाडुलिपि एक ओर लिखी हो तो पीठ पर पूरे पृष्ठ पर वर्णन किया जाता है। हाँ, ऐसी पांडुलिपि के पन्ने की पीठ को पहले साफ कर लेना होगा। यदि पीठ पर पहले की चिप्पियाँ चिपकी हो तो उन्हे छुटा देना चाहिये। इसकी प्रयोग-विधि का वर्णन इस प्रकार है।

पाडुलिपि के पन्ने को मोमी कागजों या तैली कागजो के बीच मे रख कर पानी मे आधे से एक घटे तक डुबा कर रखें, फिर निकाल ले। अब चिप्पियाँ आसानी से छुटाई जा सकती है। यदि पाडुलिपि की स्याही पानी में डालने से फैलती हो तो इसे पानी मे न डुबाएँ, अन्य विधि का उपयोग करें. चिप्पियो के आकार की ब्लॉटिंग पेपर की चिप्पियाँ काट कर पानी मे भिगो कर चिप्पियो के ऊपर रख दे। जब गोद कुछ ढीला होने लगे तो छुटा लें।

जब पांडुलिपि की पीठ साफ हो जाय तो पाडुलिपि के पन्ने के आकार से कुछ बड़ा हाथ का बना कागज (पूरा कागज चिथडो से बना) लिया जाय। यह कागज पानी में डुबा कर शीशे से युक्त मेज पर फैला दिया जाय, यदि मेज लकड़ी की हो और ऊपर शीशा न हो तो मोमी या तैली कागज उस पर फैला कर, इस कागज पर वह भीगा कागज फैलाया जाय और एक मुलायम कोमल कपड़े को फेर कर उसकी सिलवटें निकाल कर उसकी कुंडलित रूप में चक्री कर ले, इस प्रकार वह बेलन के आकार का हो जायगा। तब पांडुलिपि के पन्ने को तैली कागज पर औधा बिछा कर उस पर लेई (Starch Paste) ब्रुश से कर दीजिये। कुंडलित हाथ बने कागज को एक छोर पर ठीक बिछा कर इस

कागज को ऊपर फैला दें। साथ ही एक कपड़े से या रूई के swale से उसे पांडुलिपि पर दाब-दाब कर भली प्रकार जमा दे। तब पांडुलिपि को तैल-कागज पर से उठा लें और दाब मे रख कर सूखने दे। इस समय पाडुलिपि की पीठ नीचे होगी। सूख जाने पर 2·3 मि मी पांडुलिपि मूल-पत्र के चारो ओर इस कागज की गोट छोड़कर शेष को कैंची से कतर दीजिये। 2–3 मि मी चारो ओर इसलिये कागज छोड़ा जाता है कि पांडुलिपि के किनारे गुड़-मुड़ न हों।

शिफन-चिकित्सा

शिफन या उच्च कोटि की पारदर्शी सिल्क का गॉज इन पाण्डुलिपियों पर लगाया जाता है जो बहुत जर्जर, स्याही से खाई हुई या कीडों ने खाली हो।

पांडुलिपि के पत्र को साफ कर लें। उस पर लगी चिप्पियों को हटा दे, और उसे मोमी या तैल कागज पर भली प्रकार बिछा दें। उस पर शिफन का टुकडा, जो पांडुलिपि से चारो ओर से कुछ बड़ा हो, फैला दे। अब ब्रुश से लेई (स्टार्च पेस्ट) लगा दें—लेई लगाना बीचोंबीच केन्द्र से शुरू करे और चारो ओर फैलाते हुए पूरे शिफन पर लगा दें। इस पाडुलिपि को मोमी या तैल कागज सहित दूसरे मोमी या तैल कागज पर सावधानी से उलट दें जिससे सिलवटे न पड़े। पहले वाला तैली कागज, जो अब ऊपर आ गया है, उसे धीरे-धीरे पांडुलिपि से अलग कर ले. अब पाडुलिपि के इस ओर भी पहले की तरह शिफन का टुकडा बिछा कर बीच से लेई लगाना शुरू करें और पूरे शिफन पर लेई बिछा दे। अब उसे सूखने दे। आधा सूख जाने पर दूसरा तैली या मोमी कागज ऊपर से रख कर दाब-यन्त्र मे या दो तख्तों के बीच रखकर ऊपर से दाब के लिए बोझ रख दें। पूरी तरह सूख जाने पर पांडुलिपि को सम्भाल कर निकाल लें और किनारो से बाहर निकले शिफन को कैंची से कतर दें।

यदि पाडुलिपि की स्याही पानी से घुलती हो या फैलती हो तो इस प्रक्रिया में कुछ अन्तर करना पड़ेगा। तैली या मोमी कागज पर पांडुलिपि से कुछ बडा शिफन का टुकड़ा बिछा दें और लेई (स्टार्च पेस्ट) बीच से आरम्भ कर चारो ओर बिछा दें। उस पर पांडुलिपि जमा दें। उसके ऊपर मोमी या तैली कागज फैला कर दाब दें। तब शिफन का दूसरा टुकडा लेकर तैली या मोमी कागज पर रख कर उपर्युक्त प्रकार से लेई लगा दें और उस पर पाडुलिपि उस पीठ की ओर से बिछा दे जिस पर शिफन नहीं लगा। उस पर मोमी या तैली कागज रख कर दाब मे यथापूर्व सुखा ले। सूख जाने पर किनारों से बाहर निकले शिफन को कैंची से कतर दे।

टिश्यू-चिकित्सा

जिन पांडुलिपियों की स्याही फीकी नही पडी और जो अधिक जीर्ण नहीं हुए उनकी चिकित्सा टिश्यू-कागज से की जाती है। इसमें सरेसरहित इमिटेशन जापानी टिश्यू-कागज ही, जिसमें तैली या मोमी अश न हो, काम मे आता है। तैली या मोमी कागज पर पांडुलिपि साफ करके फैला दे। उस पर पतला लेप डैक्सट्राइन (Dextrine) का कर दें। पाडुलिपि से कुछ बडा उक्त प्रकार का टिश्यू कागज लेकर अब पांडुलिपि पर फैला दें और भीगे कपड़े या रूई के फाहे से इस कागज को पांडुलिपि पर दाब दें। इसी प्रकार पांडुलिपि की दूसरी ओर भी टिश्यू कागज लगा दें।

यदि डैक्सट्राइन पेस्ट न मिल सके तो स्टार्च या मैदा की पतली लेई से काम चलाया जा सकता है। आजकल सरेस या लेई का उपयोग किया जाने लगा है।

परतोपचार (लेमीनेशन)

परतोपचार के लिए एक यन्त्र अपेक्षित होता है। ऐसा यन्त्र भारतीय अभिलेखागार (नेशनल आर्काइब्स) मे लगा है। यह बहुत व्यय-साध्य है। जो बहुत समर्थ ग्रन्थागार हैं वे नेशनल आर्काइब्स से विस्तृत जानकारी प्राप्त कर अपने भण्डार में यह दाब-यन्त्र (प्रेस) लगवा सकते हैं। इस यन्त्र से सैल्यूलोज ऐसीटेट फाइल के परत पांडुलिपि-पत्र के दोनों ओर जड़ दिये जाते हैं। पांडुलिपि के पत्रो को और पुष्ट करने के लिए टिश्यू कागज भी फॉइल के साथ-साथ जड दिया जाता है। यह यन्त्र तो स्टीम से काम करता है। डबल्यू॰ जे॰ बरो (W. J. Barrow) ने एक विद्युत्-चालित-यन्त्र भी इसी कार्य के लिए निर्मित किया है। ये दोनो यन्त्र ही व्यय-साध्य हैं।

हाथ से परतोपचार

किन्तु 1952 मे भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार की प्रयोगशाला के श्री ओ॰ पो॰ गोयल ने एक नवीन प्रणाली का आविष्कार किया था जिसे हाथ से परतोपचार की प्रणाली कहते हैं। यह प्रणाली अब किसी भी ग्रन्थागार मे काम मे लायी जा सकती है। इसमे न दाब की आवश्यकता है न गरमी पहुँचाने की आवश्यकता है।

एक पॉलिश किये हुए शीशे के तख्ते पर उपचार-योग्य पाडुलिपि का पत्र फैला दिया जाता है। उसे साफ करके ही बिछाना होता है। इसके ऊपर सैल्यूलोज ऐसीटोन फॉइल, जो मूल पाडुलिपि के पन्ने से चारों ओर से कुछ बड़ा हो, फैला देते हैं। इसी के आकार का एक टिश्यू कागज इस फॉइल पर भली प्रकार बिछा दे। अब रूई का एक फाहा लेकर उसे ऐसीटोन मे डुबो कर पोले-पोले टिश्यू कागज पर मले। इस प्रकार ऐसीटोन का हलका लेप टिश्यू पर हो जाता है, जिसमे से ऐसीटोन छन कर सैल्यूलोज फॉइल तक पहुँचता है और उसे अर्द्ध-प्लास्टिक बना देता है। इस प्रकार टिश्यू कागज को पांडुलिपि पर भली प्रकार चिपका लेता है। सूख जाने पर दूसरी ओर भी इसी प्रकार उपचार करना चाहिए।

इस विधि के कई लाभ स्वीकार किय गये हैं। एक तो व्यय अधिक नही, दूसरे, विधि सरल है, तीसरे, इसमे स्याही नही फैलती, कागजों पर लगी मुहरे भी जैसी की तैसी बनी रहती हैं।

पानी से भीगी पांडुलिपियो का उपचार

यदि पांडुलिपियाँ पानी में भीग गई हैं तो उन्हे तुरन्त बाहर निकाल लें और उनका उपचार करे, अन्यथा फफूंद आदि का भय रहता है।

तुरन्त बाहर निकाल कर पहले जितना पानी उनमें से निचोड़ा जा सके, निचोड़ ले। फिर उन्हें खोल-खोल कर कमरे के अन्दर रखे और बिजली के पंखे से हवा दे। साथ ही प्रत्येक पन्ने को एक-दूसरे से अलग कर दें, यदि कुछ पन्ने चिपके दिखायी दें, तो उनको हलके से भोथरें (बिना धार के) चाकू से हलके से एक-दूसरे से अलग कर दें। अब प्रत्येक दो पत्रों के बीच में मोमी कागज या ब्लॉटिंग (सोख्ता) का पन्ना लगा दें। अब उन्हें

भली प्रकार दाब कर बचा पानी भी निकाल दे। इन्हे फिर बिजली के पखे के नीचे कमरे के अन्दर सूखने के लिए फैला दें। ये या तो मेजों पर फैलाये जांय या फिर अरगनियो की डोरियों पर लटकाये जांय। यदि कही बिजली का पंखा न हो तो भण्डार-कक्ष के सभी दरवाजे और खिडकियाँ खोल दे, ताकि स्वच्छ वायु इन पांडुलिपियो को सुखा दे। इन्हें जब-तब लोटते-पलटते रहने की आवश्यकता है, जिससे इनमें सभी ओर हवा लग सके। ऐसी पांडुलिपियो को बिजली के हीटरों या धूप मे नही सुखाना चाहिये।

इनके सूख जाने पर या तो इन पर बिजली का आइरन (इस्तरी) किया जाय या फिर अच्छी दाब मे दाबा जाय।

जो कागज ढेर के ढेर एकसाथ सूखे है, उनके कागज परस्पर चिपके मिलेगे, अतः बहुत सावधानी से उपचार करना होगा। पहले इन्हे भीगे ब्लॉटिगो (सोख्तो) के बीच मे रख कर या अन्य विधि से कुछ नम किया जाय, तब मोथरे चाकू से एक-दूसरे से हलके हाथ से अलग कर दिया जाय।

प० उदयशकर शास्त्री जी ने इसके लिए विधि बताते हुए लिखा है, "इसकी उत्तम विधि यह है कि एक मटके मे पानी भर कर रख दिया जाय, जब वह मटका पानी से बिल्कुल सीम जाय तब उसका पानी निकाल कर फैक दे और ग्रन्थ को उसी मे लकड़ी के एक गुटके के ऊपर रख दे और उस मटके का मुँह बन्द कर दे। कम से कम चार दिन के बाद ग्रन्थ को निकाल लेना चाहिये। इस पद्धति से ग्रन्थ के चिपके हुए पन्ने अपने-आप खुल जाते हैं।"[1]

रख-रखाव सम्बन्धी इन समस्याओ का स्थूल विवरण यहाँ दिया गया है जिससे मात्र दिशा-निर्देश होता है। फिर भी, इन समस्याओं के लिए तथा इनके अतिरिक्त और भी समस्याएँ सामने आ सकती हैं। उनके लिए इन विषयो के विशेषज्ञो से सहायता लेनी चाहिये। नेशनल आर्काइव्ज से हर प्रकार की सहायता मिल सकती है। आर्काइव्ज ने रख-रखाव का एक डिप्लोमा पाठ्य-क्रम भी चलाया है।

कागज को अम्ल (Acid) रहित करना

कागज के जीर्ण होने के कारणों की भी खोज करने के प्रयत्न हुए हैं। बाह्य कारणो का उल्लेख हो चुका है। उनका पता तो लगा ही लिया गया है, पर कागज के अन्दर कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य है, जो उसके ह्रास के या उसकी जीर्णता के कारण बनते हैं, इस सम्बन्ध मे बहुत अनुसन्धान, विशेषत 18 वी और 19 वीं शताब्दी के कागज पर किये गये है। निष्कर्ष यह निकला कि कागज मे अम्ल की अधिकता ही आंतरिक रूप से उसकी जीर्णता का कारण है, भले ही उसे आदर्श भण्डारों में रखा जाय, जहाँ तापमान 22–25° से० और अपेक्षित नमी या आर्द्रता 45–55 प्रतिशत हो, कागज आन्तरिक अम्लता के कारण जीर्ण होगा। यह अम्लत्व कुछ तो उसमें बनाये जाने की प्रक्रिया में ही मिलता है, कुछ स्याही से तथा कुछ उन वस्तुओ से और वातावरण से जिनमें कागज रहता है।

अम्ल-निवारण

अतः यह आवश्यक हो गया कि कागज को निरोग करने के लिए उसे अम्ल-रहित

1. शास्त्री, उदयशंकर—भारतीय साहित्य (जुलाई, 1959)—पृ० 121।

क्रिया जाय। डब्ल्यू. जे. बैरो (W. J. Barrow) ने इसके लिए बहुत कारगर चिकित्सा निकाली है। इस चिकित्सा में कैलसियम हॉइड्रॉक्साइड और कैलसियम बाईकारबोनेट के घोल से कागज को स्नान कराते हैं। इससे कागज की अम्लता दूर हो जाती है तथा आगे भी अम्ल के प्रभाव से कागज की रक्षा हो जाती है, अतः अन्य बाह्य चिकित्साओं से पहले यह अम्ल-निवारण-चिकित्सा करनी चाहिये। राष्ट्रीय-अभिलेखागार (National Archives) में अम्ल-निवारण की जो पद्धति अपनायी जाती है, वह कुछ इस प्रकार है :

पहले दो घोल तैयार किये जांय :

1. **कैलसियम हाइड्रॉक्साइड का घोल (घोल–1)**

5–8 लीटर की क्षमता का शीशे का जार (Jar) लेकर उसमे आधा किलो अच्छी किस्म का खूब पिसा हुआ कैलसियम आक्साइड ले और 2–3 लीटर पानी लें और थोड़ा-थोडा चूर्ण जार मे डालते जांय और तद्नुसार पानी भी डाले और उसे हलके-हलके चलाते जायें। यों हिलाते-हिलाते समस्त चूर्ण और पानी मिल कर दूधिया क्रीम-सी बन जायगी। यह क्रिया बहुत हलके-हलके करनी है। यह घोल बन जाये, 10–15 मिनट बाद इस घोल को 25–30 लीटर की क्षमता के इनामिल्ड (Enamelled) या पोर्सलेन के जार मे भर देना चाहिये। अब फिर हलके-हलके चलाते हुए इसमे पानी डालना चाहिये, इस प्रकार घोल का आयतन 25 लीटर हो जाना चाहिये, अब इसे निथरन के लिए कुछ देर छोड़ देना चाहिये। इससे चूना नीचे बैठ जायगा। अब पानी को हलके से निथार कर अलग कर दिया जायगा और अब फिर धीरे-धीरे चलाते-चलाते उसमें पानी मिलाइए, यहाँ तक कि आयतन में फिर 25 लीटर पानी हो जाय। इस घोल को बराबर और खूब चलाते जाना चाहिये। 25 लीटर पानी हो जाने पर पुनः चूने को तल में बैठने दे। इस प्रकार अपेक्षा से अधिक चूना तल मे बैठ जायगा। अब दूधिया रग का पानी उसके ऊपर रहेगा। इसे निथार कर अलग रख ले। यही अपेक्षित घोल है, जो हमारे काम मे आयेगा। बैठे हुए चूने मे 25 लीटर पानी फिर मिलाइए और खूब अच्छी तरह चलाइए। फिर चूने को तल मे बैठने दीजिये और ऊपर का दूधिया पानी निथार कर काम के लिये रख लीजिये। इस प्रकार वही मात्रा कैलसियम की 15–20 बार कैलसियम हाइड्रॉक्साइड का काम का घोल दे सकेगी।

अब दूसरा घोल तैयार करें :

2. **कैलसियम बाईकार्बोनेट घोल (घोल–2)**

25–30 लीटर की क्षमता का इनामिल्ड या पोर्सलेन के जार मे 1/2 किलो बहुत महीन चूर्ण कैलसियम कार्बोनेट का घोल बनाये और उसे खूब चलाते-चलाते उसमें से कार्बन डाइआक्साइड गैस 15–20 मिनट तक प्रवाहित करें। इससे कैलसियम बाइकार्बोनेट का अपेक्षित घोल मिल जाता है।

इसे बनाने की एक वैकल्पिक विधि भी है। पहले स्वच्छ (2) घोल को लेकर उसमें दुगुना पानी मिलाइये, अब इस घोल को हिलाते-हिलाते चलाते-चलाते इसमें से कार्बन डाइऑक्साइड गैस प्रवाहित कीजिये, पहले इसका रंग सफेद हो

जायगा, तब भी चलाते-चलाते और गैस प्रवाहित करें, अब यह स्वच्छ जल जैसा घोल हो जायगा। 30 लीटर के घोल को 30–48 मिनट तक गैसोपचार देना होता है। अपेक्षित घोल कैलसियम बाईकार्बोनेट का पाने के लिए।

जब ये दोनो घोल तैयार हो जाय तो निम्न विधि से पाडुलिपियों का निरम्लीकरण किया जाना चाहिये :

विधि

तीन इनामिल्ड तश्तरियाँ इतनी बडी कि उनमें अपने भण्डार से बडी पांडुलिपि समा सके, लें। एक तश्तरी में कैलशियम हाईड्रॉक्साइड का घोल (0·15 प्रतिशत का) दूसरी में ताज़ा स्वच्छ जल, तीसरी मे कैलसियम बाइकार्बोनेट का घोल (0 15 प्र०श० का) भर कर रखे। अब मोमी कागज (मोमी कागज की बजाय स्टेनलैस स्टील के तारों की बुनी पेटिका में रख कर भी डुबाया जा सकता है) पाँडुलिपि के आकार से बडा लेकर उस पर पाडुलिपियो के इतने कागज रखें कि वे तश्तरियो के घोल में डूब सकें—उन्हें मोमी कागज नीचे रख कर कैलशियम हाइड्रॉक्साइड के घोल मे डुबा दे। 20 मिनट डूबे रहने दे, फिर निकाल कर पहले पांडुलिपियों में से घोल निचोड़ दें, तब दो मिनट के लिए इस पांडुलिपि को स्वच्छ जल मे डुबो लें। अन्त में कैलशियम बाईकार्बोनेट के घोल में 20 मिनट तक रखे। उसमे से निकाल कर घोल निचोड देने के बाद फिर स्वच्छ जल मे 2 मिनट के लगभग रखे। घोलो मे और पानी मे डुबोने पर तश्तरियो के घोलों और पानी को हलके-हलके तश्तरियो को एक ओर से कुछ उठा कर फिर दूसरी ओर से कुछ उठा कर हिलाते रहना चाहिये।

यह उपचार हो जाने के बाद पानी निचोड़ दें और कागजों के ऊपर दोनो ओर सोख्ते रख कर दाब से पानी सुखा दे, फिर उन्हें रैकों पर सूखने के लिए रख दे—यह ध्यान रखना होगा कि जब तक ये पूरी तरह न सूख जाय तब तक इनको उलटा-पलटा न जाय।

अमोनिया गैस से उपचार

उक्त उपचार उन्ही पाडुलिपियो का हो सकता है, जिनकी स्याही पक्की है, और जो पानी मे न तो फैलती है, न घुलती है, अतः उपचार से पहले स्याही की परीक्षा करनी होगी। यदि स्याही पर पानी का प्रभाव पड़ता है, तो उसके कागज के निरम्लीकरण करने के लिए एक अन्य विकल्प से काम लेना होगा। यह विकल्प है अमोनिया गैस से उपचार। इसके लिए खानो वाली ऐसी अलमारी की आवश्यकता होती है जिसके खानों के तख्ते चलनी की भाँति छेदों से युक्त होते हैं। इन पर पांडुलिपियाँ खोल कर फैला दी जाती हैं। अब 1 : 10 अनुपात मे पानी मे अमोनिया का घोल बना कर एक तश्तरी मे सबसे नीचे के खाने के तल मे रख दे। इस प्रकार अमोनिया गैस कागजों का निरम्लीकरण कर देगी। चार-पाँच घण्टों के लिए अलमारी बिल्कुल बंद करके रखनी होगी। इसके बाद, इन पांडुलिपियो को 10–12 घण्टे स्वच्छ वायु में रखना होता है।

ताड़पत्र एवं भोजपत्र का उपचार

कीड़े-मकोड़ों से रक्षा के लिए तो पंड़ी और घोड़ा बेच कपड़े में बांध कर बस्तों

में या अलमारियों में रखने से कीड़े-मकोड़े नहीं आते। आजकल नेफ्थलीन की गोलियाँ या कपूर से भी यह काम लिया जा सकता है।

तिरकने वाले (Brittle) ताड एवं भोजपत्रों का उपचार पहले कागज के लिए बताए शिफन-उपचार की विधि से किया जाना चाहिये। शिफन ताड़पत्र के आकार से चारों ओर से कुछ बड़ी होनी चाहिये, ताकि पत्रों के किनारे क्षतिग्रस्त न हो सकें। कुछ विशेष सुरक्षा के लिए शिफन-उपचारित पाडुलिपियों को पांडुलिपि के योग्य पुट्ठे के खोलो या बक्सों मे रख देना चाहिये।

ताडपत्रों एव भोजपत्रो पर धूल जम जाती है, जो उन्हे क्षति पहुँचाती है। इनमे से जिनकी स्याही पानी से प्रभावित न होती हो उनकी सफाई पानी मे ग्लिसरीन (1:1) का घोल बना कर उससे रूई के फाहे से करनी चाहिये। जिनकी स्याही पानी से प्रभावित होती हो, उनकी सफाई कार्बन टेट्राक्लोराइड या एसीटोन से की जानी चाहिये।

ताड़पत्र या भोजपत्र, जो काजल की स्याही से लिखे गये है, यदि उनकी स्याही फीकी पड़ जाय या उड़ जाय तो उनका उपचार नही हो सकता है, किन्तु यदि ताडपत्र पर शलाका से कौर कर लिखा गया है तो उनकी स्याही उड जाने पर उपचार सम्भव है। तब ग्रेफाइट का चूर्ण रूई के पेंड से उस ताड़पत्र पर मला जाता है और बाद में रूई के फाहे से उसे पोछ दिया जाता है, जिससे ताड़पत्र मे अक्षर स्याही से जगमगाने लगते है और ताडपत्र स्वच्छ भी हो जाता है।

यदि ताडपत्र या भोजपत्र चिपक जाये तो इन्हे तरल, गर्म पैराफीन मे डुबोया जाता है और तब बहुत अधिक सावधानी से एक-एक पत्र अलग किया जाता है। इस प्रक्रिया के लिए बहुत अभ्यास अपेक्षित है। बिना अभ्यास के पत्रो को अलग करने से ग्रन्थ की हानि हो सकती है, अतः दक्ष और अभ्यस्त हाथो से ही यह काम करना चाहिये।

ऊपर ग्रन्थो के रख-रखाव और सुरक्षा और मरम्मत के लिए जो उपचार दिये गये हैं, उनमे डैक्सट्राइन तथा स्टार्च की लेई का उपयोग बताया गया है। इनके बनाने की विधि निम्न प्रकार है.

डैक्स्ट्राइन की लेई

डैक्स्ट्राइन	2·5 किलो
पानी	5·0 किलो
लौंग का तेल	40 ग्राम
सफ्फरोल	40 ग्राम
बेरियम कार्बोनेट	80 ग्राम

विधि

एक पीतल की देगची में पानी उबालने रखें। 90° से॰ का तापमान हो जाने पर डैक्स्ट्राइन का चूर्ण पानी में मिलाइये, धीरे-धीरे पानी को खूब चलाते जाइये ताकि डैक्स्ट्राइन समान रूप से मिले और गुठले न पड़ने पायें। 2·5 किलो डैक्स्ट्राइन इस विधि से मिलाने में 30–40 मिनट तक लग सकते हैं। अब इस घोल को बराबर चलाते जाइये और इसमें बेरियम कार्बोनेट और मिला दीजिये। तब लौंग का तेल और सफ्फरोल भी

डाल दीजिये, और सबको एकमेल कर दीजिये। सबके भली-भाँति मिल जाने पर 6–8 मिनट तक पकाइये, तब आग से उतार लीजिये। डेक्स्ट्राइन की लेई तैयार है।

मैदे (स्टार्च) की लेई

मैदा	250 ग्राम
पानी	5·00 किलो
लौंग का तेल	40 ग्राम
सफ्फरोल	40 ग्राम
बेरियम कार्बोनेट	80 ग्राम

बनाने की विधि ऊपर जैसी है, केवल डेक्स्ट्राइन का स्थान मैदा ले लेती है।

चमड़े की जिल्दों की सुरक्षा

कुछ पाडुलिपियाँ चमड़े की जिल्दों में मिलती हैं। चमड़ा मजबूत वस्तु है और पांडुलिपि की अच्छी रक्षा करता है। फिर भी वातावरण के प्रभाव से कभी-कभी यह भी प्रभावित होता है जिससे चमडा भी तडकने लगता है, अत. चमडे की सुरक्षा भी आवश्यक है।

इसके लिए पहले तो चमड़े को निरम्ल करना होगा। एक मुलायम कपड़े की गदेली से पहले जिल्द के चमड़े से धूल के कण बिल्कुल हटा दें। फिर 1–2 प्रतिशत सोडियम बेंजोएट (Sodium Benzoate) के घोल से भीगे फाहे से जिल्द पर वह घोल पोत दे और जिल्द को सूख जाने दे।

इसके बाद नीचे दी गई वस्तुओं से बने मिक्शचर से उसे उपचारित करें :

1. लेनोलिन एन्हीड्रस	300 ग्राम
2 शहद के छत्ते का मोम	15 ग्राम
3 सीडर वुड तेल	30 मि॰ग्रा॰
4. बेनजीन (Benzene)	350 मि॰ग्रा॰

पहले बेनजीन को कुछ गरम करके उसमें मोम मिला दिया जाता है। तब सीडर-वुड तेल मिलाते हैं और बाद मे लेनोलिन इस मिक्शचर को खूब हिला कर काम मे लेना चाहिये। इसे एक ब्रुश से चमडे पर भली प्रकार चुपड़ देना चाहिये। उसके सूख जाने पर भण्डार में यथास्थान रख दिया जाना चाहिये। इससे चमड़े की आब पहले जैसी हो जाती है, और यह भली प्रकार पुष्ट भी हो जाता है।

यह मिक्शचर अत्यन्त ज्वलनशील है, अतः आग से दूर रखना चाहिये। यह सावधानी बहुत आवश्यक है।

वस्तुतः रख-रखाव का पूरा क्षेत्र 'प्रबन्ध-प्रशासन' के अन्तर्गत आता है। प्रबन्ध-प्रशासन एक अलग ही अंग है, जिस पर अलग से ही विचार किया जा सकता है। इसके लिए कितने ही प्रकार के प्रशिक्षण भी दिये जाने लगे हैं, यह सीधे हमारे क्षेत्र में नही आता है, पर रख-रखाव का पांडुलिपि पर बहुत प्रभाव पड़ता है, इसलिए कुछ बातें इस विषय की यहाँ भारतीय अभिलेखागार (नेशनल आर्काइव्ज) से प्रकाशित दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के आधार पर कर दी गई हैं।

इस विषय के अच्छे ज्ञान के लिए इन्हीं पुस्तकों में कुछ चुनी हुई उपयोगी सामग्री का विवरण भी दिया गया है, उस विवरण में से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :

Back. E. A. — Book-worms.
पुस्तक-कीटों के सम्बन्ध में यह लेख 'द इंडियन आरकाइव्स' नामक पत्रिका के खंड संख्या 2, 1947 में निकला। यह पत्रिका 'नेशनल आर्काइव्ज ऑव इंडिया', नई दिल्ली का प्रकाशन है।

Barrow, W. J. — Manuscripts and Documents, Their Deterioration and Restoration
यह पाडुलिपियो और अभिलेखो के ह्रास और चिकित्सा पर, 'यूनीवर्सिटी ऑव वर्जीनिया, प्रेस', शारलौटस विले, वरजीनिया का प्रकाशन है।

Barrow, W. J. — Procedure and Equipment in the Barrow Method of Restoring Manuscripts and Documents.
बरो प्रणाली से पाडुलिपियो और अभिलेखो की चिकित्सा की प्रविधि और उसके लिए अपेक्षित यन्त्र-साधनादि पर यह कृति 'यूनीवर्सिटी ऑव वरजीनिया प्रेस' से प्रकाशित है।

Basu Purnendu — Common Enemies of Records.
अभिलेखो के सामान्य शत्रुओ पर यह लेख 'द इंडियन आरकाइव्ज' के खड-5, अक 1, 1951 में प्रकाशित।

Chakravorti, S. — Vaccum Fumigation : A New technique for Preservation of Records.
वाष्पीकरण से अभिलेखो की सुरक्षा पर यह कृति 'साइन्स एंड कल्चर' : अंक II (1943-44) में प्रकाशित।
A Review of Lamination Process.
परतोपचार चिकित्सा पर यह कृति 'द इंडियन आरकाइव्स' मे खंड 1, अंक 4, 1947 मे प्रकाशित।

Goel, O.P. — Repair of Documents with Cellulose Acetate on small scale.
यह सेल्यूलोज एसीटेट चिकित्सा पर लेख 'द इंडियन आरकाइव्ज' खंड 7, अंक 2, 1953 में प्रकाशित।

Gupta, R. C. — How to Fight White Ants.
दीमक से रक्षा पर यह कृति 'द इंडियन आरकाइव्ज' खड 8, अंक 2, 1954 में प्रकाशित।

Kathpadia, Y. P. — Hand Lamination with Cellulose Acetate.
हाथ से सैल्यूलोज ऐसीटेट से परतीकरण चिकित्सा पर कृति 'अमेरिकन आर्किविस्ट', जुलाई, 1959 में प्रकाशित।

Majumdar, P. C. Birch–bark and Clay–coated Manuscripts.
भोजपत्र तथा मृद्लोपित पांडुलिपियों पर यह कृति 'द इंडियन आरकाइव्ज' के खंड–11, अंक–1-2, 1956 में प्रकाशित।

Ranbir Kishore The Preservation of Rare Books and Manuscripts.
दुर्लभ ग्रन्थों और पांडुलिपियों की सुरक्षा पर यह कृति 'द सनडे स्टेट्समेन' मार्च 1, 1955 मे प्रकाशित।

,, ,, Preservation and Repair of Palm-leaf Manuscripts.
ताडपत्र की पाडुलिपियो की सुरक्षा और चिकित्सा पर यह कृति 'द इंडियन आरकाइव्ज' खंड–14 (जनवरी 1961–दिसम्बर 1962) मे प्रकाशित।

Talwar, V. V Record Materials · Their Deterioration and Preservation
अभिलेख सामग्री के रुग्ण होने और सुरक्षा पर यह कृति 'जरनल ऑव द मध्य-प्रदेश इतिहास परिषद', भोपाल, अंक–11 (1962) में प्रकाशित।

उक्त साहित्य से प्रस्तुत विषय पर कुछ और अधिक जानकारी मिल सकती है।

यहाँ हमने ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन और उसके साथ नवीन वैज्ञानिक रक्षा-प्रणालियो पर प्रकाश डाला है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पाडुलिपि-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए रख-रखाव के विषय मे इतना ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है।

उपसंहार

अब इस ग्रन्थ का समापन करते हुए इतना ही कहना और शेष है कि 'पाडुलिपि-विज्ञान' की वस्तुत: यह प्रथम पुस्तक है। इसमें विविध क्षेत्रो से आवश्यक सामग्री लेकर एक सूत्र मे गूंथ कर एक नये विज्ञान की आधार-शिला प्रस्तुत की गई है, भरोसा यह है कि इससे प्रेरणा लेकर यह विज्ञान और अधिक पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होगा।

परिशिष्ट-एक

(प्रथम अध्याय के पृष्ठ 17 के लिए यह परिशिष्ट है)

कुछ और प्रसिद्ध पुस्तकालय

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
1.	2300 ई० पू० से पूर्व	ऐब्ले [आधुनिक तेल्लमारडिख (Tellmardich) के निकट]	सीरिया में मिट्टी की ईंटों पर लेख मिले है। इनकी लिपि क्यूनीफार्म रूप की है। इन ईंटों के लेखों को पढ़ने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। ऐब्ले मे प्राचीन सस्कृति का केन्द्र था। वहीं यह पुस्तकालय था।
2	324 ई० पू० से पूर्व	तक्षशिला (सिकन्दर ने इसे बहुत समृद्ध और विशाल नगर पाया)	'मिट्टी के सनम' मे श्री कृष्ण चन्दर ने लिखा है — "पजा साहब से लौटकर टेकनला आए, जहाँ पुराने जमाने की सबसे पुरानी और ऐतिहासिक तक्षशिला यूनीवर्सिटी के खण्डहर खोदे जा रहे थे। तक्षशिला के एस्कीथियेटर, तक्षशिला के होस्टल, तक्षशिला के नहाने के तालाब, यूनिवर्सिटी के दूसरे प्रबन्ध देख कर अक्ल दग रह जाती है कि आज से हजारों वर्ष पूर्व इस पुरानी यूनिवर्सिटी में शिक्षा-दीक्षा की कितनी उत्तम और उच्च व्यवस्था थी।" (धर्मयुग, 27 फरवरी, 1966, पृष्ठ 31)। यहीं पाणिनि जैसे वैयाकरण ने, जीवक जैसे वैद्य ने, और चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री ने यही शिक्षा पायी थी। ऐसे विश्वविद्यालय में ऐसा ही महान पुस्तकालय रहा होगा। इसमे क्या संदेह किया जा सकता है? इसके गगू नामक स्तूप से खरोष्ठी लिपि में लिखा सोने का एक पत्तर जनरल कनिंघम को मिला था। इसमें एक

1	2	3	4
			आचार्य के पास 500 छात्र अध्ययन करते थे। इसमें विश्व ख्याति के कई आचार्य थे। "Takshila contained the celebrated University of Northen India (Rajovad–Jataka) up to the first century A D. like Balabhi of Western, Nalanda of Eastern, Kanchipura of Southern and Dhanakataka of Central India."
3.	246 ई० पू० से पूर्व	पाटलिपुत्र/पटना	246 ई० पू० में तृतीय बौद्ध परिषद् हुई थी। इसमें बौद्ध-सिद्धान्त ग्रन्थो पर चर्चा हुई थी। पाटलिपुत्र अजातशत्रु के दो मन्त्रियो ने बसाया था। मौर्यकाल मे यह विशिष्ट विद्या का केन्द्र था।
4.	140 ई० पू०	काश्मीर	पतंजलि काश्मीर में रहे थे।
5		काश्मीर सरस्वती मंदिर, काश्मीर	यहाँ से आठ व्याकरण ग्रंथ हेमचन्द्राचार्य के लिए मगाये गए थे।
6	80 ई० पू०	लका	बौद्ध ग्रन्थ लिपिबद्ध किये गए थे।
7		लका —हगुरनकेत, बिहार (कडि जिले मे)	इसके चैत्य में हजारों रुपये के बहुमूल्य ग्रन्थ गड़वा दिये गए थे। चाँदी के पत्रो पर 'विनय पिटक' के दो प्रकरण, अभिधम्म के सात प्रकरण तथा 'दीर्घ-निकाय' गढवाये गए थे।
8.		तेइचिङ्	चीन का यह पुस्तकालय भी प्राचीन होना चाहिए। तुनहाङ की शेष 8000 वलिताएँ इसी पुस्तकालय में भेज दी गयी थी। (डॉ० लोकेशचन्द जी ने बताया है कि उनके पिताजी डॉ० रघुवीर इन 8000 वलिताओ की माइक्रो-फिल्म करा लाये थे। ये उनके संग्रह में है)।
9.	126 ई०	उज्जैन	उज्जैन बहुत पुराना नगर है। भारतीय संस्कृति का यहाँ स्रोत था। सम्राट

1	2	3	4
			अशोक यहाँ रहे थे। विक्रमादित्य की राजधानी थी। यह नव-रत्नों की नगरी है। यहाँ ग्रन्थागार थे। भगवान कृष्ण के गुरु सांदीपनि का आश्रम अंकपाद उज्जैन से कुछ ही दूर है। महाभारत युग में यहाँ प्रसिद्ध विद्यापीठ था, भर्तृ-हरि की गुफा भी उज्जैन मे है। भर्तृ-हरि विद्वान और योगी थे। उनके पास भी अच्छा ग्रन्थागार था।
10.	160 ई०	आडिवीसां (उडीसा)	नागार्जुन ने विहार स्थापित कराये। इनमें पुस्तकालय होंगे ही।
11.	160 ई०	धान्यकूट	नागार्जुन ने यहाँ के मन्दिरो की परिख (railing) बनवायी। नागार्जुन ने बौद्ध विश्वविद्यालय भी स्थापित किया था, पुस्तकालय होगा ही।
12.	222 ई०	मध्य भारत	यहाँ से धर्मपाल इस वर्ष चीन गया। चीन मे इसने 'पातिमोक्ष' का अनुवाद 250 ई० मे किया था।
13	241 ई०	वू का राज्य	Sang-hurui श्रमण ने विहार बनवाया। 251 ई० मे अनुवाद कार्य आरम्भ किया।
14	252 ई०	लोयांग (चीन)	अनुवाद पीठ। 313 से 317 तक 'तुनह्वाङ' के श्रमण धर्मरक्ष ने अनुवाद कार्य किया।
15.	366 ई०	तुनह्वाङ (मध्य एशिया) [गोबी रेगिस्तान के किनारे]	इसमे 30,000 वलिताएँ थी। 1957 वि० मे अनायास ही इनका पता चला था। सहस्र बुद्ध गुफा के चैत्य की कुछ पाण्डुलिपियाँ भारत मे मध्य एशियाई संग्रहालय मे हैं। (266 ई० मे 'चु-फान्हु' अर्थात् 'धर्मरक्ष' श्रमण तुनह्वाङ लोयांग गया था। 366 से 100 वर्ष पूर्व ही 'तुनह्वाङ' में अच्छा पुस्तकालय स्थापित हो चुका होगा।)

1	2	3	4
16.	381 ई०	कुभा	यहाँ के श्रमण सघभूति ने चीनी भाषा मे अनुवाद किया ।
17.	383 ई०	चंग-अन (चीन)	गौतम सघ देव का अनुवाद पीठ था ।
18.	383 ई०	लिअग-पाउ (चीन)	कुमार जीव श्रमण ने यहाँ बहुत से बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद सन् 402 से 412 के बीच किया ।
19.	500 ई० से पूर्व	थानेश्वर विश्वविद्यालय	इसका उल्लेख ह्वेनसाग ने भी किया है । हर्ष के गुरु 'गुणप्रभ' का इस विश्वविद्यालय से सम्बन्ध रहा होगा ।
20.	568 ई० से पूर्व	दुड्डा बौद्ध विहार (वलभी)	वलभी सौराष्ट्र को राजधानी था । यहाँ 84 जैन मन्दिर थे । यह बौद्ध विद्या-केन्द्र हो गया था । विश्वविद्यालय और पुस्तकालय यहाँ थे । Balabhi....It became the capital of Saurashtra of Gujrat. It contained 84 Jain temples (SRAS XIII, 159) and afterwards became the seat of Buddhist learning in Western India in the seventh century A. D., as Nalanda in Eastern India (Ancient Geographical Dictionary).
21	630 ई० से पूर्व	नालदा	ह्वेनसाग के भारत आगमन के समय यह प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था । उस समय इसमे धर्मपाल के शिष्य और उत्तराधिकारी शीलभद्र, भावाविवेक; जयसेन, चन्द्रगोमिन, गुणमति, वसुमित्र, ज्ञानचन्द्र एव रत्नसिंह आदि प्रसिद्ध विद्वान् यहाँ प्राध्यापक थे । इनका उल्लेख ह्वेनसाग ने किया है । ज्ञानचन्द्र एव रत्नसिंह इत्सिग के भी प्राध्यापक थे, ऐसा इत्सिग ने लिखा है । ह्वेनसांग के समय मे 10000 भिक्षु इसमे रहते थे ।

1	2	3	4
22.	8वी शती ई०	विक्रम शिला (बिहार)	इसे धर्मपाल ने स्थापित किया था, ऐसा विश्वास है। इनके समय में इसके प्रमुख थे — *श्रविद्ध ज्ञान पाद*। इसके छह द्वार, जिन पर एक-एक विद्वान पण्डित नियुक्त था। इस विश्वविद्यालय मे वही व्यक्ति प्रवेश पा सकता था, जो शास्त्रार्थ में इन द्वार-पण्डितों को हरा देता था। 12वी शती में इसे बख्त्यार खिलजी ने नष्ट कर दिया था।
23.	10वीं शती से पूर्व	सरस्वती महल तंजौर	इसे महाराजा सरफोजी ने सन् 1798–1832 के बीच विशेष समृद्ध किया था।
24.	1010 ई०	धार, भोज भाण्डागार	राजा भोज की नगरी थी। यहाँ भोज द्वारा स्थापित विद्यालय एव पुस्तकालय थे। सिद्धराज जयसिंह इसे अन्हिलवाडा ले गए थे।
25.	11वी शती से पूर्व	जैन भण्डार, जैसलमेर	श्री भण्डारकर ने बताया है कि यहाँ एक नही दस पुस्तक संग्रह हैं। (प्रकाशन सदेश, पृष्ठ 7, अगस्त-अक्टूबर, 65)।
26.	1140 ई०	भोज भण्डारगार	सिद्धराज जयसिंह की मालव विजय पर अन्हिलवाड़ा गया।
		उदयपुर	11 पुस्तकालय)
		बीकानेर	19 पुस्तकालय)
		हनुमानगढ	1 पुस्तकालय) श्री भण्डारकर ने ये
		नागौर	2 पुस्तकालय) पुस्तकालय देखे थे।
		अलवर	6 पुस्तकालय)
		किशनगढ़	1 पुस्तकालय)
27.	1242–1262 ई०	चालुक्य–भाण्डागार, अन्हिलवाडा	चालुक्य बीसलदेव या विश्वमल्ल का।
28.	आदिम युग (1520 ई० से कुछ पूर्व इसका उद्घाटन स्पेनवासी लोगो ने किया था)	तक्षकोको (प्राचीन मैक्सिको)	स्पेन के हरनडी कार्टेज ने दिसम्बर, 1520 मे तक्षकोको नगर पर विजय प्राप्त की। इस आक्रमण मे यहाँ का एक विशाल पुस्तकालय जला दिया गया। इसमे अनगिनत अमूल्य हस्त-लिखित ग्रन्थ थे।

1	2	3	4
29.		युकातान (प्राचीन मैक्सिको)	युकातान प्रांत में मय जाति की हजारों हस्तलिखित पुस्तकों के भण्डार थे। डीगो द लदा नाम के स्पेनी पादरी ने उन सबकी होली जलवा दी। यह सब 16वीं शताब्दी में हुआ। (कादम्बिनी, मार्च, 1975)
30	1540 ई० के लगभग	मुल्ला अब्दुल कादिर (अकबरी दरबार) के पिता, मलूकशाह का पुस्तकालय, बदायूँ	हेमू ने नष्ट किया।
31	1556 ई० के लगभग	आगरा	अकबर का शाही पोथीखाना। 30,000 ग्रन्थ थे।
32.		पद्मसम्भव द्वारा स्थापित तिब्बत का साम्येविहार पुस्तकालय	संस्कृत-तिब्बती भाषा के ग्रन्थों का भण्डार था।
33.	1592 ई० के लगभग	आमेर-जयपुर पोथीखाना	राजा भारमल्ल के समय से आरम्भ। 16000 दुर्लभ ग्रन्थ। 8000 महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का सूची पत्र 1977 में श्री गोपाल नारायण बोहरा द्वारा सम्पादित, प्रकाशित। आमेर-जयपुर राजघराने ने अपने 400 वर्षों के राज्य-काल में इस संग्रह को समृद्ध बनाया।
34.	19वीं शती से पूर्व	अस्त्राखान (रूस)	पाण्डुलिपि भण्डार है। अग्रदास कृत ध्यान मंजरी की प्रतिलिपि अस्त्राखान में 1808-9 ई० में की गयी। यहां हिन्दी और पंजाबी की भी पुस्तकें मिली है। यहाँ बुखारा में प्रतिलिपि की गयी अनेक हिन्दी पुस्तकें मिली हैं। गुरु विलास तो सचित्र है। (धर्मयुग, 21 अक्टूबर, 1973)
35.	1871 ई० से पूर्व	बुखारा	यहाँ पुस्तकालय होना चाहिए, क्योंकि यहाँ से अनेक ग्रन्थ प्रतिलिपि होने के बाद अस्त्राखान गए। (धर्मयुग, 8 मार्च, 1970, पृ० 23)

1	2	3	4
36.		खुतन	वही ।
37.		काशगर	वही ।
38.		दंदा उइलिक	यहाँ ग्रन्थ भण्डार होना चाहिए, क्योंकि यहाँ से ही एक असली ब्राह्मी ग्रन्थ नकली ग्रन्थ तैयार करने वाले इस नाम अखुन के पास मिला था। यहाँ के खंडहरों में दबे अन्य ग्रन्थ भी मिले थे।
39.		प्राच्य विद्या मन्दिर, बड़ौदा	यहाँ अनेक पाण्डुलिपियों से वाल्मीकि रामायण का पाठ संशोधन हो रहा है।
40.		लाल भाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद	इसमें अच्छे हस्तलेख उपलब्ध है। एक 676 पृष्ठों की सचित्र तुलसी कृत रामचरितमानस है जिसमे एक पंक्ति नागरी में और एक पंक्ति फारसी लिपि में है, (सम्भव है यह कृति 18वीं शती की होगी)।
41.	11 मार्च, 1891 को स्थापित	राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली	1. स्थापना के समय इसका नाम था — 'इंपीरियल रेकार्ड डिपार्टमेंट'। 2. नई दिल्ली के भवन में आने पर इसे 'राष्ट्रीय अभिलेखागार' का नाम दिया गया। इसमे महत्त्वपूर्ण अभिलेख तो सुरक्षित है ही, 1 लाख के लगभग ग्रंथ भी है। माइक्रोफिल्म के रूप में भी लाखों पृष्ठों की सामग्री संग्रहित है।
42.	1891	पटना खुदाबख्श ओरियंटल पुस्तकालय	इसमें 12000 पाण्डुलिपियाँ है और 50,000 मुद्रित पुस्तकें। यह पहले खुदाबख्श का निजी पुस्तकालय था। खुदाबख्श को अपने पिता मुहम्मदबख्श (1815–1876) से उत्तराधिकार में मिला था। खुदाबख्श ने उसमे बहुत वृद्धि की और 1891 में उसे सार्वजनिक पुस्तकालय का रूप दे दिया। इसमे कुरान का एक पन्ना 1300 वर्ष पुराना सुरक्षित है। हाफिज का दीवान अत्यन्त मूल्यवान माना जाता

1	2	3	4
			है। इस पर हुमायूँ, जहाँगीर और शाहजहाँ के हस्ताक्षरों मे कुछ टीपे हैं। 400 वर्ष पुरानी अरबी की पुस्तकों में कुछ वे पुस्तके भी हैं जो सुन्दर हस्त-लिपि मे स्पेन की पुरानी राजधानी कोसेडोला मे लिखी गयी थीं। हिन्दी की भी कुछ ऐसी पुस्तकें जो ज्ञात नहीं थी, इस पुस्तकालय मे मिली है। अब तक इसके तीस सूची पत्र प्रकाशित हो चुके है। इन्हे बैपटिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता ने छापा है। इनमे केवल पुस्तकालय की प्राची पुस्तकों का ही विवरण है। इन सूची-पत्रो को आदर्श माना जाता है।
43.	1904 ई० के आसपास (ब्यूहलर के अनुसार)	भारती भाण्डारगार, या सरस्वती भाण्डारगार या शास्त्र भाण्डार	
44.		उज्जैन . सिंधिया पुस्तकालय	इसमे 10000 के लगभग पुस्तकें है। इनमे ढाई हजार के लगभग दुर्लभ ग्रन्थ है। इसमे एक ग्रन्थ गुप्तकालीन लिपि मे लिखा हुआ है। यह चालीस पृष्ठों का है। इस पुस्तकालय ने यह ग्रन्थ काश्मीर के गिलगिट क्षेत्र से बीस वर्ष पूर्व प्राप्त किया था। पाँच सौ वर्ष पूर्व के भोज पत्र पर लिखे ग्रन्थ भी इसमे है। इसी प्रकार ताड़ पत्र पर सुन्दर हस्तलिपि मे लिखे 25 ग्रन्थ भी है। मुगलकालीन अदालत और काश्मीर के शासक के बीच हुए पत्राचार के मौलिक दस्तावेज यहाँ सुरक्षित है, ये फारसी मे हैं।
45.	1912	भरतपुरा। श्रीगोपालनारायण सिंह ने इसे निजी पुस्तकालय के रूप मे विकसित . किया	इसमें लगभग चार हजार पाण्डुलिपियां है। इसमें सबसे पुरानी लिखी पुस्तकें ताडपत्र वाली हैं। उसके बाद क्रम मे भोजपत्र की पुस्तकें आती हैं, तब पुराने

1	2	3	4
			कागज की पुस्तकें। इस ग्रन्थागार की ये पुस्तकें बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं : 'शाहनामा', यह फिरदौसी की कृति है। यह 500 पृष्ठों का ग्रन्थ है। इसमें 52 चित्र हैं। पृष्ठों के बीच में जो चित्र हैं वे सोने और नीलम के रंगों से बनाये गए हैं। यह कृति काबुल-कंधार के सूबेदार अली मर्दानखाँ ने अकबर को भेंट में दी थी। सिकन्दरनामा 17वीं शती से पूर्व की कृति है। लेखक हैं—निजामी। इसमें भी चित्र हैं। सोने और नीलम के रंगों का प्रयोग इनमें भी है। मुताउल हिन्द' अकबर के हकीम सलामत अली की कृति है। यह विश्व कोष है। इसमें दर्शन, गणित और भौतिक विज्ञान, रसायन और संगीत पर भी अच्छी सामग्री है।
46.		नेपाल . दरबार पुस्तकालय	यह ताडपत्र की पाण्डुलिपियों के लिए प्रसिद्ध है। 448 पाण्डुलिपियाँ महामहो-पाध्याय ह० प्र०, शास्त्री जी ने बतायी थी, सन् 1898-99 ई० में।
47.		नेपाल : यूनीवर्सिटी पुस्तकालय	इसमें 5000 पाण्डुलिपियाँ शास्त्री जी ने बतायी हैं।
48.		पूना : भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट	
49.	1320 ई०	विजयनगर	तुंगभद्रा के तट पर। यादव वंश के राज्य-काल में विद्या का केन्द्र। प्रसिद्ध वैदिक भाष्यकार सायणाचार्य यहीं के राजा के मन्त्री थे।
50.	14वीं शती ई०	मिथिला=तिरहुत	यह हिन्दू विद्या का केन्द्र था। यहाँ के ब्राह्मण राजाओं के समय में महाकवि मैथिल कोकिल विद्यापति हुए थे। राजा का नाम था शिवसिंह।
51.	14वीं-15वीं शती	नदिया / नवद्वीप	यह चैतन्य महाप्रभु का प्रादुर्भाव स्थल है। यह भी हिन्दू-विद्या केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

1	2	3	4
52	7वी शती ई० से पूव	दुर्वासा ग्राश्रम विक्रमशिला सघाराम	यहाँ गुफाएँ है जो पहाडा मे खुदी हुई है। चपा की यात्रा म ह्वेनसाग यहाँ ग्राया था। बौद्ध तीर्थ है।
53.	443 ई०पू० 377 ई०पू० से पूर्व	वैशाली	यह वृज्जियो/लिच्छवियो की राजधानी थी। यहाँ बौद्ध धर्म का द्वितीय सघ सम्मेलन हुग्रा था। इससे यहाँ धार्मिक ग्रन्थागार था, यह ग्रनुमान किया जा सकता है।
54	प्रावैदिक/वैदिक	काशी	यहाँ भी तक्षशिला जैसा विद्या केन्द्र था। 500 विद्यार्थियो को पढ़ाने की क्षमता वाले ग्राचार्य यहाँ थे। तक्षशिला की भाँति हा यह वैदिक शिक्षा ग्रौर विद्या के लिए प्रसिद्ध था।
55	वैदिक काल	नैमिषारण्य	भृगु वशा शौवक ऋषि का ऋषिकुल नैमिषा राज्य मे था। इसमे दस सहस्र ग्रन्तेवासी रहते थे।
56	रामायणकाल	प्रयाग भारद्वाज ग्राश्रम	इस काल का यह विशालतम ग्राश्रम था यह भारद्वाज ऋषि का ग्राश्रम था।
57.		ग्रयोध्या	ग्रयोध्या नगर के पास ब्रह्मचारियो के ग्राश्रम ग्रौर छात्रावासो का रामायण मे उल्लेख है।
58	7वी 8वी शती से पूर्व	ग्रोदन्तपुरी (बिहार शरीफ)	पाल वश का स्थापित करन वाले गोपाल न यहाँ एक बौद्ध विहार बनवाया था।
59	1801 ई० मे स्थापित	इडिया ग्रॉफिस लाइब्रेरी, लन्दन	इसम 2 0000 मुद्रित पुस्तके 175000 पूर्वी भाषाग्रो मे शेष यूरोपीय भाषाग्रो म। पूर्वी म 20000 हिन्दी की, 20,000 सस्कृत-प्राकृत की, 24000 बगला की, 10,000 गुजराती की 9000 मराठी की, 5000 पजाबी की, 15000 तमिल की, 6000 तेलुगु की, 5500 ग्ररबी की, 5500 फारसी की हैं।

1	2	3	4
			"भारतीय विषयो पर यूरोपीय भाषाओं में लिखे 2000 हस्तलेख हैं। पूर्वी भाषाओं के हस्तलेख 20,000 हैं। यहाँ 8300 सस्कृत के 3200 अरबी के, 4800 फारसी के, 1900 तिब्बती के, 160 हिन्दी के, 30 बंगला के, 140 गुजराती के, 250 मराठी के, 50 उडिया के, 60 पश्तो के, 270 उर्दू के, 250 बर्मी के, 110 इडोनेशिया के, 111 मो-सो के, 21 स्यामी के, 70 सिंघली के, 23 तुर्की के, हस्तलिखित ग्रन्थ है। और भी बहुत से अभिलेख है।(21 दिसम्बर, 1969 के धर्मयुग में प्रकाशित श्री जितेन्द्र कुमार मित्तल, प्राध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय के लेख, इगलैण्ड में भारतीय अनुसधान की विरासत के आधार पर।)

भारतीय सग्रहालय जिनमे पाण्डुलिपिया सुरक्षित है

क्रमांक	नाम	स्थापित	विवरण
1	मद्रास सग्रहालय	1851 ई०	400 ताम्र पत्र ऐतिहासिक महत्त्व के है।
2.	नागपुर सग्रहालय	1863 ई०	नागपुर मे भासले राजवश की पाण्डुलिपियाँ है।
3	लखनऊ सग्रहालय	1863 ई०	सचित्र पोथियाँ, कुण्डली प्रकार की पोथी आदि हैं।
4.	सूरत विचेस्टर संग्रहालय	1890 ई०	जैनधर्म के कल्पसूत्रो की पाण्डुलिपियाँ, ताम्रलेख ताडपत्रीय पोथियाँ, चित्रित जन्मपत्रियाँ आदि है।
5.	अजमेर सग्रहालय	1908 ई०	इसमे शिला लेखाकित नाटक सुरक्षित है।
6.	भारत कला भवन, वाराणसी	1920 ई०	रामचरितमानस की सचित्र प्रति।

1	2	3	4
7.	मध्य एशियाई संग्रहालय	1929 ई०	ग्रारचेस्टीन द्वारा लायी गयी तुनहाङ की 'सहस्र बुद्ध गुफा' से प्राप्त अगणित पाण्डुलिपियाँ, रेशमी पड़ सुरक्षित।
8	ग्राशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता	1937 ई०	कागज पर लिखी प्राचीन पाण्डुलिपियाँ नेपाल मे प्राप्त, 1105 ई० की यहाँ है।
9.	गंगा स्वर्ण जयन्ती संग्रहालय, बीकानेर	1937 ई०	सचित्र तथा अन्य दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ।
10	ग्रलवर संग्रहालय	1940 ई०	इसके पाण्डुलिपि विभाग मे 7000 पोथियाँ सुरक्षित हैं जो संस्कृत, फारसी, हिन्दी आदि की है। हाथी दाँत पर लिखित पुस्तक 'हफ्त बद काशी' भी इसमे है। यह ग्रस्थि या दाँत के लिप्यासन वाली पाण्डुलिपियो का उदाहरण है।
11.	कोटा संग्रहालय		अनेक महत्त्वपूर्ण पोथियाँ हैं, कुंडली प्रकार की भी है, और एक इञ्च परिमाण की मुष्टा भी है।
12.	प्रयाग संग्रहालय		विभिन्न युगों और शैलियों की मूल्यवान सचित्र पाण्डुलिपियाँ हैं।
13.	राष्ट्रीय संग्रहालय		सचित्र पोथियाँ।
14	शिमला संग्रहालय		मुल्ला दाऊद का 'लोरचन्दा' की पाण्डुलिपि का कुछ अंश यहाँ उपलब्ध है।
15.	सालार जंग संग्रहालय, हैदराबाद		अठ्ठारहवे कक्ष मे दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ है।
16.	कुतुबखाना-ए-सैयदिया, टोंक		

इस परिशिष्ट मे कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकालयो या ग्रन्थागारो का उल्लेख दिया गया है। इनमे से बहुतों का ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। वे ग्रन्थागार, वे विश्वविद्यालय, वे विहार और संघाराम आज अतीत के गर्भ मे खो चुके है। इनसे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि संसार मे किस समय ग्रन्थागारों का कितना महत्त्व था। इस सूची में कितने ही स्थानो पर, ग्रन्थागार होने की सम्भावना अनुमान के आधार पर मानी गयी है। जहाँ विशाल विश्वविद्यालय होगे, जहाँ संघाराम एव विहार होगे, जहाँ अनुवाद करने कराने के केन्द्र होंगे, जहाँ परिषदें हुई होगी, वहाँ पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ग्रंथागार होंगे ही।

उक्त सूची में इन ग्रन्थागारों के विद्यमान होने का वर्ष भी दिया गया है। ये भी अधिकांशतः अनुमानाश्रित ही हैं। पाण्डुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से इन ग्रन्थागारों के संकेत से, उनमें स्थान और स्थूल विशेषताओं से कुछ आवश्यक सामान्य ज्ञान मिल जाता है।

परिशिष्ट-दो

काल-निर्धारण : तिथि विषयक समस्या

काल-निर्धारण में 'तिथि' विषयक एक समस्या तब सामने आती है जब तिथि का उल्लेख उस तिथि के स्वामी के नाम से किया जाता है। उदाहरणार्थ—'वीरसतसई' का यह दोहा है :

"बीकम बरसां बतियो, गणचौचद गुणीस।
बिसहर तिथ गुरु जेठ बदि, समय पलट्टी सीस।"

डॉ० शम्भूसिह मनोहर ने बताया है कि—

"विषहर तिथि का यहाँ सीधा सादा एवं स्पष्ट अर्थ है—'पचमी' (विषधर की तिथि)।" आगे बताते हैं कि "वंश भास्कर" मे सूर्यमल्ल ने तिथि निर्देश में प्रायः एक विशिष्ट पद्धति का अनुसरण किया है। वह यह कि उन्होंने कहीं-कहीं तिथियों का ज्योतिष शास्त्र मे निर्देशित उनके स्वामियो के आधार पर नामोल्लेख किया है। उदाहरणार्थ— त्रयोदशी को कवि ने वशभास्कर मे 'मनसिज तिथ' कह कर ज्ञापित किया है, क्योंकि त्रयोदशी का स्वामी कामदेव है, यथा—

सक खट बसु सत्रह १७८६ समय,
उज्ज मास अवदात।
कूरम मालव कुंच किय,
मनसिज तिथ अवदात।।

इसी भाँति चतुर्दशी को उन्होंने 'शिव की तिथि' कह कर सूचित किया है, चतुर्दशी के स्वामी शिव होने के कारण—

"संवत मान अक बसु सत्रह १७८९।
अरु सित बाहुल भालचन्द अह।।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि तिथि का उल्लेख उस तिथि के स्वामी या देवता के नाम से भी किया गया। "ज्योतिष तत्त्व सुधार्णक" नामक ज्योतिष ग्रन्थ में तिथियों के स्वामियो / देवताओं के नाम इस श्लोक द्वारा बताये गए हैं

अथ तिथ्यधिदेवनामाह—
अग्नि प्रजापति गौरी गणेशोऽहि गुरु रवि.।
शिवो दुर्गान्तको विश्वोहरि कामो हरः शशी।
पितरः प्रति पदादीना तिथीनामधियाः क्रमात् ।।इति।।

—वीरसतसई का एक दोहा एक प्रत्यालोचना, ले. डॉ. शम्भुसिह मनोहर, 'विश्वम्भरा', वर्ष 7, अंक 4, 1972।

परिशिष्ट-तीन

ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ०) : कीर्तिलता साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी (1962)
2. ,, ,, ,, : पद्मावत, सजीवनी भाष्य—वही।
3. ,, ,, ,, : हर्षचरित, सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1964।
4. अग्रवाल, वासुदेवशरण (डॉ०) तथा सत्येन्द्र (डॉ०) : पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, ब्रज साहित्य मण्डल, मथुरा, 1952।
5. आर्य मजु श्री कला : त्रिवेन्द्रम सीरीज।
6. उपाध्याय, वासुदेव (डॉ०) : प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन, मोतीलाल बनारसीदास, पटना (61)।
7. ओझा, गौरीशकर हीराचन्द भारतीय प्राचीन लिपि माला, मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली (59)।
8. कौशल, रामकृष्ण : कमनीय किन्नौर।
9. गरुड पुराण
10. गुप्त, किशोरीलाल (डॉ०) सरोज सर्वेक्षण, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (67)।
11. गुप्त, जगदीश (डॉ०) प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (1967)।
12. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०) तुलसीदास, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, 1953।
13. ,, ,, ,, : पृथ्वीराज रासो, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी।
14. ,, ,, ,, : बसंत विलास और उसकी भाषा, क. मुं. हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा।
15. ,, ,, ,, : राउर बेल और उसकी भाषा, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लि०, इलाहाबाद, 1962।
16. गुप्त माताप्रसाद (डॉ०), नाहटा, अगरचन्द : बीसलदेव रास।
17. गैरोला, वाचस्पति : अक्षर अमर रहे।
18. जैन समवायोग सूत्र
19. टॉड, जेम्स पश्चिमी भारत की यात्रा, मगल प्रकाशन, जयपुर।

20. तिवारी, भोलानाथ (डॉ०) : भाषा विज्ञान, किताब महल, इलाहाबाद, (1977)।

21. तुलसीदास दोहावली, गीताप्रेस, गोरखपुर (1960)।

22. ,, . रामचरितमानस, साहित्य कुटीर, प्रयाग (1949)।

23. दलाल, चिमनलाल द० · लेख पद्धति, बड़ौदा केन्द्रीय पुस्तकालय, (1925)।

24. दशकुमार चरित

25. दश वैकालिक सूत्र हरिभद्री टीका

26 देवी पुराण

27. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (डॉ०) . सदेश रासक, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट) लि०, बम्बई, 1965।

28. द्विवेदी, हरिहरनाथ : महाभारत (पाडवचरित) विद्या मन्दिर प्रकाशन, ग्वालियर, 1973।

29. नाथ, राम (डॉ०) मध्यकालीन भारतीय कलाएँ और उनका विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर (1973)।

30 पत्र कौमुदी

31. पदम पुराण

32 पन्नवणा सूत्र

33 प्रवीण सागर (हस्तलिखित - प० कृपाशकर तिवारी का व्यक्तिगत सग्रह, जयपुर)।

34 भारद्वाज, रामदत्त (डॉ०) गोस्वामी तुलसीदास, भारतीय साहित्य मदिर, दिल्ली (1962)।

35. मजूमदार, मंजुलाल · गुजराती साहित्य ना स्वरूप।

36. मत्स्यपुराण

37 मनोहर, शम्भुसिंह (डॉ०) ढोला मारु रा दूहा, स्टूडेण्ट बुक कम्पनी, जयपुर, 1966।

38 माहेश्वरी, हीरालाल (डॉ०) : जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, बी० आर० पब्लिकेशन्स, कलकत्ता, 1970।

39. मिश्र, गिरिजाशकर प्रसाद (अनुवादक) : भारतीय अभिलेख सग्रह, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

40 मिश्रबन्धु : मिश्रबन्धु विनोद, गंगा पुस्तक माला कार्यालय लखनऊ (1972)।

41 मुनि जिनविजयजी : विज्ञप्ति त्रिवेणी।

42 मुनि पुण्यविजयजी : भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला।

43. राज, जोन : राज तरंगिणी।

44. लेफमन्न, एस० . ललित विस्तर हाले—(1902)।

45. वर्णक समुच्चय

46. बृहद् कल्प-सूत्र
47. शर्मा, नलिन विलोचन : साहित्य का इतिहास दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (1960)।
48. शर्मा, बंशीलाल (डॉ०) : किशोरी लोक साहित्य, ललित प्रकाशन, लेहड़ी सटेल, विलासपुर (1976)।
49. शर्मा हनुमानप्रसाद : जयपुर का इतिहास।
50. शार्ङ्गधर पद्धति
51. शुक्ल, जयदेव (सं०) : वासवदत्ता कथा।
52. सत्येन्द्र (डॉ०) : अनुसंधान, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी।
53. " " : ब्रज साहित्य का इतिहास, भारती भण्डार, इलाहाबाद (1967)।
54. सिंह, उदयभानु (डॉ०) : तुलसी काव्य मीमांसा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली (67)।
55 सिन्हा, सावित्री (डॉ०) : अनुसंधान प्रक्रिया, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
56 सेंगर, शिवसिंह शिवसिंह सरोज, शिवसिंह सेंगर, लखनऊ, 1966।
57. Agarwal, V S. (Dr.) : India as known to Panini, University of Lucknow, Lucknow (1953).
58. Agarwalla, N. D. : On Common Script, Bharat Art Press, Calcutta (68).
59. Basu, Purendu : Archives & Records : What are they?
60. Bhargava, K. D. Repair and Preservation of Records.
61. Bhattacharyya, Harendra Kumar : The Language of Scripts of Ancient India.
62. Bordin, R. B. and Warner, R. M. : The Modern Manuscript Library, The Scerecrow Press Inc., NewYork-66.
63. Brown, W. Norman (Dr.) : The Mahimnstava.
64. Buhler, G. : Indian Palaeography, Firme K. L. Mukhopadhyaya, Calcutta-62.
65. " " : Inscriptions Report.
66. Bu gess, James : The Chronology of Indian History, Cosmo Publications, Delhi-72.
67. Clodd, E. : The Story of the Alphabet.
68. Dani, Ahmad Hasan : Indian Palaeography, Clarendo Press Oxford-63.

69. Diringer, David : The Alphabet.

70. " " : Writing, Thomas & Hudson, London–62.

71. Duff, C. Mabel : The Chronology of Indian History, Cosmo Publications, Delhi–72.

72. Edgerton, Franklin : The Panchatantra Reconstructed. American Oriental Society, U. S. A. 1929.

73. Francis, Frank : Treasures of the British Museum.

74. Hall, F W. : Companion to Classical Text.

75. Hunter, G. R. : The Script of Hadappa & Mohanjodero and its connection with other Scripts

76. Kane, P. V. : Sahityadarpan.

77. Kashliwal, K. C (Dr) : Jain Granth Bhandars in Rajasthan.

78 Kielhorn, F. Examination of questions connected with the Vikram Era

79. Manuscripts from Indian Collection

80. Martin, H. J. The Origin of Writing

81. Masper, The Dawn of Civilization

82. Masson, W. A The History of the Art of Writing

83. Moorhouse, A. C. Writing the Alphabet

84 Pandey, Rajbali (Dr.) Indian Palaeography, Motilal Banarsidas, Varanasi–57.

85. Pargeter, F. E Ancient Indo–Historical Traditions.

86. Princep Indian Antiquities

87. Reed, Herbert The Meaning of Art.

88 Sircar, D. C. Indian Epigraphy, Motilal Banarsidas Delhi-65

89 Sircar, D C : Selected Inscriptions

90. Siecar, J. Topography of the Mughal Empire.

91. Tessetoric, L P. : Vachanika, Biblotheca Indica, Calcutta, 1919.

92. Tod, James : Annals & Antiquities of Rajasthan, K. M. N. Publishers, New Delhi, (1971).

93. Ulmann, B. L. : The Origin and Development of Alphabet

94. Waddell, L. A. : Indo-Sumerian Seals Deciphered, Indological Book House, Delhi-72.

95. Wolley, C. L. : The Summerian.

कोश तथा विश्व-कोश

1. बसु नागेन्द्रनाथ : हिन्द विश्व-कोष ।
2. अमर कोष ।
3. वाचस्पत्यम् ।
4. English Persian Dictionary.
5. Epigrdeh c Indica.
6. The Oxford English Dictionary.
7. A Dictionary of Sanskrit and English.
8. Dictionary of Greek and Roman Biography and Mythology.
9. Chambers's Encyclopedia.
10 Encyclopedia Americana
11 Encyclopedia Britanica.
12. Encyclopedia of Religion and Ethics.
13 Newnes Popular, Encyclopedia.
14. The American Peoples Encyclopedia.
15. The Columbia Encyclopedia.
16 The New Universal Encyclopedia.
17. The World Book Encyclopedia.

खोज रिपोर्ट

1. गांधी, लालचन्द भगवानदास : जैसलमेर भाण्डागारीय ग्रंथानां सूची ।

2. भानावत, नरेन्द्र (डॉ०) आचार्य श्री विनयचंद ज्ञान भण्डार ग्रन्थसूची ।

3. मेनारिया, मोतीलाल (डॉ०) : राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, (साहित्य संस्थान, उदयपुर)।

4. सूरि, विजय कुमुद : श्री खम्भात, शान्तिनाथ, प्राचीन ताड़पत्रीय जैन ज्ञान भण्डार नूं सूची पत्र ।

5. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का त्रैवार्षिक विवरण (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)।

6. Sastri, H P. : A Catalogue of Palm leaf and Selected Paper M.S.S. Belonging to the Durbar Library, Nepal.

पत्रिकाएं

(1) धर्मयुग, (2) परम्परा (3) परिषद् पत्रिका,
(4) भारतीय साहित्य, (5) राजस्थान भारती, (6) विश्व भारती,
(7) वीणा, (8) शोध पत्रिका, (9) स्वाहा,
(10) सम्मेलन पत्रिका, (11) सप्त सिन्धु,
(12) Journal of the Asiatic Society of Bengal
(13) Journal of the United Provinces Historical Society
(14) Orientalia Lovaniensta Periodica
(15) Hindustan Times Weekly

□ □ □